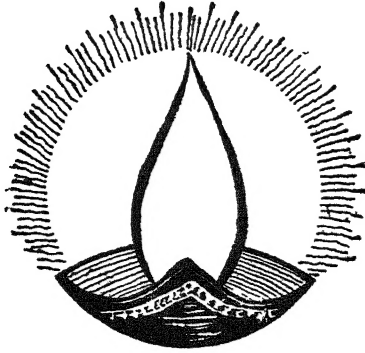


# ‘पातञ्जल-योगसूत्र’ का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन

आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिये स्वीकृत  
शोध प्रबन्ध



लेखिका

डा० नलिनी शुक्ला एम. ए., पी-एच. डी. ( संस्कृत )

चिजयादशमी,  
सम्बत् २०३१ चिक्रमीय

सर्वाधिकार  
लेखिकाधीन

प्रकाशक  
शक्तियोगाश्रम  
एव  
श्रीमती डा० नलिनी शुक्ला



लम्बोदर सकलसुन्दरमेकदन्तम्,

रक्ताम्बर त्रिनयन परम पवित्रम् ।

उद्यद्दिवाकरकरोज्ज्वलकायकान्तम्,

विघ्नेश्वर सकलविघ्नहर नमामि ॥

मोहान्धकारमरिते हृदये मदीये,

मातः सदैव कुरु वासमुदारभावे ।

स्वीयास्त्रिणावयवनिर्मलसुप्रभामिः

श्रीघ्न विनाशय मनोगतमन्धकारम् ॥

## प्राक्कथन

नमो योगाय, योगेश्वराय, योगसंभवाय,  
योगपतये, योगाधिराजाय नमो नमः

आदरणीया डा० नलिनी शुक्ल ने वर्षों एकाग्रचित्त से परिश्रम कर पातंजलयोग सूत्र का जो अध्ययन किया है, प्रस्तुत ग्रन्थ उस अध्ययन का प्रशंसनीय फल है। इस ग्रन्थ में व्यासभाष्य के तात्पर्य को अपेक्षाकृत सरल भाषा में स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है। सरलता के साथ साथ शास्त्रीय विचार की विशदता भी इस ग्रन्थ में पाठकों को मिलेगी। इस सर्वतोमुखी व्याख्यान के लिये लेखिका वन्द्यवादाहर्ह है।

प्राचीन टीकाओं के आधार पर मुख्यतया यह ग्रन्थ लिखा गया है, पर मुझे यह देखकर प्रसन्नता हुई है कि लेखिका ने आधुनिक मनीषियों द्वारा विरचित योगपरक ग्रन्थों का भी सफल उपयोग इस ग्रन्थ में किया है। स्वामी हरिहरानन्द आरण्य, स्वामी ओमानन्द तीर्थ आदि वर्तमान कालिक योग-विचारकों के विचारों को इतनी स्पष्टता से इस ग्रन्थ में रखा गया है जो देखते ही बनता है। स्थान-स्थान पर हठयोग, राजयोग मन्त्रयोग आदि योग सम्प्रदायों के मतों का जो प्रतिपादन किया गया है, उससे पातञ्जल योग को समझने में पाठकों को सुविधा होगी—ऐसा मेरा दृढ निश्चय है। चक्र आदि पर लेखिका ने जो विस्तृत विचार किया है, वह अवश्य ही उनके मनन का ज्ञापक है।

हमें यह देखकर हर्ष होता है कि परिश्रमशीला लेखिका ने आधुनिक मनोविज्ञान का भी उचित उपयोग अपने व्याख्यान में किया है। प्रतीक्ष्य मनोविज्ञान का अत्यधिक उपयोग योग विज्ञान के क्षेत्र में होना चाहिए, इससे योग के अनेक तथ्य स्पष्टीकृत होंगे, ऐसी आशा है। पाञ्चभौतिक जगत्-सम्बन्धी जड़विज्ञान की कुछ सन्ध-

जिस शैली से ग्रन्थ लिखा गया है, वह हृदयग्राही है। ऐसा प्रतीत होता है कि ग्रन्थ लेखिका व्यासभाष्य को सामने रखकर उसके मतों को (भाष्यगत क्रम को मुख्यतया अवलम्बन कर) श्रोताओं को समझाने के लिये अपनी स्वतंत्र रचना के रूप में कहती जा रही है। इस सजीव शैली के कारण ही यह ग्रन्थ दार्शनिक पाठकों को भी रुचिकर लगेगा। योगशास्त्र पर जिसका पूर्व अध्ययन नहीं के बराबर है, वह भी इस व्याख्या को पढ़कर बहुत दूर तक योगशास्त्र को समझ सकेगा—ऐसा मेरा विश्वास है।

लिखने के समय पाठकों की रुचिविभिन्नता पर लेखिका ने समुचित ध्यान रखा है। योगशास्त्र के बाह्यरूप में ही प्रधानतः रुचि रखने वालों के लिये उन्होंने इस शास्त्र का एक ऐतिहासिक विवरण भूमिका में प्रस्तुत किया है, जो बहुत ही सुखपाठ्य है। चूँकि लेखिका को इतिहास लिखना नहीं था, इसलिये यह भूमिका संक्षिप्त है। कुछ अंशों में यह भूमिका अपूर्ण है। प्रत्येक व्याख्याकार के निजी मतों की समीक्षा करना आवश्यक है जो यहाँ नहीं की गई है। हम चाहते हैं कि इस ऐतिहासिक पक्ष पर लेखिका एक नया ग्रन्थ प्रस्तुत कर इस अभाव की पूर्ति कर दें। 'पातञ्जल योगशास्त्र सम्बन्धी वाङ्मय का पूर्ण परिचय इस भूमिका में नहीं है—

यह परिचय आवश्यक है—

लेखिका का व्याख्यान कितना व्यापक तथा स्पष्ट है, यह निम्नांकित प्रसंगों के व्याख्यानों के अध्ययन से जाना जा सकता है—पाँच वृत्तियों, वैराग्य, ईश्वर-प्रणिधान, अविद्या, कर्माशय, प्राणायाम, परिणाम, वासना तथा समापत्तियों अपने पक्ष के समर्थन के लिये पुराण आदि से जितने वचन उद्धृत किये गये हैं, उनसे भी लेखिका के अध्ययन की विशालता ज्ञात होती है।

मेरा विश्वास है कि यह ग्रन्थ नवीन शिक्षितों के लिये अत्यन्त उपादेय होगा। यदि लेखिका इस ग्रन्थ का एक अंग्रेजी रूपान्तर शीघ्र प्रकाशित करे तो अहिन्दी भाषी योगेच्छु-विचारकों को बहुत ही लाभ होगा।

---

१. उदाहरणार्थ Alberuni कृत किताब पातञ्जल का परिचय। हर्ष का विषय है कि इस ग्रन्थ का अंशतः प्रकाशन (अंग्रेजी अनुवादमात्र, टिप्पणी में आवश्यक समीक्षा के साथ) Bulletin of the school of oriental and African studies, University of London, Vol, XXIX Part2, 1966 में हुआ है (प्रथम प्रकरणमात्र) लेखक है—Ehlomo Pines तथा Tuvia

सद्धर्मनिरता लेखिका का यह ग्रन्थरत्न लोगो को योगमार्ग में जाने के लिए प्रेरणा देगा—इसमें अणुमात्र संशय नहीं है । हिरण्यगर्भ आदि महायोगियों का आशीर्वाद उनके लिये है । हम चाहते हैं कि इस मार्ग में लेखिका अधिकतर प्रशसनीय कार्य भविष्य में भी करती रहे ।

नवरात्रारम्भ

वा१०।१६७२

१३।१०३ सोनारपुरा वाराणसी

विद्वज्जनानुचर

( रामशंकर भट्टाचार्य )

एम० ए०, पी० एच० डी० व्याकरणाचार्य

श्री :

डा० नलिनी शुक्ला एम० ए०, पी० एच० डी० के द्वारा लिखे गये पातञ्जल योग सूत्रों का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन नामक निबन्ध के तत्तदशो को मैंने देखा । यौगिक क्रियाओं का विश्लेषण सिद्धियों के परिणाम आदि महत्वपूर्ण विषयों का तुलनात्मक विचार इस निबन्ध में स्पृहणीय है । योग शास्त्र के अभ्येताओं के लिए यह निबन्ध अत्यन्त उपकारक सिद्ध होगा ।

इस उत्तम कार्य के लिए डा० नलिनी शुक्ला को धन्यवाद देते हुए मैं लेखिका का अभ्युदय चाहता हूँ ।

( वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी )

पट्टाभिराम शास्त्री

१६-६-७२

श्री हरि

अनन्त श्री विभूषित सनातनधर्म सम्राट्, श्री ११०८ हरिहरानन्द सरस्वती  
श्री स्वामी करपात्रीजी महाराज का शुभाशीर्वाद

योगदर्शन भारतीय वेदों, उपनिषदों तथा अन्य आर्ष साधना-मार्गों के आपेक्षिक मनः समाधान का प्रतिपादन करता है यद्यपि इसका मूल वेद एवं उपनिषद् ही है फिर भी उसकी अपनी विशेषताये भी है योगभाष्य तत्त्ववैशारदी आदि द्वारा उसकी विशद व्याख्या हुयी है । डा० नलिनी शुक्ला ने इस विषय में बड़े मनोयोग से अनुसंधान किया है उसे बहुत से विषयों का बहुत सुन्दर स्पष्टीकरण हुआ है यह ग्रन्थ जिज्ञासुजनों के लिये उपयोगी है । लेखिका के माय सदैव मेरा शुभाशीर्वाद है ।

मुझे यह देखकर बहुत प्रसन्नता हुई कि पातंजल 'योग दर्शन' का प्रकाशन हो रहा है उसे मैंने ध्यान पूर्वक पढ़ा । श्रीमती डा० नलिनी शुक्ला ने इस विषय पर शोध ग्रन्थ लिखा है वह सर्वथा स्तुत्य है । बहुत ही सरल और हृदयग्राही है । इस ग्रन्थ के लिये मैं अपनी शुभकामना भेज रहा हूँ ।

**शम्भूनाथ शुक्ल**  
कुलपति अवधेश प्रताप सिंह विश्वविद्यालय  
रीवा ( म० प्र० )

१००८ अनन्त श्री विभूषित जगद्गुरु शंकराचार्य काशीस्थ ऊर्ध्वान्नाय सुमेह  
पीठाधीश्वर स्वामी श्री महेश्वरानन्द सरस्वती जी महाराज की शुभाशंसा ।

श्रीमती नलिनी शुक्ला ने योगदर्शन के अनेक व्याख्यानो पर मनन करते हुये सर्वदर्शन कान्तार केशरी श्रीवाचस्पति मिश्र जी के योग सम्बन्धी विचारो का तिलावगाहन करते हुये पातजल योग सूत्र पर इस पुस्तक की रचना की है । यह पुस्तक इनके पी० एच० डी० उपाधि के शोध कार्य का सुपरिणाम है । यद्यपि शोध के अनेक ग्रन्थ प्रतिवर्ष उपाधि के लिए स्वीकृत होते है, परन्तु प्रकाशन सभी के भाग्य मे नही होता, अधिकांश विश्वविद्यालयो की शोभा की वस्तु बने रहते है, प्रस्तुत शोध ग्रन्थ जनता जनार्दन को समर्पित हो रहा है यह हर्ष का विषय है । आशा है विद्वानो मे इसकी चर्चा होगी ।

जहाँ तक इसके प्रतिपाद्य विषय का प्रश्न है यह निःसन्देह कहा जा सकता है कि श्रीमती नलिनी शुक्ला ने इस त्रिषय का पर्याप्त चिन्तन श्रम पूर्वक किया है, वे इसकी समुचित रूप से यशोभागी हो, यह शुभाशंसा है ।

भाद्रपद शुक्ल १० मोम, २०२२

महेश्वरानन्द सरस्वती

## आमुख

यह रचना सर्व प्रथम मेरे पास आगरा विश्वविद्यालय की पी-एच० डी० उपाधि के लिये शोध-प्रबन्ध के रूप में परीक्षण के लिये आई थी ! बाद में लेखिका के अनुरोध पर मैंने उसमें कई सशोधनों के सुझाव दिये, जिन्हें विदुषी लेखिका ने ग्रन्थ को वर्तमान रूप में प्रकाशित किया है । आशा है यह ग्रन्थ विद्वज्जन तथा दार्शनिक मर्मज्ञों के लिये सन्तोषावह व महत्वपूर्ण सिद्ध हो सकेगा ।

( योगवासिष्ठ ) में चित्तनाश अर्थात् चित्तादर्शन प्रयुक्त शुद्धात्मदर्शन के दो ही उपाय बतलाए गए हैं योग तथा ज्ञान ।

‘‘द्वौ ऽक्रमौ चित्तनाशाय योगो ज्ञान च राघव ।  
योगस्तद् वृत्तिरोधश्च ज्ञानं सम्यग्वेक्षणम् ॥

इनमें योग निरोध मार्ग है और ज्ञान सम्यग्वेक्षण शुद्धात्मतत्त्व के यथार्थस्वरूप का साक्षात्कार है और यह शुद्धात्मतत्त्व की निर्विकल्पक तथा अखण्ड अनुभूति समस्त अनात्मवृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर ही हो सकती है ।

जब तक अनात्मवृत्ति प्रवाह बना रहता है और चित्त का अलातचक्र या चित्त का द्वैतेन्द्रजाल चलता रहता है तब तक अनादि और निबिड़ अविद्या से निगूढ़ शुद्धात्म-स्वरूप का अधिगम नहीं हो सकता । आत्मतत्त्व स्वयं-प्रकाश चैतन्यस्वरूप अनाद्य-विद्या से आवृत तथा अनात्माकारा चित्त-वृत्तियों से अच्छादित रहने के कारण साक्षात्कारगोचर नहीं होता । अतः उस साक्षात्कार के दो ही उपाय हैं । अनादि अविद्या का अपसारण तथा अनात्माकारा चित्त-वृत्तियों का निरोध । चरमतत्त्वज्ञान से अनाद्यविद्या की निवृत्ति होती है । और समाधि के द्वारा अनात्माकार चित्तवृत्तियों का निरोध होता है । ज्ञान-मार्ग में निदिध्यास का जो स्थान है वही योगमार्ग में समाधि का है । मैत्रायण्य शाखा आदि में इसका स्पष्ट निरूपण बड़े सुन्दर ढंग से मिलता है —

तातन्मो निरोद्धव्यं हृदि यावद्गतक्षयम् ।  
एतज्ज्ञानं च मोक्षश्च शेषास्तु ग्रन्थ विस्तरा ॥

उपर्युक्त वर्णन असम्प्रज्ञात समाधि का है इसमें जब मनका भी अमनीभाव हो जाता है । अर्थात् मन प्रवेगकृत विशेष भी आत्मा में मिट जाता है तभी केवलसाक्षी-ज्ञान होता है दूसरे शब्दों में प्रमिति प्रमातृ भेद भान भी निरस्त हो जाता है । कहा गया है—

यत्रोपरमते चित्तं निरुद्धं योगसेवया ।  
यत्र चैवात्मनात्मानं पश्यन्नात्मनि तुष्यति ॥

अर्थात् असम्प्रज्ञात समाधि में शुद्धात्मतत्त्व का दर्शन हो जाता है द्वैतभान प्रयुक्त आनन्दालम्बना दूर हो जाने के कारण नित्य निरतिशयानन्दरूप शुद्धात्मतत्त्व का भान होता है । ब्रह्मानन्द ने निदिध्यासन की समानता योग से निम्नलिखित रूप से की है:—

( १ ) निदिध्यासन की पूर्वावस्था = सम्प्रज्ञात समाधि ।

( २ ) निदिध्यासन की चरमावस्था = असम्प्रज्ञात समाधि ।

यह निदिध्यासन मधुसूदन सरस्वती के शब्दों में विजातीय प्रत्ययानन्तरित सजातीय प्रत्ययप्रवाहरूप है ।

इसकी पूर्वावस्था “अहं ब्रह्मास्मि” इत्याकारक प्रवाह रूप है और सम्प्रज्ञात समाधि भी मन और देह आदिसे भिन्नसाक्षिज्ञानप्रवाह रूप है और सम्प्रज्ञात समाधि भी सकल वृत्तिशून्य निरोधरूप में परिणत अमनीभूत शुद्धमन प्रतिभातकेवलात्मज्ञान प्रवाहरूप है । इस प्रकार दोनों मार्गों में साधना का पर्यवसान शुद्धात्मतत्त्व दर्शन में ही है । सुषुप्त्यवस्था तथा समाधि में अन्तर यही है कि यद्यपि दोनों में मनोवृत्ति-भानाभाव समान है तथापि प्रथम अवस्था में मनोवृत्ति बनी रहती है किन्तु दूसरी अवस्था में इसका भी सर्वथा निरोध हो जाता है । सुषुप्त्यवस्था में मन सविषयक रहता है और योगावस्था में मन निर्विषयक हो जाता है सारांश यह कि सर्वथा प्रमात्रादि भानशून्य असम्प्रज्ञात समाधि होती है और निदिध्यासन का भी चरम उत्कृष्ट स्वरूप यही है ।

मधुसूदन सरस्वती ने लिखा है — “प्रमिति प्रमात्रोर्महावाक्यार्थ-बोधे भानमहा-

वस्तुतः निदिध्यासन और समाधि एक दूसरे के पूरक हैं। प्राधान्या प्राधान्य ही दोनों मार्गों के व्यावर्तक हैं। यदि समाधिसम्बलित ब्राह्माकार=प्रत्ययप्रवाह निदिध्यासन है, तो ध्यान (अर्थात् निदिध्यासन) सहकृत समस्त चित्त-चैतवृत्ति निरोध समाधि है। इसीलिये श्वेताश्वतर उपनिषद् में ब्रह्मासाक्षात्कार का उपाय कहा है “ते ध्यानयोगानुगता अपश्यन्”

योग दर्शन का अध्ययन दो प्रकारों से किया जाना चाहिये—

( १ ) मनोवैज्ञानिक अध्ययन ।

( २ ) दार्शनिक अध्ययन ।

प्रत्येक दर्शनशास्त्र के अपने मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त हैं। योग दर्शन के अनुसार ‘मनोवैज्ञान’ लिखने का प्रयास मैं कर रहा हूँ। Epistemolgy और psychology दोनों का पृथक् विवेचन योग दर्शन का आवश्यक अंग है।

विस्तार में न जाकर ‘योग’ के स्वरूप के विषय में दो शब्द लिखना उपयोगी होगा। श्रीमद् भगवद्गीता में योग का लक्षण “समत्व योग उच्यते” इन शब्दों से किया है। पातञ्जल योगदर्शन में योग का लक्षण ( योगश्चित्त-वृत्ति निरोधः” लिखा है।

वायुपुराण, ब्रह्माण्ड पुराणों आदि में भी योग और उसके अंगों के लक्षण और फल विस्तार के साथ-साथ वर्णित किये गए हैं। विवेचनात्मक दृष्टि से विचार करने पर लक्षणों की शब्दावलियों में भेद होने पर भी सभी लक्षणों का तात्पर्य एक ही है। द्वैत तद्भूति प्रतिभास सत्त्वादिक त्रिविधगुण वैषम्यमूलक है और वृत्तिनिरोध समता रूप या अमनीभाव रूप है जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है।

ब्रह्माण्डपुराण में योग का फल व्यक्ताव्यक्त परित्याग तथा देहजाल समुच्छेद बतलाया है। व्यक्ताव्यक्त प्रतिभासनिरोध ही व्यक्ताव्यक्त परित्याग है इससे भी यही निष्कर्ष निकलता है कि व्यक्ताव्यक्तरूप द्वैतदर्शनाभाव अर्थात् निरोध ही योग है। वायुपुराण में प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा और समाधि का विस्तार के साथ विवेचन किया गया है।

इस सन्दर्भ में वायुपुराण के कुछ श्लोक उद्धृत किये जाते हैं। वायुपुराण में योग के पाँच धर्म माने गए हैं—यम, नियम और आसन प्राणायाम में ही अन्तर्भूत कर



प्राणायामस्तथा ध्यानं प्रत्याहारोऽयधारणा ।  
स्मरणं चैव योगोऽस्मिन् पञ्चधर्माः प्रकीर्तिताः ॥  
प्राणानां निरोधस्तु प्राणायामसंज्ञितः ।

प्राणायाम के प्रयोजन तथा फल—

प्रयोजनानि चत्वारि प्राणायामस्य विद्विदै ।  
शान्तिः प्रशान्तिर्दीप्तिश्च प्रसादश्च चतुष्टयम् ॥

अन्तिम प्रयोजन या फल का स्वरूप—

इन्द्रियाणीन्द्रियार्थश्च मनः पञ्च च मारुतान् ।  
प्रसादयति येनासौ प्रसाद इति संज्ञितः ॥  
यही पातञ्जल योगदर्शन में 'चित्त सम्प्रसाद' शब्द से कहा गया है ।

( २ ) सवृतास्योऽवबद्धाक्ष उरो विष्टभ्य चाग्रतः ।  
पार्ष्णिभ्यां वृषणैश्छाद्य तथा प्रजनन ततः ॥  
किञ्चिदुन्नामितशिरः शिरोम्रीवांस्तथैव च ।  
सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रंस्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

( ३ ) निवृत्तिविषयाणान्तु प्रत्याहारस्तु संज्ञितः ।  
युञ्जीत परमं ध्यानं योगी ध्यानपरः सदा ॥  
यस्तु प्रत्याहरेत् कामान् कूर्मोज्झानीव सर्वतः ।  
तथात्मरतिरेकस्य पश्यत्यात्मानमात्मनि ॥  
पूरयित्वा शरीरं तु सबाह्याभ्यन्तरं शुचिः ।  
आकण्ठनाभियोगेन प्रत्याहारमुपक्रमेत् ॥

( ४ ) मनसा धारणाध्रैव धारणेति प्रकीर्तिता ।  
धारणाद्वादशायामो योगो वै धारणाद्वयम् ॥

ऊपर अमनीभाव की चर्चा के प्रसङ्ग में कहा गया है कि आत्मा में मनः प्रवेशकृत विशेषराहित्य ही अमनीभाव है । इसी का रूपान्तर से वर्णन धारणा के प्रसंग में योग में किया गया है—

तथा मनो धारयतो मनः सूक्ष्मं प्रवर्तते ।

बुद्ध्वा बुद्धिं यदा युञ्जेत्तदा विज्ञाय युज्यते ।  
योग का भवान्तर फल ऐश्वर्य है ॥

“अणिमालधिमा चैव महिमा प्राप्तिरेवच । प्राकाम्य चैव सर्वत्र ईशित्वं चैव सर्वतः वशित्वमथ सर्वत्र यत्र कामावसायिता ।” ये सब स्वतः प्राप्त सिद्धियां योग के लक्ष्य नहीं हैं । किन्तु जैसे जैसे ये फल प्राप्त होते जाते हैं, वैसे-वैसे योगी इनमें ससक्त न होकर इनका परित्याग कर देता है और ऊपर उठता चला जाता है । “परित्यजति मेधावी स बुद्ध्वा परम ब्रजेत् ।” ऐश्वर्य राग का कारण है । अतः उनसे वैराग्य होने पर अन्त में समाधि के द्वारा परब्रह्म की प्राप्ति होती है ।

परित्यजति यो बुद्ध्वा स पर प्राप्नुयाद्विजः ।  
ऐश्वर्याज्जायते रागो विराग ब्रह्म उच्यते ॥  
विदित्वा सप्त सूक्ष्माणि षडङ्गं च महेश्वरम् ।  
प्रधान विनियोगज्ञः परं ब्रह्माधिगच्छति ॥

ब्रह्माण्ड पुराण में आगे योगाङ्गों का और भी स्पष्ट वर्णन उपलब्ध होता है ।

यमं सनियमैश्चैव शुद्धदेहः समाहितः ।  
वशीचकार पवन प्राणायामेन देहगम् ॥  
जितपद्मासनो मौनी स्थिरचित्तो महामुनिः ।  
वशीचकार चाऽक्षाणि प्रत्याहारपरायणः ॥  
धारणाभिः स्थिरीचक्रे मनश्चञ्चलमात्मवान् ।  
ध्यानेन देवदेवेशं ददर्श परमेश्वरम् ॥  
स्वस्थान्त करणो मैत्रः सर्वबाधाविवर्जितः ।  
चिन्तयामास देवेश ध्याने दृष्ट्वा जगद्गुरुम् ॥  
ध्येयावस्थित चित्तात्मा निश्चलेन्द्रिय देहवान् ।  
आकालावधि सोऽतिष्ठन्निवातस्थ प्रदीपवत् ॥  
ततः स निष्कल रूपमैश्वर यन्निरञ्जनम् ।  
परं ज्योतिरचिन्त्य यद् योगिध्येयमनुत्तमम् ॥  
नित्यं शुद्ध सदा शान्तमतीन्द्रियमनौपमम् ।  
आनन्दमात्रमचल व्याप्ताशेषचरा चरम् ॥

इस प्रकार अन्त में योग के द्वारा नित्य शुद्ध, शान्त, निष्कल, निरञ्जन,

अद्वैत दर्शन के अनुसार ज्ञानमार्ग मे प्रपञ्च विलयन औरतत्-त्व पदार्थ शोधन की चर्चा मिलती है और योगमार्ग मे वृत्तिनिरोध की । साधनभेद है किन्तु दोनों को लक्ष्य एक ही है । दूसरे शब्दों मे चरम तत्त्वज्ञान के द्वारा अविद्या व तत्प्रयुक्त समस्त द्वैतव्रात का बाध हो जाता है । समाधियोग के द्वारा विवेकख्याति और समस्त प्राकृतिक परिणामों का निरोधमात्र । शुद्धात्म-दर्शन और कैवल्यज्ञान दोनों मे समान है ।

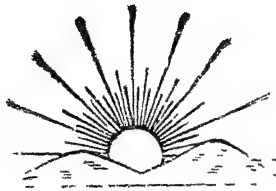
इसीलिये श्रीमद्भगवद्गीता मे कहा है—

“यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।”

अन्त मे सक्षेपतः इतना कहना ही पर्याप्त होगा कि योगदर्शन पर अनेकों ग्रन्थों के प्राप्त रहने पर भी इस ग्रन्थ की भी सेवा विद्वत्समाज मे श्लाघ्य मानी जायेगी ।

भूतपूर्व अतिरिक्त शिक्षा निर्देशक (संस्कृत)  
बिहार, प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष संस्कृत,  
पाली एवं प्राकृत इत्यादि गोरखपुर विश्व-  
विद्यालय यू० जी० सी० अनुसंधान प्रोफेसर  
बनारस विश्व विद्यालय एवं अवैतनिक निर्दे-  
शक भारतीय अनुसन्धानपीठ वाराणसी

अभ्युदयाभिलाषी  
वीरमणिप्रसाद उपाध्याय  
( एम. ए. बी. एल. डी. लिट्. )  
साहित्याचार्य



श्री गणेशाय नमः ।

श्री सरस्वत्यै नमः ।

## लेखिका का नम्र निवेदन

‘पातञ्जल योगसूत्र’ भारतीय दर्शन साहित्य अथवा समस्त भारतीय साहित्य ही नहीं, अपितु विश्व साहित्य में अप्रतिम एवं शिरः स्थानीय है। महर्षि पतञ्जलि ने ‘योगसूत्र’ में जिन आत्मकल्याणोपयोगी प्राचीनतम सिद्धान्तों का निरूपण किया है, वे आज भी नित्य नवीन हैं और सर्वदा नवीनतम स्फूर्ति एवं प्रेरणा के प्रदायक रहेंगे। जीवन के उच्चतम क्षेत्र से लेकर साधारणतम स्तर तक यौगिक सिद्धान्तों की उपयोगिता है। योगोक्त मैत्री, मुदिता सदृश उदार भावनाओं के बल पर ही समग्र विश्व, बन्धुत्व के पावन सूत्र में बन्धन की कल्पना करता है। आयुर्वेदशास्त्रगत वात, पित्त और श्लेष्मा का मूल आधार भी सांख्यसम्मत सत्त्व, रज, तम की मान्यता ही है। मनोविज्ञान के क्षेत्र में भी सांख्ययोग की महती उपयोगिता है। अस्तु केवल आध्यात्मिक क्षेत्र में ही नहीं, विविध बाह्य विषयों में भी समस्त विश्व सांख्य और योग का चिर-ऋणी है। सांख्य के चिन्तना-क्षेत्र से पातञ्जल योग के व्यावहारिक क्षेत्र में उतर कर जीवन की सार्थकता स्वतः सिद्ध हो जाती है।

आध्यात्मिक अभिरुचि मुझे आस्तिकता से ओतप्रोत मातृपक्ष से प्राप्त हुई, जिसमें स्नेहमयी माँ का विशेष हाथ है। भक्तिभाव की सजीव मूर्ति, परमकल्याणी जननी का दुग्धामृत ही मेरे अन्दर आध्यात्मिक अभिरुचि का स्रोत बन गया। शास्त्रों के अनुसार स्त्रीधन की अधिकारिणी विशेषतः कन्या ही होती है। आध्यात्मिक रुचि भी मुझे मातृ-सम्पत्ति के रूप में मिली। उनके द्वारा गीता आदि मोक्षशास्त्रों एवं विविध स्तोत्रों के साथ ‘सौन्दर्यलहरी’ के सस्वर पाठ ने इस हृदय में योग के प्रति जिज्ञासा को उद्बुध कर दिया। प्रारम्भिक अध्ययन काल से इण्टरमीडिएट तक संस्कृत पढ़ने का सुयोग न मिल पाने पर भी, अध्यात्म विषयों का रत्नकोष संस्कृत भाषा में ही सुरक्षित रहने के कारण हृदय में संस्कृत के प्रति सदैव से अनुराग रहा है। एम० ए० (संस्कृत) के पाठ्यक्रम में निर्धारित दर्शन के प्रश्नपत्रों के अध्ययन से अन्तःकरण में दार्शनिक रुचि विशेष के स्फुरण के साथ योगदर्शन ही विशेष रुचिकर लगा। विषय अत्यन्त जटिल होने पर भी इसमें अत्यधिक अभिरुचि ही प्रस्तुत ग्रन्थ की प्रेरणा का मूल स्रोत है।

गृहस्थी का कार्यभार, शिशुपालन एवं विविध आधि-व्याधिसंकुलता के कारण व्यग्रतावश हतोत्साहिता मुझे इस निबन्ध का लेखन कार्य असम्भव-सा प्रतीत होने लगा था, किन्तु आ० डा० सत्यनारायण पाण्डेय तथा अन्य शुभचिन्तको ने बारम्बार प्रोत्साहन देकर इससे विमुख नहीं होने दिया ।

मूलतः यह ग्रन्थ आगरा विश्वविद्यालय की डा० ऑफ फिलॉसफी की उपाधि के लिये स्वीकृत शोध-प्रबन्ध है । आधुनिक युग की आवश्यकता को ध्यान में रखते हुए, प्रस्तुत प्रबन्ध में विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन के साथ-साथ, विषय को सुगम बनाने के लिये, भौतिक विज्ञान-पद्धति के अनुसार आधुनिक दृष्टिकोण भी अपनाया गया है । साथ ही विविध दार्शनिक दृष्टिकोणों में समन्वय-स्थापना का भी प्रयास किया गया है ।

इस प्रबन्ध के परीक्षकों ने इसकी प्रचुर प्रशंसा करके तथा विशेष रूप से दर्शन के श्रेष्ठ मर्मज्ञ विद्वान् डा० वीरमणि प्रसाद उपाध्याय ने कृपा पूर्वक आमुख भी लिख कर, मुझे जीवन में नवीन प्रेरणा एवं उत्साह प्रदान किया है ।

प्रस्तुत प्रबन्ध के वर्तमान स्वरूप प्रदान करने में मुझे जिन सज्जनो, सुधीजनों का योगदान मिला है, उन सब के प्रति मैं अत्यन्त कृतज्ञ हूँ । सर्व प्रथम आदरणीय पितृतुल्य स्वर्गीय डा० सत्यनारायण पाण्डेय ( भूतपूर्व अध्यक्ष संस्कृत विभाग, वी. एस. एस. डी. कालेज, कानपुर ) के प्रति मैं परम आभारी हूँ, जिनके योग्य निर्देशन में यह सम्पूर्ण कार्य सम्पन्न हुआ ।

वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय के अनुसन्धान-संस्थान सदस्य परम विद्वान् डा० रामशंकर भट्टाचार्य ने समय-समय पर मुझे अमूल्य निर्देश देकर अनेक समस्याओं का समाधान किया है । उनके ग्रन्थों से भी मुझे विपुल सामग्री प्राप्त हुई है । प्राक्थन लिख कर भी उन्होंने मुझे अनुग्रहीत किया है । अस्तु उक्त दोनों ही महानुभावों के प्रति मैं चिरऋणी रहूँगी ।

विद्वद्भर श्रीयुत प० बलदेव उपाध्याय, विद्वच्छिरोमणि महामहोपाध्याय डा० गोपीनाथ कविराज के प्रति भी मैं श्रद्धावन्त हूँ, जिन्होंने मुझे अल्प समय में ही बहुमूल्य निर्देश तथा आशीर्वाद प्रदान करके उत्साहित किया है । श्री स्वामी करपात्री जी महाराज ने भी इस गूढ़ विषय की अनेक ग्रन्थियाँ सुलभा कर मेरा उपकार किया है तथा उनका आशीर्वाद सदैव मेरे साथ रहा है । अतः उनकी भी मैं परम कृतज्ञा हूँ । कानपुर के संस्कृत भाषा के प्रकृष्ट विद्वान् एवं कवि आचार्य केशवदेव शुक्ल से भी जो सहयोग एवं आशीर्वाद मिला है, उसके लिये हादिक कृतज्ञता ज्ञापन भी मेरा परम कर्तव्य है ।

दिवंगत स्वामी हरिहरानन्द अरण्य, डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन एवं वर्तमान आई० के० टैमनी, स्वामी ओमानन्द प्रभृति समस्त विद्वान् लेखकों के प्रति भी मैं आभारी हूँ जिनके ग्रन्थों से मुझे प्रचुर सहयोग प्राप्त हुआ है।


परमपूज्य पिताजी ( श्वसुर ) की मैं सपरिवार परम आभारी हूँ, जिन्होंने अत्यन्त स्निग्ध भाव से मुझे शोधकार्य करने की स्वीकृति एवं सहायता प्रदान की है।

स्थानीय नानारावघाटस्थ शक्तियोगाश्रम श्री विद्यापीठ का सत्सङ्ग भी यौगिक शोध की जिज्ञासा का उद्बोधक बना। इसकी अनेक शाखाएँ योग प्रशिक्षण तथा क्रियात्मक साधनाओं का प्रसार करती रहती है। अस्तु उसी के सहयोग से 'पातञ्जल योगदर्शन का विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक अध्ययन' का प्रथम प्रकाशन प्रस्तुत किया जा रहा है। इसके लिये मैं योगाश्रम के संस्थापक परम आदरणीय श्री शीतला प्रसाद शुक्ल शास्त्री जी के आशीर्वाद व अनुकम्पा के लिये परम कृतज्ञ हूँ। प्रारम्भ से स्वयं प्रूफ न देख सकने के कारण ग्रन्थ में कुछ अशुद्धियाँ रह गई हैं जिनके लिये सुधीजनों से क्षमाप्रार्थना है। भावी संस्करण में इसका पूरा ध्यान रखा जाएगा।

इस ग्रन्थ के प्रणयन एवं प्रकाशन में उक्त सज्जनों के अतिरिक्त जिन, किन्हीं से भी प्रत्यक्ष या परोक्ष रूप में मुझे प्रोत्साहन अथवा सहायता प्राप्त हुई है उन सभी के प्रति मैं आभार प्रकट करती हूँ।

दुर्ज्ञेय विषय पर लेखनी उठाने के कारण अज्ञानवश इसमें जो स्खलन एवं अपूर्णताएँ हैं; आशा है उदार हृदय विद्वज्जन 'बालादपि सुभाषितम्' उक्ति को चरितार्थ करते हुए, उन त्रुटियों को क्षमा कर गुणग्राहिता का वरण करेंगे। प्रस्तुत प्रबन्ध के विषय में विद्वानों से प्रार्थना है कि वे इसके आवश्यक परिमार्जन एवं पूर्णता की दृष्टि से मुझ पर अपने विचार प्रदान की कृपा व कष्ट करें। मैं उन संशोधकों का सहर्ष स्वागत करूँगी जिससे भावी संस्करण में तदनुकूल संशोधन हो सके।

प्रवक्ता आचार्य नरेन्द्रदेव  
महिला महाविद्यालय  
कानपुर

बुधजन पथानुगामिनी  
 चिनयावनता  
नलिनी शुक्ला।  
११०/५१, रामकृष्णनगर,  
कानपुर

॥ श्रीः ॥

डा० नलिनी शुक्ल प्राध्यापिका स० विभाग, आचार्य तरेन्द्रदेव, कालिज, कानपुर, द्वारा लिखित शोध प्रबन्ध की भूमिका में भारतीय दर्शनो का महत्त्व तथा उनमें योगशास्त्र का महत्त्व' देखने का मिला ।

लेखिका ने इसमें प्राच्य एवं नव्य विभिन्न दार्शनिकों के मत का उद्धृत कर अपने मनोहर ढङ्ग से तुलना की है । साथ साथ योग दर्शन का महत्त्व एवं सब दर्शनो का अन्तरङ्ग साधनता तथा सर्वोपादेयता का पूर्ण प्रयास किया है । इसमें दिखाई गई युक्तियां विद्वानो को मर्म स्पर्शी अवश्य होगी । किन्तु वाचस्पति योग साधक नहीं थे यह मान्य नहीं है ।

विषय वस्तु के समाधान एवं समन्वय में लेखिका ने अथक प्रयास किया है इसमें सन्देह नहीं ।

मैं लेखिका की सर्वाङ्गीण उन्नति एवं लेखशैली की उपादेयता की शुभ कामना चाहता हूँ । इतिशम् ।

दिनांक १३ । १२ । १९७२

व्याख्याता (Lecturer)

राजकीय संस्कृत महाविद्यालय, कलकत्ता

एवं कलकत्ता विश्वविद्यालय ।

पं० श्री महानन्दठाकुर

व्याकरण-न्याय-वेदान्त साहित्याचार्य

वेदान्तरत्न



## [ पद्मभूषण डा० भीखनलाल आत्रेय का शुभाशीर्वाद । ]

विश्व की भावी संस्कृति के लिये भारत की बहुत बड़ी देन उसका योग है। योग पर बहुत से ग्रन्थ प्राचीन काल में तथा आधुनिक काल में लिखे जा चुके हैं। क्योंकि उसके बहुत से प्रकार हैं किन्तु योग का सबसे अधिक प्रामाणिक तथा मौलिक ग्रन्थ 'पातञ्जल योगसूत्र' है। प्राचीन काल में इस ग्रन्थ की बहुत सी व्याख्याएँ हो चुकी हैं, जिनमें से कुछ तो सर्वसाधारण को उपलब्ध ही नहीं हैं और कुछ ऐसी कठिन भाषा में लिखी गई हैं जिनका समझना साधारण पाठक के लिये बहुत कठिन है। अभी तक योग पर कोई ऐसा ग्रन्थ प्रकाशित नहीं हुआ था जिसमें सभी व्याख्याओं का सार तुलनात्मक तथा आलोचनात्मक दृष्टि से दिया गया हो। डा० श्रीमती नलिनी शुक्ला ने योग के विद्यार्थियों के लिये बड़े उपकार और सेवा का कार्य किया है। उन्होंने प्रायः सभी उपलब्ध व्याख्याओं का गहरा और तुलनात्मक अध्ययन किया है और इस पुस्तक पर उनको आगरा विश्वविद्यालय से पी० एच० डी० की डिग्री भी प्राप्त हुई है जिससे पुस्तक को महत्ता स्वतः सिद्ध है। प्रस्तुत पुस्तक में केवल योग सूत्र पर व्याख्याओं का ही तुलनात्मक अध्ययन नहीं है अपितु योग के सिद्धांतों का भी स्पष्ट विवेचन है। मुझे आशा और विश्वास है कि यह पुस्तक प्रकाशित होने पर योग के सभी विद्यार्थियों के लिये बहुत उपयोगी साबित होगी। मैं यह भी आशा करता हूँ कि भविष्य में श्रीमती शुक्ला योग का और भी अधिक विस्तृत रूप से अध्ययन करके प्राचीन और आधुनिक योग की परिपाटियों पर कुछ तुलनात्मक दूसरी पुस्तक लिखेंगी जो कि उनके लिये डी० लिट् डिग्री का गोघ प्रबन्ध हो सकेगा। मेरी भगवान से प्रार्थना है कि वे स्वस्थ रह कर और योगाभ्यास करके अपने अध्ययन को और भी आगे भविष्य में चालू रखेंगी।

भी० ला० आत्रेय

३०-१०-७१





# Padmabhumi, Knight Commander, Darshanacharya

Dr B L Atreya  
M. A. D. L.

Fellow of the International Council of Psychologists.  
Hon. Member of the International Institute of Philosophy.  
Formerly University Professor of Philosophy and Head  
of the Departments of Philosophy, Psychology, and Indian  
Philosophy & Religion, and the first Provost

## BANARAS HINDU UNIVERSITY

Hony Director, Child Guidance clinic, Varanasi :  
Hony, Director, Research Institute of Philosophy,  
Psychology & Psychological Research, Rajpur, Deharadun  
Editor . Darshana International,

Psychics International and Gaveshana.

Atreya Niwas, Lanka, Varanasi-5 (U. P.) India



श्री गणेशायनम ।

श्री सरस्वत्यै नम ।

नम. परमर्षये ।

व्यास तथा अन्य व्याख्याकारों के आधार पर 'पातंजल-योगसूत्र' का  
विवेचनात्मक एवं तुलनात्मक-अध्ययन

## विषयानुक्रमणिका

	पृष्ठ संख्या
भूमिका	१-५७
(१) भारतीय दर्शनों का महत्त्व तथा उनमें योगशास्त्र का स्थान ।	१-२२
(अ) अन्य देशीय दर्शनो से-भारतीय दर्शनो की तुलना व अविच्छिन्नता ।	१-१०
(ब) भारतीय दर्शनो की व्यावहारिकता एवं लोकप्रियता ।	१०-११
(स) योग-दर्शन की उदारता, व्यापकता तथा विवेचनात्मकता ।	११-२२
(२) योगशास्त्र का उद्भव और विकास	२३-५३
(अ) योग के आदि प्रवर्तक हिरण्यगर्भ, अनुशासनकर्त्ता महर्षि पतंजलि एवं उनका 'योगसूत्र' ।	२३-३६
(ब) 'पातंजल-योग-दर्शन' पर 'व्यासभाष्य' उस पर वाचस्पति मिश्रकृत 'तत्त्ववैशारदी', 'विज्ञानभिक्षु का 'योगवार्त्तिक', शंकरकृत 'भाष्य- विवरण' एवं हरिहरानन्द की 'भास्वती' टीका । भिक्षु का 'योगसारसंग्रह' तथा 'तत्त्ववैशारदी' पर राघवानन्द सरस्वती का 'पातंजल-रहस्य' ।	३६-४७
(स) 'योगसूत्र' की टीकाएँ	४८-५३
(१) भोजकृत	'राजमार्तण्ड (भोजवृत्ति) ।
(२) भावागणेशकृत	'प्रदीपिका' (भावा गणेशवृत्ति) ।
(३) नागोजीभट्ट की—	'लघ्वी तथा बृहती वृत्तियाँ ।

(४) रामानन्द-यतिकृत—	‘मणिप्रभा’ ।
(५) अनन्तपण्डित की—	‘योगचन्द्रिका’ ।
(६) सदाशिवेन्द्र सरस्वतीकृत—	‘योगसुधाकर’ ।
(७) उदयशकररचित—	‘योगसूत्रवृत्ति’ ।
(८) उमापतिकृत—	‘योगसूत्रवृत्ति’ ।
(९) नारायण भिक्षुकृत—	‘योगसूत्रार्थ गूढार्थद्योतिका ।
(१०) ज्ञानानन्दकृत—	‘योगसूत्रवृत्ति’ ।
(११) भवदेवकृत—	‘योगसूत्रवृत्ति टिप्पणी’ ।
(१२) भवदेवकृत	‘पातजलीयाभिनवभाष्य’ ।
(१३) गणेशदीक्षितकृत—	‘पातजलसूत्रवृत्ति’ ।
(१४) महादेवकृत—	‘योगसूत्रवृत्ति’ ।
(१५) रामानुजकृत—	‘योगसूत्रभाष्य’ ।
(१६) बृन्दावन शुक्ल कृत—	‘योगसूत्रवृत्ति’ ।
(१७) शिवशकरकृत—	‘योगवृत्ति’ ।
(१८) सदाशिवकृत—	‘पातजलसूत्रवृत्ति’ ।
(१९) श्रीधरानन्दकृत—	‘पातजलरहस्यप्रकाश’ ।
(२०) बलदेवमिश्रकृत—	‘योगप्रदीपिका’ ।
(२१) स्वामिनारायणकृत—	‘किरणावली टीका’ ।
(२२) स्वामी हरिप्रसादकृत—	‘योगसूत्रवैदिकसूत्रवृत्ति’ ।
(२३) क्षेमानन्ददीक्षितकृत—	‘नवयोगकल्लोल’ ।

(३) योगशास्त्र के आचार्यों में महर्षि पतंजलि एवं व्यास का महत्त्व । ५४-५६

(४) मुलनात्मक आलोचना का सार । ५६-५७

## प्रथम अध्याय

१-७२

(१) योग का अनुशासन एवं उसका स्वरूप ।	१-१५
(२) योगी की स्वरूपस्थिति एवं अन्यथावृत्तिसारूप्यता ।	१६-१८
(३) वृत्तियों के प्रकार, स्वरूप, लक्षण तथा वृत्तिनिरोध ।	१९-३४
(४) अभ्यास, उसकी दृढता तथा द्विविध वैराग्य ।	३५-३९
(५) सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात समाधि ।	४०-७२

## द्वितीय अध्याय

७५-१६६

- |   |         |
|---|---------|
| (१) क्रियायोग तथा उसके प्रयोजन ।        | ७५-८०   |
| (२) पञ्चक्लेश तथा उनके निवारण के उपाय । | ८१-११५  |
| (३) प्रज्ञा एवं ज्ञानदीप्ति ।           | ११६-१२२ |
| (४) योग के अष्ट-अंग ।                   | १२३-१६४ |
| (५) इन्द्रिय-निग्रह की आवश्यकता ।       | १६५-१६६ |

## तृतीय अध्याय

१७३-२६१

- |   |         |
|---|---------|
| (१) समय का स्वरूप और उसके अंग ।                             | १७३-१७८ |
| (२) प्रज्ञालोक का उदय ।                                     | १७९-१८३ |
| (३) चित का समाधि-परिणाम, एकाग्रता-परिणाम तथा निरोध-परिणाम । | १८४-१९१ |
| (४) त्रिविध परिणाम का समय ।                                 | १९२-२१४ |
| (५) विविध समयों का ज्ञान ।                                  | २१५-२७६ |
| (६) कैवल्य-प्राप्ति का साधन ।                               | २८०-२९१ |

## चतुर्थ-अध्याय

२९५-३८६

- |   |         |
|---|---------|
| (१) सिद्धियों के मूल एवं जात्यन्तरपरिणाम ।  | २९५-३०० |
| (२) निर्माण चित्त तथा प्रवृत्ति-भेद से उनकी एक से अनेकता ।  | ३०१-३१० |
| (३) कर्मों के प्रकार, तद्विपाकानुरूप वासनाओं की अभिव्यक्ति तथा हेतु-फल और आश्रय के अभाव में, उनका भी अभाव । | ३११-३२२ |
| (४) कारणधर्मों के पथों के भेद से अतीत और भविष्य की वास्तविक सत्ता ।   | ३२३-३२६ |
| (५) वस्तु के तत्त्वों का परिणामों की एकता पर आश्रय ।  | ३२७-३३३ |
| (६) वस्तु की ज्ञातता और अज्ञातता ।  | ३३४-३३६ |
| (७) चित्त का दृश्यभाव ।   | ३३७-३४४ |
| (८) द्रष्टा और दृश्य से अपरिचित चित्त का स्वभाव ।   | ३४५-३४९ |
| (९) विशेष सत्य को देखने वाले का आत्मभाव ।   | ३५०-३५४ |

(१०) धर्ममेघ समाधि की उपलब्धि, क्लेश-कर्मों की निवृत्ति ।	३५५-३५६
(११) ज्ञेय की अल्पता तथा गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति ।	३६०-३६६
(१२) कैवल्य का स्वरूप ।	३७०-३७२
(१३) उपसंहार ।	३७३-३७४
(१४) प्रमाण ग्रन्थावली ।	३७५-३८०
(१५) Appendix	३८१-३८२
(१६) ग्रन्थ के अन्तर्गत प्रयुक्त सक्षिप्त शब्दों का विवरण	३८३-३८६



# भू मि का

(१) भारतीय दर्शनों का महत्व तथा उनमें योगशास्त्र का स्थान

(अ) अन्य-देशीय दर्शनो से भारतीय दर्शनो की तुलना तथा अविच्छिन्नता

पाश्चात्य एव पौरस्त्य दर्शनो की तुलना मे पर्व दर्शन क्या है—प्रह जानना आवश्यक है ।

‘दृश्यते अनेन इति दर्शनम्’—इस व्युत्पत्ति के अनुसार, जिनके द्वारा देखा जाय, वह दर्शन है । वस्तु के तात्त्विक स्वरूप का आन्वीक्षिकी पद्धति से ज्ञान ही दर्शन-द्वारा दर्शनीय या ज्ञेय है । हम कौन है ? क्या है ? कैसे उत्पन्न हुए है ? यह जगत् क्या है ? समस्त जड-जगमात्मक जगत् का मूल क्या है ? इसका वास्तविक स्वरूप क्या है ? जगत् का स्रष्टा जड है या चेतन ? वास्तविक सुख की उपलब्धि किस प्रकार हो सकती है, इत्यादि समस्याओ का समुचित समाधान दर्शन का मुख्य लक्ष्य है ।

पाश्चात्य देशो मे दर्शन के लिये ‘फिलासफी’ शब्द का प्रयोग होता है । फिलास (प्रेम या अनुराग) तथा सोफिया (विद्या)—इन दो ग्रीक शब्दो से निर्मित—फिलासफी की व्युत्पत्तिलम्ब्य अर्थ विद्यानुराग है । अतः दर्शन के प्रति, पाश्चात्य एव पौरस्त्य विचारको के दृष्टिकोण भिन्न है । भारतीय दर्शनो (मोक्ष दर्शनो) के लक्ष्य एव पाश्चात्यो की फिलासफी के लक्ष्य मे भी भेद है । पाश्चात्य दर्शन जिज्ञासा की गान्ति मे ही पर्यवसानलाभ करते है । वे ज्ञान के लिये ही ज्ञान की खोज मे निरत है । प्राचीन युग के प्रधान तत्वज्ञानी प्लेटो दर्शन का मूल ‘आश्चर्य’ को मानते है । ‘(फिलासफी बिगिन्स इन वन्डर)’ । सम्पूर्ण यूरोपीय दर्शन उस आश्चर्य की तृप्ति के प्रति ही अग्रसर है ।

भारतीय दर्शनो मे तत्वज्ञान दर्शन का चरम लक्ष्य नही, अपितु चरम लक्ष्य मुक्ति है । क्लेश-सकुल ससार से मोक्ष ही सम्पूर्ण भारतीय दर्शनो का एकमात्र लक्ष्य है ।

तत्त्वज्ञान उस मुक्ति की प्राप्ति का अनिवार्य साधन है। विविध भारतीय दर्शन भिन्न-भिन्न दृष्टिकोणों से उस एक ही लक्ष्य की पूर्ति हेतु प्रयत्नशील हैं।

फिलॉसफी विचार-प्रवीण विद्वानों का मनोरंजक साधन है।<sup>१</sup> विराट् विश्व के विचित्र विन्यास को देखकर मानव विस्मित हो उठता है। अतः उस विस्मय की शान्ति के लिये जगत् के रहस्यों की जिज्ञासा से फिलॉसफी का उदय होता है। पाश्चात्य दार्शनिक केवल अपने कौतूहल की शान्ति के लिये मनमानी कल्पना का आश्रय ग्रहण करके, वस्तुतत्त्व का विवेचन करते हैं। उस विवेचना-द्वारा किस निष्कर्ष पर पहुँचेंगे, इसका उन्हें पहिले से ज्ञान नहीं होता है।

भारतीय दार्शनिक सर्वदा एक निश्चित प्रणाली-द्वारा एक निश्चित उद्देश्य को लेकर चलते हैं। उनकी वस्तु-तत्त्व-विषयिणी जिज्ञासा दुःख-त्रयाभिघात से ही उत्पन्न होती है और आध्यात्मिक, आधिभौतिक तथा आधिदैविक इन तीनों दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति या मुक्ति ही उनकी प्रेरणा का कारण है। भारतीय दर्शन-पथिक का विवेचन-मार्ग पूर्व निर्दिष्ट एव गन्तव्यस्थल मोक्ष सुनिश्चित होता है। भारतीय दार्शनिक को पथ-भ्रष्ट होने की किञ्चित्मात्र भी आशंका नहीं रहती।

पाश्चात्य एव पौरस्त्य दोनों ही दर्शन सत्यान्वेषण में व्यस्त हैं, किन्तु उनके उद्देश्य पृथक्-पृथक् हैं। इस वैषम्य के रहने पर भी उनमें अनेकशः साम्य है। अतः द्विविध दर्शनों की तुलना से पूर्व पाश्चात्य दर्शनों के श्रेणी-विभाग का सिद्धान्तलोकन आवश्यक है।

पाश्चात्य दार्शनिक विचारधाराओं को मुख्यतः छः भागों में विभक्त किया जा सकता है :—

### (१) मेटाफिजिक्स :-

मेटाफिजिक्स का अर्थ है—तत्त्वमीमांसा। 'सत्' का विवेक ही इस दर्शन का मुख्य विषय है। पदार्थ दो प्रकार के होते हैं :—

(अ) वस्तुतः सत्य।

(ब) प्रातीतिक सत्य।

---

१. कुल्ले कृत 'इन्ट्रोडक्शन टु फिलॉसफी' के प्रथम परिच्छेद में फिलॉसफी शब्द का अर्थ एवं प्रयोग विषयक विवरण द्रष्टव्य है।

प्रातीतिक सत्य (प्रतीति) से वास्तविक सत्य (सत्) के पृथक्करण में यह दर्शन विशेष उपयोगी है। भौतिक एवं मानसिक दशाएँ ये दो ही निश्चितरूप से सत्य माननीय हैं। जो दार्शनिक भौतिक पदार्थमात्र को सत् एवं मानसिक दशाओं को उनका आभासमात्र मानते हैं, वे भौतिकवादी (मैटीरियलिस्ट या नैचुरलिस्ट) कहलाते हैं। इसके विपरीत केवल मानसभावों को सत् और भौतिक पदार्थों को उनकी प्रतीति मानने वाले प्रत्ययवादी या आइडिअलिस्ट हैं। भौतिक एवं मानसिक द्विविध पदार्थों की सत्ता स्वीकार करने वाले द्वैतवादी (ड्युअलिस्ट) कहलाते हैं। प्रत्ययवाद का विरोधी सिद्धान्त वास्तववाद कहलाता है। इनमें वास्तववाद ही विषय-प्रधान एवं वैज्ञानिक माना जाता है।

## (२) एपिस्टेमोलोजी :—

यह प्रमाण-मीमांसा है। ज्ञान का स्वरूप, उसकी सीमाएँ एवं प्रामाणिकता, सत्या-सत्य का निर्णय इत्यादि इस दर्शन के आलोच्य विषय हैं। साथ ही इस दर्शन में अनुभवगम्य एवं अनुभवातीत पदार्थों का विवेचन भी प्राप्त होता है। अनुभूति पर आश्रित पदार्थ एपोस्टिओरि (अनुभवजन्य) तथा अनुभव-स्वतन्त्र पदार्थ ए-प्राओरि (अनुभवाजन्य) कहलाते हैं। इस दर्शन में इनकी विग्रह विवेचना की जाती है।

## (३) लॉजिक (तर्कशास्त्र) :—

ज्ञान की व्यावहारिक प्रक्रिया का विवेचन तर्कशास्त्र का विषय है। किसी तर्क की प्रामाणिकता एवं सत्यता के परीक्षण-हेतु विशिष्ट नियमों का विस्तृत विधान लॉजिक का विषय है। इसके दो विभाग हैं—

(अ) डिडक्टिव (निगमन) सामान्य से विशेषानुसंधान की पद्धति और

(ब) इन्डक्टिव—विशेष दृष्टान्तों से सामान्य सिद्धांतों का अन्वेषण। इनमें से प्रथम पद्धति में केवल वैध सत्य अनिवार्य हैं। द्वितीय में वस्तु की भौतिक सत्यता पर बल दिया गया है। तीनों की सामूहिक सज्ञा थियोरेटिकल फिलॉसफी अर्थात् कल्पनात्मक दर्शन है।

## (४) एथिक्स (कर्तव्यमीमांसा अथवा आचारशास्त्र) :—

इस दर्शन का प्रतिपाद्य विषय मुख्यतः आचरणों या कर्तव्यों की मीमांसा करना है। मानवजीवन का क्या लक्ष्य है? जीवन में वास्तविक कल्याण की प्राप्ति का



क्या मार्ग है ? कर्तव्य क्या है ? वह कितने प्रकार का है ? कर्तव्य के निश्चय का क्या आधार है ? इस प्रकार की समस्याओं का समुचित उत्तर एथिक्स में दिया गया है। जीवन को अधिकतम उपयोगी बनाने की समस्या मानवमात्र के लिये महत्व की है। जगत् के विषय में प्रायः दो दृष्टिकोण पाए जाते हैं। एक के अनुसार ससार दुःखबहुल है। सृष्टि में जिन उपकरणों से सुखानुभूति होती है, वे भी अन्ततः दुःखजनक एवं अविश्वसनीय हैं। जगत् के प्रति यह दृष्टि निराशा की ही जननी है। अतः इसे नैराश्यवाद 'पैसिमिज्म' कहते हैं। दूसरे दृष्टिकोण से मानव-जीवन निसर्गतः शोभन है। दुःख बीच-बीच में यदा-कदा ही उत्पन्न होता है। अतः दुःख के कतिपय क्षण जीवन को सर्वथा विषादाच्छन्न करने में असमर्थ है। दुःख नष्ट हो जाता है और अन्ततः आनन्द ही विजयी होता है। इस दृष्टिकोण को ऑप्टिमिज्म अर्थात् आशावाद कहते हैं। एथिक्स हर प्रकार के व्यक्ति के लिये जीवन की उपयोगिता का विधान करता है।

### (५) एस्थेटिक्स-सौन्दर्यमीमांसा :—

१८ वीं शताब्दी में यूरोपीय दर्शनो में सौन्दर्य-मीमांसा की विशेष प्रवृत्ति जागृत हुई। इससे पूर्व सौन्दर्यमीमांसा दर्शन का स्वतंत्र विवेच्य विषय नहीं था। सौन्दर्य-शास्त्र के अर्थ में 'एस्थेटिक्स' शब्द का प्रयोग सर्व प्रथम जर्मन दार्शनिक वाउमगार्टेन ने किया। अतः एस्थेटिक्स को दर्शन की एक स्वतन्त्र शाखा बनाने के श्रेयभाजन ये ही हैं। इस दर्शन के दो विभाग हैं—

- (अ) सौन्दर्य-निर्णय और
- (ब) व्यावहारिक सौन्दर्य।

#### (अ) सौन्दर्य निर्णय :—

इसके अन्तर्गत मुख्यतः तीन प्रश्नों का यथोचित उत्तर दिया गया है—

- (क) किसी वस्तु को सुन्दर क्यों माना जाता है ?
- (ख) किसी वस्तु को देख कर सुख एवं दुःख किस प्रकार उत्पन्न होते हैं।
- (ग) सौन्दर्य की तात्त्विक व्याख्या क्या है ?

#### (ब). व्यावहारिक सौन्दर्य :—

इस विभाग का मुख्य विषय कला का विवेचन है। सौन्दर्य किस प्रकार कला में परिवर्तित होता है ? चित्र एवं चित्रणीय पदार्थ का पारस्परिक सम्बन्ध क्या है ?

कलाकार मे कल्पना, प्रकृति एव स्मृति आदि किन-किन गुणो की आवश्यकता है, जिनके द्वारा वह सामान्य वस्तु को कला का रूप प्रदान कर देता है। कला सम्बन्धी इस प्रकार के समस्त प्रश्नो का इस विभाग मे समुचित उत्तर प्राप्त होता है।

### (६) साइकोलॉजी—(मनोविज्ञान) :—

मनोविज्ञान के अन्तर्गत मन की विभिन्न प्रवृत्तियो का शास्त्रीय विवेचन प्राप्त होता है। मनोविज्ञान आज विश्व भर मे ख्यातिप्राप्त एव जनप्रिय विषय बन गया है। इसकी अत्यधिक उन्नति को देखकर अधिकांश आलोचक इसे विज्ञान के पक्ष मे निक्षिप्त करते है। वर्तमान युग मे विविध प्रयागो द्वारा प्रयोगशालाओ मे मानसिक अवस्थाओ का शास्त्रीय एव यथार्थ विवेचन किया जाता है। अपने मौलिक अन्वेषणो के बल पर डा० फ्रायड्स ने मनोविज्ञान की एक नूतन शाखा साइको-एनेलिसिस (मानसिक विश्लेषण) का प्रवर्तन किया है। इसके प्रवेश से दार्शनिक क्षेत्र के बाहर भी महत्वपूर्ण क्रान्ति उत्पन्न हो गई है।

### भारतीय दर्शनों की कुछ विशेषताएँ :—

#### (१) स्वतन्त्र सत्ता—

भारतीय मस्तिष्क मे भगवत्तत्त्व की प्रकृति, जाँवतत्व का तिरोभाव तथा आत्मा और विश्वात्मा का सम्बन्ध आदि प्रश्न सदैव से उद्घोषित होते रहे है। दर्शनपरक रुचि का स्फुरण भारतीय प्रकृति की देन है। अन्य देशो मे नित्यप्रति के जीवन की जटिल समस्याओ से अवकाश पाना ही दुष्कर है। अतः पाश्चात्य विचारक उन्हीके निराकरण मे व्यस्त है। जगत् के महत्वपूर्ण तत्वो का अन्वेषण पाश्चात्यो के जीवन के आकस्मिक उन्मेष है। पाश्चात्य देशो मे दर्शनशास्त्र कोई स्वतन्त्र विषय नहीं रहा है। ग्रीस मे विचारशास्त्र के उत्कर्षकाल—प्लेटो और अरिस्टोटल के युग—मे भी दर्शन का अध्ययन, आचारशास्त्र अथवा राजनीति के सहायक विषय के रूप मे ही किया जाता था। मध्ययुग मे इसका अध्ययन क्रिश्चियन धर्म के साथ हुआ तथा उन्नीसवीं शताब्दी मे दार्शनिक तत्त्वान्वेषण इतिहास, राजनीति एवं समाजशास्त्र के साथ किया गया। यद्यपि भारत मे भी दर्शन धर्म से सम्बद्ध है, फिर भी दर्शन-परक विचार धर्म से स्वतन्त्र एव जीवन का महत्वपूर्ण विषय रहा है। साथ ही अन्यान्य विद्याओ की प्रगति मे वह सहायक रहा है। वह स्वयं किसी विद्या का अंग कभी नहीं बना।

## (२) दर्शन एव धर्म का गाढ सम्बन्ध एव उदारता :—

भारतीय दर्शन एव धर्म एक-दूसरे के पूरक है। दर्शन द्वारा पूर्व निर्दिष्ट आध्यात्मिक तथ्यों की नींव पर ही भारतीय धर्म का मुटु दुर्ग प्रतिष्ठित है। अन्य देशों में दर्शन तथा धर्म में सामंजस्य का प्रायः अभाव ही दृष्टिगत होता है, किन्तु भारत में विचार-शास्त्र एव धर्म, तत्त्वज्ञान तथा दैनिक जीवन परस्पर दृढता से सम्बद्ध है। पाश्चात्यो की भाँति यहाँ आश्चर्यमयी आकस्मिक घटनाओं से दार्शनिक प्रवृत्ति का उद्भव नहीं होता, वरन् व्यावहारिक जीवन में भोग्य दुःखत्रय के निवारण की प्रेरणा से दार्शनिक रुचि का स्फुरण होता है। भारतीय दर्शन आत्मिक उन्नति का साधन है और जीवन का ही एक सोपान है। पाश्चात्यो की भाँति केवल विचार-विज्ञ विद्वजनों के मनो-विनोद का साधन नहीं। सिद्धान्त और अभ्यास में समन्वय होने के कारण, ऐसा दर्शन जो कि व्यापक रूप में जीवन की कसौटी पर पूरा न उतर सके, उसके लिए यहाँ कोई स्थान नहीं है।

भारतीय धर्म भी कोई रूढ़ वस्तु नहीं, अपितु तर्क-संगत सिद्धान्तों का समन्वय है, जो दर्शन की प्रगति के साथ नवीन धारणाओं को ग्रहण करता चलता है और विचारों की प्रगति के साथ पदनिक्षेप करने की चेष्टा करता है। सुप्रचलित आलोचना कि बुद्धि पर बल देने के कारण भारतीय दर्शन धर्म का स्थान ग्रहण कर लेते हैं— भारतीय धर्म की तार्किकता को स्पष्ट कर देती है। कोई भी धार्मिक आन्दोलन दार्शनिक आधारशिला के बिना यहाँ प्रादुर्भूत नहीं हुआ। मिस्टर हैवेल का कथन है—“भारत में धर्म रूढ़ वस्तु कहा ही नहीं जा सकता। वह मानव-आचारों का एक व्यावहारिक समन्वय है, जो कि आत्मपरक विकास की विभिन्न श्रेणियों के अनुरूप विभिन्न श्रेणियों में ढला है और जीवन के प्रत्येक पहलू को समेटता है।” इन सब बातों से भारतीय दर्शन एवं धर्म के पारस्परिक सम्बन्ध की घनिष्टता, व्यावहारिकता, उदारता एव व्यापकता ही प्रकट होती है।

## (३) विवेचनात्मकता :—

भारतीय दर्शनों की प्रवृत्ति उदार, व्यापक एव व्यावहारिक होने के साथ-साथ सदैव विवेचनात्मक रही है। धार्मिक परम्पराएँ दर्शन की प्रगति में कभी भी अवरोधक

१. इंडियन फिलॉसफी—( राधाकृष्णन् )

नहीं बनीं। जब भी इसने किसी सम्प्रदाय-विशेष के रूप में बद्ध होने की चेष्टा की तभी आत्मिक पुनरुत्थान के रूप में दार्शनिक प्रतिक्रियाएँ हुईं, जिन्होंने धारणाओं और मान्यताओं को आलोचना की कसौटी पर ला रखा, जिसमें सत्य का कांचन ही अवशिष्ट रहा और व्यर्थ की कालिख भस्म हो गई।

यूरोप में मध्ययुगीन ईसाई धर्म के प्रवाह ने दर्शन को निष्प्राण कर दिया। उसके तर्क-विरुद्ध, अनैसर्गिक सिद्धान्तों के पुष्टीकरण की प्रवृत्ति ने यूरोपीय तत्त्वज्ञान की प्रगति को अवरुद्ध कर दिया। भारतीय तत्त्वज्ञान की रुहान सदैव से समीक्षात्मक रही है। ईश्वर जैसे महान् विषय को भी भारतीय दर्शनो ने स्वतन्त्रता पूर्वक तार्किक कसौटी पर परखने में संकोच नहीं किया। तर्कों द्वारा सिद्ध न कर पाने से ईश्वर के विषय में सांख्य ने मौन धारण ही उचित समझा।<sup>१</sup> योग क्लेश-कर्मादि से अस्पृष्ट पुरुष-विशेष के रूप में ईश्वर की सत्ता मान कर भी, उसे नैयायिकों की भोंति, विश्व का नित्य कर्ता स्वीकार नहीं करता।<sup>२</sup> कर्मवादी मीमांसक मत में ईश्वर के निरूपण का अवसर न रहने<sup>३</sup> से उसमें तद्विषयक ज्ञान का भार वेदान्त पर डाल

१. ईश्वरासिद्धे (सा० सू० १/६२)।

टिप्पणी—इस सूत्र से यह नहीं समझना चाहिए कि सांख्य ईश्वर की सत्ता ही अस्वीकार करता है। लौकिक प्रत्यक्ष से अज्ञेय होने के कारण ही यह सूत्र प्रत्यक्ष प्रमाण के प्रसंग में सांख्य-सूत्रों में उक्त हुआ है। विज्ञानभिक्षुकृत 'सांख्य प्रवचन-भाष्य' (१/६७ तथा ३/५७ की व्याख्या) से भी यही सिद्ध होता है कि वह (सांख्य) अनीश्वरवादी नहीं है। ईश्वर योगी द्वारा ही साक्षात्कारणीय है। अतः योगीजनों—द्वारा ही साक्षात्कारणीय होने से, लौकिक प्रत्यक्ष से ईश्वर सिद्ध नहीं होता। इसी दृष्टि से ईश्वर के विषय में सांख्य मौन है।

२. 'क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुष विशेष ईश्वर' (यो० सू० १/२४)।

३. जगत्कर्ता अथवा वेदों के रचयिता (न्याय सम्मत) के रूप में ईश्वर का मीमांसा में खंडन किया गया है। जगत् की मूल सृष्टि और प्रलय वे स्वीकार नहीं करते। मीमांसक मत में जगत् सत्य है—'तस्माद्यद्गृह्यते वस्तु येन रूपेण सर्वदा। तत्तथैवाभ्युपेतव्य सामान्यमथ वेतरम् ॥' (श्लोकवार्तिक, पृष्ठ ४०४)

वेदों को मीमांसक नित्य एवं अपौरुषेय मानते हैं। शुभ-अशुभ कर्म जन्य अपूर्व से पुण्य-पाप का फल स्वतः मिल जाता है। अतः उसके लिए भी ईश्वर की आवश्यकता नहीं है। कर्म-काण्ड ही मीमांसा का मुख्य विषय है अतः ईश्वर—निरूपण का अवकाश इसमें नहीं है। इसीलिए ईश्वर की सिद्धि नहीं की गई है। पर इससे उसे ईश्वर में अविश्वासी नहीं माना जा सकता। कुमारिल ने स्पष्ट ही कहा है—

दिया गया है।<sup>१</sup> हीन मतानुयायी बौद्ध तथा जैन सम्प्रदाय ईश्वर में किञ्चित्मात्र भी आस्था नहीं रखते। प्रत्यक्षवादी चार्वाक डके की चोट पर ईश्वरीय सत्ता को निराकृत करके, वैदिक क्रिया-कलापों को, तर्कहीन, अनैसर्गिक कह कर स्पष्ट शब्दों में हँसी उड़ाते हैं।

इतने पर भी भारतीय दार्शनीक इतिहास में, नास्तिक चार्वाक मत उतना ही महत्वपूर्ण है, जितना वेदानुयायी नैयायिकों का। ईश्वरीय सत्ता में मौनधारी सांख्यमत उतना ही श्रद्धास्पद है, जितना ब्रह्मवादी वेदान्त। भारतीय तत्त्वज्ञान प्रत्येक मतावलम्बी का आलिग्न करता है और प्रत्येक प्रणाली की विशद एवं युक्ति पूर्वक विवेचना करता है। अन्य देशीय दर्शनों में ऐसा उदार, व्यापक और मनोरम विवेचन अलभ्य है।

### व्यापकता :—

सत्यानुसन्धान के प्रति श्रद्धालु दृष्टि भी भारतीय दर्शनों की अपनी विशेषता है, जो उसकी व्यापकता की परिचायिका है। भारतीय विचारकों के दृष्टिकोण कितने ही भिन्न क्यों न हों, वे परपक्षी के मत के प्रति श्रद्धाभाव रखते हैं तथा उनके बेमेल सिद्धान्तों का समुचित समाधान किये बिना स्वाभिमत मत का प्रतिपादन नहीं करते। प्रत्येक दर्शन के प्रामाणिक ग्रन्थों में अन्यान्य मतों का पूर्वपक्ष के रूप में उल्लेख किया जाता है। पुनः युक्तिपूर्वक परमत का निरसन एवं स्वमत स्थापन किया जाता है। अन्यान्य सम्प्रदायों के समान एवं उत्कृष्ट सिद्धान्तों के प्रामाण्यरूप से भी यदा-कदा उद्धरण मिलते हैं। किसी भी भारतीय दर्शन में तदतिरिक्त भारतीय दर्शनों के ही नहीं, अपितु पाश्चात्य विवेचकों द्वारा विवेचित सिद्धान्तों की भी आदरपूर्वक समीक्षा की गई है। इस प्रकार समस्त भूतल की विचारधाराओं का उररीकरण भारतीय दर्शनों की उदार, व्यापक एवं सर्वाङ्गीण दृष्टि का परिचायक है।

इनके अतिरिक्त भारतीय दर्शनों की व्यावहारिकता, उनकी लोकप्रियता, मनोवैज्ञानिकता, अविच्छिन्नता आदि अनेक विशेषताएँ हैं, जिनका यत्किञ्चित् निरूपण पहले भी किया जा चुका है, विशेष विवरण आगे दिया जाएगा।

१. 'इत्याहनास्तिक्य निराकरिष्णुरात्मास्तित्तां भाष्यकृदत्र युक्त्या।

दृढत्वमेतद्विषयश्च बोधः प्रयाति वेदान्तनिषेधेन ॥'

(श्लोकवार्तिक—आत्मवाद, १४८)।

भारतीयों की भाँति पाश्चात्यो ने भी तत्त्वान्वेषण बड़ी लगन एवं अध्यवसाय-पूर्वक किया है। प्राचीनकाल से सत्यानुसंधान की विशेष प्रवृत्ति भारत एवं यूनान दो ही देशों में हुई। इन दोनों ही देशों ने, इस क्षेत्र में महत्वपूर्ण खोजें की। पाश्चात्य देशों में, दर्शन का प्रथम उद्गमस्थल होने से, ग्रीस या यूनान गुरु स्थानीय माना जाता है। भारतीय एवं अन्य-देशीय दर्शनो में उद्देश्य का पार्थक्य पहले प्रदर्शित किया जा चुका है, फिर दोनों तत्त्वान्वेषी सत्य की ही खोज में निरत हैं। अतः उनमें अनेक साम्य भी है। आत्मा, जीव, जगत्, सृष्टि का कारण, वस्तु-तत्त्व की समीक्षा, प्रमाणमीमांसा, वास्तविक-कल्याण की प्राप्ति, मानवजीवन का लक्ष्य, मनो-विज्ञान, कर्तव्या-कर्तव्य का निर्णय इत्यादि दोनों ही दर्शनो के सामान्य विवेच्य विषय हैं, यद्यपि उनकी विवेचना-प्रणालियाँ एवं विचारसरणि भिन्न-भिन्न हैं।<sup>१</sup> अनेक वैषम्य होने पर भी पाश्चात्य तत्त्वज्ञो के निष्कर्ष भारतीयों के लिये भी महत्वपूर्ण एवं प्रभावोत्पादक हैं, जो अपने वैशिष्ट्य व मूल्य रखते हैं।

भारतीय दर्शनो का स्रोत जब से फूटा है तब से अब तक अविच्छिन्न रूप से प्रवाहित हो रहा है। उसकी गति में अवरोध कभी अनुभूत नहीं हुआ। अन्य देशों में दार्शनिक प्रवाह अनेकधा रुद्धप्राय हो गया। अन्यदेशीय दर्शनो से भारतीय दर्शनो की उत्पत्ति अत्यन्त प्राचीनकालिक है। वैदिककाल से वर्तमानयुग तक भारतीय दर्शनो ने अविरल प्रगति की है। पाश्चात्य दर्शनो की उत्पत्ति वि० पू० सप्तम शतक के लगभग मानी जाती है।<sup>२</sup> किन्तु उसकी धारा बहते-बहते रुक गई। पुनः किसी युग-विशेष में किसी दार्शनिक का जन्म होने पर उसके प्रभाव में तत्त्वज्ञान ने फिर कुछ श्वास भर कर शीश उन्नत किया, जब तक उसका प्रभाव रहा, तभी तक पाश्चात्य-दर्शन भी पनपा और उसका प्रभाव नष्ट होते ही वह पुनः अवरुद्ध हो गया। इस प्रकार पाश्चात्य दर्शनो की गति बारम्बार विच्छिन्न होती रही है, किन्तु भारतीय दर्शनो ने अविच्छिन्न प्रगति की है। साथ ही अन्य देशीय दर्शनो से स्वयं अप्रभावित रह कर उन पर व्यापक प्रभाव डाला।

यूनान के प्रमुख विचारक पाइथेगोरस के धर्म, दर्शन एवं दार्शनिक सिद्धान्तों पर भारतीय दर्शनो का प्रभाव सुप्रसिद्ध ऐतिहासिक घटना है। सूफियों पर तन्त्र एवं

---

१. S. N Das गुप्त कृत 'दि स्टडी आफ पतञ्जलि' के प्रारम्भिक पृष्ठों में पातञ्जलदर्शन-गत कुछ मान्यताओं तथा अरिस्टोटल, स्पिनोजा और हीगेल के विचारों की तुलना प्रस्तुत की गई है।

२. भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय—पृष्ठ १४।

वेदान्त की विशिष्ट छाप पड़ी। उपनिषदों का अनुवाद करके—दाराशिकोह ने उनका अपने धर्म में प्रचार किया। फारसी से यह अनुवाद लैटिन में किया गया। इस प्रकार यूरोप आदि में भारतीय दर्शन प्रसृत हुए। इस अनुवाद को पढ़ कर सुविख्यात दार्शनिक शोपेनहावर मुग्ध होकर कह उठे कि 'उपनिषद् मेरे जीवन एवं मृत्यु के संतोषप्रदाता हैं।' <sup>१</sup> आधुनिक युग में भारतीय दर्शनों के महत्वपूर्ण ग्रन्थ प्रायः विश्व की सभी भाषाओं में अनूदित हो चुके हैं—जो भारतीय दर्शनों के महत्व, उत्कर्ष एवं व्यापकता के परिचायक हैं।

अनेक संघर्षों के मध्य भी भारतीय सस्कृति ने सर्वदा अपना शीश उन्नत बनाए रखा। प्रोफेसर गिलबर्ट मरे के शब्दों का भाव प्रस्तुत करते हुए—'प्राचीन भारत को कितने ही भयानक तथा निम्नतम स्तरों से संघर्ष करने का दुःखान्त श्रेय प्राप्त हुआ हो, फिर भी वह उच्चतम शिखर पर अपनी विजय-वैजयन्ती फहरा रहा।' <sup>२</sup>

भारतीय दर्शनों का इतिहास मानव मस्तिष्क के चिर सनातन एवं चिरनवीन अन्वेषणों का अपूर्व दिग्दर्शन है।

### (१) (ब) भारतीय दर्शनों की व्यावहारिकता एवं लोकप्रियता—

प्रतिदिन के व्यावहारिक जीवन में अनुभूत दुःखत्रय के निवारणार्थ तत्व-ज्ञान की जिज्ञासा ही भारतीय दर्शनों का मूल है। इस तथ्य का ज्ञान ही भारतीय दर्शनों की व्यावहारिकता का पर्याप्त परिचायक है। यहाँ दर्शन कोई रूढ़ वस्तु नहीं है, अपितु तर्क सगत सिद्धान्तों का अपूर्व समन्वय है यहाँ तक कि जीवन में न उतारे जाने योग्य, केवल शुष्क ज्ञान पर आश्रित, सांख्य-दर्शन द्वारा प्रतिपादित प्रत्येक सिद्धान्त-एक उत्साहवर्द्धक दृष्टान्त के रूप में समक्ष आता है और मानव हृदय को आप्लावित करके उसे क्रियाशील बनाता है।

रूढ़िवादी परम्पराएँ जन-जीवन को हतोत्साह, प्रेरणाशून्य एवं बोझिल बना देती हैं। किन्तु भारतीय दर्शनों में ऐसे रूढ़िवाद के लिये कोई स्थान नहीं है। इसीलिये डा० राधाकृष्णन् ने लिखा है—'भारत के इतिहास में हम बारम्बार देखते हैं कि जब परम्परागत मान्यताएँ अल्प रह कर कालान्तर में झूठी सिद्ध हो जाती हैं और समाज उन्हें वहन नहीं करता, तो किसी नवीन दिग्दर्शक की प्रतिभा लेकर कोई बुद्ध या महावीर, व्यास या शंकर प्रादुर्भूत होते हैं—जो आध्यात्मिक जीवन की

१. भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय—पृष्ठ १५।

२. इण्डियन फिलॉसफी—(राधाकृष्णन्) वाल्यूम १—पृष्ठ ८।

गहराई को पुनर्स्थापित करते हैं। भारतीय दर्शन के इतिहास में निश्चित रूप से ये ही बहुमूल्य क्षण होते हैं, जिन पर दर्शन की अग्नि-परीक्षा होती है।<sup>१</sup> जब आत्मा की पुकार पर पता नहीं कहाँ से शखनाद हो उठता है और सामान्य जन-जीवन के लिये नया स्रोत प्रस्फुटित होकर, नवीन दिशा की ओर चल पड़ता है। यही दर्शन के सत्य एवं व्यावहारिक जीवन का समन्वय है। व्यावहारिक क्षेत्र में दर्शन की उपयोगिता से ही उसकी वास्तविकता एवं सजीवता सिद्ध होती है। भारतीय दर्शन कतिपय मान्य शास्त्रों के विचार का विषय नहीं, अपितु जन-साधारण के जीवन में अनुस्यूत रस है।

व्यावहारिक जीवन के क्षेत्र में योग-दर्शन ही सर्वाधिक महत्वपूर्ण है। अतः भारतीय दर्शनों की व्यावहारिकता का विशेष विवरण इसी शीर्षक के (स) विभाग में योग के प्रकरण में द्रष्टव्य है। दैनिक जीवन में दर्शन की उपयोगिता ही उसकी लोकप्रियता का प्रमुख रहस्य है। वैसे भारतीय दर्शनों का विचार-स्वातन्त्र्य, उसकी उदारता, व्यापकता, विवेचनात्मकता, तार्किकता, मर्मस्पर्शिता, धर्म एवं जन-जीवन से अविच्छिन्नता सभी कुछ उसकी लोकप्रियता के कारण हैं, जिनका पिछले विभाग (अ) में वर्णन हो चुका है।

### (१) (स) योगदर्शन की उदारता, व्यापकता एवं विवेचनात्मकता

योग सम्पूर्ण सम्प्रदायों एवं मत-मतान्तरों के पक्षपात से शून्य सार्वभौम धर्म है, जो स्वयं अनुभव द्वारा तत्त्वसाक्षात्कार करना 'सिखा कर' मनुष्य को अन्तिम लक्ष्य तक पहुँचाता है। योग भारतीय दर्शनों की सर्वाधिक प्राचीन एवं अधिकतम समीचीन सम्पत्ति है। इसकी महत्ता के विषय में कोई भी विप्रतिपत्ति अथवा विवाद नहीं है। यह सर्वसम्मत एवं अविस्वादि मन्तव्य है कि योग ही मुक्ति का सर्वोत्कृष्ट साधन है। मनुष्यमात्र जिन उद्देश्यों को समक्ष रख कर अग्रसर होता है, उन धर्म, अर्थ, काम एवं मोक्ष रूप पुरुषार्थ चतुष्टय में—मोक्ष ही मानव-जीवन का चरम लक्ष्य माना गया है। ईश्वर की प्राप्ति हेतु विभिन्न दर्शनों ने अपनी प्रखर ज्ञान-रश्मियों के द्वारा हमारे मोक्ष-मार्ग को स्वच्छ कर दिया है, किन्तु औषध के नामोच्चारण मात्र से रोगी

१. 'इंडियन फिलॉसफी'—राधाकृष्णन्—

प्रथम खण्ड—पृष्ठ २६।

२. 'पातञ्जल-योगसूत्र' में किसी भी मत-मतान्तर का उल्लेख एवं खंडन नहीं किया गया है, किन्तु बाद के आचार्यों ने स्पष्टनामोल्लेखपूर्वक परम खंडन किया है।



रोगमुक्त नहीं हो जाता। उसके हेतु व्यावहारिक उपचार करना अनिवार्य है। इसी प्रकार केवल क्रियाहीन ज्ञान हमारे लक्ष्य की प्राप्ति में कथमपि समर्थ नहीं हो सकती। काल्पनिक तत्त्वज्ञान का व्यावहारिक जीवन में उपयोग करने का विधान पतञ्जलि के योगसूत्रों में किया गया है। प्रत्येक भारतीय दर्शन, जो कदाचित् योग के प्रधान आदि पदार्थों से असहमत है, उनका भी योगोपदिष्ट प्रक्रियाएँ पूर्ण मान्य है। समस्त भारतीय दर्शन एक ही परमात्म-तत्त्व का विविध दृष्टियों से विवेचन करते हैं।

जब तक विषयोन्मुख इन्द्रियो को, विषयो से विरत करके, अन्तर्मुखी न बनाया जाय, तब तक सच्चे कल्याण की उपलब्धि नहीं हो सकती। सत्य मार्ग पर चलने के लिये आत्मसमय एव चित्तशुद्धि परमावश्यक है। इनके हेतु योगदर्शन में यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एव समाधि, इन अष्टांगों का विधान है। इनके समुचित अनुष्ठान से शरीर, चित्त एव इन्द्रियाँ शीघ्र ही निर्मल होकर तत्त्व-साक्षात्कार हो जाता है।

योगाभ्यास के बिना असमाहित मन रहने पर केवल 'तत्त्वमसि' एव 'जीवो ब्रह्मैवनापरः' इत्यादि महावाक्यों के पठन-पाठन से, अपरोक्ष आत्मज्ञान असम्भव है। अतः चित्त को एकाग्र करने तथा तत्त्वासाक्षात्कार-हेतु योग-साधना अत्यन्त आवश्यक है।

प्राचीन ऋषियों की अपूर्व अन्तर्दृष्टि एव प्रातिभ ज्ञान का मूल योगाभ्यास ही है। ससारानल-ससप्त जीवों को परमात्मा से मिलाने में योग, भक्ति एव ज्ञान का, सहायक है। इसीलिये, क्या धर्म-प्रचारक, क्या दार्शनिक, सभी एक स्वर से योग की महत्ता एव उपयोगिता स्वीकार करते हैं।

योगदर्शन की महत्ता एव योगनिर्दिष्ट प्रक्रियाओं का वर्णन श्रुति, स्मृति, पुराणादि धार्मिक ग्रन्थों में पर्याप्त रूप से उपलब्ध होता है। वैदिककाल भारतीय सस्कृति का प्राचीनतम समय माना जाता है। संहिताओं एव उपनिषदों आदि में योग का विशद वर्णन देखने से उसकी अत्यन्त प्राचीन काल से ही व्यापकता प्रकट होती है। ऋग्वेदीय संहिताओं में योगाभ्यास-सूचक मन्त्र-बहुलता से उपलब्ध होते हैं और उसी प्रकार अथर्ववेद में भी।<sup>१</sup> ब्राह्मण एव आरण्यकों में भी योग-सम्बद्ध वर्णनों की कमी

१. ऋग्वेद—१०/११४/४, १/५०/१०, ३/५२/१०, १०/१७७/१।

अथर्ववेद—१०/२/३१-३२, १०/८/४३ इत्यादि।

नहीं है।<sup>१</sup> 'श्वेताश्वतर उपनिषद्' प्राचीन योग-विद्या का ग्रंथ है। इन साहित्यिक साक्ष्यों के अतिरिक्त पुरातत्त्व-विद्या से भी योग-विद्या की प्राचीनता सिद्ध होती है। मोहनजोदड़ो की खुदाई में योगमुद्रावस्थित मूर्तियों की उपलब्धि से भी उसकी प्राचीनता द्योतित होती है।<sup>२</sup> 'महाभारत' 'भागवत', 'विष्णु पुराण', 'याज्ञवल्क्य-स्मृति', 'योगवासिष्ठ' आदि में योग का विस्तृत विवरण मिलता है। शिक्षा-ग्रंथो में भी योगमूलक विषय वर्णित है।<sup>३</sup> शब्द विद्यामर्मज्ञो का योगवेत्तृत्व प्रसिद्ध है। वैयाकरण शब्द-ब्रह्मोपासक होते हैं। अतः उनका योगी होना निःसन्देह है। समस्त योगसाधन एकमात्र अपौरुषेय वेदो पर ही आधारित है। शैवागम के अन्तर्गत तथा व्याकरण, आगमो में भी वाग्योग अथवा शब्दयोग नामक योग प्रणाली का उल्लेख मिलता है। भर्तृहरि की 'वाक्यपदीय' की व्याख्या के अनुशीलनकर्त्ता वाग्योग से परिचित थे। व्याकृत शब्द की वैखरी दशा से मध्यमा पार कर के पश्यन्ती दशा में आना इस योग का मुख्य उद्देश्य है।<sup>४</sup> निरुक्त में यौगिक विषय स्पष्टतः स्वीकार किये गये हैं।<sup>५</sup>

बौद्ध-ग्रन्थो में योग का विशद वर्णन मिलता है। बौद्ध धर्म के मौलिक सिद्धान्त 'धर्म-चक्र प्रवर्तनसूत्र' में है जिनमें अष्टांगयोग (आर्य अष्टांगिक मार्ग भी है)<sup>६</sup>

१. ऐतरेय आरण्यक—२/१७, ३/१, ३/४, ३/६, ३/१, १/३/२, २/३/४। तैत्तिरीय आरण्यक—२/२, २/७, २/९। शतपथ ब्राह्मण—१/४/४/७, १४/३/२/३। तैत्तिरीय ब्राह्मण—३/१०/८/६, १/२/६।

टिप्पणी—सहितादि में योग विषयक वर्णनों का विशेष विवरण श्री राम शंकर भट्टाचार्य द्वारा सम्पादित 'पातञ्जल-योग-दर्शन' की भूमिका में है।

२. द्रष्टव्य—भा० स० इति०—सत्यकेतु विद्यालंकार—पृ० ६६।

३. नारदीय शिक्षा—१२।

४. इदमाद्यं पदस्थान सिद्धिसोपानपर्वणाम्।

इयं सा मोक्षमाणा नामजिह्वा राजपद्धतिः ॥ (वाक्यपदीय १/१७)

अपि च—

'तस्माद्यः शब्दसंस्कार सा सिद्धिः परमात्मनः।

तस्य प्रवृत्तितत्त्वज्ञस्तद् ब्रह्मामृतमश्नुते ॥' (वाक्य प० १/१३२)

५. निरुक्त अध्या० १३-१४।

६. द्रष्टव्य—हिन्दू० स० (पृ० २३८) तथा 'पातञ्जल-योग-प्रदीप' (पृ० ३५३-३६३)

प्राचीन बौद्धग्रन्थो मे 'पातजलयोगसूत्र' का शब्दशः अनुकरण लक्षित होता है ।<sup>१</sup> बुद्ध ने योगनिर्दिष्ट आसन, प्राणायामादि पूर्वक समाधि-साधना की थी, जिनमे समाधि को उन्होंने मोक्षोपयोगी सर्वोत्कृष्ट साधन माना है । काम, क्रोध, भय, निद्रा एवं श्वास आदि का निरोध करके ध्यानावस्थित होना सांख्ययोग का साधन है और यही भगवान् बुद्ध ने भी किया था । बुद्ध की मार-विजय प्रसिद्ध है, जिसका अर्थ काम, क्रोध एवं भय पर विजय ही है । जैन-दर्शन-गत योग के भी पाँच यम ही मुख्य साधन हैं, जिनको अनुव्रत कहते हैं । महावीर स्वयं प्रसिद्ध योगी थे और उनके जैन-दर्शन मे योग का विशिष्ट वर्णन है । जैन-ग्रन्थो में भी योगसूत्रो से अनेक स्थलो पर शब्दशः साम्य है । हरिभद्रसूरिकृत 'योग-बिन्दु' तथा यशोविजयकृत 'अध्यात्मसार' मे तो पातंजल-योग का स्पष्ट उल्लेख है ।<sup>२</sup> जैन ग्रन्थो में सम्यक्-चारित्र्य-हेतु यम-नियम एवं ध्यान को सर्वाधिक महत्व दिया गया है । पातंजल योगोक्त अहिंसा के महाव्रत से जैन सम्मत अहिंसा का स्वरूप बहुत मिलता है ।<sup>३</sup> जब वेद-बाह्य बौद्ध, जैन सदृश अनार्ष दर्शनों मे ही योग का इतना महत्वपूर्ण स्थान है, तब भारतीय आर्ष<sup>४</sup> दर्शनों में योग सर्वत्र व्याप्त है—इसमे आश्चर्य ही क्या है ?

भारतीय आर्ष दर्शनो मे से न्यायमत मे षोडश-पदार्थों द्वारा सम्पूर्ण बाह्यान्तर यथार्थ ज्ञान प्राप्त कर लेना ही तत्त्वज्ञान है । वैशेषिक दर्शन के अनुसार छः पदार्थों-द्वारा तत्त्व-निर्धारण होता है । इन दोनो ही दर्शनो मे आत्मा एवं परमात्मा के अस्तित्व, प्रमाण एवं लक्षण-सिद्धि के अनन्तर न केवल आत्म-प्रत्यक्ष हेतु, अपितु अतीन्द्रिय जड पदार्थों के भी स्वरूपसाक्षात्कार हेतु, योग की अपेक्षा स्वीकार की गई है, जिसकी साधना के हेतु इन दोनो ही दर्शनो मे अनेक प्रमाण मिलते हैं । यथा—

'समाधिविशेषाभ्यासात्'<sup>५</sup> अर्थात् समाधि विशेष के अभ्यास से ( तत्त्वज्ञान होता

१. द्रष्टव्य—भू० पा० यो० ६०—पृ० ४२ (स० रा० श० भ०) ।

२. द्रष्टव्य—श्री राम शंकर भट्टाचार्य कृत—'पातञ्जल-योग-दर्शन' की भूमिका मे 'बौद्ध एवं जैन ग्रन्थो मे पातञ्जल-योग-प्रसंग ।'

३. कल्पसूत्र—४४-४५ ।

४. न्याय, वैशेषिक, सांख्य, योग, मीमांसा एवं वेदान्त ये षड्-दर्शन आर्ष कहलाते हैं ।

५. न्याय० ४/२/४२ ।

है )। 'अरण्यमुहापुलिनादिषु योगभ्यासोपदेशः' 'तदभावश्चापसग।' 'तदर्थयम नियमाभ्यामात्मसंस्कारो यागाच्चाध्यात्मविधुपायैः' अर्थात् उस मोक्ष के हेतु यम, नियम, अभ्यासादि उपायो द्वारा आत्मसंस्कार करना चाहिये, अर्थात् योग के अवरोधक मल, विक्षेपादि आवरणों को नष्ट करना चाहिये, इत्यादि न्याय के वाक्यों में, तथा वैशेषिक के—

### ‘आत्मन्यात्ममनसो सयोगविशेषादात्मप्रत्यक्षम्’

आत्मा में आत्मा के सयोग-विशेष से आत्मा का साक्षात्कार होता है। यहाँ पर सयोग-विशेष का अर्थ योग समाधि-द्वारा आत्मा और मन का सयोग-प्रत्यक्ष है।

इसी प्रकार 'तथा द्रव्यान्तरेषु प्रत्यक्षम्' अर्थात् इसी रीति से अन्य ( सूक्ष्म, अतीन्द्रिय ) द्रव्यों का प्रत्यक्ष होता है'

तथा—

### ‘असमाहितान्तः करणाः उपसंहृतसमाधयस्तेषां च’

अर्थात् मुक्त योगियों को, जो समाधि पूर्ण कर चुके हैं, उन्हें ( अतीन्द्रिय द्रव्यों का ) समाधि के बिना भी साक्षात्कार होता है, इत्यादि वैशेषिक-सूत्रों में योग की शिक्षा दी गई है।

वेदान्त दर्शन में ज्ञान के आन्तरिक साधन के रूप में योग-सम्पन्न यम-नियमादि का विधान है। यद्यपि उनके लक्षणों में कुछ भिन्नता दृष्टिगत होती है।<sup>\*</sup> मीमांसा दर्शन वेदान्त का ही कर्मकाण्ड है। वेदान्त उसका ज्ञानकाण्ड। इसीलिये मीमांसा को पूर्व-मीमांसा तथा वेदान्त को उत्तर-मीमांसा कहते हैं। मीमांसादर्शन में कर्म-काण्ड का विशद वर्णन है। अतः उसमें योग के विवरण का अवसर नहीं है, इसी दृष्टि से योग विषयक चर्चा स्पष्टतः नहीं की गई है। किन्तु इसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि मीमांसकों को योग की महत्ता अस्वीकार्य है। अग्निहोत्र दर्शपूर्णमासादि बाह्ययज्ञों का अन्तर्योग से भी सम्बन्ध है, जो गुरु-परम्परा से ही ज्ञेय

१. न्याय० ४/२/४५।

२. ” ४/२/४६।

३. वैशे० ६/१/१२, ६/१/१३, ६/१/१४।

४. द्र०—‘आसीन सम्भवात्’ ‘ध्यानाच्च’ इत्यादि ब्रह्मसूत्र (४/१/७-११)

है। पूर्वमीमांसा के सूत्रकार जैमिनि महान् योगी थे। वेदान्त के ब्रह्मसूत्र में जैमिनि का मन उद्धृत हुआ है, 'उससे यह निश्चित हो जाता है कि वे भी ब्रह्मविद्या के ज्ञाना थे। अतः मीमांसक मत-योग-विरोधी कथमपि नहीं हो सकता। वस्तुतः पूर्व-मीमांसा एवं उत्तर-मीमांसा के आत्मज्ञान सम्बन्धी तथ्यों में विशेष भिन्नता नहीं है।

‘शास्त्र-दीपिका’ के अनुसार मीमांसक मत में मोक्ष की परिभाषा है—‘प्रपञ्चसम्बन्ध विलयोमोक्षः’ पुनः ‘त्रेधा हि प्रपञ्चः। पुरुष बध्नाति तदस्य त्रिविधस्यापि बन्धस्य आत्यन्तिको विलयोमोक्षः’ अर्थात् इस जग के साथ आत्मा के ( शरीर, इन्द्रिय एवं विषय रूप ) बन्धनत्रय के सर्वथा अभाव का नाम मोक्ष है। यही सांख्य-योग सम्मत सम्प्रज्ञात समाधि का चरम लक्ष्य है।

वस्तुतः साधना चाहे किसी भी ढंग से की जाय, जब तक विषय, शरीरादि में आत्माध्यास निवृत्त नहीं होता—मन समाहित नहीं हो सकता। जब तक मन समाहित नहीं होता, तब तक शुद्धात्मतत्त्व का स्फुरण नहीं हो सकता। शुद्धात्म तब में प्रतिष्ठा प्राप्त किये बिना दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति एवं मोक्ष-प्राप्ति नहीं हो सकती। आत्मोपलब्धि-हेतु मल-विक्षेपादि के निवारणार्थ कुछ उपाय अवश्य अपनाने पड़ेंगे। वे उपाय ही यम हैं—नियम हैं। जिस किसी भी प्रकार मन समाहित हो वही अवस्था समाधि है, ( एकाग्रता विशेष ) योग है। यही कारण है कि ईश्वर-प्राप्ति के हेतु जितने भी कर्म गीता में बतलाए गए हैं, उन सबको योग नाम से अभिहित किया गया है। इस प्रकार मीमांसा और वेदान्त में भी योग के तत्त्व व्याप्त हैं। वास्तव में सांख्ययोग व वेदान्त की मान्यताएँ लगभग एक सी ही हैं। नाम-भेद के अतिरिक्त उनके तथ्यों में अल्पभिन्नता ही है।

सांख्य और योग तो उदरपृष्ठव्रत सम्बद्ध हैं। अतः सांख्य में यौगिक प्रक्रियाओं की स्वीकृति स्वतः सिद्ध है। इनमें तत्त्वकाण्ड या ज्ञानकाण्ड की सज्ञा सांख्य एवं उसके व्यवहार पक्ष का अभिधान योग है। सांख्य और योग दो अलग नाम होने पर भी—इनकी अभिन्नता प्रतिपादित करते हुए गीता में कहा गया है :—

‘सांख्ययोगो’ पृथग्बालाः प्रवदन्ति न पण्डिताः।

एकमप्या स्थितः सम्यग्बुभयोर्विन्दते फलम् ॥

यत्सांख्यैः प्राप्यते स्थानं तद्योगैरपि गम्यते ।

एकं सांख्यं च योगं च यः पश्यति सःपश्यति ॥<sup>१</sup>

‘योगवासिष्ठ’ में भी कहा गया है—

‘द्वौ क्रमौचित्तनाशाय योगो ज्ञानं च राघव ।

योगो वृत्तिनिरोधो हि ज्ञानं सम्यगवेक्षणम् ॥

असाध्यः कस्यचिद्योगो ज्ञान कस्यचिदेव च ।

प्रकारौ द्वौ ततौ साक्षात् जगादपरमः शिवः ॥

अतः सांख्य और योग अभिन्न हैं साथ ही प्राचीन भी जैसा कि ‘महाभारत’ में लिखा है—

सांख्यस्यवक्ता कपिलः परमर्षिः स उच्यते ।

हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः ॥<sup>२</sup>

षड्दर्शनो के अतिरिक्त तन्त्रो में योग का महत्त्वपूर्ण स्थान है । नाथपंथियों के हठयोगादि प्रसिद्ध हैं । हठयोग राजयोग का ही साधनमात्र है—“केवलं राजयोगाय हठयोगोऽपदिश्यते ।”<sup>३</sup> यह अवश्य है कि तान्त्रिक दृष्टि से मुक्ति के स्वरूप में तथा कैवल्य के स्वरूप में भेद है । तन्त्र मुक्ति में शिवशक्ति अथवा विष्णु—शक्ति आदि के नित्य मिलन एवं आनन्दरूपता को स्वीकार करते हैं ।<sup>४</sup> भगवद्गीता जैसा जगत्मान्य एवं ‘प्रस्थानत्रयी’ का विशिष्ट ग्रन्थ योग की भूरि-भूरि प्रशंसा करने में व्यस्त है । गीता ने तो जीवन के हर क्षेत्र में योग की उपयोगिता बतलाई है । उसमें कर्मयोग, कर्मसंन्यास योग, भक्तियोग, सांख्ययोग इत्यादि कोई भी ऐसा अध्याय नहीं है, जिसके नाम में योग शब्द का समावेश न हो । यहाँ तक कि अर्जुन के विषाद से सम्बद्ध प्रथम अध्याय का नाम भी ‘विषादयोग’ रख दिया गया । मन्त्रयोग, लययोग आदि तो प्रसिद्ध ही हैं । ये सभी पातंजल-योग में पर्यवसित होते हैं ।

पाश्चात्य देशों में भी योग के प्रति तृष्णा दृष्टिगत होती है । धर्म से अतृप्त जन-समुदाय योग का अनुधावन करता है । जैसा कि श्रीमती कोस्टर की—‘Yoga

१ गीता, अ० ५, श्लोक ४-५ ।

२. ३४९/६५ शान्तिपर्व ।

३. ‘हठयोग प्रदीपिका, श्लोक २’ इस विषय में इसी ग्रन्थ का श्लोक ३/२६ भी द्रष्टव्य है ।

४. ‘द्वैततान्त्रिक साधना में कैवल्य का स्थान’ शीर्षक में श्रीयुत् गोपीनाथ कविराज ने बतलाया है कि वैष्णव तान्त्रिकों की दृष्टि में कैवल्य की स्थिति, पतिपरित्यक्ता पत्नी के तुल्य है । (द्रष्टव्य—भा० स० सा०, प्र० ख०, पृ० १७०) ।

is of practical interest and value to those for whom religion in the ordinary sense of the world has no appeal"—  
इस उक्ति से सुस्पष्ट है ।

जन-साधारण के व्यावहारिक क्षेत्र में भी योगदर्शन की उपादेयता अतुलनीय है । अन्यान्य दर्शन-सम्मत दुःखत्रय चाहे जन-सामान्य को बोधगम्य भी न हो, किन्तु योगोक्त पञ्चक्लेशों की व्यापकता सर्वविदित है । अविद्या, अस्मिता, राग द्वेषादि क्लेश एवं प्रमाण, विपर्यय, निद्रा आदि वृत्तियाँ हमारे व्यावहारिक जीवन के अभिन्न अंग हैं । योग में इन सबका ग्रहण एवं उनकी समीक्षा, उसकी व्यावहारिकता का ज्वलंत उदाहरण है । चित्त एवं उसकी वृत्तियों की सुदृढ नींव पर ही योग एवं मनो-विज्ञान का विशाल दुर्ग प्रतिष्ठित है । किन्तु पाश्चात्य मनोविज्ञान जहाँ समाप्त होता है वहाँ से भारतीय मनोविज्ञान का श्रीगणेश होता है ।<sup>१</sup>

योग में चित्त की एकाग्रता पर सर्वाधिक बल दिया गया है । एकाग्रता मन स्तव की समग्र शक्ति का सयम है । इसके लिये दृढ सकल्प शक्ति परमावश्यक है । प्रत्ययैक-तानता—सदृश ज्ञान प्रवाह रूप ध्यान की प्रकृष्टवस्था में एकाग्रता का उदय होता है । उक्त एकाग्रता पारमार्थिक तत्त्वज्ञान-हेतु ही नहीं अपितु सभ्य भौतिक प्रगति अथवा लौकिक अभ्युदय के क्षेत्र में भी अपरिहार्य है । फलतः सफल एवं समृद्धिमय जीवनयापन हेतु तथा सवेगो के एकीकरण की दृष्टि से योगमनोविज्ञान अत्यन्त महत्वपूर्ण है ।

चित्त की विभिन्न शक्तियों के भेद से उसकी मन, बुद्धि और अहंकार सजाएँ हैं । पाश्चात्यमनोविज्ञान में अब तक इस प्रकार का वैज्ञानिक अध्ययन नहीं हुआ है, परन्तु इन विभिन्न सत्ताओं के प्रति वह आस्थाशील है । पाश्चात्य मनोविज्ञान अर्धचेतन एवं अचेतन मन की सत्ता मानता है परन्तु अतिचेतन अथवा ऊर्ध्वचेतन मन की सत्ता में आस्था नहीं रखता । एक दो पाश्चात्यो ने ऊर्ध्वचेतन मानसिक विज्ञान के रेखाङ्कन का प्रयत्न किया है, किन्तु वह अत्यन्त अपूर्ण ढंग के आध्यात्मिक उपान्त का स्पर्श-मात्र करता है । भारतीय मनीषियों ने योगमनोविज्ञान के माध्यम से इस विज्ञान को उच्चतम आध्यात्मिक स्तर तक पहुँचाया है ।

योग में चित्तवृत्तियों के निरोध के उपदेश से कतिपय आधुनिक मनोविज्ञान विद्वानों का कथन है कि इससे स्वाभाविक प्रवृत्तियों का दमन होता है और इस दमन से तीव्र अहंकार की उत्पत्ति होने के कारण मन में उत्तरोत्तर संघर्ष एवं तनावपूर्ण स्थिति समुद्भूत होगी । किन्तु आज अनेको आधुनिक वैज्ञानिक प्रयोगों द्वारा भी यह सिद्ध

हो चुका है कि योगाभ्यास से उत्तरोत्तर तीव्र अहंकार जैसी अवांच्छनीय वृत्तियों की निवृत्ति, उत्कृष्ट मानवीय शक्तियों का विकास तथा मानसिक संघर्षों का ह्रास होता है। संयमविहीन इन्द्रियस्वच्छन्दता से मनुष्य का व्यक्तित्व अव्यवस्थित होता है। गैस्टाल्ट के अनुसार तो “अतीन्द्रिय सुख की इच्छा मानव की प्रमुख मूलप्रवृत्ति है” और अतीन्द्रिय सुखोपलब्धि इन्द्रिय-संयम के बिना अलभ्य है।

योगदर्शन में चित्तवृत्तियों के एकीकरण के हेतु विभिन्न उपाय वर्णित हैं तथा शारीरिक एवं मानसिक उभयविध अनुशासन के सिद्धान्त निरूपित हैं। योग के अत्यन्त प्रारम्भिक साधन यम-नियमों में ही, न केवल उत्कृष्ट नैतिक प्रशिक्षण की शिक्षा दी गई है, अपितु विक्षुब्ध, संवेगों को किस प्रकार उनके विरुद्ध विधानात्मक एवं रचनात्मक प्रवृत्तियों में परिणत करके शान्ति प्राप्त की जा सकती है इसका भी विधान है। इन यम-नियमों की साधना से स्नायु संस्थान में अपूर्व शक्ति का सवर्धन होता है। इसी भाँति आसन एवं प्राणायाम भी स्नायुपेशीय संस्थान की विश्रान्ति एवं मानसिक विक्षोभों के निराकरण के उत्कृष्ट साधन हैं। आधुनिक मनोविज्ञानविदों ने भी स्नायुसंस्थानीय विश्रान्ति की आवश्यकता का अनुभव किया है। पर उनके द्वारा निर्दिष्ट मानसिक विश्रान्ति के उपाय योगोक्त उपायों की भाँति गम्भीर व प्रभावशील नहीं हैं। पातञ्जल योग के अन्तिम चार साधनों से तो मनोविज्ञान का अत्यन्त निकट सम्बन्ध है।<sup>१</sup>

पाश्चात्य दर्शनो में मनोविज्ञान ने आज विश्वव्यापी महत्वपूर्ण क्रान्ति उत्पन्न कर दी है। किन्तु महर्षि पतञ्जलि के पूर्ण निश्चित, अकाट्य एवं नितान्त मनो-वैज्ञानिक दृष्टिकोण का पाश्चात्य विचारक भी लोहा मानते हैं—आधुनिक पाश्चात्य विदुषी श्रीमती जी० कोस्टर ने अपने उद्गार प्रकट करते हुए लिखा है कि पूर्व के मनोवैज्ञानिक मानव—मस्तिष्क एवं भावनाओं के विषय में—हमलोगों की तुलना में कहीं अधिक विशद एवं निश्चित जानकारी देते हैं तथा उसके विषय में कार्य-कारणात्मक सम्बन्ध की व्याख्या करते हैं। इस विषय में जितने भी प्रश्न गिनाये जा सकते हैं उनमें से किसी के भी विषय में उनके पास सुस्पष्ट और सम्पूर्ण उत्तर विद्यमान है, जो उन्हें सन्तुष्ट करता है और जिसको वे स्वयं ही प्रयोग द्वारा अनुभव भी कर सकते हैं। साथ ही जिसका दूसरों ने भी सतत अनुभव किया है। पौर्वात्य मस्तिष्क के लिये यह सब इतना सुलभ और सुपरिचित है कि वे उसे सिद्धान्तरूप में



वर्णित कर सकते हैं। पतंजलि के सूत्र इन्हीं सिद्धान्तों पर आश्रित हैं। पतंजलि के लिए कार्य-कारण-सम्बन्ध से परे भवितव्य नाम की कोई वस्तु नहीं है। क्योंकि इस सिद्धान्त को वे सर्व व्यापी और सूक्ष्म-स्थूल द्विविध क्षेत्रों में अवश्यम्भावी मानते हैं। वे पुनः लिखती हैं कि मानस विवास की व्यावहारिक पद्धति का नाम योग है। चिकित्सानिदानवत् यह व्यावहारिक है। अत्यन्त विज्ञमानस चिकित्सक आज भी जिन तथ्यों का अन्वेषण करते हैं, योगसूत्र में उनका पूर्व से ही उल्लेख है। जो प्रायोगिक है।<sup>१</sup>

वस्तुतः सांख्ययोग में उपदिष्ट ज्ञान एवं शील के द्वारा अब तक भूतल पर मानव-समाज जितना अधिक अलोकित एवं साधुशील हुआ है, उतना अन्य किसी भी धर्म या दर्शन से नहीं। सांख्य-निर्दिष्ट सत्त्व, रज एवं तम से ही भारत में वैद्यक शास्त्र का उद्भव हुआ, जैसा कि महाभारत की निम्नलिखित उक्तियों से स्पष्ट है—

‘शीतोष्णे चैव वायुश्च गुणाराजन् शरीरजाः ।

तेषां ‘गुणानां’ साम्यं चेत्तदारुः स्वस्थलक्षणम् ॥

उष्णेन बाध्यते शीतं शीतेनोष्णं च बाध्यते ।

सत्त्वं रजस्तमश्चेति त्रयमात्मगुणाः स्मृताः’ ॥

सत्त्व, रज एवं तम से शरीर के वात, पित्त और श्लेष्मा (कफ) का आविष्कार हुआ। इस प्रकार वैद्यक विद्या का प्रवर्तन एवं उसका प्राच्य से पाश्चात्य देशों में प्रचार हुआ।

‘नाभिचक्रे कायव्यूहं ज्ञानम्’ विभूतिपाद के इस सूत्र में शरीरविज्ञान के तत्त्व निहित हैं।<sup>२</sup> ‘व्यासभाष्य’ में इसकी विवृति करते हुए शरीर विन्यास-क्रम वर्णित हुआ है। योगशास्त्र में पञ्चकवर्णन पाया जाता है। स्थूल दृष्टि से भी उनका उपयोग करने पर शारीरिक स्वास्थ्य एवं नीरोगता प्राप्त होती है, यह अयोगियों का भी अनुभूत सत्य है। योग के अङ्गभूत आसन, मुद्रा आदि सभी शारीरिक बलवर्द्धक एवं स्थिरता के उत्पादक हैं। इनका विवरण भी शरीरविन्यासक्रम के ज्ञान से ही सम्बद्ध है।

१. द्र० योग एण्ड वेस्टर्न साइकोलाजी पृ० २४५—२४६ ।

२. इस विषय में ब्रूजेन्द्रनाथ कृत ‘दि पॉजिटिव साइन्सेज ऑफ़ एन्वोटे हिन्दूज’ ग्रन्थ भी द्रष्टव्य है।

महर्षि पतंजलि अथवा उनके व्याख्याकारों ने षट्चक्र निरूपण नहीं किया है, क्योंकि यह विषय गुरुपरंपरागम्य ही है। फिर भी 'नाभिचक्रे' 'हृदयपुण्डरीके' इत्यादि शब्दों के प्रयोग से षट्चक्रों की मान्यता सूचित होती है।

(३) योग-विद्या के सिद्धान्त चित्त से सम्बद्ध रोगों के अपाकरण में भी अत्यन्त उपयोगी है। अधिकांश रोग मानसिक होते हैं और उनके प्रभाव से शरीर में भी विकार उत्पन्न होते हैं, इस विषय में प्राच्य एवं पाश्चात्य सभी विद्वान् एकमत हैं। स्नायविक रोग तो मन से पूर्णतः सम्बद्ध है। अधिकांश रोग यत् चित्त (मन) से सम्बद्ध है, जैसा कि फ्रायड-सम्प्रदायी मनो विश्लेषण वादी भी मानते हैं, अतः निराकरण बाह्य शारीरिक चिकित्सा से नहीं अपितु मानसिक चिकित्सा से ही सम्भव है, आधुनिक मनोविज्ञान के चेतन एवं अचेतन मन, अस्वाभाविक मन, दूरदर्शन, स्पर्शन विषयक सिद्धान्त भी योग के क्षेत्र के अन्तर्गत ही हैं। इस विषय में जी० कौस्टर का 'योग ऐण्ड वेस्टर्न साइकोलॉजी स्ट्रिंग एण्ड गोज' का 'योग फोर टुडे' ग्रन्थ द्रष्टव्य है।

डा० के० टी० बेदानन ने 'योग' नामक ग्रन्थ में लिखा है कि योग तथा मनो-विश्लेषण दोनों ही मानवीय चिकित्सा पद्धतियाँ हैं किन्तु उन दोनों में योग उच्चतर है—“Yoga and Psycho-analysis are both therapeutic systems. Yoga goes much further than that”

(४) जड-विज्ञान-वेत्ताओं की यह नवीनतम खोज कि जगत् का मूलभूत द्रव्य मनोजातीय है—योग-दर्शन द्वारा अनुमोदित ही है। योगसिद्धि मनोबल के अधीन है। मानसबल की वृद्धि के तारतम्यानुसार प्राणायामादिक अनुष्ठानों में सफलता मिलती है। बाह्य विषयों द्वारा आन्तरिक चित्त किस प्रकार परिणत होता है, इस बात को भौतिक वैज्ञानिक अब तक नहीं समझ सके हैं। अध्यात्म तत्त्वों ने यह तथ्य भली भाँति हृदयंगम किया है। साख्ययोग की दृष्टि में सम्पूर्ण जगत् चित्त की क्रीडा मात्र है। समस्त भौतिक प्रपञ्च का मूल पञ्चभूत। पञ्चभूत का उपादान पञ्चतन्मात्र और तन्मात्राओं का उपादान अस्मिता है। एतावता विषयों के मूल में अस्मितारूप

---

१. चैप्टर १, ३, ५ तथा लेन्दन में स्थित रामकृष्ण वेदान्तकेन्द्र से प्रकाशित “Vedant for the East and West” के ८९ वें सीरीज (मई, जून १९६६) के अन्तर्गत डा० एच० एल० शर्मा कृत 'दि सुपर कोन्सेप्ट' लेख द्रष्टव्य है।

अन्तःकरण है। वैषयिक क्रिया का स्वरूप अज्ञात है परन्तु उस क्रिया से अन्तःकरण में होने वाला विकार शब्द, स्पर्शादि के रूप में ज्ञात होता है। अतः शब्दस्पर्शादिमय यह जगत् अन्तःकरणमूलक है। विषय बोध एवं भोग रूप संसार की प्राप्ति भी चित्त एवं उसकी वृत्तियों के कारण ही होती है। इस प्रकार वस्तु के कारण एवं कार्य रूप दोनों पक्षों में अन्तःकरण कार्यशील है। अतः सांख्ययोग की दृष्टि में सम्पूर्ण जगत् चित्त की क्रीड़ामात्र है। इस विषय में आधुनिक ज्ञानिकों का भी यत्किंचित् प्रवेश देखा जाता है।

-(५) आधुनिक भौतिक विज्ञान के अन्तर्गत योगानुमोदित सत्कार्यवाद को स्वीकार किया गया है। विज्ञान के सूक्ष्मतम सिद्धान्तों में सत्कार्यवादान्तर्गत शक्ति-परिणामवाद को ही मान्यता प्रदान की गई है, विवर्तवाद अथवा आरंभवादादि को नहीं।

(६) भूमि की माप, संवत्सर के विभाजन, अन्तरिक्ष का मानचित्र, सूर्य, चन्द्र तथा विभिन्न नक्षत्रों के पथ का निर्णय, पदार्थों की रचना का विश्लेषण, पशु-पक्षी आदिकों की प्रकृति एवं भाषा का विज्ञान, खगोल-शास्त्र इत्यादि अनेक विज्ञानों के बीज योगशास्त्र में विद्यमान हैं। हमारे प्राचीन मनीषियों ने योग द्वारा इन विषयों का साक्षात्कार करके ही तत्-तत् विशिष्ट शास्त्रों का प्रणयन किया था। इसलिये बाह्यविज्ञानों के क्षेत्र में भी भारत की पहुँच अगाध है।

(७) वैयक्तिक जीवन की सुख-शान्ति के लिये यम-नियमान्तर्गत शील का अभ्यास नितान्त उपयोगी है। राष्ट्रविद्या, समाजविद्या आदि का आवार शील ही है। मनुजी ने सर्वविध लौकिक कार्यों की सिद्धि में अध्यात्मज्ञान को अत्याज्य बतलाया है।<sup>१</sup>

वस्तुतः योग जैसा व्यापक, तर्क सम्मत व्यावहारिक एवं अविसर्वादि अन्य कोई भी दर्शन नहीं है। क्योंकि इसमें अन्य दर्शनों की भौति परमत खडन करके, स्वमत मंडन के हेतु युक्तिवाद ग्रहण न करके, केवल परिमित शब्दों में स्वसिद्धान्तनिरूपण ही किया गया है। 'योग-सूत्र' में ग्रन्थकार ने स्वाभाविकरूप से अपने सिद्धान्तों को प्रमाणित करने के लिये शंकाएँ एवं उनका समाधान किया है। यथा- 'न तत्स्वाभास

१. ध्यानिं सर्वमेवैतद् प्रदेतदभिषिद्धितम् ।

न ह्यनध्यात्मवित् कश्चित् क्रियाफलमुपाश्नुते ॥ (मनुस्मृति ६/८२)

दृश्यत्वात्' इस सूत्र के अन्तर्गत जो शंका स्वभावतः उठ सकती है, उसी का निराकरण किया गया है। इस प्रकार की शंका अन्य किसी सम्प्रदाय का ही मत हो, यह आवश्यक नहीं। भाष्यकार व्यास ने सूत्रों का तात्पर्य ग्रहण करके अनेक स्थलों पर अपने समय में प्रचलित बौद्धादि मत-परिहार भी किया है, किन्तु सूत्रकार ने स्वाभाविक न्यायदोष का परिहारमात्र किया है।

योगविद्या का प्राप्त प्राचीनतम ग्रन्थ 'पातञ्जल-योगसूत्र' है। 'योगसूत्र' और इस पर व्यासकृत 'योगभाष्य' जैसे विशुद्ध, तर्क-सम्मत, गम्भीर और पूर्ण दार्शनिकग्रन्थ आज विश्व भर में अप्राप्य है। पतञ्जलि के न्यायानुरूप लक्षण युक्तिशृङ्खला, प्राञ्जलता, उनके सिद्धान्तों की व्यावहारिकता और अकाट्यता सभी कुछ अतुलनीय हैं। योगभाष्य जैसा सारयुक्त विशुद्ध न्यायपूर्ण एवं गंभीर दर्शनग्रन्थ सर्वथा दुर्लभ है। इस प्रकार योगदर्शन के रत्नकोषस्वरूप यह ग्रन्थ प्राचीन भारतीय दार्शनिक गौरव का अवशिष्ट सर्वोत्कृष्ट उदाहरण है।

योग-दर्शन के अतिरिक्त अन्य सभी दर्शनो का यत्र-तत्र खंडन मिलता है, किन्तु योग के समक्ष समस्त दर्शन नतमस्तक हो जाते हैं। जीवन के हर क्षेत्र में योग के सिद्धान्तों की महत्ता है। जिस प्रकार योग का ज्ञान उन्नत है, उसका न्याय जितना ही पक्षपातरहित एवं अन्व विश्वास-विहीन है, उसी प्रकार उसमें उपदिष्टशील भी विशुद्ध, उदार एवं पावनतम है। अहिंसा, सत्यादि की अपेक्षा स्वच्छशील तथा मैत्री, कृष्णा, मुदिता आदि से अधिक उदार और पवित्र भावना अकल्पनीय है। बौद्ध योग के इसी शील को अपनाने से आज सम्पूर्ण विश्व में समादृत है।

योग-दर्शन केवल भारत में ही नहीं, अपितु विदेशों में भी व्याप्त है। इसकी उदारता, व्यावहारिकता एवं वैज्ञानिकता तथा अलौकिक सिद्धियों ने विदेशों को भी आकर्षित किया और वे भी भारत में आकर योगविद्या का अभ्यास करते हैं।

अमेरिका के साधुओं का ऋषीकेश आदि में आकर योगाभ्यास करना और रूस आदि देशों में, भारत के कतिपय योगियों का बुलाया जाना, योगविद्या की महत्ता एवं व्यापकता का ही परिचायक है।

लन्दन, अमेरिका आदि में लगभग डेढ़ सौ योगवेदान्त-केन्द्र हैं। रामकृष्ण मिशन आश्रम, हालीउड का शान्ति आश्रम, सेक्रेमेन्टो-आश्रम, नेलीफोर्नियाँ आदि सुप्रसिद्ध हैं। ये केन्द्र प्रयोगशालाओं के रूप में खुले हैं तथा इनमें भारतीय योगियों व

सन्यासियों के शिष्यत्व में, वहाँ के निवासी भारतीय माधना-पद्धति से आसन, प्राणायाम, ध्यानादि का अभ्यास करते हैं ।<sup>१</sup>

स्वामी शिवानन्द, विवेकानन्द एवं विष्णुदेवानन्द जैसे योगी जगत्प्रसिद्ध हैं । उनके योगपरक अनेक ग्रन्थ विदेशों से भी प्रकाशित हुए हैं । स्वामी विष्णुदेवानन्द (प्रोफेसर योगवेदान्त एकेडमी ऋषीकेष ) ने ऋषीकेष में रह कर सहस्रों भारतीयों और पाश्चात्यो को योगाभ्यास की शिक्षा दी, देश-विदेश में भ्रमण करके योरुप, कनाडा, आस्ट्रेलिया आदि में भी बहुत से मनुष्यों को योगविद्या प्रदान की । स्वामी विष्णुदेवानन्द कृत “दि कप्लीट इलस्ट्रेटेड बुक आफ योग” पुस्तक की भूमिका में डा० मार्कस बाच (Marcus Bach) ने पर्याप्त प्रकाश डाला है । ग्रन्थ के अन्त में प्रकाशक ने ग्रन्थकार के विषय में जो कुछ लिखा है, उससे भी उपर्युक्त बातों की पुष्टि होती है ।<sup>२</sup>

१. इन सब बातों के विषय में लन्दन से प्रकाशित “Vedant for the East and West” के विभिन्न सीरीज द्रष्टव्य हैं । योगवेदान्त पर इंग्लैण्ड आदि से ‘Vedant for the West’ आदि अन्यान्य पत्रिकाएँ भी प्रकाशित होती हैं । योग और मनोविज्ञान के अतिरिक्त भी पाश्चात्यो के अन्यान्य योगपरक ग्रन्थ, योग के विश्वव्यापी प्रचार के परिचायक हैं । प्रस्तुत प्रबन्ध के परिशिष्ट में कुछ प्रसिद्ध ग्रन्थों के नाम हैं । वर्तमानकालीन क्रिस्टोफर ईशर-वुड ( Christopher Isherwood ), एलडस हज्जले ( Aldous Huxley ) और जीराल्ड हर्ड ( Jerald Herd ) सुप्रसिद्ध हैं । ये तीनों हालीलड शान्ति आश्रम में, स्वामी प्रभवानन्द के शिष्यत्व में, यौगिक प्रक्रियाओं का, भारतीय पद्धति से, अभ्यास कर रहे हैं । उन्होंने भारतीय वेषभूषा में रह कर आजीवन योगाभ्यास का निश्चय किया है ।

२. “Swami Vishnudevananda is a proffessor of Hath Yoga at the Yoga Vedant forest academy Rishikesh Himalayas and is a disciple of the great Swami Shivanand He has trained thousands of Indian and Western students to achieve the goals of Yoga and has travelled extensively throughout the world participating in the reserch conducted at many European, Canadian and American Universities. He is considered by many authorities to be the foremost exponent of Hatha Yoga in our time.”

## (२) योगशास्त्र का उद्भव और विकास

(अ) योग के आदि प्रवर्तक हिरण्यगर्भ, अनुशासनकर्ता महर्षि पतञ्जलि एवं उनका 'योग—सूत्र'—

योगशास्त्र पर प्राप्त साहित्य में महर्षि पतञ्जलि—कृत 'योगसूत्र' सर्वाधिक प्राचीन है किंतु 'याज्ञवल्क्यस्मृति' के निर्देशानुसार तथा 'महाभारत' के 'हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः'<sup>१</sup> इस वचन के प्रमाण के आधार पर हिरण्यगर्भ योग के आदि प्रवर्तक है। 'पातञ्जल योग' के प्रथमसूत्र 'अथयोगानुशासनम्' के अनुशासन पद से भी स्पष्ट है कि महर्षि पतञ्जलि योगदर्शन के सूत्रपातकर्ता नहीं है, क्योंकि 'अनुशासन' का अर्थ है—पूर्व-प्रतिपादित सिद्धान्त का पुनः उपदेश। शकर प्रभृति अन्यान्य अनेक विद्वानों ने स्वरचित ग्रन्थों में हिरण्यगर्भ योग के वचनों को स्मरण किया है। अतः महर्षि पतञ्जलि से पूर्व भी हिरण्यगर्भ का योग सुप्रचलित था। 'विष्णु-पुराण' में—

‘सम्मानना परां हानिं यौगर्धेः कुरुते यतः ।

जनेनावमतो योगी योगसिद्धिं च विन्दति ॥

तस्माच्चरेत् वै योगीसतां धर्ममदूषयन् ।

जनायथावमन्येरन् गच्छेद्युनैव सगतिम् ॥<sup>२</sup>

उक्त दो श्लोको के बाद 'हिरण्यगर्भवचनं विचिन्त्येत्यम्' इत्यादि उक्ति है। इससे सिद्ध होता है कि उपर्युक्त श्लोकद्वय हिरण्यगर्भ योगशास्त्र से उद्धृत किये गए है। 'हिरण्यगर्भशास्त्र' के अन्य वचन सन्तमुजातीयशांकरभाष्य में पाए जाते हैं।<sup>३</sup>

वैष्णव दृष्टि से 'हिरण्यगर्भयोग' का एक विशद विवरण 'अहिर्बुध्न्यसंहिता' में प्राप्त होता है। इसके साथ 'योगसूत्र' की न केवल अर्थतः अपितु शब्दतः समानता लक्षित होती है। अतः 'पातञ्जलयोगशास्त्र', 'हिरण्यगर्भयोगशास्त्र' का अनुगामी है। हिरण्यगर्भ का योगशास्त्र परम्परा से प्रसिद्ध तथा विस्तृत था। कालान्तर में अनेक संवादादि से मिल कर वह अत्यन्त विस्तृत हो गया था। अतः योगसूत्रकार ने उससे

२. महाभारत (शान्ति० ३४६/६५) तथा योगि याज्ञवल्क्य १२/५ ।

३. विष्णुपुराण—(२/१३ ४२-४३)

२. द्रष्टव्य—भूमिका 'पातञ्जल योगदर्शनम्'—पृष्ठ २८ । (स० श्री रामशंकर भट्टाचार्य)

साररूप नवनीत निकाल कर 'पातञ्जलयोगसूत्रो' का निर्माण किया। 'अहिर्बुध्न्य-संहिता' के विवरण से ज्ञात होता है कि इस योगशास्त्र में 'निरोधसंहिता' और 'कर्मसंहिता' नामक दो काण्ड थे। 'निरोध-संहिता' के १२ भेद थे, 'कर्म-संहिता' के ४ तथा उसमें ईश्वर प्रणिधान का भी अनुशासन किया गया था।<sup>१</sup> इस विषय का विस्तृत विवरण अन्यत्र भी प्राप्त होता है—ऐसा श्री भट्टाचार्य ने लिखा है।<sup>२</sup>

योगशास्त्रकार हिरण्यगर्भ कौन थे, इस विषय में भी मत भेद हैं। किसी-किसी विद्वान् के मतानुसार कपिल ही हिरण्यगर्भ है। भास्वतीकार हरिहरानन्द आरण्य अपनी प्रारम्भिक 'भास्वती' टीका में लिखते हैं—'हिरण्यगर्भोऽत्रपरमर्षेः कपिलस्य संज्ञाभेदः। यथोक्तं विद्या सहायवन्तमादित्यस्थ समाहितम्.....भगवतः कपिलस्यापि धर्मज्ञानादीनां सहजातत्वात् .. . . . स श्रद्धावद्भिर्ऋषिभिः हिरण्यगर्भं ख्यया पूजित इति तस्यापि हिरण्यगर्भमज्ञा। भगवता कपिलेनैव प्रवर्तितौ सांख्ययोगौ।'<sup>३</sup>

३. "विष्णु सकल्प रूप च महद्योगानुशासनम् ।

हिरण्यगर्भाद् उद्भूत तस्यभेदानिमान् शृणु ॥३१॥

आदौ हिरण्यगर्भेण द्वे प्रोक्ते योगसहिते ।

एका निरोधयोगाख्या कर्मयोगाख्ययापरा ॥

संहितातु निरोधाख्या तत्र द्वादशधा स्मृधा ॥३२॥

अंगतन्त्रमथाद्यन्तु दोषतन्त्रमत परम् ।

उपसर्गाभिध तन्त्र तथाधिष्ठानक परम् ॥३३॥

आधारतन्त्र योगं च बहिस्तत्त्वाधिकारवत् ।

रिक्तयोगाख्यतन्त्रं च पूर्णयोगाख्यमेव च ॥३४॥

सिद्धियोगाख्यया त्रीणि मोक्षतन्त्रमत परम् ।

इति द्वादशभेदास्ते निरोधाया प्रकीर्तिता ॥३५॥

ब्रह्मणागदितास्तस्त्र चतस्र कर्मसंहिता ॥

नाना कर्ममयी प्रोक्ता परात्वेका क्रियामयी ।

बाह्याभ्यन्तररूपेण द्वे अपि द्विविधे स्मृते ॥३६॥

योगानुशासन शास्त्रमिति षोडश विस्तरम् ।

सुदर्शनमयं विष्णोरुदितं तत् प्रजापते ॥३६॥" (अहिर्बुध्न्यसंहिता (अ० १२/३१ ३७)

२. द्रष्टव्य—भू०—'पात० यो० द०'—पृ० ३३ (स० रा० श० भ०)

३. द्रष्टव्य—भास्वती (यो० सू० १-१)

कापिलाश्रमीय 'पातञ्जलयोगदर्शन' की भूमिका में भी भास्वतीकार ने 'महाभारत' शान्तिपर्व की—

**‘यमाहुः कपिलं सांख्याः परमर्षिः प्रजापतिम् ।**

**हिरण्यगर्भा भगवानेषच्छन्दसि सुष्टुतः ॥’**

इत्यादि उक्तियों को उद्धृत करके लिखा है कि इन प्रमाणों के आधार पर ज्ञात होता है कि कपिल ऋषि प्रजापति हैं तथा हिरण्यगर्भ नाम से उनकी स्तुति की जाती है ।<sup>१</sup>

कुछ अन्य विद्वानों के मतानुसार, सृष्टि के आदि में हिरण्यगर्भ ब्रह्मा ने स्वाध्याय-शील ऋषियों को योगविद्या का उपदेश दिया था अथवा उनकी प्रेरणामात्र से स्वाध्यायी ऋषियों को नैसर्गिक सस्कारों की प्रतिभा से योगविद्या प्राप्त हो गई । अतः 'स्वाध्यायादिष्ट-देवता सप्रयोगः'—यह सूत्र सार्थक ही है । हिरण्यगर्भ से लौकिक ज्ञान अप्राप्य है, अतः ऋषियों ने योगज ज्ञान ही प्राप्त किया यह समझना चाहिये । जन्म-सिद्धि के विषय में कोई-कोई विद्वान् हिरण्यगर्भ की भी गणना करते हैं ।<sup>२</sup>

अपर विद्वानों के अनुसार हिरण्यगर्भ नाम के कोई ऋषि थे । सर्व प्रथम उन्हींने योगविद्या का उपदेश किया । इतिहास, पुराणादि के द्वारा इस मन की पुष्टि नहीं होती ।<sup>३</sup> इस विषय में विद्वत्समाज के विभिन्न दृष्टिकोणों पर विचार करने से ऐसा आभासित होता है कि योगगम्य समस्त मूलभूत अर्थ सांख्य-शास्त्रीय ही हैं । अतः सांख्य और योग अविनाभावी हैं ।

योगसूत्रों के लिये 'सांख्य प्रवचन' नाम का व्यवहार होता है । 'जयमंगला' टीका में योगसूत्रों के उद्धरण सांख्य प्रवचन नाम से दिये गए हैं ।<sup>४</sup> 'व्यासभाष्य' में भी प्रत्येक पाद के अन्त में 'सांख्यप्रवचने योगशास्त्रे' ऐसी उक्ति है । अतः इन प्रमाणों से सांख्य और योग की अभिन्नता सिद्ध होती है । सांख्य के अहंकार, पंचतन्मात्र, भूतादि तत्त्व योग-जन्य चित-स्पर्श का आलम्बन ग्रहण करते हैं । योगज प्रज्ञा के द्वारा, उन तत्त्वों का साक्षात्कार होता है, यह सिद्धान्त प्रवचन पद से स्वयं प्रकट होता है । अतः यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि योगसूत्रों का मूल स्रोतभूत 'हिरण्यगर्भ-योगशास्त्र' भी सांख्य से सम्बद्ध था । सांख्यीय ज्ञान को धारण

१. पात० यो० द०—(हरि० आ०)—पृ० ८ ।

२. द्रष्टव्य—भूमिका—पात० यो० द०—पृ० २६३ (सम्पा० रा० श० भ०) ।

३. .. वही .. ..

४. . वही.. .. पृ० २८



करने वाले भगवान् नारायण है। अतः सांख्य के अविनाभावी योग के आदि प्रवर्तक हिरण्यगर्भ नारायण है, यही उचित प्रतीत होता है। जैसा कि महाभारत शान्तिपर्व के निम्न श्लोको से स्पष्ट होता है।—

‘सांख्यं विशालं परमं पुराणं महार्णव विमलमुदारकान्तम् ।  
 कृत्स्नं च सांख्यं नृपते महात्मा नारायणो धारयतेऽप्रमेयम् ॥  
 एतन्मयोक्त नरदेव तत्त्व नारायणो विश्वमिदं पुराणम् !  
 स सर्गकाले च करोति सर्गं संहारकाले च तदतिभूयः ॥  
 संहित्यसर्वं कृत्वाप्सु शेते जगदन्तरात्मा ॥’<sup>१</sup>

कुछ भी हो, सारांश यह है कि योगविद्या के प्रथमप्रचारक हिरण्यगर्भ थे। चाहे वे हिरण्यगर्भ ब्रह्मा हो या कपिल अथवा स्वयं नारायण ही हो। योग विद्या उस काल में ग्रन्थबद्ध नहीं थी। गुरुशिष्य-परम्परा-द्वारा ही उसका ग्रहण, धारण एवं पठन-पाठन होता था। यह भी सच है कि मानवसमाज में योग विद्या का विशेष रूप से सोपपत्तिक प्रवर्तन महर्षि कपिल के द्वारा ही हुआ। पहले यह विद्या ऋषि-परम्परा से ही प्रचारित रही। बाद में उस विद्या के आश्रय से कुछ योगियों ने हैरण्यगर्भ योग-विद्यापरक ग्रंथों का निर्माण किया। पुनः अनेक सवादादि मिल जाने से, जब वह योग विद्या अत्यन्त विस्तृत एवं जटिल हो गई, तब उस विद्या के सरक्षण-हेतु भगवान् पतंजलि ने, उसे योगसूत्रों के रूप में ग्रन्थबद्ध किया।

अनेक विद्वान् ‘पातंजल योगसूत्र’ को ही योग के मूलग्रन्थ के रूप में स्वीकार करते हैं। श्री उमेश मिश्र, श्रीसतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय व धीरेन्द्रमोहन दत्त ने ‘पातंजल-योगसूत्र’ को योग का आदिम ग्रन्थ माना है।<sup>२</sup> किन्तु ‘योगसूत्र’ मूल ग्रन्थ नहीं है, क्योंकि यदि सूत्रकार योग के प्रथम प्रवर्तक होते, तो उनके लिये योग के प्रत्येक पारिभाषिक शब्द का अर्थ कहना आवश्यक हो जाता। ‘योगसूत्र’ में ‘विराम,’ ‘सवेग’ ‘कुम्भक,’ ‘आशय’ आदि अनेक पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग किया गया है, पर अर्थ नहीं बताया गया है। ‘योगसूत्र’ ‘हैरण्यगर्भयोग’ पर आश्रित है, यह स्फुटतः प्रदर्शित किया जा चुका है। इस विषय में श्री रामशंकर भट्टाचार्य लिखते हैं—‘योगसूत्र’ में ‘व्युत्क्रम’ शब्द प्रयोग मिलता है ( १-४६ ), जिससे सिद्ध होता है कि यह ग्रन्थ किसी

१. महाभारत (शान्ति० ३०१/११४-११५)

२. भारतीय दर्शन—उमेश मिश्र—पृ०

‘भारतीय दर्शन’—श्री सतीशचन्द्र चट्टोपाध्याय एवं धीरेन्द्र मोहन दत्त—पृ० १८६।

अन्य ग्रन्थ पर आधारित है। वह ग्रन्थ सामान्यतया 'हैरण्यगर्भ योगशास्त्र' कहा जा सकता है।<sup>१</sup> स्वामी ओमानन्द तीर्थ ने 'पातजलयोगप्रदीप' के भूमिकान्तर्गत 'पङ्दर्शनसमन्वय' में लिखा है कि पतजलि ने हिरण्यगर्भसूत्रों के आधार पर 'योगसूत्रों' का निर्माण किया है।<sup>२</sup> पातजल योगसूत्रों का आधार 'हैरण्यगर्भयोग' अवश्य है, किन्तु 'हैरण्यगर्भयोग' सूत्रबद्ध था, इस विषय में कोई प्रमाण नहीं मिलता। हिरण्यगर्भीय योग के जो वचन यत्र-तत्र उद्धृत मिलते हैं, वे श्लोकबद्ध ही हैं, सूत्रगौली में नहीं। अतः जब तक 'हैरण्यगर्भ-योग' के कुछ सूत्र प्राप्त न हों, तब तक स्वामी ओमानन्द जी के उक्त मन को प्रामाणिक नहीं माना जा सकता है।

आज हमारे समक्ष 'हैरण्यगर्भ-योग' अप्राप्त होने पर भी साङ्गयोग-दर्शन के सूत्रपात का महनीय श्रेय भगवान् हिरण्यगर्भ को ही है।

माधव का मत है कि महर्षि हिरण्यगर्भ के आदिम आचार्य होने से 'योगसूत्रों' की प्राचीनता को कोई आघात नहीं पहुँचता।<sup>३</sup> याग के उपरब्ध ग्रन्थों में 'योगसूत्र' प्राचीनतम है।

योगसूत्रकार एवं व्याकरण-महाभाष्यकार पतजलि एक ही व्यक्ति हैं, इस विषय में भी मतभेद है। भारतीय विचारधारा के अनुसार ये दोनों ग्रन्थ एक ही पतजलि की कृतियाँ हैं। 'विवरण' टीका के अन्त में निम्नलिखित श्लोक प्राप्त होता है—

‘योगेन चित्तस्य पदेन वाचा, मल शरीरस्य च वेद्यकेन।

योऽपाकरोत प्रवर मुनीनां पतंजलि प्रांजलिरानतोऽस्मि॥’

इससे यह ज्ञात होता है कि महाभाष्यकार, योगसूत्रकार और चरक के टीकाकार ये तीनों पतजलि एक ही व्यक्ति हैं। १८ वीं शती में उत्पन्न, 'पातजलचरित' के लेखक रामभद्र दीक्षित ने १८ वीं शती में ही 'वासवदत्ता' के टीकाकार शिवराम ने तथा ( ११ वीं शती में ) चरक के टीकाकार चक्रपाणिदत्त ने योगसूत्रकार और महाभाष्यकार पतजलि एक ही व्यक्ति माने हैं। साथ ही महर्षि पतजलि को उन्होने ने शेषावतार भी माना है। इसी आधार पर अनेक पाश्चात्य विद्वानों ने भी दोनों पतजलियों की एकता स्वीकार की है।<sup>४</sup>

१. द्रष्टव्य—भूमिका—‘पात० यो० सू०’—भोज० राज० सं० । पृ० १६ । (स० रामशंकर भट्टाचार्य)

२. ‘पात० योगप्रदीप’—ओमानन्द—पृ० १२८ ।

३. ‘इंडियन फिलॉसफी’—(राधाकृष्णन्) वा० २—पृ० ३४१ ।

४. द्रष्टव्य—‘योग-फिलॉसफी’—एस० एन० दास गुप्त—पृ० ५४-५६ ।

इस विषय में सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने लिखा है—योगसूत्रकार एवं महाभाष्यकार, दोनों के द्वारा 'स्फोटवाद' का स्वीकार किया जाना ध्यान देने योग्य विषय है। 'तत्त्वमीमांसा' के अविकांश सिद्धान्तों में समानता होने पर भी, सांख्य स्फोटवाद का खंडन करता है, योग मंडन, योगसूत्रकार एवं पाणिनीय 'महाभाष्यकार' की एकता सिद्ध करने में यह भी एक ध्यान देने योग्य विषय है। एक वैयाकरण स्फोटवाद का खंडन कैसे कर सकता है ? इन दोनों ग्रन्थों का, 'अथयोगानुशासनम्' और 'अथ-शब्दानुशासनम्'—इस एक ही रूप से प्रारम्भ होना भी दोनों व्यक्तियों की ऐक्य-सिद्धि में सहायक है।<sup>१</sup>

प्रोफेसर वुड्स, अपनी 'इन्ट्रोडक्शन टु दि योग सिस्टम्' में वैयाकरण पतञ्जलि तथा योगसूत्रकार पतञ्जलि की एकता के विरुद्ध समस्या उठाते हुए लिखते हैं—'उक्त दोनों कृतियों की भाषा एवं सिद्धान्तों में कोई विशेष साम्य नहीं है। इसके अतिरिक्त बड़े-बड़े वैयाकरण-भर्तृहरि, कैयट, वामन और नागेन ने—महाभाष्यकार और योगसूत्रकार की एकता के विषय में कुछ भी नहीं लिखा है।' पर यह आवश्यक नहीं है कि उक्त विद्वानों ने, यदि महाभाष्यकार एवं योगसूत्रकार की एकता के विषय में कुछ नहीं लिखा, तो वे एक व्यक्ति हो ही नहीं सकते।

इसके अतिरिक्त वुड्स ने दोनों पुस्तकों में प्रयुक्त 'द्रव्य' शब्द के दार्शनिक अर्थ-विषयक मतभेद को भी लक्षित किया है। किन्तु अलग-अलग प्रकरण-ग्रन्थों में एक ही शब्द के विभिन्न अर्थ ग्रहण करने से लेखक के व्यक्तित्व में अन्तर पड़ना, न अनिवार्य है, न आवश्यक, पाणिनि ने अपने नियमों में द्रव्य के वे दोनों ही अर्थ बतलाए हैं। अतः इस दृष्टि से भी यह भिन्नता सिद्ध नहीं होती।

दूसरी ओर प्रोफेसर वुड्स के मत के सर्वथा विपरीत डा० एस० एन० दासगुप्ता के अनुसार—इन दोनों पुस्तकों के पूर्ण अभ्ययन एवं परीक्षण के उपरान्त ऐसी कोई भी बात नहीं मिलती—जो दोनों पतञ्जलियों की एकता में बाधक हो। वे दावे के साथ लिखते हैं—

"I have assured myself by an examination of the Mahabhashya that there is nothing in it which can warrant us in saying that the two Patanjalis cannot be identified".

( Yoga Philosophy, page 57 )

वे पुनः लिखते हैं—इन सब तथ्यों के आधार पर हम इसी निकर्ष पर पहुँचते हैं कि यदि हमको दोनों पतञ्जलियों की एकता सिद्ध करने में प्रचुर प्रमाण नहीं मिलते, तो दूसरी ओर उनके भिन्न-भिन्न व्यक्ति होने का कोई भी ठोस प्रमाण नहीं मिलता है। अतः इस मत का खंडन नहीं किया जा सकता।<sup>१</sup> पुनः यदि प्रोफेसर वुड्स के तर्कानुरूप दोनों ग्रन्थकारों की एकता न भी सिद्ध हो सके, तो इसका तात्पर्य यह नहीं है कि योगसूत्रकार का समय बहुत बाद का होगा, पहले का हो ही नहीं सकता।

कुछ विद्वानों ने 'योगसूत्र' की रचना का समय विक्रम पूर्व द्वितीय शताब्दी स्थिर किया है। अन्य विद्वान् उसका रचनाकाल इससे भी बहुत बाद, ईस्वी पश्चात् चतुर्थ शतक मनाते हैं। परमाणुवाद (१-४०) सौत्रान्तिक का क्षणक्रमवाद (३-५२), स्फोट-वाद (योगभाष्य ३-१७), बौद्धों का आदर्शवाद (४-१५-१७)<sup>२</sup> इत्यादि विषय योगसूत्र में आये हैं।

इसके अतिरिक्त 'योगसूत्र' में बसुबन्धु के आदर्शवाद की आलोचना की जाने से प्रोफेसर वुड्स 'योगसूत्र' की प्राचीनतम सीमा ईस्वी पश्चात् चतुर्थ शती स्वीकार करते हैं। उनका यह विचार इस तथ्य पर आधारित प्रतीत होता है कि नागार्जुन ने अपनी 'कारिका' में योग का उल्लेख नहीं किया है, किन्तु नागार्जुन के चीनी अनुवाद 'उपाय-कौशल्य हृदयशास्त्र' में आठ दर्शनो में से एक दर्शन योग भी है—इस स्वीकृत तथ्य की दृष्टि से प्रोफेसर वुड्स का उक्त तर्क हमें बहुत दूर तक नहीं ले जाता है। पुनः बौद्धों का आदर्शवाद, बसुबन्धु और असंग से भी प्राचीन है। अतः चतुर्थ पाद (४-१४-१५) में विज्ञानवाद का खंडन प्राप्त होने पर भी 'योगसूत्र' की प्राचीनता के सिद्धान्त को आघात नहीं पहुँचता। क्योंकि एक तो 'विज्ञानवाद' मैत्रेय और असंग से कही अधिक प्राचीन है। इसके अतिरिक्त 'विज्ञानवाद' का खंडन भी सामान्यरूप से उठने

1. "Thus though we cannot accept the tradition of later commentators as a sufficient ground to identify the two Patanjalis, we cannot at the same time discover anything from a comparative critical study of the Yogasutras and the text of Mahabhashya, which can lead us to say that the author of the Yogasutras flourished at a later date than the other Patanjali".

(Yoga Philosophy, page 59)

२. चतुर्थ पाद के इन सूत्रों की व्याख्या में 'व्यास-भाष्य' में विज्ञानवाद का निराकरण किया गया है। सम्भवतः उसी को सर्वपल्ली राधाकृष्णन् ने बौद्धों का आदर्शवाद कहा है।

वाली शंका के समाधानरूप में ही हुआ है, किसी मत-विशेष के नाम-निर्देश पूर्वक नहीं। प्रो० जेकाँबी के विचारानुसार, योगमत ई० पूर्व तृतीय शतक में वर्तमान था, क्योंकि उमास्वामी का 'तत्त्वार्थसूत्र' (२-५२), योगसूत्र (३ ५२), का उल्लेख करता है। उमास्वामी—जिनको अपने भाष्यकार सिद्धसेन (पाँचवीं ईसवी) से अवश्य प्राचीन होना चाहिये—सामान्यतौर पर ईसा के तृतीय शतक में उत्पन्न माने जाते हैं। अतः पतञ्जलि ई० पू० तृतीय शती से अधिक बाद के तो माने ही नहीं जा सकते हैं।<sup>१</sup>

एस० एन० दासगुप्त के अनुसार यह भी बहुत सम्भव है कि द्वितीय या तृतीय ई० में लिखित 'किताब-पातञ्जल' के रचयिता पतञ्जलि से घोखा खाकर, इन विद्वानों ने उसे (किताब पा० को) योगसूत्रकार की ही रचना समझ कर, उनका स्थितिकाल बाद में निश्चित किया हो। 'किताब-पातञ्जल' को अलबरूनी ने 'इडिया' नामक पुस्तक में बहुत ही प्रसिद्ध बतलाया है तथा उसका अनुवाद भी उन्होंने किया था जो प्राप्त है। इस पुस्तक में गुरु-शिष्य के मध्य कथोपकथन के रूप में योग का ही विषय वर्णित है। यह पुस्तक 'योगसूत्र' पर आधारित है। अधिकांश में योगसूत्र से समानता होने पर भी इसमें कतिपय भिन्नताएँ भी हैं। 'योगसूत्र' के सिद्धान्तों पर आश्रित होनेपर भी 'किताब पातञ्जल' में वेदान्तिक एवं तान्त्रिक ढंग अपनाया गया है। यह पुस्तक क्रिश्चियन युग के प्रारम्भिक २००-३०० वर्षों के बीच लिखी गई थी।<sup>२</sup>

पतञ्जलि अनेक हुए हैं। योगसूत्रकार के कालनिर्णय के प्रसंग में श्री सुरेन्द्रनाथ दासगुप्त एवं राधाकृष्णन् ने अनेक विचारधाराओं का उपन्यास एवं उनका साधक-बाधक दृष्टियों से गम्भीर विचार भी किया है।<sup>३</sup> उनमें से अधिकांश का निर्देश किया जा चुका है। उन सब का सविस्तार प्रदर्शन यहाँ सम्भव नहीं है।

श्री बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि 'सांख्य स्फोटवाद' का खंडन करता है और श्रोग मंडन। इस भेद के अतिरिक्त प्रमाणों के आधार पर दोनों पतञ्जलियों का अभेद स्वीकार्य है।<sup>४</sup>

श्री रामशंकर भट्टाचार्य ने 'पातञ्जल-योग-दर्शनम्' की भूमिका में पतञ्जलि नामक दस शास्त्रकारों का उल्लेख किया है।<sup>५</sup> यथा—

१. 'इडियन फिलॉसफी'—राधाकृष्णन्—वाल्थूम २—पृ० ३४१।
२. योग-फिलॉसफी—एस० एन० दासगुप्ता—पृ० ५४ से ६६ तक।
३. द्रष्टव्य—इडियन फिलॉसफी—(राधाकृष्णन्) तथा योग फिलॉसफी (योग एण्ड पतञ्जलि) (एस० एन० दासगुप्ता) के अन्तर्गत 'पातञ्जल-योग-प्रकरण'।
४. 'भारतीय दर्शन'—बलदेव उपाध्याय—पृ० ३६७।
५. भूमिका—पात० योग० द०—पृ० ३० सम्पादक रामशंकर भट्टाचार्य।

- (१) सामवेदीय पातञ्जलशाखा-प्रवक्ता ।
- (२) सामवेदीय निदानसूत्र प्रवक्ता ।
- (३) योगसूत्रकार ।
- (४) महाभाष्यकार ।
- (५) चरकसहिता के प्रवक्ता, चरकशास्त्रात्ता अथवा चरक-वार्त्तिककार ।
- (६) ३४४ व्यासभाष्यधृनद्रव्यलक्षणकार ।
- (७) युक्तिदीपिकाधृनपतञ्जलि नामक आचार्य ।
- (८) लोहशास्त्रकार ।
- (९) रसशास्त्रीय ग्रन्थ विवेककार ।
- (१०) वातस्कन्धादि वैद्यक के ग्रन्थकार ।

श्री भट्टाचार्य ने 'महाभाष्यकार', योगसूत्रकार, चरकवार्त्तिककार अथवा लोहशास्त्रकार पतञ्जलि की एकता के प्रतिपादक विद्वानों का मन भ्रमभूण बतलाया है, जिसका आधार नाम का साम्यमात्र है ।

योगसूत्रकार को उन्होंने आर्षकालिक पुरुष बतलाया है । साथ ही यह भी लिखा है कि 'मत्स्थपुराण' के 'गोत्र-प्रवर-प्रकरण' में आंगिरस को पतञ्जलि के रूप में स्मरण किया गया है । साम-शाखा के प्रवक्ताओं के मध्य भी पतञ्जलि का नाम लिया जाता है । यही पतञ्जलि योगसूत्रकार भी है ।

पतञ्जलि नामक अन्यान्य शास्त्रकारों के साथ योगसूत्रकार की एकता के प्रतिपादक मतान्तरों का भी श्री भट्टाचार्य ने युक्तिपूर्वक निराकरण किया है । इसके अतिरिक्त यह भी प्रतिपादित किया है कि आरण्यको एवं उपनिषदों की भाषा से 'योगसूत्र' की भाषा में पूर्ण साम्य लक्षित होता है ।

योगसूत्र एवं सामवेद में घनिष्ठ सम्बन्ध है, यह अनेक प्रमाणों से सिद्ध किया जा सकता है ।

भक्तिमार्ग का सामवेद में विशेषरूप से प्रतिपादन किया गया है । नारद, गाण्डल्यादि भक्त्याचार्य सामप्रवक्ता के रूप में स्मरण किये जाते हैं । ईश्वर प्रणिधान के प्रकरण में 'योगसूत्र' में भी भक्तियोग को विशेष महत्त्व प्रदान किया गया है ।

भक्त्याचार्य नारदादि योग विद्या मे भी निष्णात थे। 'महाभारत' शान्तिपर्व मे नारद को योगविद्या-विद् बनलाया गया है। सांख्ययोग-सम्बन्धी अनेक प्रश्नोत्तर भी 'महाभारत' मे प्राप्त होते हैं।<sup>१</sup> अपर भक्त्याचार्यों के विषय मे भी यही बात घटित होती है।

'अहिबुर्ज्यसहिता' मे 'हैरण्यगर्भ योगविद्या' का विवरण प्राप्त होता है। यह महिता वैष्णवी है और वैष्णवी भक्ति सामवेदीय है। इससे हिरण्यगर्भ योग भी सामवेद से सम्बद्ध सिद्ध होता है। वही विद्या पातञ्जलयोग का उपजीव्य है, यह पहिले भी बताया जा चुका है।

सामवेद के 'जैमिनीयोपनिषद् ब्राह्मण' मे—'प्रतिबोधविदित मतम्' ऐसी उक्ति है।<sup>२</sup> पातञ्जल योग दर्शन मे यही बात 'बुद्धेः प्रतिसवेदी पुष्प' इन शब्दो मे कही गई है। इस स्थल पर दोनो ग्रन्थो मे मन्त्रैक्य के साथ-साथ शब्द-साम्य भी स्पष्ट ही लक्षित होता है। पुराणादिको मे भी 'योगसूत्र' का अपने स्थलो पर प्रसंग आया है। इन सब प्रमाणो के आधार पर यही निष्कर्ष निकलता है कि सामवेद की कुछ शाखाओ मे योग उपदिष्ट हुआ है। उसी के आश्रय से सामशाखा प्रवक्ता महर्षि पतञ्जलि ने न्यायसगत युक्तिपूर्ण 'योगसूत्र' का प्रणयन किया। अतः 'योगसूत्र' अत्यन्त प्राचीन-कालीन है।

'योगसूत्र' के रचनाकाल के विषय मे इतने प्रवाद है कि उन सब को देख कर, उसके काल का सम्यक् निरूपण करना सम्भव नहीं प्रतीत होता।

जैसा पहले भी प्रदर्शित किया जा चुका है, आधुनिक विद्वानो के मतानुसार ई० पू० प्रथम या द्वितीय शताब्दी मे 'योगसूत्रो' का प्रणयन हुआ। अर्वाचीन विद्वानो की दृष्टि से 'योगसूत्र' की रचना का प्राचीनतमकाल ई० पू० द्वितीय से चतुर्थ शताब्दी तक माना जा सकता है,<sup>३</sup> परन्तु 'योगसूत्र' बौद्धादि मतो से भी प्राचीन है। आधुनिक विद्वानो का कथन है कि 'योगसूत्र' मे बौद्धादि मतो का खडन पाया जाता है। अतः उसका प्रणयन बौद्ध-धर्म के प्रचार के बाद हुआ है, किन्तु यह मत समीचीन नहीं प्रतीत होता। 'योगसूत्र' मे परमत-खडन की प्रवृत्ति कही भी लक्षित नहीं होती।

१. द्रष्टव्य—भूमिका—पात० यो० द०—पृ० ३३—सम्पादक, रामशकर भट्टाचार्य।

२. महाभारत (आदि० ७५/७-८—शान्ति० ३२६-३३१—अ० २७५, अ० २८७ अ०)

३. द्रष्टव्य—इंडियन फिलॉसफी—(राधाकृष्णन्) तथा 'हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी'—(मुरेन्द्रनाथ दासगुप्त) ग्रन्थो के अन्तर्गत पातञ्जल-योग-प्रकरण।

‘न तत्स्वाभासं दृश्यत्वात्’ अथवा ‘न चैकचित्ततन्त्र वस्तु तदप्रमाणकं तदाकिस्यात्’ इत्यादि सूत्रो मे स्वसिद्धान्त निरूपणार्थं पूर्वं प्रसंगत स्वाभाविक शकाओ का ही समाधान किया गया है, किसी मत विशेष का खडन नहीं। यह बात अलग है कि वे शंकाएँ किसी सम्प्रदाय विशेष का मत भी हो। पर ‘योगसूत्र’ के निर्माणकाल में बौद्धमत का प्रचार नहीं हुआ था। प्राचीनतम बौद्धग्रन्थो मे भी ‘योगसूत्र’ का अनुकरण किया गया है। बौद्धग्रन्थो मे योग के प्रकरण मे अनेक स्थलो पर ‘योगसूत्र’ के समान शब्दावली व्यवहृत हुई है। किसी-किसी स्थल पर अज्ञानवश भ्रान्ति हो गई है। यदि पतञ्जलि ने ही बौद्धो का अनुकरण किया होता तो ‘योगसूत्र’ मे भी उस प्रकार की भ्रान्तियाँ होनी चाहिये थी, जो नहीं देखी जाती है। ‘योगसूत्र’ में वैष्णवादि मतान्तर भी कहीं लक्षित नहीं होते हैं। अतः ‘योगसूत्र’ अन्यान्य सभी सम्प्रदायो के विकास से पूर्व ही निर्मित हुआ है और अत्यन्त प्राचीन है, केवल यही कहा जा सकता है। श्री रामशंकर भट्टाचार्य के अनुसार ‘योगसूत्र’ महाभारत के युद्ध से भी प्राचीनकालिक है, किन्तु यह आश्चर्य है कि ‘महाभारत’ मे पतञ्जलि का कहीं भी नाम नहीं है। ‘महाभारत’ के ‘शान्तिपर्व’, ‘अश्वमेधपर्व’, तथा ‘अनुशासनपर्व’ में योग का बहुलता से वर्णन प्राप्त होता है। उसमे हैरण्यगर्भ योग की भी चर्चा है। योग के प्रसंग मे उसमे ‘योगसूत्र’ के समान उक्तियाँ भी प्राप्त होती है। यथा ‘महाभारत’ की ‘सन्तोषः परमं सुखम्’<sup>१</sup> इस उक्ति से, ‘सन्तोषादनुत्तम सुखलाभः’, पतञ्जलि के इस सूत्र का स्पष्ट साम्य लक्षित होता है। शान्तिपर्व के १६५ अध्याय मे ध्यानमार्ग का जो वर्णन है, वह भी पतञ्जलि-द्वारा वर्णित ध्यानमार्ग के अनुरूप है।

विविध पुराणो, वैष्णव ग्रन्थो, न्याय-ग्रन्थो, व्याकरण, ‘वेदान्तसूत्र’ शाक्तग्रन्थो, विविध योग शास्त्रो तथा बौद्ध-जैनादि ग्रन्थो मे भी ‘योगसूत्र’ का प्रसंग एवं प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित होता है।<sup>२</sup> इससे ‘योगसूत्र’ की अत्यन्त प्राचीनता ही सिद्ध होती है।

पतञ्जलि का ‘योगसूत्र’ विद्वत्परिपक्व मे एक मौलिक ग्रन्थ के रूप मे समाहत है। यह अत्यन्त स्वच्छ तर्क-सम्मत, गूढार्थ एव अपनी कोटि का अद्वितीय ग्रन्थ है। इसके अन्तर्गत स्वल्प शब्दो मे अत्यन्त प्रवीणतापूर्वक-यौगिक-प्रक्रियाओ के निरूपण के साथ-साथ आत्मकल्याण का मार्ग प्रदर्शित किया गया है, जैसा कि ‘योगसूत्र नाम से ही

१. वनपर्व—२/४६।

२. द्रष्टव्य—भूमिका—पात० यो० द०—पृ० ३६-४० ४१-४२-४३। सम्पादक—रामशंकर भट्टाचार्य।



ज्ञात होता है। सूत्र अभिवान ही उसका है, जिससे अल्प अक्षरों में सारगर्भित, महान्, गम्भीर, अनिन्द्य एवं असदिग्ध ज्ञान हो—

“अल्पाक्षरमसंदिग्धं सारवद्विश्वतो मुखम् ।

अस्तोभमनवद्यं च सूत्रं सूत्रविदो विदुः ॥”

‘योगसूत्र’ चार पादों में विभक्त है। प्रथम ‘समाधिपाद’ में योग के स्वरूप, भेद, उद्देश्य, चित्त, चित्तवृत्तियाँ एवं उनके निरोध के उपाय वर्णित हैं। साथ ही वितर्कादि विविध समाधियों तथा समाध्यवस्था में चित्त की दशा का भी वर्णन है। यह पाद समाहित चित्त से युक्त उत्तम अविकारियों के लिये है। ‘समाधिपाद’ नाम के अनुरूप ही, इसमें मुख्यतया योग (समाधि) के स्वरूप का ही सविस्तार वर्णन है।

द्वितीय ‘साधनपाद’ में विक्षिप्त चित्त-युक्त मध्यम अविकारियों के लिये समाधि की साधना-हेतु साधन बतलाए गए हैं। इसमें क्रियायोग, क्लेश, कर्म, विपाक, तदनुसार जाति, आयु, भोगादि की व्यवस्था, क्लेश-निवृत्ति के साधन, हेय, हेयहेतु, हान, हानोपाय तथा अष्टांगयोग के पंच बहिरंग साधन आदि विषय वर्णित हैं।

तृतीय ‘विभूतिपाद’ में सबीज समाधि के अन्तरंग साधन (वारणा, ध्यान एवं समाधि) का वर्णन है। पुनः योग में श्रद्धा उत्पन्न करने के लिये तथा असमाहित चित्त वालों की चित्तस्थिति-हेतु-योगाभ्यासजन्य सिद्धियों एवं उनमें अनासक्ति आदि विषय वर्णित हुए हैं।

चतुर्थ ‘कैवल्यपाद’ में पंचविध सिद्धिजन्य निर्माण चित्त, समाधिसिद्धि, कैवल्योप-योगी चित्त, चित्तविषयक शंकाओं का समाधान, योग की सार्थकता की सिद्धि-हेतु विज्ञानवाद का सयुक्तिक निरसन और प्रसंगवश आत्मा आदि विषयों का वर्णन है। अन्त में कैवल्य के स्वरूप का निर्वारण किया गया है।

विभूतिपाद के अन्त में ‘इति’ शब्द के प्रयोग तथा चतुर्थ पाद में विज्ञानवादादि के खडन से कतिपय विद्वानों का मत है कि प्रथम तीन पाद ही महर्षि पतञ्जलि-प्रणीत हैं। बाद में किसी श्रद्धालु ने चतुर्थ पाद को रचकर—‘योगसूत्र’ में जोड़ दिया है।<sup>१</sup> संभवतः दार्शनिक सिद्धान्त की पूर्ति के हेतु भाष्यकार व्यास ने अन्तिम पाद की रचना की है। किन्तु इस मत की पुष्टि में अब तक कोई ठोस प्रमाण उपलब्ध नहीं है। ‘भाष्य-

१. ‘योग फिजॉसफी’—पृ० ५१ एण्ड ‘हिस्ट्री ऑफ इंडियन फिलॉसफी’—पृ० २३०—

विवरण' में प्रत्येक पाद के अन्त में 'इति' पद का प्रयोग हुआ है, फिर भी विवरणकार तृतीय पाद के अन्त में लिखते हैं—'इतिशब्दः समाप्त्यर्थः।' वाचस्पति के अनुसार 'इति' शब्द सूत्रान्तर्गत है, जो सूत्र समाप्ति का सूचक है। ( इति सूत्र-समाप्तौ तत्त्व० वै०) किन्तु इस कथन से श्री वाचस्पति का कोई विशेष तात्पर्य नहीं है। भिक्षु के मत में 'इति' पद सार्वत्रिक नहीं है। वे लिखते हैं—कहीं पर सूत्र में इति 'शब्द' है और वह हानोपायव्यूह की समाप्ति का सूचक है।<sup>१</sup> अतः 'इति' शब्द के बल पर उक्त मत की पुष्टि नहीं हो सकती है। यदि 'इति' शब्द का पाठ प्रामाणिक भी माना जाये तो भी यह सिद्ध होता है कि मूलग्रन्थ की रचना तृतीय पाद पर्यन्त है और चतुर्थ पाद उसका परिशिष्ट है। साथ ही उसकी रचना ग्रन्थकार पतञ्जलि ने ही की है, जैसे निरुक्त का परिशिष्ट यास्ककृत है<sup>२</sup> और यही मानना अधिक युक्ति संगत भी प्रतीत होता है। श्री भोज, नागोजी-भट्ट भृति वृत्तिकारो ने इस सूत्र में 'इति' पाठ नहीं माना है।<sup>३</sup> इति शब्द का पाठ इस सूत्र में अथवा प्रत्येक पाद के अन्त में निश्चित है, यह नहीं कहा जा सकता। अतः इस विषय पर अधिक विचार अनावश्यक है।

चतुर्थ पाद को मिलाने पर योगसूत्रों की संख्या के विषय में भी दो प्रकार के मत दिखलाई देते हैं। किन्तु यह मतभेद स्वल्प ही है। यथा—

(१) 'नच तत्सालम्बनं तस्याविषयीभूतत्वात्' (३-२०), यह उक्ति श्री वाचस्पति के व विवरणकार शंकर के अनुसार सूत्र है। श्री विज्ञान भिक्षु के मतानुसार यह 'व्यासभाष्य' का ही अंश है। नागोजी भट्ट एवं भावागणेश ने भी इस सूत्र की व्याख्या नहीं की है।

(२) 'विभूतिपाद के—'कायरूपसयमात् तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भेचक्षुष्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्'—इस सूत्र के बाद योग-चन्द्रिकाकार अनन्त पडिन ने 'एतेनशब्दाद्यन्तर्धानमुक्तम्' यह भी एक सूत्र माना है। परन्तु यह भाष्य का ही अंश है। अन्य किसी व्याख्याकार ने इसकी स्वतन्त्र सूत्र के रूप में व्याख्या नहीं की है। विज्ञान भिक्षु ने उस उक्ति की व्याख्या के साथ कहा है कि इसके द्वारा सूत्रकार की न्यूनता का

१. द्रष्टव्य—यो० वा० ३-५५।

२. द्रष्टव्य भूमिका—'पात० यो० द०'—सम्पादक रामशंकर भट्टाचार्य—पृ० ३६।

३. द्रष्टव्य—'भोज-वृत्ति' आदि।

परिहार किया जाता है। इसी स्थल पर नागोजी भट्ट ने एक और सूत्र—‘दिनमास-संवत्सरा’—की व्याख्या की है। वह भी प्रक्षित है। अन्य किसी व्याख्याकार ने इसकी चर्चा नहीं की है।

चतुर्थ पाद के—‘न चैकचित्ततन्त्र वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्’—इस कथन को वाचस्पति सूत्र मानते हैं। विवरणकार शंकर प्रभृति विद्वानों ने भी इसकी स्वतंत्र सूत्रवत् व्याख्या की है। श्री भोज एवं अनन्तदेव के मत में यह सूत्र नहीं है। यह सूत्र अपने आप में अपूर्ण सा प्रतीत होता है, अतः श्री भोज सम्मत मत ही यथार्थ प्रतीत होता है।

कही-कही पर योगसूत्रों में पाठभेद भी दृष्टिगत होता है, जिनका ज्ञान विविध व्याख्याओं को पढ़कर होता है। इन पाठभेदों से सूत्रार्थ में भेद नहीं होता है। अतः यह विषय विचारणीय नहीं है।

(२) (ब) ‘पातञ्जल-योग-दर्शन’ पर ‘व्यासभाष्य’, व ज्ञानानन्द कृत भाष्य व्यासभाष्य उसपर वाचस्पति मिश्र-कृत ‘तत्त्ववैशारदी’, शंकर कृत ‘भाष्यविवरण’, विज्ञानभिक्षु का ‘योगवार्तिक’ एवं हरिहरानन्द आरण्य की ‘भास्वती’

**व्यासभाष्य—**

उपलब्ध साहित्य में ‘पातञ्जल-योग-दर्शन’ पर सबसे अधिक प्रामाणिक और प्राचीन महर्षि व्यास का भाष्य है। इसके लिये ‘योगभाष्य’, ‘सांख्य प्रवचनभाष्य’ और ‘व्यासभाष्य’—ये तीनों ही नाम व्यवहृत होते हैं। सांख्य एवं योग अभिन्न हैं, यह पहिले भी प्रतिपादित किया जा चुका है। सूत्रों की सांकेतिक भाषा एवं उनके गूढ़ रहस्यों के उद्घाटन एवं स्फुटीकरण में ‘व्यासभाष्य’ सर्वथा कृतकार्य है। इसमें कही-कही पर अत्यन्त सरल किन्तु अनेक स्थलों पर विषय गाम्भीर्यवश क्लिष्ट भाषा-शैली का भी प्रयोग हुआ है। भाष्य में अनेक दार्शनिक पदार्थों के अत्यन्त सुन्दर, मार्मिक एवं व्यापक लक्षण दिये गये हैं। यथा दुःख का लक्षण (१/३१), सर्वज्ञत्व का लक्षण (३/४६), सुख का लक्षण (२/१५), ईश्वर प्रणिधान एवं स्वाध्याय का लक्षण (२/१), ऋतम्भराप्रज्ञा का लक्षण (१/४८), क्षण का लक्षण (३/५२ इत्यादि। भाष्यकार का अन्तर्दर्शन भी नितान्त गम्भीर एवं तलस्पर्शी था। द्रष्टव्य—मृत्युकालिक वर्णन (२/१३), अरिष्ट वर्णन (३/२२), भुवनकोश वर्णन (३/३६), चित्त-स्वभाव वर्णन (१/१२)

तथा संसार-वक्र का वर्णन (४/११) इत्यादि । भाष्य में कही-कही पर सूक्तियों का भी प्रयोग है—यथा—‘अक्षिपात्रकल्पो हि विद्वान्’ (२/१५) तथा ‘श्रद्धाचेतसः संप्रसादः, सा हि जननीव कल्याणी योगिन पाति ।’ इन सूक्तियों का प्रयोग लौकिक होने के साथ योगियों के द्वारा सम्बोध भी है । अनेक स्थलों पर मनोरम लौकिक दृष्टान्त भी है । यथा विपाक में असमर्थ सस्कारों के लिये दग्धबीज का उदाहरण (२/४), चित्ता-नुगामिनी इन्द्रियों के लिये मधुमक्षिका का (२/३२), मोक्षभागीय व्यक्ति का लक्षण जानने में वर्षाऋतु में तृणाकुर दर्शन में बीज की सत्ता के अनुमान का (४/३५) तथा प्रकृत्यापूर के विषय में कृपक का उदाहरण (४/३) । इन दृष्टान्तों से तत्कालीन लौकिक विषय परिज्ञात होते हैं । किन्हीं स्थलों पर ऐतिहासिक महत्व के उदाहरण भी हैं । यथा ४/१ में ‘रसायन-विद्या’ के लिये ‘अमुर-भवन’ का उदाहरण । कुछ स्थलों पर विपक्षियों की अन्याय्यता के प्रदर्शन-हेतु व्यंग्यपरक उपहास-वाक्यों का भी प्रयोग है (द्र० १/३२, २/२४ आदि) । ‘व्यासभाष्य’ ‘पातञ्जल-योग’ के समस्त परवर्ती व्याख्याकारों की आधारशिला है । योगभाष्यप्रणेता व्यास का काल-निर्णय भी विवादग्रस्त है । समस्त प्रचलित दर्शन-भाष्यों में सर्वाधिक प्राचीन होने पर भी ‘व्यासभाष्य’ बौद्धमत के प्रचारोपरान्त लिखा गया है, जिसका इसमें अनेक स्थलों पर स्पष्ट नामोल्लेखपूर्वक खंडन भी मिलता है ।

पुराणों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि व्यास अनेक हुए हैं । उनमें से ये कौन से व्यास हैं, यह नहीं कहा जा सकता है । पूर्वाचार्यों के अनुसार ‘योगभाष्य’ का प्रणयन कृष्ण-द्वैपायन व्यास ने ही किया है । ‘तत्त्ववैशारदी’ के आरम्भ में श्री वाचस्पति मिश्र ने ‘वेदव्यासेन भाषिते’ तथा श्री विज्ञानभिक्षु ने ‘वेदव्यासमुनीन्द्र बुद्धिखनितः’ और ‘सर्वदार्थसारोऽत्र वेदव्यासेन भाषित’ इत्यादि उक्तियों-द्वारा अष्टादश पुराणकार वेदव्यास को ही योगभाष्यप्रणेता माना है ।

आधुनिक विचारधारा के अनुसार कृष्ण-द्वैपायन व्यास के काल में विज्ञानवादादि-मत सम्प्रदाय विशेष के रूप में अप्रचलित थे । वैष्णवादि विविध सम्प्रदायों के द्वारा प्रसंगगत व्यास का न स्मरण किया जाना, वैनाशिकादि, विविध बौद्धादि सम्प्रदायों का भाष्य में खंडन, बौद्धग्रन्थों से भाषासाम्य व बौद्ध सम्प्रदायगत पारिभाषिक शब्दोल्लेख इत्यादि अनेक प्रमाणों से यही सिद्ध होता है कि ये व्यास कृष्णद्वैपायन के अतिरिक्त भी, पुराणगत परम्परा-प्रसिद्ध व्यासाचार्यों से भिन्न हैं । इन सब बातों का विस्तृत विवरण श्री भट्टाचार्य ने दिया है ।<sup>१</sup>

१. द्रष्टव्य—भूमिका—‘पात० यो० द०’—सम्पादक-रामशंकर भट्टाचार्य ।

अर्वाचीनकाल मे पुराणवाचको की ही व्यास उपाधि है, दर्शन-शास्त्र के निष्णात विद्वानो की नहीं ।

बौद्ध-युग मे यदि कोई योगी व्यास थे तो सुप्रसिद्ध होने पर भी परम्परा मे उनका नाम आदि क्यो नहीं स्मरण किया गया, यह भी विस्मयात्मक है ।

पंचगिख अत्यन्त प्राक्कालीन आचार्य थे । उनका ग्रंथ भी बौद्धयुग के बहुत पूर्व ही लुप्त हो चुका था । अतः यह भी विचारणीय है कि भाष्यकार व्यास ने उस ग्रंथ को कैसे देखा, जिसके बल पर उनके उद्धरण व्यास भाष्य मे प्रचुरता-से प्राप्त होते हैं । साथ ही इसमे ऐसे श्रुतिवाक्य भी मिलते हैं, जो अब अप्राप्त हैं ।

उक्त दृष्टिकोण आधुनिक विचारको, शोधकर्त्ताओ की स्वयं की काल्पनिक मान्यतायुक्त ऐतिहासिक यत्किञ्चित् दृष्टिकोण का वृत्तमात्र है, शास्त्रीय, ऐतिहासिक विचार का किसी भी आचार्य के कार्यकाल से सम्बन्धित नहीं है ।

भाष्यकार व्यास को बौद्धयुगीन मानने पर उपर्युक्त जिन शकाओ की उत्पत्ति होती है—उनका निरसन करते हुए, वर्तमान विद्वान् श्री रामशंकर भट्टाचार्य का कथन है कि सूत्रकार पतञ्जलि ने स्वयं ही सूत्रो की व्याख्या की थी, अथवा उनके किसी निकटवर्ती सज्जन ने यह कार्य किया होगा, ऐसा प्रतीत होता है । प्राचीनकाल मे यह प्रथा बहुधा प्रचलित थी । इस व्याख्यान मे ही प्राचीनतम श्रुतिवाक्य एवं पञ्चशिख के वचन सङ्गृहीत थे । इस व्याख्यान को 'समास-भाष्य' कह सकते हैं, इसका कोई नाम नहीं था । 'व्यासभाष्य' मे बहुत से वाक्य-पतञ्जलि की उक्तियाँ ही हैं । पूर्वाचार्यों ने भाष्य के कुछ वचनो को पतञ्जलि के नाम से उद्धृत किया है । 'व्यासभाष्य' अत्यन्त प्राचीन व्याख्या पर आश्रित है, अतः उसमे पतञ्जलि का एक अप्राप्त मूलवचन ( ३।४४ ) भी उद्धृत है । 'समासभाष्य' के विषय मे श्री भट्टाचार्य ने और भी अनेक प्रमाणो एवं उद्धरणो को प्रदर्शित किया है, जो उनके द्वारा सम्पादित 'पातञ्जल-योग-दर्शन' की भूमिका के व्यासभाष्य-प्रकरण मे ही द्रष्टव्य है । दीर्घकालोपरान्त जब समासभाष्य दुःखबोध एवं उच्छिन्नप्राय हो गया, तब उसके प्रचार एवं संरक्षणार्थ कङ्गावश किसी योगी ने इस भाष्य की रचना की । साथ ही अपने काल में प्रचलित दुष्ट मतों का समावेश करके उसे अत्यन्त विस्तृतरूप देकर पूर्व-व्याख्यान से उसके भेद के प्रदर्शन हेतु, उसका 'व्यासभाष्य' के नाम से प्रचार किया । हमारे प्राचीन विद्वान् ऐतिहासिक तथ्यों पर अविक ध्यान नहीं देते थे । अतः विद्वत्परिषद् मे यह भाष्य व्यास के नाम से प्रसिद्ध हो गया ।

व्यास के काल-निर्णय के प्रसंग में वर्तमान प० श्रीयुत बलदेव उपाध्याय ने लिखा है कि भाष्यकार व्यास विक्रम के तृतीय शतक से प्राचीन नहीं है।<sup>१</sup> डा० सर्वपल्ली राधाकृष्णन् के अनुसार 'व्यासभाष्य' ईसा के चतुर्थ शतक में प्रणीत हुआ है।<sup>२</sup> किन्तु व्यासभाष्यकार ईसा के परवर्ती नहीं हो सकते हैं। 'श्रामण्यफलसूत्र' नामक बौद्धग्रन्थ में व्यासभाष्य के वचन देखे जाते हैं।<sup>३</sup> आर्षग्रन्थकार बौद्धग्रन्थों से कुछ भी ग्रहण करने की इच्छा नहीं कर सकता। अतः 'व्यासभाष्य' 'श्रामण्यफलसूत्र' से प्राचीन है। इसके अतिरिक्त जैनग्रन्थों में भी 'योग-भाष्य' के उद्धरण मिलते हैं। ईसा से ५००-६०० वर्ष पूर्व की 'तत्त्वार्थाधिगमसूत्र टीका' में भी व्यास-भाष्य का अनुकरण किया गया है। अतः वह उससे भी प्राचीन है।<sup>४</sup>

ईश्वर कृष्ण ईसा की उत्पत्ति से पूर्ववर्ती आचार्य थे। 'योगभाष्य' में ईश्वरकृष्ण कृत किसी भी सांख्य की कारिका का उद्धरण प्राप्त नहीं होता। अतः योग-भाष्यकार व्यास उनसे प्राक्कालीन सिद्ध होते हैं।

प्राचीनतम दार्शनिक ग्रन्थों में मंगलाचरण नहीं होता था। 'व्यासभाष्य' में मंगलाचरण न होने से भी उसकी प्राचीनता द्योतित होती है। भाष्य के आदि में (यस्यस्त्वेत्यादि' .... ...) जो श्लोक है वह प्रक्षिप्त है। श्री वाचस्पति मिश्र एवं विवरणकार-शंकर ने इस श्लोक की व्याख्या नहीं की है। यह श्लोक शंकरकृत 'महाभाष्यटीका' में मंगलाचरण के रूप में है।

इस शोध-प्रबन्ध में पतञ्जलि आदि योगाचार्यों के काल के विषय में ऐतिहासिक दृष्टि से पूर्वा-पर संगति के साथ कुछ निर्णय करना आवश्यक नहीं है। कालादि के विषय में विभिन्न विद्वानों के जो मत प्रचलित हैं उन मतों का उपस्थापनमात्र किया गया है।

### स्वामी ज्ञानानन्दकृत योगदर्शन भाष्य—

योगसूत्रों पर स्वामी ज्ञानानन्दकृत भाष्य भी उपलब्ध है। व्यास भाष्य के अतिरिक्त योगसूत्रों पर एकमात्र यही भाष्य प्रकाशित है। स्वामी जी का आविर्भाविकाल

१. भारतीय दर्शन—बलदेव उपाध्याय—पृ० ३६८ ।

२. इण्डियन फिलॉसफी—राधाकृष्णन्—वाल्थूम २—पृ० ३४२ ।

३. भूमिका—पात० यो० द०—सम्पादक-रामशंकर भट्टाचार्य—पृ० ५१ ।

४. , , , , पृ० ५७-५८ ।

काल १६०२ वै० तथा तिरोभावकाल २००७ वै० है। ये वाराणसी में रहते थे तथा तत्स्थ भारत धर्म महामण्डल की सस्थापना भी इन्हीं ने की थी।

स्वरचित भाष्य मे इन्होने भाष्यकार व्यास की व्याख्या पद्धति का अवलम्ब ग्रहण किया है, ऐसा इन्होने स्वयं ग्रन्थारम्भ मे लिखा है। साथ ही यह भी लिखा है कि व्यासभाष्य अत्यन्त संक्षिप्त एवं दुर्लभोद्घ है। अतः उसका इस भाष्य मे सविस्तार विवेचन है तथा व्यासभाष्यानुकूल अन्यान्य टीकाकारों व वृत्तिकारों के द्वारा विवेचित सिद्धान्त भी सन्निविष्ट है। भाष्यकार ज्ञानानन्द के शब्दों में “भाष्येत्तं भगवद् व्यासकृत् योगदर्शनभाष्यव्याख्यापद्धतिरेव अवलम्बिता। व्यासकृतं भाष्यमतिशक्तिं दुर्बोधं च। अतस्तद्वत् सविस्तरं विवेचितं। व्यासभाष्यानुकूलं अन्यान्यटीका—वृत्तिकारसिद्धान्ता अप्यत्र सन्निवेशिताः।”<sup>१</sup>

इस भाष्य की भाषा निश्चयेन अत्यन्त सरल है किन्तु व्यासभाष्य के अनुरूप ही व्याख्यान में, अथवा उसके दुरूह अशों के सुविशदीकरण मे यह भाष्य कहाँ तक कृत-कार्य है, यह कहना कठिन प्रतीत होता है। भाष्यकार व्यास की व्याख्या सांख्य-योगीय दृष्ट्यनुकूल ही है, जबकि ज्ञानानन्दकृत भाष्य मे वेदान्त का प्रभाव भी परिलक्षित होता है। यह भाष्य अत्यन्त अर्वाचीन होने पर भी भाष्य होने के कारण व्यास के बाद इसे स्थान दिया गया है।

### तत्त्ववैशारदी—

‘व्यासभाष्य’ की गूढार्थता को सुलभाने के लिये श्री वाचस्पति मिश्र ने ‘तत्त्व-वैशारदी’ तथा श्री विज्ञानभिक्षु ने ‘योगवार्त्तिक’ नामक टीकाएँ रचीं। शंकरकृत ‘विवरण’ तथा हरिहरानन्द की ‘भास्वती’ भी ‘व्यासभाष्य’ की ही टीकाएँ हैं।

‘द्वादशदर्शनकाननपञ्चानन’ की उपाधि से विभूषित, सर्व दर्शनशास्त्र-मर्मज्ञ, श्री वाचस्पति मिश्र की सर्वतोमुखी प्रतिभा के अनुरूप ही ‘तत्त्ववैशारदी’ अत्यन्त पाण्डित्य-पूर्ण और प्रमेयबहुलता के सा-साथ गूढार्थ प्रकाशिनी भी है। ये सर्वतन्त्रस्वतंत्र होने पर भी भगवान् शिव के विशेष श्रद्धालु थे। मिश्र जी वेदान्त मत के मानने वाले थे, फिर भी उन्होंने किसी शास्त्र-विशेष की व्याख्या करते समय, उसी शास्त्र के रहस्यों का उद्घाटन किया है और उसकी ग्रन्थियों को सुलभाने की पूर्णनिष्ठा एवं तत्परता के साथ चेष्टा की है। अन्यान्य शास्त्रों के विरोधी सिद्धान्तों एवं असमान बातों को उठा कर किसी शास्त्र-विशेष मे श्रद्धा रखने वाले की बुद्धि को उद्भ्रान्त करने की चेष्टा उन्होंने नहीं की है। यह इनकी अपनी विशेषता है। वे न्याय मे

सांख्य या सांख्ययोग में वेदान्त के उच्चतर सिद्धान्तों का प्रसंग लाकर प्रस्तुत शास्त्र की हीनता प्रकट नहीं करते। किसी भी शास्त्र का जैसा गुरु—गम्भीर विवेचन होना चाहिये, मिश्र जी की 'तत्त्ववैशारदी' में वैसा ही शास्त्रीय विवेचन मिलता है। 'व्यासभाष्य' के रहस्योद्घाटन एवं सांकेतिक स्थलो के स्फुटीकरण में यह टीका नितान्त कृतकार्य है तथा अनेक स्थलो पर सरल एवं सुबोध भी है, फिर भी संस्कृत के सामान्य विद्यार्थी के लिये इसमें प्रवेश पाना दुष्कर है। इसका कारण मिश्र जी का अगाध आचार्यत्व, नैयायिक शैली एवं विषय की गहनता है। डा० उमेश मिश्र ने यह टीका अत्यन्त सरल व बोधगम्य बतलाई है।<sup>१</sup> किन्तु श्री मिश्र जी की विषय गाम्भीर्यपूर्ण नैयायिक शैली को अत्यन्त सरल नहीं कहा जा सकता।

'तत्त्ववैशारदी' अत्यन्त प्रामाणिक टीका मानी जाती है। मिश्र जी की परवर्ती 'योगसूत्र' की टीकाओं में वाचस्पति के मतों का प्रामाण्यतया निर्देश किया गया है। विवरणकार शंकर ने भी ( १/२४ ) वाचस्पति का मत उद्धृत किया है। 'सर्वदर्शन-संग्रह' तथा अन्यत्र भी दर्शन-ग्रन्थों में मिश्र जी की उक्तियाँ प्रमाण रूप में स्मरण की गई हैं। 'पातजल-योग' के टीकाकारों ने अनेक स्थलो पर बिना नाम-निर्देश के भी तत्त्ववैशारदीकार के मत ग्रहण किये हैं।

'तत्त्ववैशारदी' में विविध सम्प्रदायों के दृष्टिकोणों को भी प्रदर्शित किया गया है। यथा वैनाशिक,<sup>२</sup> प्रावादुक,<sup>३</sup> विज्ञानवादी,<sup>४</sup> स्वमत<sup>५</sup> एवं नास्तिक<sup>६</sup> इत्यादि।

भाष्यकार व्यास ने जिन स्थलो पर नाम-निर्देश न करके 'इत्यपरे' इत्यादि कहकर परमत का संकेत किया है, उनका नाम-निर्देश करना श्री वाचस्पति कभी भी नहीं भूले है।<sup>७</sup> योग के सूक्ष्म विषयों की दृष्टि से 'तत्त्ववैशारदी' के कुछ स्थल विशेष दर्शनीय हैं। यथा 'साधनपाद' में उक्त ज्योतिष्मती धारणा का प्रसंग, सास्मित समाधि-विषयक व्याख्यान, दृग्दर्शनशक्ति के भोक्तृभोग्य सम्बन्ध के द्योतनार्थ शक्तिग्रहण का प्रसंग, मूर्धपद से सुषुम्ना नाडी का अर्थग्रहण, इत्यादि।<sup>८</sup>

१. भारतीय दर्शन डा० उमेश मिश्र पृ० ३१६

२. (४/१४-१६-२०-२१)

३. (४/१६)

४. (४/१४)

५. (४/१०)

६. (४/१०) (तत्त्व०)

७. यथा—अपरे=वैशेषिका (३/५३), यस्यतु=वैनाशिकमतम् (१/३२), अपरआह=एकान्त-वादिनं बौद्धमुत्थापयति (३/१३), शास्त्रानुशासनम्=षष्टितन्त्रशास्त्रस्यानुशिष्टि (३/१३), केचित्=वैनाशिका बाह्यार्थवादिन (४/२३) इत्यादि।

८. द्रष्टव्य—तत्त्व० १/३६, १/१७, २/६, ३/३२ इत्यादि।



आचार्य वाचस्पति मिश्र का जीवनकाल नवम शताब्दी है। 'न्यायसूची-निबन्ध' में मिश्रजी ने 'वस्वङ्कवसुवत्सर' इत्यादि शब्दों से स्वयमेव अपने जीवनकाल का निर्देश किया है। विद्वानों ने उस कथन से ८६८ संख्या का तात्पर्य ग्रहण किया है। वह संख्या पुनः विक्रमी को लक्षित करती है। तदनुसार वाचस्पति मिश्र का काल ८४१ ई० सिद्ध होता है।

वाचस्पति गृहस्थ थे। उनकी पत्नी का नाम भामती था, जिनके नाम पर उन्होंने स्वरचित 'शारीरकभाष्यटीका' का नाम भी भामती रखा। प्रसिद्ध न्यायशास्त्रविद् त्रिलोचन इनके गुरु थे।

### पातंजल-रहस्य—

'तत्त्ववैशारदी' पर राघवानन्द सरस्वती कृत पातंजल-रहस्य नाम्नी टीका है। यह व्याख्या अत्यन्त संक्षिप्त है तथा विशेष उपयोगिनी नहीं प्रतीत होती है। 'तत्त्ववैशारदी' के अध्ययन से जो तत्त्व स्फुट होते हैं—'पातंजल-रहस्य' से उनकी सम्यक् व्याख्या भी नहीं हो पाती है। ये अद्वय-भगवत्पाद के शिष्य थे, यह अन्तिम पुष्पिका से ज्ञात होता है।

नोट :—भिक्षु आदि की अपेक्षा अर्वाचीन होने पर भी 'पातंजल-रहस्य' 'तत्त्ववैशारदी' की टीका है। अतः उसका 'तत्त्ववैशारदी' के बाद स्थान रखा गया है।

### विज्ञानभिक्षु का 'योगवार्त्तिक' एवं 'योगसारसंग्रह'—

विज्ञानभिक्षु के 'योगवार्त्तिक' और 'योगसारसंग्रह' योग-दर्शन के उपयोगी ग्रंथ हैं। 'योगवार्त्तिक' 'व्यासभाष्य' की टीका है। यह अत्यन्त विस्तृत है। इसमें 'योगभाष्य' के विवेचन के अतिरिक्त 'तत्त्ववैशारदी' के व्याख्यानो की भी पर्याप्त समालोचना की गई है। भिक्षु के सांख्ययोगीय सैद्धान्तिक व्याख्यान मार्मिक हैं। वे सांख्य-योग के साथ अन्य दर्शनों, विशेषतः अद्वैतवेदान्त मत की समालोचना भी करने लगते हैं। इनके मत दुरुह प्रतीत होते हैं। 'वार्त्तिक' में प्रसंगतः वैनाशिक मत, क्षणिकवाद, विज्ञानवाद, आधुनिक मत (विशेषतः नव्यवेदान्त), दृष्टिसृष्टिवाद, न्यायवैशेषिक मत इत्यादि बहुत से सम्प्रदायों के मत संग्रहीत हैं।

'योग-वार्त्तिक' में श्रुति, स्मृत्यादि के वचनों का प्रामाण्य बहुलता से प्राप्त होता है। इनके आधार पर भिक्षु का 'वार्त्तिक' सैद्धान्तिक दृष्टि से उपयोगी होने पर भी योग के

सूक्ष्म एवं गूढ विषयो के प्रति, इसमें अन्तर्दृष्टि का अभाव लक्षित होता है। यथा अस्मिन्तानुगत समाधि के विषय में श्री भिक्षु का मत पूर्ण समीचीन नहीं प्रतीत होता। ऐसे स्थल अन्यत्र भी (४ '१०-११-३१) 'योगवार्त्तिक' में देखे जा सकते हैं। कही कही पर योगशास्त्रान्तर्गत मतों की व्याख्या अत्यन्त ही विचित्र एवं काल्पनिक प्रतीत होती है।<sup>१</sup>

श्री भिक्षु अत्यन्त स्वतन्त्र दृष्टिकोण के व्याख्याता है। कई विषयों में उनका श्री वाचस्पति मिश्र से मत-वैपरीत्य लक्षित होता है। खडन-स्थलो में कही भी श्री भिक्षु ने नामोल्लेख न करके, वाचस्पति के मतों का खडन भी किया है, किन्तु विचारपटुता एवं न्याय की दृष्टि से प्रायः मिश्र जी के मत ही समीचीन हैं, ऐसा विद्वानों का निर्णय है। वह स्पष्ट ही अनुभूत होता है। अतः अनेक गुणों से युक्त एवं अनेक दृष्टियों से उपयोगी होने पर भी प्रामाण्य दृष्टि से श्री भिक्षु के व्याख्यान संदिग्ध एवं विचारणीय बन जाते हैं। भाष्य के परमत निर्देशस्थलो में वाचस्पति की भौति भिक्षु ने भी सम्प्रदायों के नाम बतलाए हैं।

सनातनदेव के अनुसार श्री भिक्षु का जीवन-काल निश्चितरूप से विक्रम की १८ वीं शताब्दी है, क्योंकि स्वयं विज्ञानभिक्षु ने 'ब्रह्ममीमांसाभाष्य' के अन्त में उसकी समाप्ति का सम्वत् १७७५ लिखा है।<sup>२</sup> आधुनिक-कालीन सांख्ययोग के विद्वान् श्री उदयवीर शास्त्री ने अपने 'सांख्य-दर्शन के इतिहास' ग्रन्थ में अनेक युक्तियों से यह सिद्ध किया है कि ईसा की १४ वीं शती का मध्यकाल वि० भि० का काल है।<sup>३</sup> जैसा कि भिक्षु पद से भ्रम होता है, भिक्षु जी बौद्ध नहीं थे। वेदान्त मत के प्रति असहिष्णु होने पर भी इनकी भक्ति के प्रति निष्ठा ज्ञात होती है। 'योगसार-संग्रह' के मंगलाचरण का नमस्कारात्मक श्लोक भगवान् विष्णु के प्रति अगाध भक्ति का परिचायक है।

### योगसार-संग्रह—

इस पुस्तक में संक्षेप में योग के सिद्धान्तों का सार संकलित किया गया है। इसकी ( योगसार-संग्रह की ) भाषा अत्यन्त सरल एवं शैली नितान्त सुबोध है। इस ग्रन्थ के विषय में स्वयं श्री भिक्षु का कथन है—'योग-वार्त्तिकाचल-स्वरूप मयानी के

१. द्रष्टव्य—योगवार्त्तिक—(सू० २/१२, ३/१५-१८)

२. द्रष्टव्य—प्राक्कथन 'योग सार संग्रह'—अनुवादक स्वामी सनातनदेव ।

३. सांख्य-दर्शन का इतिहास (ले० उदयवीर शास्त्री) पृ० ३०२ ।

द्वारा, योग-रूप समुद्र को मथ कर जो सारभूत अमृत निकाला है, वह इस ग्रन्थ-कुम्भ में निहित किया जाता है'।<sup>१</sup> ग्रन्थकार की यह उक्ति अधिकांश में ठीक भी है।

‘योगसार-संग्रह’ के विषय में स्वामी सनातनदेव ने तो यहाँ तक कहा है कि ‘योग का ऐसा स्फुट विवेचन अन्यत्र अलभ्य है।’ डा० गगानाथ झा भी इस ग्रन्थ से अत्यधिक प्रभावित हुए हैं। उन्होंने लिखा है कि उनके सम्पूर्ण अध्ययन-क्रम में उन्हें ऐसा कोई भी ग्रन्थ नहीं प्राप्त हुआ जो विद्यार्थियों एवं अभ्यासियों के हाथ में देने के लिये इससे अधिक उपयोगी हो।

“In the whole course of my study I have not come across a better treatise to be placed in the hands of either ‘students’ or of ‘aspirants’ to ‘Yoga’ ”

‘योगसारसंग्रह’ में अत्यन्त सक्षेप में सुचारु रूप से योग का अमूल्य विषय सकलित है। ‘योगवार्तिक’ की भाँति इसमें भी श्रुति-स्मृति के वचनों का प्रामाण्य प्रस्तुत कर सांख्ययोगमत का भलीभाँति पोषण किया गया है। अधिकांश विषय ‘ईश्वर-गीता’ ( कूर्मपुराणान्तर्गत ) के श्लोकों के उद्धरणों द्वारा ही न्यस्त किया गया है।<sup>३</sup>

### शंकर कृत ‘योगभाष्य-विवरण’—

शंकर कृत ‘भाष्यविवरण’ १९५२ ई० में मद्रास से प्रकाशित हुआ। यह प्रसिद्ध भी नहीं था, ऐसा ज्ञात होता है, क्योंकि दर्शन-ग्रन्थों में इसका नामोल्लेख नहीं मिलता है। १९५७ में प्रकाशित वर्तमानकालीन श्रीयुत बलदेव उपाध्याय कृत ‘भारतीय दर्शन’ में भी योगाचार्यों में विवरणकार शंकर का नाम निर्दिष्ट नहीं है।

‘भाष्यविवरण’ के सम्पादक ने ग्रन्थ की भूमिका में प्रस्थानत्रयीभाष्यकार और विवरण भाष्यकार शंकर की एकता का प्रतिपादन किया है। किन्तु उनका यह मत युक्तिपूर्ण नहीं है। साधनपाद, सू० २४ के ‘विवरण’ में प्रयुक्त ‘अन्येषां व्याख्यानम्’ के लिये सम्पादक महोदय लिखते हैं—

‘अन्ये वाचस्पति मिश्रः।’<sup>१</sup> वाचस्पति मिश्र ‘प्रस्थानत्रयी’ के भाष्यकार शंकर

१. वार्तिकाचलदण्डेन मथित्वा योगसागरम् ।

उद्धृत्यामृतसारोऽयं ग्रन्थकुम्भे निधीयते ॥

२. द्रष्टव्य—भूमिका डा० झा कृत अनुवाद (योगसार संग्रह)

३. द्रष्टव्य—‘पातञ्जल-योग-भाष्यविवरणम्’—पृ० ५५ ।

की अपेक्षा अर्वाकालीन है। आदि शंकराचार्य का जीवनकाल ८४५ वि० है, और वाचस्पति का ८६८ वि०। अतः श्री सम्पादक का यह मत स्वयं अपनी ही उक्ति से खंडित हो जाता है।<sup>१</sup>

भाषा की दृष्टि से भी 'शारीरकभाष्य' एवं 'योगभाष्यविवरण' में साम्य लक्षित नहीं होता है। विवरणकार की अपेक्षा शारीरकभाष्यकार की भाषा कहीं अधिक प्रौढ़, प्रांजल एवं पूर्ण है। अनेक स्थलो पर आदि शंकराचार्य एवं विवरणकार के मतों में भिन्नता भी लक्षित होती है।<sup>२</sup>

श्री भट्टाचार्य ने अनेक प्रमाणों के आश्रय से जयमंगलाकार एवं विवरणकार की एकता का सविस्तार निरूपण किया है।<sup>३</sup>

'भाष्यविवरण' में श्री वाचस्पति मिश्र का मत उद्धृत है।<sup>४</sup> अतः इतना तो निश्चित है कि ये वाचस्पति के परवर्ती आचार्य हैं। श्री बलदेव उपाध्याय के कथनानुसार जयमंगलाकार वाचस्पति के अनन्तर उत्पन्न हुए।<sup>५</sup>

'भाष्य-विवरण' योग-दर्शन का एक अत्यन्त महत्वपूर्ण एवं उपयोगी ग्रंथ है। 'विवरण' नाम के अनुरूप ही, इस ग्रन्थ में 'व्यासभाष्य' के रहस्यों के अनावरण एवं आशय का स्फुटीकरण अत्यन्त सुचारु ढंग से किया गया है योगजिज्ञासुवर्ग के लिये भी यह परम उपकारक है। इसकी भाषा एवं शैली हृदयावर्जक है। योग के सूक्ष्म विषयों में भी ग्रंथकार का प्रवेश सूचित होता है। साधनपाद सूत्र ४७ के अन्तर्गत 'अनन्त' शब्द की 'अनन्तविश्वम्', 'अनन्तभाव आनन्त्यम्' यह व्याख्या योगाभ्यास की दृष्टि से अत्यन्त उपयोगिनी है। इस विषय में मिश्रजी एवं श्री भिक्षु का मत यौगिक दृष्टि से उपयोगी नहीं है, ऐसा योगमर्मज्ञों का कथन है। विवरणकार उत्कृष्ट वेद्याकरण थे, उनके ग्रन्थों में शब्दों का व्याकरण बहुलता से किया गया है। ईश्वरानुमान-विषयक

१. द्रष्टव्य—भारतीय दर्शन, बलदेव उपाध्याय—पृ० ४३१।

अभी हाल में प्रकाशित प० उदयचौर शास्त्री कृत 'वेदान्त दर्शन का इतिहास' ग्रन्थ में शंकराचार्य को ख्रीष्ट पूर्वकाल का आचार्य माना गया है। अभी यह मत परीक्षणीय है।

२. द्रष्टव्य—भूमिका—पा० यो० द०' स० रामशंकर भट्टाचार्य—पृ० ७०-७१।

३. " " "

४. १/२४।

५. 'भारतीय दर्शन'—पृ० ३२८।

प्रकरण से यह भी प्रतिभासित होता है कि वे न्यायशास्त्र के भी विशेषज्ञ थे।<sup>१</sup> सूत्र ३/१३ के 'तदेतत् त्रैलोक्यम्' इत्यादि भाष्यगत वाक्य के विषय में न्यायभाष्य, वार्तिकादि में विरुद्धहेत्वाभास-रूप दोष प्रदर्शित किया गया है। उसका भी विवरणकार ने समाधान किया है। 'विवरण' में अनुवृत्ति-विषयक तर्क भी देखे जाते हैं, यथा समाधिपाद सू० २ में योग पद की पुनरावृत्ति क्यों है, इसका समाधान ग्रथकार ने किया है। इसी स्थल पर चित्ति को चित्तिशक्ति कहने का तात्पर्य भी स्फुट किया गया है। बहुत से स्थलो पर न्याय आदि मतों का उल्लेख एवं खण्डन भी किया हुआ है।<sup>२</sup> प्रथम पाद सूत्र ४० के विवरण में संक्षिप्ता, विशाल एवं विकरिणी तीनों धारणाओं का कथन हुआ है। इस प्रकार की गणना-पद्धति अन्यत्र अप्राप्य है।

किसी किसी स्थल पर विवरणकार शंकर का वाचस्पति मिश्र से मत-वैपरीत्य तथा भिक्षु से साम्य लक्षित होता है। यथा-विदेह एवं प्रकृतिलयों के प्रसंग में।<sup>३</sup> यहाँ वाचस्पति मिश्र का मत ही ठीक प्रतीत होता है।

अनेक स्थलो पर ग्रथकार ने सूत्रपाठभेद एवं भाष्यपाठभेद भी प्रदर्शित किये हैं, जिनका सम्पादको ने सर्वत्र टिप्पणियों में निर्देश किया है।

### भास्वतीकार हरिहरानन्द आरण्य—

सुप्रसिद्ध सांख्ययोगाचार्य स्वामी हरिहरानन्द आरण्य अत्यन्त अर्वाचीनकालीन है। इनकी जन्मतिथि ४-१२-१८९६ तथा तिरोभाव-तिथि १९-४-१९४७ ई० है। ये योगाभ्यासी थे। ये एक गुफा के अन्दर दीर्घकाल तक रहकर योगाभ्यास किया करते थे। और इसी में इन्होंने अपने पांचभौतिक शरीर का परित्याग किया। बिहार राज्य के मधुपुर नगर में इन्हीं के द्वारा प्रतिष्ठापित एक मठ आज भी विद्यमान है।

यतिप्रवर हरिहरानन्द आरण्य ने बगदि भाषाओं में सांख्य और योग पर अनेक ग्रंथों का निर्माण किया है। इनके 'पातजलयोगदर्शनम्' सज्ञक सुविख्यात ग्रंथ में योगविषयक अत्यन्त सूक्ष्मविचार उपलब्ध होते हैं ( जिनका इस ग्रन्थ में प्रचुरता से उपयोग भी किया गया है। ) इन्होंने जड़विज्ञान की रीति से भी आर्ष सत्त्वों को प्रमाणित करके, सांख्य-योग मत का सर्वथा नवीन ढंग से स्थापन किया है।

१. 'भाष्य विवरण'—पृ० ५८ से ७२ तक।

२. द्रष्टव्य—१/४, १/७, १/४३, आदि।

३. सू० १-१६।

योगप्रेमियों में आरण्य जी का यह ग्रन्थ अत्यन्त लोकप्रिय है। मूल पुस्तक कापिला-श्रमीय योगदर्शन बंगला में होने पर भी इसका हिन्दी, इंग्लिश भाषाओं में आंशिक अनुवाद हो चुका है।

‘व्यासभाष्य’ पर इनकी ‘भास्वती’ टीका भी योगविद्या की अमूल्य निधि है। ‘भास्वती’ अत्यन्त सारगर्भित, संक्षिप्त सुबोध, प्रकृतविषयानुगामिनी एवं शकाविकल्परहित है ऐसी ग्रन्थारम्भ में स्वयं टीकाकार की ही उक्ति है, जो सर्वथा सत्य है। इस ग्रंथ में ‘योगभाष्य’ का तात्पर्य ही न्यायतः विशद किया गया है, परमत-खण्डन की चेष्टानही की गई है।

अनेक स्थलों पर ग्रंथाकार की न्यायसंबलित अर्पूर्व योगज दृष्टि परिलक्षित होती है यथा—

‘समाधिपाद’ के प्रारम्भ में ही परमर्षि कपिल की हिरण्यगर्भसंज्ञा, एकाग्रभूमिक चित्त की प्रज्ञा का सम्प्रज्ञान<sup>१</sup>, एकतत्त्व के अर्थ का प्रसंग<sup>२</sup>, आनन्दानुगत समाधि की व्याख्या एवं उसका अस्मितानुगम से भेद<sup>३</sup>, क्षणतत्क्रम विषयकव्याख्यान<sup>४</sup>, स्वप्रकाश द्रष्टा के उपदर्शन के बिना आत्मभाव के अप्रवर्तन का कथन।<sup>५</sup> इसी प्रकार अन्यत्र<sup>६</sup> भी दर्शनीय है।

किसी किसी स्थल पर ‘भास्वती’ में बिना नामोल्लेख के ‘तत्त्ववैशारदी’ के गूढ़ तत्वों का अपूर्व रीति से सम्यक्, सुचारु एवं अत्यन्त सरल विवेचन किया गया है, ऐसा प्रतीत होता है।<sup>७</sup> श्री रामशंकर भट्टाचार्य का मत है कि मिश्रजी शास्त्र-मर्मज्ञ विद्वान् होने पर भी योगी नहीं थे।<sup>८</sup> अतः ‘भास्वती’ टीका सुगम होने के साथ योगज अन्तर्दृष्टि से परिपूर्ण होने से भी स्व-वैशिष्ट्य रखती है।

१. १/१।

२. १/३२।

३. १/१७।

४. ३/५२।

५. २/१५। ( द्रष्टव्य भास्वती )

६. १/२, १/४, १/१६, १/३६, २/५, २/११, २/१८, २/१६, २/२० इत्यादि।

७. द्रष्टव्य—भा० १/३२ की एकतत्त्व-विषयक व्याख्या।

८. द्रष्टव्य—भू० पा० यो० द० ( तत्त्ववैशारदी की आलोचना )

नोट—भास्वतीकार सस्कृत-योगचार्यों में आधुनिकतम विद्वान् है, फिर भी ‘व्यासभाष्य’ के व्याख्याता होने से, उनका भाष्य के व्याख्यानो के साथ, यहां नामोल्लेख किया गया है।

## (२) योगसूत्रो की टीकाएँ

## भोजकृत्त 'राजमार्तण्ड' ( भोजवृत्ति )—

योगसूत्रों की टीकाओं में 'भोजवृत्ति' नाम से प्रसिद्ध राजा भोज कृत् 'राजमार्तण्ड' नाम्नी व्याख्या अत्यन्त सरल, सुन्दर एवं लोकप्रिय है।

'व्यासभाष्य' से प्रभावित रहने पर भी यह सूत्रों की ही स्वतन्त्र व्याख्या है। 'सूत्रार्थप्रधानग्रंथो वृत्तिः' वृत्ति का यह लक्षण 'भोजवृत्ति' में चरितार्थ ही है।

यह वृत्ति सूत्रों को समझने में अत्यन्त उपादेय है। परमत-खण्डन के प्रति विशेष आग्रह न होने पर भी इस वृत्ति में मतान्तरो का उल्लेख एवं खण्डन मिलता है। यथा ग्रंथ के अन्त में आत्मा के आनन्दमयत्व का खण्डन किया गया है, यह मत वेदान्त का है। यही पर नैयायिक, मीमांसक आदि के मतों का भी स्पष्ट खण्डन किया गया है। खण्डन की यह प्रवृत्ति विशेषतः कैवल्यपाद में ही दृष्टिगत होती है, जिसे लक्ष्य करके भोज ने कहा है—

**'विप्रतिपत्तिसमुत्थभ्रान्तिनिराकरणेन युक्त्या कैवल्यपादोऽयमारभ्यते ।'**

किसी-किसी स्थल पर 'भोजवृत्ति' में योग-विषयक सूक्ष्म अर्थ भी निर्दिष्ट है। समाधिपाद के २१ वे सूत्रान्तर्गत 'संवेग' पद की जैसी विशद व्याख्या भोज ने की है, वैसी और किसी ने नहीं। द्रष्टा एवं दृश्य के संयोग के विषय के वर्णन से ग्रन्थकार की सूक्ष्म एवं गम्भीर अन्तर्दृष्टि व्यक्त होती है।<sup>१</sup> इसी प्रकार विशोका ज्योतिष्मती के स्वरूप का वर्णन भी अत्युत्कृष्ट है। आसन-सिद्धि के प्रकरण में 'आनन्त्य-समापत्ति' का कथन भी सर्वथा योगाभ्यासोपयोगी है।<sup>२</sup> उद्धात के विषय में भी भोजसम्मत लक्षण ही सम्यक् एवं पूर्ण है।<sup>३</sup>

पारिभाषिक एवं विशिष्टार्थक शब्दोंकी व्युत्पत्तियाँ भी भोज ने की हैं। यथा सम्प्रज्ञात, आसन, विराम आदि। किसी-किसी स्थल पर ये व्युत्पत्तियाँ बड़ी विचित्र सी प्रतीत होती हैं—यथा 'वर्तते गन्धविषये इति कृत्वा वृत्तेध्राणेन्द्रिया-ज्जाता वार्ता गन्धसवित् ।'<sup>४</sup>

अनेक गुण समलकृता होने पर भी 'भोजवृत्ति' में कुछ ऐसे भी स्थल हैं, जिनका औचित्य चिन्तनीय है। उदाहरणार्थ सास्मित समाधि-विषयक व्याख्या, विदेह

१. ३/१ वृत्ति ।

२. २/२३ वृत्ति, ३. २/४७, ४. २/५०, ५. ३/३६ ।

एवं प्रकृतिलयो के विषय मे भोज की दृष्टि भ्रान्त है।<sup>१</sup> इसी प्रकार अन्यत्र भी द्रष्टव्य है। ईश्वर के विषय मे श्री भोज की भ्रान्त दृष्टि का विवरण श्री भट्टाचार्य ने स्वसम्पादित 'भोजवृत्ति' की भूमिका मे दिया है।<sup>२</sup>

'भोजवृत्ति' के निर्माता जगत्प्रसिद्ध, परमविद्वान् सर्वशास्त्रपारंगत् श्रीमान् धारेश्वर भोज है, ऐसा—

'शब्दानामनुशासनं विदधता पातञ्जले कुर्वता.....' इत्यादि ग्रन्थारम्भवर्ती श्लोकोक्ति से ही परिज्ञात होता है। इनका नाम रणरंगमल्ल था, यह भी इन्हीं की 'श्रीरणरंगमल्लनृपतेर्वचो जयन्त्युज्ज्वला' (ग्रन्थारम्भ श्लोक ५) इस उक्ति से व्यक्त होता है। 'शब्दानामनुशासनं' इत्यादि पूर्वोक्त उक्ति से यह भी ज्ञात होता है कि वृत्तिकार ने व्याकरण और वैद्यकशास्त्र पर भी ग्रन्थों की रचना की है।

श्री भोज का राज्यकाल विद्वानो ने १०७५-१११० वि० निर्धारित किया है। इनका जीवन-वृत्तान्त मेहुतुङ्गकृत 'प्रबन्ध-चिन्तामणि' बल्लालकृष्ण 'भोज-प्रबन्ध' और 'कीर्ति-कौमुदी' आदि मे प्राप्त होता है।<sup>३</sup>

### भावागणेशवृत्ति—

श्री भावागणेश ने 'योगसूत्र' पर 'योगदीपिका' नामक वृत्ति लिखी, जो 'भावागणेशवृत्ति' नाम से ही अधिक प्रसिद्ध है। ये दार्शनिक-शिरोमणि श्री विज्ञानभिक्षु के शिष्य थे, यह इन्होंने स्वयं लिखा है। इन्होंने गुरु के दृष्टिकोण का अनुसरण करके वार्त्तिक के तात्पर्य को कही तो सक्षिप्त किया है और कुछ स्थलों पर, उसे विस्तृत रूप देकर 'दीपिका' मे प्रस्तुत किया है। स्वयं वृत्तिकार ने ही ग्रन्थारम्भ मे लिखा है—

‘भाष्ये परिक्षितो योऽर्थो वार्त्तिके गुरुभिः स्वयम् ।

संक्षिप्तः सिद्धवत् सोऽस्यां युक्तिषूक्ताधिकं क्वचित्॥’

स्थल-स्थल पर व्याख्या करते समय भी 'वार्त्तिक' को स्मरण किया गया है।

१. १/१७, १/१६।

२. द्रष्टव्य—भूमिका—‘पात० यो० द० भो० रा० वृ० स०’ (सम्पा० रामशंकर भट्टाचार्य) पृष्ठ १६। इस ग्रन्थ की भूमिका मे 'भोजवृत्ति' के प्रत्येक पक्ष पर विषय विचार किया गया है।

३. द्रष्टव्य—भूमिका—पात० यो० द०—सम्पादक रामशंकर भट्टाचार्य—पृ० ४८।



यथा—‘इतिवार्तिके गुरुचरणैः प्रसाधितं प्रपञ्चत च ।’ ‘वार्तिक’ में भिक्षु ने जिस स्थल पर, जिस प्रकार, जा कुछ कहा है, भावागणेश ने भी वहाँ सक्षेप में प्रायः ठीक वैसी ही व्याख्या की है। प्रथम पाद सप्तम सूत्र के व्याख्यान में प्रमाता आदि के विषय में उन्होंने वार्तिककारिकाओं को यथावत् उद्धृत किया है।

‘योगसूत्र’ के अन्यान्य टीकान्तर्गत मतान्तरो का भी ‘दीपिका’ में यत्र-तत्र उल्लेख मिलता है। यथा—‘विज्ञानवाद-निरस्य दृष्टि-सृष्टि-वाद-निरस्पृति’ ‘शुद्धातार्किकास्तु इमां ( निद्रा ) वृत्ति-स्वप्नमध्ये प्रवेशयन्ति ।’

भावागणेश श्री भिक्षु के शिष्य थे, अतः ये उनके समकालीन थे, यह स्वतः स्पष्ट है।

### रामानन्द यति कृत योगमणिप्रभावृत्ति—

श्री रामानन्द यति, यतिप्रवर श्री गोविन्दानन्द-भगवत्पाद के गिष्य थे, ऐसा ग्रन्थ की अन्तिम पुष्पिका से ज्ञात होता है। अतः इनका जीवनकाल १६१७ वीं शती सिद्ध होता है।

ग्रन्थकार की उक्ति के अनुसार ‘मणिप्रभा—वृत्ति’ व्यासभाष्यानुगामिनी है। वृत्तिकार का यह कथन यथार्थ ही है। ‘मणिप्रभा’ में अत्यन्त सरल भाषा में सक्षेपतः भाष्यार्थ का बोध यथास्थान किया गया है। बहुत से स्थलों पर भाष्य के वचन उद्धृत हुए हैं, और किसी किसी स्थल पर भाष्य के वचन के द्वारा ही सूत्र की व्याख्या की गई है। यथा—‘तज्जपस्तदर्थ-भावनम्’ की व्याख्या में ‘तस्य प्रणवस्य जपः प्रणव-वाच्यस्य ईश्वरस्य भावनं पुनः पुनश्चेत्तसि निवेगनमेकाग्रता उपायः’ द्रष्टव्य है।

किसी किसी स्थल पर इसमें ‘योगसुधाकर’ से साम्य लक्षित होता है। कुछ स्थलों पर भोज का अनुकरण किया गया है। तृतीय पाद के १२ वे सूत्र के व्याख्यान में तत्त्ववैशारदीकार का ‘एवं प्रतिक्षणं परिणामिनः सर्वे भावा ऋते चितिशक्तेरिति संक्षेपः’ यह वाक्य भी बिना नामोल्लेख के स्मरण किया गया है। उक्त वाक्य ‘सांख्यतत्त्व-कौमुदी’ में पचम कारिका के व्याख्यान में प्राप्त होता है।

१. १/४।

२. १/१०।

३. ४/१६।

४. द्रष्टव्य—भूमिका—‘पात० यो० द०’ (स० रा० श० भ०) पृ० ४८।

## नागोजीभट्ट—वृत्ति—

नागोजीभट्ट की लघ्वी तथा बृहती वृत्तियाँ विद्वत्समाज में अत्यन्त प्रसिद्ध एवं समादृत हैं। इनकी बड़ी वृत्ति 'योगवार्तिक' पर आधारित है। इनमें किसी स्थल पर तो 'वार्तिक' के अर्थ को विगढ़ किया गया है और कहीं उसे सक्षिप्त रूप में प्रस्तुत किया गया है। 'वार्तिक' का अर्थ समझने में यह विशेष सहायक है।

बहुत से स्थलों पर श्री भोज एवं भावागणेश की वृत्तियों का अनुकरण किया गया है।<sup>१</sup> कहीं पर 'केचित्' शब्दोल्लेखपूर्वक भावागणेश का मत संकलित किया है।<sup>२</sup> कहीं पर कण्ठस्थ करके भोज के मन का निर्देश करके उसे स्वीकार किया है।<sup>३</sup> कहीं कहीं वाचस्पति के मत का परामर्श किया है।<sup>४</sup> अनेक स्थलों पर 'योगभाष्य' के वचन यथावत् ग्रहण किये हैं और कहीं उनका अनुवाद भी कर दिया है।

द्वितीय पाद के नवम सूत्र को भट्ट जी ने भाष्य का ही अंग माना है और इस विषय में वाचस्पति का प्रामाण्य स्वीकार किया है—'ते प्रतिप्रसवहेयाः सूक्ष्माः इति तु भाष्यमेव न सूत्रमिति वाचस्पति स्वरसः'।

इस वृत्ति में 'तत्त्ववेगारदी' का प्रभाव तो सर्वत्र ही झलक रहा है, 'भोजवृत्ति' का भी पर्याप्त मात्रा में अनुकरण लक्षित होता है। भावागणेश की 'योगदीपिका' का कहीं गूढ़ः अनुकरण किया है, तो अन्य स्थलों में, लेखक ने उनका खडन करने में भी सकोच नहीं किया है। कुछ स्थलों पर इनके सूत्रार्थ-विषयक विशिष्ट व्याख्यान भी प्राप्त हैं। ऐसे स्थलों में सावनपाद के पन्द्रहवें सूत्र की व्याख्या उदाहरणीय है। कहीं पर भट्ट जी ने वेदान्तादि अन्यान्य मतों के साथ समन्वय की चेष्टा की है।<sup>५</sup>

प्रसंगगत वृत्तिकार तथा प्रसिद्ध वैयाकरण नागेश एक ही व्यक्ति है। इन्होंने व्याकरण, धर्मशास्त्र एवं अलकार-शास्त्र सम्बन्धी अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया है। इनकी वृत्ति से भी इनका शब्दशास्त्र-विषयक ज्ञान प्रकट होता है। उदाहरणार्थ

१. द्रष्टव्य—सू० १/४६, २/५-६-१२, ३/२५ इत्यादि की व्याख्या।

२. ४/३-५।

३. ४/३।

४. २/६, ४/१७।

५. १/४-७-२४, २/१३, ४/१०-२१-२३।

६. द्रष्टव्य—४/३४ वृत्ति।

विभूतिपाद के २५वे सूत्र की वृत्ति द्रष्टव्य है। इनका जीवनकाल १८वीं शती का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है।<sup>१</sup>

### अनन्तदेव ( पण्डित ) कृत 'योगचन्द्रिका'

अनन्त पण्डित ने अपनी 'योगचन्द्रिका' सज्ञक व्याख्या में—'भोजवृत्ति' के आधार पर सूत्रों के शब्दार्थमात्र का विधान किया है। अतः यह व्याख्या अति सक्षिप्त है। किसी किसी स्थल पर इनमें केवल सूत्रगत विभक्तियाँ और समाप्त तोड़ कर, अथवा सूत्र के ही शब्दों को आगे-पीछे करके, रख दिया गया है।<sup>२</sup> इस वृत्ति में योग के सूक्ष्म तथ्य स्फुट नहीं हो सके हैं। अतः यह टीका विशेष उपयोगिनी नहीं है। इनका जीवनकाल विक्रम का १६ वाँ शतक माना जाता है।<sup>३</sup>

### सदाशिवेन्द्र सरस्वती कृत 'योगसुधाकर'

सदाशिवेन्द्र सरस्वती कृत 'योगसुधाकर' नामिका व्याख्या 'योगसूत्रों' की बहुत सुन्दर और सरल टीका है। सक्षिप्त होने पर भी इसमें कुछ स्थलों पर योगविषयक सूक्ष्म तथ्यों का स्फुटीकरण प्राप्त होता है।<sup>४</sup>

मणिप्रभाकर का प्रभाव इस पर स्पष्ट लक्षित होता है। 'मणिप्रभा' और 'योग-सुधाकर' टीकाएँ योगनिष्ठ पुरुषों की कृतियाँ हैं, अतः स्ववैशिष्ट्य रखती हैं तथा सूत्रार्थ-द्योतन में अत्यधिक उपादेय हैं।

'योगसुधाकर' में योगि याज्ञवल्क्य का ग्रन्थ अनेक बार स्मरण किया गया है।<sup>५</sup> साधनपाद के ३५ वे सूत्र में 'योगवाशिष्ठ' का श्लोक उद्धृत है।

उपर्युक्त व्याख्याओं के अतिरिक्त—'पातञ्जलयोगदर्शन' पर नारायणतीर्थ कृत 'योगचन्द्रिका' एवं 'सूत्रार्थबोधनी', यशोविजयकृत 'योगसूत्रवृत्ति' भी प्रकाशित हैं। ये वृत्तियाँ उपलब्ध नहीं हो सकती। 'पातञ्जलयोगदर्शन' पर इतना ही साहित्य प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त—

१. द्रष्टव्य—भूमिका—'पा० यो० द०'—(स० रा० श० भ०) पृष्ठ ४६।

२. उदाहरणार्थ—द्रष्टव्य—१/१०—१/१६ आदि।

३. द्रष्टव्य—भूमिका—प्रवृत्ति-युक्त—पात० यो० द०।

४. द्रष्टव्य—'योग सुधाकर' १/३६।

५. २/३२, ३/१।

- (१) उदयशंकर रचित—‘योगसूत्रवृत्ति’
- (२) उमापति कृत—‘योगसूत्रवृत्ति’ ।
- (३) नारायणभिक्षु कृत—‘योगसूत्रार्थ गूढार्थ द्योतिका’ ।
- (४) ज्ञाननन्द कृत—‘योगसूत्राविवृत्ति’ ।
- (५) भवदेव कृत—‘पातलीयाभिनवभाष्यम्’ ।
- (६) भवदेव कृत—‘योगसूत्रवृत्तिटिप्पणम्’ ।
- (७) गणेश दीक्षित कृत—‘पातजलवृत्ति’ ।
- (८) महादेव कृत—‘योगसूत्रवृत्ति’ ।
- (९) रामानुज कृत—‘योगसूत्रभाष्यम्’ ।
- (१०) वृन्दावन शुक्ल कृत—‘योगसूत्रवृत्ति’ ।
- (११) शिवशंकर कृत—‘योगवृत्ति’ ।
- (१२) सदाशिव कृत—‘पातजलसूत्रवृत्ति’ ।
- (१३) श्रीधरानन्द यति कृत —‘पातजलरहस्य प्रकाश’ ।
- (१४) बलदेव मिश्र कृत—‘योगप्रदीपिका’ ।
- (१५) स्वामिनारायण कृत—‘किरणावली टीका’ ।
- (१६) स्वामि हरिप्रसाद कृत—‘योगसूत्रवैदिकसूत्रवृत्ति’ ।

ये ग्रन्थ भी ‘पातजल-योग-दर्शन’ पर हैं। इनमें से अधिकांश अप्रकाशित हैं, जो प्रकाशित हैं वे भी गंभीर अर्थ के प्रकाशक नहीं हैं।

श्री रामशंकर भट्टाचार्य-द्वारा सम्पादित ‘पातजल-योग-दर्शक’ की भूमिका में क्षेमानन्द दीक्षित कृत ‘नवयोग कल्लोल’ नामक ग्रन्थ का भी निर्देश है।

इन संस्कृत-ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्यान्य भाषाओं में भी पातजलयोग पर ग्रन्थ-रचनाएँ हुई हैं। अलवरुनी ने ‘किताब-पातजल’ का उल्लेख किया है। हिन्दी में स्वामी ओमानन्द का ‘पातजल-योग-प्रदीप’ भी एक सुन्दर और विशाल ग्रन्थ है। इसमें पूर्वाचार्य-परम्परा का निर्वाह करते हुए, कहीं-कहीं पर आधुनिक-विज्ञान की दृष्टि से व्याख्या की गई है। वाचस्पति मिश्र की ‘तत्त्ववैशारदी’ पर आधारित ‘देवनागरी योगभाष्यविवृत्ति’ एक उपयोगी ग्रन्थ है। योगदर्शन पर बालराम उदासीन की टिप्पणियाँ भी अत्यन्त उपयोगी हैं। अंग्रेजी भाषा में लिखित आई० के० टैमनी कृत ‘साइन्स ऑफ योग’ नामक ग्रन्थ भी बहुत सुन्दर है। इसमें पूर्वाचार्य के प्रति सम्मानपूर्ण दृष्टि रखते हुए ग्रन्थकार ने आधुनिक वैज्ञानिक प्रणाली के अनुसार योगसूत्रों की व्याख्या की है।

### (३) योगशास्त्र के आचार्यों में महर्षि पतजलि एव व्यास का महत्व ।

भूमिका के द्वितीय प्रकरण 'योगशास्त्र का उद्भव और विकास' में समस्त प्रसिद्ध योगाचार्यों एव उनके ग्रन्थों का सविशेष वर्णन किया जा चुका है। समस्त आचार्यों को दृष्टि में रखते हुए सम्पूर्ण योगशास्त्र का समीक्षण यह सिद्ध कर देता है कि योगदर्शन के इतिहास में, महर्षि पतजली एव भाष्यकार व्यास विशेष महत्वपूर्ण है।

समस्त प्रचलित दर्शनो तथा योग के उपलब्ध ग्रन्थों में 'योगसूत्र' की प्राचीनता-महर्षि पतजली की महत्ता की ही परिचायिका है।

योग के आदि प्रवर्तक के रूप में हिरण्यगर्भ को स्मरण अवश्य किया जाता है, किन्तु आज 'हैरण्यगर्भ-योग' उपलब्ध नहीं है। 'हैरण्यगर्भ-योगशास्त्र' का जो विवरण ग्रन्थान्तरो में प्राप्त होता है, उससे ज्ञात होता है कि 'हैरण्यगर्भ-योगशास्त्र' अत्यन्त विस्तृत था। प्रारम्भ में वह कठायन करके गृहशिष्य-परम्परा द्वारा प्रचलित रहा। उसी परम्परा प्राप्त विद्या के आश्रय से कुछ योगियों ने हिरण्यगर्भयोगपरक ग्रन्थों का प्रणयन किया।<sup>१</sup> अनेक मनीषियों द्वारा विरचित हिरण्यगर्भ-योगपरक ग्रन्थों में कुछ न कुछ भेद अवश्यम्भावी है। उसके सकलन से 'हिरण्यगर्भ-योगशास्त्र' का विस्तृत होना भी स्वाभाविक ही है। अतः अनेक सवादादि से विभक्त होकर जब वह योग-विद्या अति-विस्तृत, अनवधारणीय, दुर्बोध एव लुप्त-प्रायः हो चली, तब भगवान् पतजली ने उसके रक्षणार्थ कण्ठ्या न्याय संगत योगसूत्रों में उसे ग्रथित किया। अतः योगविद्या की रक्षा का महान् श्रेय महर्षि पतजली को ही प्राप्त है। उन्होंने इसका पुनरुद्धार कर, सांगोपांग योग-विद्या का पुनः प्रचार करके, एक ऐसे प्रशस्त पुण्य-पन्थ को प्रकाशित किया, जिस पर चलकर मानव-मात्र के अभीष्ट की सिद्धि होती है। उन्होंने एक ऐसा आदर्श प्रस्तुत किया जिसके ससक्ष केवल भारत ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व ही श्रद्धावन्त है।

महर्षि पतजलि का 'योगसूत्र' भारतीय दर्शनो का शिरोभूषण है। उसका एक-एक शब्द सारगर्भित एव पुनरुक्ति आदि दोष-विहीन है। 'साइन्स ऑफ योग' के रचयिता आर्इ० के० टैमनी लिखते हैं।—'योगसूत्र' का एक भी शब्द महत्वहीन अथवा अनावश्यक नहीं है। भले ही हम उनका स्पष्ट मूल्यांकन न कर सके।

"Not a word in the Yoga—Sutras is without its significance

१. द्रष्टव्य—भूमिकागत 'द्वितीय प्रकरण' में हैरण्यगर्भ-योग-विवरण।

and necessity although we may not be able to see these clearly”<sup>13</sup>

( The Science of yoga, page 263 )

पतजली का ‘योगसूत्र’ मानव-मस्तिष्क के चिर-प्राचीन एवं नित-नविन अन्वेषणों का अपूर्व दिग्दर्शन है ।

‘योगदर्शन’ की उदारता-व्यापकता और ‘विवेचनात्मकता’ के प्रकरण में पतजलि द्वारा निर्दिष्ट योग की व्यापकता, उदारता, व्यावहारिकता, जीवन में उपयोगिता, उसकी मनोवैज्ञानिकता, विवेचनात्मक तर्कों की अकाट्यता आदि का स्फुटिकरण किया जा चुका है, जो महर्षि पतजलि की महत्ता का ही परिचायक है ।

पतजलि के समस्त परवर्ती आचार्यों में यत्किंचित् परमन् खण्डन की प्रवृत्ति दृष्टिगत होती है, किन्तु पतजलि ने अपने मन की स्थापना के लिये परमन् खण्डन करके युक्तिवाद का प्रश्रय कभी नहीं लिया । उन्होंने अन्वय गवदो में केवल अपने सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है । अतः महर्षि पतजलि के सिद्धान्त अन्वय जनप्रिय हुए हैं ।

योग के प्राच्य ग्रंथों में पतजलि का ‘योगसूत्र’ ही एकमात्र मूलग्रन्थ है । शेष अधिकांश साहित्य योगसूत्रों को व्याख्या-परक है । ‘योगसूत्र’ का प्रामाण्य योगातिरिक्त अन्यान्य आर्ष-अनार्ष ग्रन्थों में भी बहुलता से पाया जाता है । योगशास्त्र के अन्यान्य ग्रन्थकारों में से किसी का भी इतना अधिक प्रामाण्य स्वीकार नहीं किया गया है ।

योग के परवर्ती आचार्यों का यत्र-तत्र खंडन भी मिलता है, किन्तु पतजलि द्वारा निरूपित अष्टांगयोग विषयक सिद्धान्त सर्वथा सर्वमान्य है । पातजल योगसूत्र के अनेक एवं विविध प्रकार के अनुवाद इंग्लिश भाषा में हो चुके हैं । इससे भी अन्य योगाचार्यों की अपेक्षा महर्षि पतजलि की विशेष महत्ता सूचित होती है ।

योगशास्त्र के आचार्यों में महर्षि पतजलि के बाद मनीषि व्यास का स्थान सर्वाधिक महत्वपूर्ण है । महर्षि व्यास ने ‘योगभाष्य’ की रचना करके, पतजलि के गूढार्थ सूत्रों के रहस्योद्घाटन का जो स्तुत्य प्रयास किया, वह योगविद्या के इतिहास में सर्वदा अविस्मरणीय है ।

पातजल-योगसूत्रों पर बाद में जितने भी व्याख्यान लिखे गए, श्री व्यास कृत भाष्य-उनमें सबसे समीचीन एवं सर्वाधिक प्रामाणिक है ।

महर्षि व्यास ने एक ऐसे ग्रन्थ रत्न का प्रणयन किया, जो योगसूत्रों के साथ उन्हीं की भोंति विद्व-साहित्य में अपनी सानी नहीं रखता । 'व्यास-भाष्य' जैसी नितान्त सारगर्भित, स्वच्छ न्यायसंगत, अन्तर्दृष्टिसबलित, गम्भीर एवं पूर्ण-दार्शनिक पुस्तक जगती तल पर सर्वथा अलभ्य है । इसका विशेष विवरण भूमिका के द्वितीय प्रकरण में द्रष्टव्य है ।

समस्त परवर्ती आचार्यों की 'व्याख्याएँ' व्यासभाष्य के सुदृढ आधार पर ही आधृत हैं, जिसका प्रभाव अन्यान्य आचार्यों की व्याख्याओं पर स्पष्ट ही झलक रहा है । योग के विविध आचार्यों ने ग्रन्थारम्भ में यह प्रतिज्ञा भी की है कि वे व्यास सम्मत मत का ही प्रतिपादन या पुष्टीकरण करेंगे । नागेश आदि आचार्यों ने किन्हीं स्थलों पर नामनिर्देशपूर्वक, कहीं बिना नामोल्लेख के और कहीं पर 'व्यासभाष्य' के ही वचनों से योगसूत्रों की व्याख्या की है । इस विषय का भी विशेष विवरण भूमिका के ही द्वितीय प्रकरण में दिया गया है ।

योगदर्शन के प्रसिद्ध एवं प्रकाशित साहित्य में एकमात्र प्रामाणिक भाष्य, 'व्यासभाष्य' ही है । योग के परवर्ती प्रायः सभी आचार्यों ने भाष्यकार व्यास का प्रामाण्य स्वीकार किया है । वैसे योगसूत्रों पर आधुनिक विद्वान् श्री ज्ञानानन्दकृत भाष्य भी उपलब्ध हुआ है किन्तु वह विशेष उपयोगी नहीं प्रतीत होता है ।

#### (४) तुलनात्मक आलोचना का सार ।

योगदर्शन अत्यन्त गूढ़ विषय है । अतः 'योगसूत्र' के व्याख्याकारों में पारस्परिक मतभेद भी यत्र-तत्र पाए जाते हैं । उन मतवैपरीत्यो की ज्ञानप्राप्ति हेतु व्याख्याकारों की व्याख्याओं की तुलना करना आवश्यक प्रतीत होता है । तुलनात्मक अध्ययन से विभिन्न ग्रन्थियाँ खुलती हैं तथा प्राचीन से प्राचीन विषय भी तुलनात्मक आलोचना-द्वारा सर्वथा नवीन रूप धारण कर लेता है । अध्ययन के क्षेत्र में तुलनात्मक ढंग ही आधुनिकतम समझा जाता है । अतः आधुनिक युग में तुलनात्मक समीक्षा विशेष आदरणीय मानी जाती है । इसके द्वारा ज्ञान की वृद्धि होती है । साथ ही अध्ययन का क्षेत्र व्यापक भी होता है और मस्तिष्क की सकीर्णता दूर होती है । समस्त पक्षों के नवीन तथ्यों पर मौलिक प्रकाश पड़ता है । 'पार्तजल-योगदर्शन' के विविध व्याख्याकारों की विभिन्न व्याख्याओं के तुलनात्मक अध्ययन में जिन अर्थ-भेदों अथवा मतान्तरों की उपलब्धि हुई है, उनमें से विशिष्ट-विशिष्ट स्थलों की सूत्र-संख्या का निर्देश निम्नलिखित तालिका में किया जाता है—

## मतभेद

सूत्र संख्या	मतभेद	
१/१	वाचस्पति से व राघवानन्द	व्यास, भिक्षु, शंकर, भावागणेश, नागोजी,
	सरस्वती से	रामानन्द यति, स्वामी ज्ञानानन्द, अनन्तपण्डित
	”	व हरिहरानन्द आदि का ।
१/२	वाचस्पति से	विज्ञानभिक्षु का ।
१/१६	”	भिक्षु, शंकर, भोज, भावागणेश एवं नागोजीभट्ट
		का ।
१/३२	”	विज्ञानभिक्षु, भोज, भावागणेश, नागोजीभट्ट एवं
		अनन्त पण्डित का ।
१/३४	”	विज्ञानभिक्षु, भावागणेश, नागोजी भट्ट एवं अनन्त
		पण्डित का ।
१/४६	”	विज्ञानभिक्षु का ।
१/३८	”	विज्ञानभिक्षु एवं हरिहरानन्द आरण्य का ।
२/६	”	विज्ञानभिक्षु एवं भोज का ।
२/२७	”	विज्ञानभिक्षु, भावागणेश, नागोजी भट्ट एवं
		अनन्त पण्डित का ।
२/४७	”	विवरणकार शंकर, श्री भोज एवं हरिहरानन्द
		आरण्य का ।
३/१८	”	विज्ञानभिक्षु का ।
३/२६	”	भोज, नागोजी भट्ट एवं आई० के० टैमनी का ।
३/४०	”	विज्ञानभिक्षु, भावागणेश, नागोजी भट्ट का ।
३/४२	”	आई० के० टैमनी का ।
३/५०	”	विवरणकार शंकर, श्री भोज अनन्त पण्डित एवं
		सदाशिवेन्द्र सरस्वती का ।
४/४	”	ओमानन्द तीर्थ का ।
४/२६	”	भोज, रामानन्द यति का ।
४/३१	”	भिक्षु का ।
४/३४	”	विवरणकार शंकर का ।

इस तालिका में वाचस्पति से जिन व्याख्याकारों का मतभेद है; उनका नाम दे दिया गया है । जिन व्याख्याकारों का नाम नहीं दिया गया है, उनका वाचस्पति के मत से साम्य है ।



# योग - दर्शन

( भाष्यार्थ-बोधनी )

व्यास तथा अन्य व्याख्याकारों के आधार पर  
'पातंजल-योग-सूत्र' का विवेचनात्मक  
एवं तुलनात्मक अध्ययन

## प्रथम अध्याय



- (१) योग का अनुशासन एवं उसका स्वरूप ।
- (२) योगी की स्वरूपस्थिति एवं अन्यथावृत्तिसारूप्यता ।
- (३) वृत्तियों के प्रकार, स्वरूप, लक्षण तथा वृत्तिनिरोध ।
- (४) अभ्यास, उसकी दृढ़ता तथा द्विविध वैराग्य ।
- (५) सम्प्रज्ञात व असम्प्रज्ञात समाधि ।





श्री गणेशायनम

श्री सरस्वत्यैनमः

नमः परमर्षये

चराचरमिदं विश्वं प्रकाशयसितेजसा ।

मातृकारूपभास्थाय तस्यै मातर्नमोस्तुते ॥

(१) योग का अनुशासन एवं उसका स्वरूप :—

शासन किसी विषय के लक्षण, भेद, उपाय एवं फल सहित उपदेश अथवा शिक्षा को कहते हैं। अनुशासन का अर्थ है—ऐसे विषय की व्याख्या करना जिसका कि शासन पहले से विद्यमान हो।<sup>१</sup> अतः 'योगसूत्र' का आरम्भ करते हुए, महर्षि पतंजलि ने योग-विद्या का प्राचीन परम्परा से चला आना बतलाया है।<sup>२</sup> जिसका कि वर्णन श्रुति-स्मृतिपुराणादि में भी पाया जाता है तथा हिरण्यगर्भ जिसके प्रथम वक्ता है :—

‘हिरण्यगर्भो योगस्य वक्ता नान्यः पुरातनः।’<sup>३</sup>

तथा

‘इदं हि योगेश्वर योगनैपुणं हिरण्यगर्भो भगवान् जगादयत्।’<sup>४</sup>

अतः महर्षि पतंजलि ने हिरण्यगर्भ-द्वारा उपदिष्ट योगशास्त्र का अपने 'योगसूत्र' में पुनः उपदेश करते हुए, चित्तवृत्ति-निरोधरूपयोग<sup>५</sup> का सामान्य लक्षण, उसके साधनीभूत विवेकख्याति-प्राप्ति-हेतु चित्त का प्रख्याप्रवृत्तिस्थित शीलत्वरूप, त्रैगुण्य तथा उनके परिणाम, अपरिणामिनी चित्तिशक्ति का स्वरूप, विवेकख्याति से उसका भेद, वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत चारों प्रकार की

---

१. 'अनुशिष्यते व्याख्यायते लक्षणभेदोपायफलैर्येन तदनुशासनम्'। (भोजवृत्ति)

शिष्टस्य शासनम् अनुशासनम् ।' (वाचस्पति)

२. 'अथयोगानुशासनम् (योगसूत्र) (१-१)

३. महाभारत-शान्तिपर्व, ३४६/६५ तथा योगियाज्ञवल्क्य (१२/५)

४. श्रीमद्भागवत तथा देवी भागवत ८/११/३ ।

५. 'योगश्चित्तवृत्तिनिरोध' (यो० सू० १/२)

सम्प्रज्ञातसमाधि एवं 'सर्व वृत्तिनिरोध' रूप असम्प्रज्ञात समाधि के विशेष लक्षण बतलाए है। अन्त में पुरुष के परम लक्ष्य कैवल्य का निरूपण किया है। महर्षि पतंजलि ने योगसूत्र का प्रारम्भ किया है—'अथयोगानुशासनम्' योगानुशासन के पूर्व अथ शब्द की योजना का अवश्य ही विशेष प्रयोजन होना चाहिये। भाष्यकार व्यास की 'अथेत्ययमधिकारार्थः' उक्ति के अनुसार अथ शब्द अधिकारार्थक है। अथ शब्द अधिकारार्थक है, भाष्यकार की इस उक्ति को परवर्ती लगभग समस्त आचार्यों ने एकस्वरेण दुहराया है परन्तु 'अधिकारार्थ' का क्या अर्थ है, यह विचारणीय है। सामान्यतः प्रत्येक व्याख्याकार ने सूत्रस्थ 'अथ' शब्द को अथवा भाष्यस्थ 'अधिकारार्थः' को आरम्भार्थक माना है। श्री वाचस्पति मिश्र ने इस प्रसंग में लिखा है कि 'अथ' का आनन्तर्य अर्थ भी सम्भव है। तदनुसार शिष्य प्रतीत्यादि के अनन्तर योगानुशासन की सम्भावना हो सकती है। किन्तु आनन्तर्य अर्थ उन्होंने अनेकशः साधक-बाधक दृष्टियों से विमर्श करके अन्त में 'अधिकारार्थक' 'अथ' शब्द का मुख्य अर्थ प्रारम्भ माना है।

इसी प्रकार विवरणकार शंकर ने 'अथ' को आरम्भार्थक अङ्गीकार किया है—'अथेत्ययमधिकारार्थः । अधिकारः आरम्भः प्रस्तावः"<sup>२</sup> इसके आनन्तर्य अर्थ का विवरणकार ने भी खंडन किया है। उस प्रसंग में आचार्य शंकर ने व्याकरण की दृष्टि से भी 'अथ' का आनन्तर्यार्थ असिद्ध बतलाया है। कुछ अव्यय विभक्त्यर्थ प्रधान है। कुछ क्रिया प्रधान। यथा उच्चैः, नीचैः इत्यादि विभक्त्यर्थ प्रधान होते हैं, हिक् (वर्जन करना) पृथगादि क्रिया प्रधान। सूत्रस्थ 'अथ' शब्द यदि आनन्तर्यार्थक होता तो सत्वप्रधान होने से विभक्ति श्रवण होना चाहिये था। प्रकृत स्थल में अथ शब्द में विभक्ति श्रवण न होने से सिद्ध है कि यह अव्यय है और वह अव्ययत्व तभी सिद्ध हो सकता है जब इसे क्रियार्थक माना जाए। 'अथ' को आरम्भ क्रियार्थक मानने पर तो अव्ययत्व के कारण विभक्ति लुप्त हो जाने से असत्त्व प्रधानतया विभक्त्यश्रवण युक्तियुक्त ही है।

श्री विज्ञानभिक्षु 'अथेत्ययमधिकारार्थः' की व्याख्या करते हैं—'अधिकार-शब्दो योगरूढतया आरम्भण एव मुख्यः"<sup>३</sup> अतः श्री भिक्षु के मत से भी अथ शब्द

१. "शिष्यप्रश्नतपश्चरणरसायनाद्युपयोगानन्तर्यस्य च सम्भवेऽपि नाभिधानं, शिष्यप्रतीति-प्रवृत्त्योरनुपयोगात्, प्रामाणिकत्वे 'योगानुशासनस्य' तदभावेऽप्युपेयत्वात् ।" (तत्त्व० १-१)

२. भाष्य विवरण (१-१)

३. योगवार्त्तिक (१-१)

आरम्भार्थक है। राघवानन्द सरस्वती 'अथ' को अधिकारार्थक एव मंगलार्थक मानते हैं। मंगल अर्थ के विषय में श्री वाचस्पति मिश्र, श्री भिक्षु एवं विवरणकार का मत है कि अथ शब्द मुख्यतः अधिकारार्थक होने पर भी मंगलार्थक भी है, जिस प्रकार अन्य कार्यार्थ नीयमान जलपूर्ण घटदर्शनमात्र से गन्ता को मंगलार्थक होता है। भास्वतीकार आरण्य "अधिकृत आरब्धमिति वेदितव्यम्" लिख कर आरम्भमात्र अर्थ स्वीकार करते हैं।

गोहराज ने 'अथ' को अधिकार एव मंगल का द्योतक माना है। भावागणेश ने भी अथ शब्द को उच्चारण मात्र से मंगलवाचक तथा आरम्भार्थक माना है और आनन्तर्य अर्थ का निरसन किया है। नागोजीभट्ट एवं सदाशिवेन्द्र सरस्वती भी सम्मत मत का अनुमोदन करते हैं। मणिप्रभाकार रामानन्द यति "अथशब्दः शिष्यार्थः" लिख कर आगे अनुबन्ध चतुष्टय का निर्देश करते हुए लिखते हैं—यहाँ 'योग' शास्त्र का प्रतिपाद्य विषय है। तज्जिज्ञासु अधिकारी है, फल कैवल्य है और उनका यथायोग्य सम्बन्ध है। अनन्त पण्डित ने साधारणतया 'अथशब्दोऽधिकारवाची' लिख दिया है।

भारत वर्म महामण्डल के सस्थापक स्वामी ज्ञानानन्द स्वरचित भाष्य में लिखते हैं—“अथशब्दो मांगलिको विघ्नविनाशनश्च”। पुनः “तत्त्वज्ञान प्रकाशयितुमधिकार-निर्णयोप्यावश्यकः। अतोऽधिकारार्थकोऽप्यथ शब्द प्रयोग” और “आनन्तर्यार्थोऽप्यथ-शब्दः प्रयुज्यते.....अथ शब्दस्य अधिकारानुसारेण आनन्तर्यार्थो प्रयोगो युक्ति युक्त एव” —इत्यादि उक्तियों द्वारा वे किसी एक निश्चित अर्थ को स्वीकार नहीं करते। यहाँ यह भी स्मर्तव्य है कि 'अथ' शब्द की आनन्तर्यार्थता का वाचस्पति शंकर प्रभृति मान्य आचार्यों ने सयुक्तिक निरास किया है। व्याकरण की दृष्टि से भी वह असिद्ध है। पातञ्जल योगप्रदीपकार लिखते हैं 'अथ' यह शब्द अधिकार अर्थात् आरम्भवाचक और मङ्गलार्थक है।

यह भी विचार्य है कि प्राचीनकाल में कोई भी शुभ कार्य मङ्गल के बिना नहीं किया जाता था और यहाँ ग्रन्थकार ने क्या योग जैसे महान् विषय का आरम्भ करते हुए कोई मङ्गल नहीं किया ? जो व्याख्याकार अथ शब्द को मङ्गलार्थक मानते भी हैं, वे मङ्गल को उसका गौण अर्थ स्वीकार करते हैं, जैसा कि वाचस्पति आदि विद्वानों की—“अधिकारार्थस्य चाथ शब्दस्यान्यार्थनीयमानोदकुम्भदर्शनमिव श्रवण मङ्गला-यापि कलयत इति सन्तव्यम्”—इत्यादि उक्तियों से स्फुट होता है। अतः अथ शब्द के अधिकार एवं मङ्गल दोनों ही अर्थों को समानरूप से प्रधानता मिलनी चाहिये।

सूत्रस्थ 'अथ' अथवा भाष्यस्थ 'अधिकारार्थ' का अर्थ सामान्यतया आरम्भ ही मानना कुछ युक्तिसंगत प्रतीत नहीं होता । सूत्रो जैसी संक्षिप्त शैली में विरचित ग्रन्थ में आरम्भमात्र के सूचनार्थ 'अथ' शब्द की योजना नहीं हो सकती । यदि 'अथ' शब्द उक्त न होता तब क्या योगशास्त्र आरम्भ नहीं समझा जाता ? अतः सूत्र ग्रन्थ में आरम्भ हेतु अननिवार्य अथ शब्द में अवश्य ही अर्थ विशेष निहित है । यदि अथ से आरम्भ ही अभिप्रेत होता तो भाष्यकार व्यास भी—“अधेत्ययमधिकारार्थ” न लिख कर—“अधेत्ययमारम्भार्थ” ऐसा लिख सकते थे । उन्होंने अधिकार इस विशेष शब्द का प्रयोग क्यों किया यह विचारणीय है । अधिकार अधिकारी विषयक होता है ।

प्रत्येक दर्शन ग्रन्थ में प्रारम्भ में अनुबन्ध चतुष्टय अर्थात् सम्बन्ध, अधिकारी विषय एवं प्रयोजन का विमर्श किया जाता है । योगशास्त्र में वह अप्राप्त है । अतः यह विषय भी चिन्त्य है ।

इन सब तथ्यों का विश्लेषण करने से यही निष्कर्ष निकलता है कि अथ शब्द विशिष्टार्थक है । अधिकारार्थक अथ शब्द निःश्रेयस प्रापकता रूप अधिकार सूचनार्थ उक्त हुआ है । जिस प्रकार अन्यान्य दर्शन स्व-स्व अधिकारी अध्येताओं की बुद्धि के घनी हैं, उसी प्रकार योगदर्शन भी साधनसम्पन्न, एकाग्रचित्त, कर्मठ अधिकारी के लिये मोक्ष प्रापक है । यह बात और है कि मङ्गल एवं निःश्रेयस प्रापकता रूप अधिकार द्योतन के साथ आरम्भण भी उसका गौण अर्थ हो ।

श्री वाचस्पति मिश्र ने यद्यपि स्पष्टतया अथ का अर्थ आरम्भ ही स्वीकार किया है तथापि उनकी—“अधिकारार्थत्वे तु शास्त्रेणाधिक्रियमाणस्य प्रस्तूयमानस्य योगस्याभिधानात् सकलशास्त्रतात्पर्यार्थव्याख्यानेन शिष्य सुखेनैव बोधितः प्रवर्तितश्च भवतीति । निश्रेयसस्य हेतुः समाधिरिति हि श्रुतिस्मृतीतिहास पुराणेषु प्रसिद्धम्” ( तत्व० )—इत्यादि उक्ति से निःश्रेयसकरत्वादि अर्थ भी ध्वनित होता है । अनुबन्ध चतुष्टय के विषय में वैशारदीकार ने कुछ नहीं कहा । सूत्रग्रन्थ में 'अथ' द्वारा अनुबन्ध संकेत से अधिक लाघव और क्या हो सकता है ? पर टीकाकार तो इस विषय में कुछ कह ही सकते हैं । क्योंकि सूत्रकार द्वारा स्पष्ट न किये जाने पर भी अन्यान्य शास्त्रों की भाँति वे योग में भी अपेक्षित हैं ही ।

विवरणकार शंकर ने “तत्रानाख्यातसम्बन्धप्रयोजनं न पुरुषप्रवृत्ति निवृत्तिभ्यां पर्याप्नोति सूत्रकाराभिप्रेते पुरुषप्रवृत्तिनिमित्तभूते सम्बन्ध प्रयोजने, पूर्व

प्रकटीक्रियेते”—इत्यादि लिख कर सम्बन्ध एव प्रयोजन दो अनुबन्धो का विचार किया है। यद्यपि विषय एव अधिकारी का भी साथ ही विचार करना चाहिये फिर भी प्रयोजन के विचार से अध्येता की प्रवृत्ति की योग्यता स्फुट होती है। अतः विवरणकार ने सम्बन्ध विचारपूर्वक प्रधानतः उसी का विचार किया है क्योंकि उनका मत है कि शास्त्र का सम्बन्ध एवं प्रयोजन निर्दिष्ट किये बिना वह ( शास्त्र ) पुष्प प्रवृत्ति एवं निवृत्त्यर्थ पर्याप्त नहीं होता है। विवरणाभिमत प्रयोजनादि का विवरण अत्यन्त विस्तृत होने से उसके विवरण का अवकाश नहीं है।

भोजराज ने “अनेन सूत्रेण सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनान्याख्यायन्ते” आदि लिखा है। पुनः “अथ शब्दोऽधिकारद्योतको मगलार्थश्च”।

मणिप्रभाकार ने स्पष्ट रूप से—“अत्र सूत्रेयोगः शास्त्रप्रतिपाद्य उक्तः अर्थात्तज्जिज्ञासुरधिकारी फलतु योगस्य कैवल्यं, यथायोगः तेषां सम्बन्ध, इत्यनुबन्धंचतुष्टय द्रष्टव्यम्” उक्ति से अनुबन्ध चतुष्टय बतलाए है। किन्तु ‘अथ’ के विषय मे वे भी लिखते हैं—“अथ शब्दः आरम्भार्थः”। इसी प्रकार विवरणकार भी सर्वप्रथम—‘सूत्रकाराभिप्रेते पुष्पप्रवृत्तिनिमित्तभूते सम्बन्धप्रयोजने पूर्व प्रकटीक्रियेते”—लिखने के बाद भी अथ शब्द प्रारम्भार्थक ही मानते हैं।

स्वामी ज्ञानानन्द ने यद्यपि ‘अथ’ के—मंगल, अधिकार और आनन्तर्यादि सभी अर्थों को युक्तिसंगत स्वीकार किया है ( जो कि असंगत है ), फिर भी जिस स्थान पर उन्होंने अधिकार अर्थ माना है, वहाँ—“तत्त्वज्ञानं प्रकाशयितुमधिकार निर्णयोप्यावश्यकः” इत्यादि उक्ति है। इससे अधिकार अधिकारी विषयक होता है इस पूर्व प्रतिपादित सिद्धान्त की पुष्टि होती है। फिर भी यह आश्चर्य है कि भाष्यकार व्यास द्वारा—“अथेत्ययमधिकारार्थः” स्पष्ट निर्देश होने पर परवर्ती व्याख्याकार अथ को अधिकार्यादि निर्णयपरक अनुबन्ध चतुष्टयार्थक मानने में क्यों हिचकिचाते रहे ?

भाष्यकार की—“योगानुशासनमधिकृतं वेदितव्यम्”—उक्ति से प्रश्न उठता है ‘केन वेदितव्यम्’ ? और उस आकांक्षा की पूर्ति “अधिकारणा” से होती है। इससे जहाँ एक ओर योग के लिये अधिकारी विशेष की बात ध्वनित होती है, वहीं सूत्रकार का निरहकारत्व भी सूचित होता है। यदि “अथयोगानुशासनम्” के अनन्तर क्रियते, प्रारभ्यते आदि कोई क्रियापद रक्खा गया होता, तो उस क्रिया के कर्त्ता रूप में पतंजलि शब्द भी आक्षिप्त होता। किन्तु महर्षि पतंजलि ने अपने नाम के आक्षिप्त होने का अवसर ही प्रदान नहीं किया है। इससे महर्षि की महत्ता एवं नम्रता प्रकट होती है। इसी प्रकार इस शास्त्र के साथ महर्षि पतंजलि का प्रतिपाद्य-प्रतिपादकभाव सम्बन्ध है। स्व स्वरूपोपलब्धि बुभुत्सु इस शास्त्र का अधिकारी है

योग विषय है और स्वस्वरूपावस्थान ( कैवल्य ) इस शास्त्र का प्रयोजन है। शङ्का हो सकती है कि यहाँ पर व्युत्पादनीय तो योग है और वह शब्दात्मक नहीं क्रियात्मक है, अतः क्रियात्मक योगोपदेश से ही उसका बोध कराया जा सकता है, शास्त्रीय शब्दाडम्बर से नहीं। इस विषय में अवगम्य है कि यह शब्दाडम्बरात्मक शास्त्र वृत्तिरूप होने पर भी योग में प्रवृत्ति हेतु उपयोगी है। अतः शास्त्र के द्वारा करणतयैव योग अधिकृत हुआ है, कर्मतया नहीं, जैसा कि तत्त्वैशारदीकार की “करणगोचरश्च व्युत्पादकस्य व्यापारो न कर्मगोचर इति कर्तृव्यापार विवक्षया योगविषयस्य शास्त्रस्याधिकृतत्वं वेदितव्यम्” इत्यादि उक्तियों से स्पष्ट होता है।

### योग का स्वरूप—

दिवादिगणीय युज् धातु से निष्पन्न योग शब्द का व्युत्पत्तिर्भ्य अर्थ है—समाधि ( =समाधान ), योगः समाधिः ( व्या० भा० )। महर्षि पतञ्जलि के अनुसार चित्तवृत्तियों का निरोध ही योग है, ‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’ योग शब्द को समाध्यर्थक मानने पर भी शङ्का होती है कि योग तो प्रधान अङ्गी है और समाधि अङ्ग है। अङ्ग अङ्गी नहीं बन सकता फिर ‘योगः समाधिः’ यह उक्ति कैसे संगत होगी ? अतः इस शका के निरसनार्थ भाष्यकार कहते हैं—“स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः”। यहाँ पर चकार त्वर्थक है और वह समाधि एवं योग के भेद का प्रतिपादक है। योग चित्त की समस्त भूमिकाओं में अनुगत है समाधि नहीं। अतः योग का व्यापकत्व एव तदङ्गीभूत समाधि का व्याप्यत्व सिद्ध होता है। श्री वाचस्पति मिश्र का मत है कि केवल व्युत्पत्तिक अर्थ के प्रदर्शनार्थ योग को समाधि कहा गया है। वस्तुतः योग शब्द की प्रवृत्ति का निमित्त तो चित्तवृत्तिनिरोध ही है। समाधि की प्रवृत्ति का निमित्त समाधान मात्र है। मन, बुद्धि एवं अहंकार के समष्टिभूत अन्तःकरण को चित्त कहते हैं।<sup>१</sup> प्रकृति के परिणामो में से चित्त में सबसे अधिक सत्त्वगुण का आविर्भाव होता है। एक धर्म, आकार अथवा रूप को छोड़ कर दूसरे धर्म, आकार अथवा रूप धारण करने को चित्त का परिणाम कहते हैं।

समस्त स्थूल जगत् रजोगुण तथा तमोगुण-प्रधान परिणाम है। इसके बाहरी या भीतरी संसर्ग से चित्तसत्त्व में प्रतिक्षण होने वाले परिणाम को चित्तवृत्ति कहते हैं। चित्त जिस-जिस विषय से सम्बद्ध होता है, उसीसे उपरक्त होकर, उसी के आकार में परिणत हो जाता है। चित्त का यह विषयाकार में परिणत होना ही चित्तवृत्ति कहलाता है। चित्तवृत्तियाँ असंख्य हैं तथा प्रतिक्षण उदित होती रहती हैं। असंख्य

१. ‘बुद्धिर्नस्त्वहङ्कार त्रिभिश्चित्त प्रकीर्तितम्।’ (ज्याल्यसहिता, ३१-६)



होने पर भी योग में चित्तवृत्तियों को प्रमाणादि पाँच वर्गों में ही अन्तर्भूत किया गया है । ये प्रमाणादि वृत्तियाँ जिस अवस्था विशेष में निरुद्ध हो जाती हैं, वही योग है ।

योग चित्त का सार्वभौम (सभी भूमियों में उत्पन्न होने वाला) धर्म है । क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध—ये पाँच चित्त की भूमियाँ हैं । योग शब्द का गौण अर्थ उत्कट एकाग्रता भी है । वह उत्कट एकाग्रता क्षिप्तादि सभी भूमियों में सम्भव है । उसी दृष्टि से योग को चित्त का सार्वभौम धर्म कहा गया है । श्री वाचस्पति मिश्र सार्वभौम का अर्थ करते हैं—मधुमत्यादि समस्त भूमिकाओं में विदित ( व्याप्त )—“भूमयोऽवस्था वक्ष्यमाणाः—मधुमती—मधुप्रतीका-विशोका-सस्कारशेषास्ताश्चित्तस्य, तासु सर्वासु विदितः सार्वभौमः ।” तदनुसार पातञ्जलरहस्यकार राघवानन्द सरस्वती भी लिखते हैं—“तत्र मधुमत्यादि चतुष्टेय वर्तत इति सार्वभौमः ।”<sup>१</sup>

अन्य सभी व्याख्याकार सार्वभौम का अर्थ क्षिप्तादि पञ्चभूमियों में अनुगत करते हैं । वस्तुतः चित्त की भूमियों से तात्पर्य चित्त की स्वाभाविक अवस्थाओं से है । सस्कारवग चित्त जिस अवस्था में प्रायः स्थित रहता है, वही उसकी भूमि है । अतः पूर्वोक्त क्षिप्तादि ही चित्त की पाँच भूमियाँ हैं और उसी दृष्टि से—“स च सार्वभौमश्चित्तस्य धर्मः”—उक्ति उक्त हुई है । मधुमत्यादि चारों भूमियाँ चित्त की नहीं स्वयं योग की ही भूमियाँ हैं और वे भूमियाँ चित्त की सहज रूप आने वाली अवस्थाएँ न होकर दीर्घ साधना द्वारा लभ्य चित्त की अवस्थाएँ हैं । अतः यहाँ पर क्षिप्तादि पञ्चभूमियों का ग्रहण ही अधिक युक्त है ।

क्षिप्तादि भूमियों का वर्णन करते हुए भाष्यकार ज्ञानानन्द लिखते हैं—“क्षिप्तमूढ विक्षिप्तनामधेया स्तिष्ठः साधारणवृत्तयः एकाग्रनिरुद्धानामधेये द्वे असाधारणे द्वे प्रथमोक्ता स्तिष्ठो भूमयः सर्वमानवेषु प्रादुर्भवन्ति । किन्तु अग्रिमे द्वे भूमी योगानुशासनाधिकारिषु साधकेष्वेव प्रादुर्भवतः”— किन्तु ज्ञानानन्द जी का उक्त कथन औचित्यपूर्ण नहीं प्रतीत होता । क्षिप्तादि पाँचों भूमियों का वर्गीकरण चित्त की स्वाभाविक अवस्थाओं की दृष्टि से ही है । जिस प्रकार चित्त में क्षिप्तत्व—मूढत्वादि स्वभावतया विद्यमान है, उसी प्रकार एकाग्रता एवं निरोध स्वभाव

१. तत्त्व० (१-१)

२. पात० र० (१-१)

भी निहित है। प्रबल रागादि के वशीभूत होकर भी चित्त एकाग्रस्थित्यापन्न होता है। इसी भाँति कभी कभी चित्त में स्तब्धता आने पर क्षणिक निरुद्धावस्था भी आती है। एकाग्र अवस्था में चित्त सहज ही अभीष्ट वस्तु में इच्छित कालपर्यन्त सलग्न रखा जा सकता है। अतः इतर विषयो की भाँति, विधिपूर्वक योगोक्त रीति से ध्येय विषय में चित्त एकाग्र करने पर सम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है। इसी भाँति शून्यवत् चित्त स्थिति को लक्ष्य कर इच्छा एवं ज्ञानपूर्वक निरुद्धावस्था अभ्यसनीय होती है। अतः योगोक्त रीति से एकाग्र एवं निरुद्ध अवस्थाओं (भूमिकाओं) में चित्तस्थिति रखने पर सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है और वे चित्त की असाधारण अवस्थाएँ हैं, जिनके अन्तर्गत मधुमत्यादि चारों भूमिकाएँ आती हैं किन्तु अन्तिम दोनों भूमियाँ योगोपयोगी होने का तात्पर्य यह कदापि नहीं हो सकता कि वे चित्त की सहज अवस्थाओं में अपरिगणनीय हैं। और केवल योगसाधको के चित्त में उदित होती हैं, सर्वसाधारण मनुष्यों के चित्तों में नहीं। सत्त्व, रज, तम के प्राधान्यानुसार चित्त, क्रमशः प्रख्या (ज्ञान) शील, प्रवृत्तिशील और स्थितिशील तीन प्रकार का होता है। स्वभावतः ज्ञान-शील चित्त सत्त्व, रजोगुण एवं तमोगुण से सम्पृक्त होने पर, ऐश्वर्य एवं विषयो का प्रेमी बनता है। तमोगुण का आधिक्य होने पर यह अधर्म, अज्ञान, अवैराग्य एवं अनैश्वर्य से व्याप्त होता है। तमोगुण के क्षीण होने पर रजोगुण के आधिक्य से युक्त होकर वही चित्त, धर्म, ज्ञान, वैराग्य तथा ऐश्वर्य से परिपूर्ण हो जाता है। जिस अवस्था में चित्त में रजोगुण रूपा मल किञ्चित्मात्र भी नहीं रहता है, तब वह स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। इस अवस्था में चित्त में ही, चित्त एवं चित्ति की भिन्नता का ज्ञान होता है। यही अवस्था विवेकख्याति कहलाती है।<sup>१</sup> विवेकख्याति की परिपक्वावस्था ही धर्ममेव समाधि है। इस अवस्था से युक्त योगी को इसका ज्ञान हो जाता है कि चित्तिशक्ति (पुरुष) अपरिणामिनी, अप्रतिसक्रमा अर्थात् परिणाम—क्रिया आदि से रहित-चित्त के समस्त विषयो की देखने वाली, चेतन, शुद्ध और अनन्त है। सत्त्वगुणात्मक चित्त इसके सर्वथा विपरीत स्वभाव वाला अर्थात् परिणामी, क्रियायुक्त, स्वयं विषयो का अद्रष्टा, जड एवं पुरुष की अपेक्षा अशुद्ध तथा सान्त है। इस प्रकार चित्त एवं चित्ति का अलग-अलग ज्ञान ही विवेकख्याति है तथा

१. द्र० व्या० भा० “विवेकख्यातिरविप्लवाहानोपायः”—योग सू० (२/२६, ३/४६)

२. सत्त्वगुणान्यताद्वयानिमात्रस्य सर्वभावाभिष्टानुत्वं सर्वज्ञानुत्त्वच—योग सू०, ४/२६।

यही सम्प्रज्ञात समाधि का पूर्ण एवं अन्तिम स्वरूप है । सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था भी योग का अन्तिम स्वरूप नहीं है । चित्त को भ्रमित करने वाली असह्य वृत्तियाँ इस अवस्था में निरुद्ध हो चुकनी हैं, फिर भी विवेक-ख्याति-रूपी ज्ञानवृत्ति बनी रहती है । विवेक-ख्याति से भी वैराग्य हो जाने पर इस ज्ञान स्वरूप—वृत्ति का भी निरोध हो जाता है । यही अवस्था योग का अन्तिम स्वरूप है । इसी को निर्बीज समाधि या असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं इस अवस्था में चित्त की प्रत्येक वृत्ति का पूर्णरूपेण निरोध हो जाता, किन्तु इससे यह नहीं समझना चाहिये कि सम्प्रज्ञात समाधि में विवेक-ख्याति रूपा वृत्ति विद्यमान रहने से उसमें 'चित्तवृत्ति-निरोध' रूप योग का लक्षण घटित नहीं होता है । पतञ्जलि ने 'चित्तवृत्तिया का निरोध-योग है' ऐसा योग का लक्षण किया है । यदि 'समस्त चित्तवृत्तियों का निरोध योग है' ऐसा लक्षण किया गया होता, तो यह लक्षण विवेकख्याति-रूपा वृत्ति वर्तमान रहने से, सम्प्रज्ञात समाधि में घटित नहीं होता । भाष्यकार व्यास ने इस सूत्र की व्याख्या करते समय 'सर्वशब्दाग्रहणान् सम्प्रज्ञातोऽपि योग इत्याख्यायते' कह कर इसी बात को स्पष्ट करते हुए, सम्प्रज्ञात समाधि के उक्त लक्षण में अव्याप्ति-दोष का निरास किया है । शंका हो सकती है कि इस प्रकार यत्किञ्चित् चित्तवृत्तियों का निरोध भी योग कहा जा सकता है । अतः अतिव्याप्ति दोष लागू होता है, क्योंकि क्षिप्तादि भूमियों में भी थोड़ा बहुत चित्तवृत्ति-निरोध होता ही है ।

जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है, चित्त कि पाँच अवस्थाएँ या भूमियाँ हैं, क्षिप्त, मूढ, विक्षिप्त, एकाग्र और निरुद्ध । रजोगुण-प्रधान क्षिप्त चित्त अत्यन्त चंचल होता है । इसमें कर्मवासना प्रबल होती है । इस अवस्था में चित्त बहिर्मुखी होता है तथा उसकी प्रवृत्ति सुख-दुःखादि भावों में ही प्रकाशित होती है । मूढ अवस्था में चित्त तमोगुण से अभिभूत रहने से, कर्तव्या-कर्तव्य में विवेकशून्य तथा दूसरों का अनिष्ट करने में प्रवृत्त रहता है । तम की प्रधानता से मन आलस्य, निद्रादि में मग्न रहता है । किञ्चित् रजोगुण सहित सत्त्वगुणप्रधान विक्षिप्त अवस्था होती है ।

चित्त की भूमियों के वर्णन के प्रसंग में विवरणकार विक्षिप्त की व्याख्या करते हैं—“विक्षिप्त नानाक्षिप्त कर्मकर्तयेव । विवेकाक्षम च विक्षिप्तत्वादेव ।” (भा० वि० १-१) आसमन्तात् क्षिप्त आक्षिप्त, न आक्षिप्त अनाक्षिप्तं न अनाक्षिप्त नानाक्षिप्त अत्याक्षिप्तमित्यर्थः । अतः नत्रद्वय के दार्ढ्यार्थ बोधकत्ववश नानाक्षिप्त का अर्थ हुआ अत्यन्त चञ्चल । जब कि अन्य समस्त विद्वान्—“क्षिप्ता-

द्विशिष्ट विक्षिप्त” एक—स्वरेण ऐसी व्याख्या करते हैं। तथा विशिष्ट शब्द की व्याख्या करते हुए वाचस्पति मिश्र लिखते हैं—“विशेषो स्थेमबहुलस्य कादाचित्क स्थेमा”। भिक्षु, भास्वतीकारादि समस्त अन्यान्य विद्वानों ने भी यहाँ ‘विक्षिप्त’ शब्द की वाचस्पति सम्मत व्याख्या की है।

यहाँ यह भी चिन्तनीय है कि ‘विक्षिप्त’ का विवरणकारकृत विवरण मानने पर भाष्यकार व्यास की—“तत्र विक्षिप्ते चेतसि विक्षेपोर्पसर्जनीभूतः समाधिर्न योगपक्षे वर्तते” उक्ति से विरोध प्राप्त होगा। अतः विवरणकार का मत यहाँ अरमणीय प्रतीत होता है। यदि विक्षिप्त शब्द का अतिचञ्चल अर्थ ही होता तो भाष्यकार व्यास के द्वारा विक्षिप्त चित्त में समाधि की सम्भावना एव योगपक्ष में उसका निषेध भी अनुपपन्न होगी। इसीलिये अन्यान्य व्याख्याकारों ने इस अर्थ को आकलित नहीं किया है।

इस अवस्था में मन अपने केन्द्र की ओर जाने का प्रयत्न करता हुआ दुःख के साधनों को छोड़कर सुख के साधनों में प्रवृत्त रहता है। रजःप्रधान क्षिप्त चित्त से यह अधिक सात्त्विक होने से कभी-कभी स्थिरता को प्राप्त करता है, इसीलिये इसे विक्षिप्त कहते हैं। क्षिप्त चित्त कभी भी स्थिर नहीं होता। अन्तिम दो अवस्थाओं, एकाग्र एव निरुद्ध में समाधि का उदय होता है। विशुद्ध सत्त्वप्रधान चित्त एकाग्र और सस्कारमात्रगेष चित्त निरुद्ध कहा जाता है। एक ही विषय का चिन्तन करने वाले चित्त को एकाग्र कहते हैं। सम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में, समस्त बाह्य वृत्तियों का निरोध हो जाने पर, चित्त एक ही विषय में एकाकार वृत्ति-युक्त हो जाता है। इस समय चित्त की ‘एकाग्र’ अवस्था होती है। सम्पूर्ण वृत्तियों एवं तज्जन्य सस्कारों के चित्त में विलीन हो जाने पर चित्त की निरुद्ध अवस्था आती है।

स्वकारण चित्त में लय हो जाना ही वृत्ति का निरोध है। क्षिप्त अवस्था में सत्त्व एवं तम का निरोध होता है। मूढ़ अवस्था में सत्त्व एवं रज का निरोध है। विक्षिप्त अवस्था में केवल तम का निरोध होता है। एकाग्रवस्था में (चतुर्भुजादि) ध्येयाकार वृत्ति को छोड़ कर समस्त अन्तर्बाह्य वृत्तियों का निरोध होता है। निरुद्ध अवस्था में ध्येयाकार वृत्ति का भी निरोध हो जाता है।

एतावता चित्त की पाँचों भूमियों में यत्किञ्चित् निरोध अवश्य रहता है।<sup>१</sup> इन सभी भूमियों में निरोध होने से शंका हो सकती है कि इन अवस्थाओं

१. चित्त प्रख्या-प्रवृत्ति-स्थितिशील है, चित्त योगियों का यह प्रसिद्ध सिद्धान्त है। सुतरां चित्त में निरोधस्वभाव स्वयमेव विद्यमान है। निरोध स्थिति धर्म का अनुगत है।

मे होने वाले निरोध को भी योग कहना चाहिये। साथ ही एकाग्र तथा निरुद्ध अवस्थाओं को ही योग के लिये उपयोगी बतलाया गया है। भाष्यकार महर्षि व्यास ने प्रथम “प्रख्यारूप हि चित्तमन्व रजस्तमोभ्यां समृष्टमैश्वर्यविषयप्रिय भवति”—इस पक्ति से क्षिप्त अवस्था के निरोध में योगोपयोगी निरोध की अतिव्याप्ति का परिहार किया है। “तदेव तमसानुविद्ध अधर्माज्ञानावैराग्यानैश्वर्योपगं भवति” से मूढ अवस्था के तथा “तदेवप्रक्षीणमोहावरणं सर्वतः प्रद्योतमान, अनुविद्ध रजोमात्रयी धर्मज्ञान-वैराग्यैश्वर्योपगं भवति”—इस पक्ति से, विक्षिप्त अवस्था के निरोध में, अतिव्याप्ति का निरास किया है। अग्रिम पक्तियों में एकाग्र तथा निरुद्ध अवस्थाओं में लक्षण-समन्वय किया है। प्रथम सूत्र के भाष्य में सम्प्रज्ञात समाधि का निरूपण करते समय ‘क्षिणोति च क्लेशान्, कर्मबन्धनान्श्लथयति’ इत्यादि वाक्यों से यह स्पष्ट होता है कि क्लेश, कर्म और आशय को नष्ट करने वाला चित्तवृत्तिनिरोध योग है। अतएव क्षिप्तादि प्रथम तीन अवस्थाओं के निरोध, क्लेश-निवृत्ति में हेतु न होने से, लक्षण की अतिव्याप्ति से मुक्त है।

वस्तुतः वृत्तियों का निरोध मात्र योग नहीं कहा जा सकता। विधि-पूर्वक ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीत आदि में से, किसी तत्त्व में ज्ञानपूर्वक स्थिति करके वृत्तियों को अपने प्रयत्न के द्वारा रोकना ही योग है। स्तब्धभावस्था में चित्त, इच्छा और ज्ञानपूर्वक किसी तत्त्व में स्थित नहीं होता। क्लोरोफार्म आदि सुँघाने के परिणाम से भी शरीर की गति रुद्ध होने से चित्त स्तब्धभाव प्राप्त करता है, किन्तु वह भी अज्ञानावस्था ही है। हिस्टीरिया, स्तब्धभाव आदि मानसिक रोग भी इसी कोटि के हैं। इन सब में चित्त की विवश और जड अवस्था होती है। योग तो सर्वथा स्ववश एव पूर्ण-चेतन अवस्था है। बाह्य दृष्टि से किञ्चित् साम्य रहने पर भी इन दोनों की चित्तावस्था एव परिणाम प्रकाश और अन्धकार की भाँति भिन्न एवं सर्वथा विपरीत है। क्षिप्तादि अवस्थाओं में विरोधी गुणों के निरोधकाल में मन शान्त नहीं होता। मूढावस्था-युक्त आलस्य से भी शान्त अवस्था भिन्न है। मूढभाव जडता का द्योतक है। मन की सत्त्वप्रधान अवस्था गम्भीर और शान्त है। इसमें मन की चंचल लहरे पूर्णतः शान्त हो जाती है। चित्त निर्मल हो जाता है, किन्तु इस शान्त अवस्था को जडावस्था नहीं समझना चाहिये। इसमें योगी को ज्ञान होता है। यह अत्यन्त तीव्र-क्रिया-शांत अवस्था है। ‘शान्त होना शक्ति की महत् अभिव्यक्ति है’।

‘योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः’ इस सूत्र की व्याख्या करते हुए, ‘क्षिणोति च

क्लेशान्' आदि प्रथम सूत्रान्तर्गत भाष्यानुसार श्री वाचस्पति मिश्र ने, क्लेशनाश के हेतु-स्वरूप निरोध को योग कहा है। श्री विज्ञानभिक्षु प्रकृत सूत्र के साथ अग्रिम सूत्र "तदाद्रष्टुःस्वरूपेऽवस्थानम्" कि एकवाक्यता करके, द्रष्टा पुरुष की स्वरूपावस्थिति के कारणभूत निरोध को योग बतलाते हैं। भिक्षु जी का मत सूत्र एवं भाष्य के विरुद्ध है तथा युक्तियुक्त भी नहीं है, क्योंकि क्लेशनाश का हेतुभूत निरोध ही योग है। जबकि योग स्वयं स्वरूपावस्थिति में हेतु है। अतएव वाचस्पति जी मिश्र की मान्यता ही विज्ञानभिक्षु की अपेक्षा युक्ततर है। विवरणकार शंकर ने इसी सूत्र की व्याख्या के अन्त में निर्बीज समाधि के उपक्रम में- "निर्गत क्लेशादिबीजं" इत्यादि लिख कर वाचस्पति के मत को पुष्ट किया है।

श्री भोज ने निर्मल सत्त्वगुण के परिणामभूत चित्त की अग-अगो-भाव-परिणामरूप वृत्तियों को, विषयों से अलग करके, अन्तर्मुखी रूप में लौटा कर उनके कारणभूत चित्त में ही पुनः लयरूप निरोध को योग कहा है। साथ ही चित्त की बहिर्मुखी अवस्था को वे "बहिर्मुखतया सुखदुःखादिविषयेषु विकल्पितेषु व्यवहितेषु सन्निहितेषु वा रजसा प्रेरितम्" कह कर सुखदुःखादि विषय वालों को बतलाते हैं, जिनका कि निरोध योग है। बहिर्मुख सुखदुःखादि से रागद्वेष होते हैं। रागद्वेष योगमत में क्लेश हैं। एतावता श्री भोज के मतानुसार भी क्लेश-नाश का हेतुभूत निरोध ही योग सिद्ध होता है।

भावागणेश एवं नागोजीभट्ट ने अन्तःकरण की वृत्तियों के निवर्तन को योग बतलाया है। क्लेशों के नाश के लिये किया गया निरोध योग है, इस बात को अलग से कहने की आवश्यकता उन्होंने नहीं समझी क्योंकि योगिक निरोध से क्लेश तो नष्ट होते ही हैं। यदि वाचस्पति-भोज सम्मत मत उन्हें मान्य न होता, तो वे अवश्य ही उनके विरुद्ध लेखनी उठाते। अतः सिद्ध है कि उन्हें भी यही मत मान्य है। नागोजी भट्ट ने अपनी टीका के अन्त में विवेकख्याति रूप सात्त्विक वृत्ति के भी निरोध की आवश्यकता के विषय में विवरण देते हुए, अन्य दुःखों के साथ सुख को भी दुःखरूप बताया है। तत्पश्चात् दुःख-निवृत्ति के लिये सम्पूर्ण वृत्तियों के निरोध का प्रतिपादन करके, वाचस्पति, भोज प्रभृति विद्वानों के मत को पुष्ट किया है।

मणिप्रभाकार श्री रामानन्द यति ने भी सामान्यतया रजोगुणी-तमोगुणी वृत्तियों के निरोध को योग बतलाया है। अनन्तपण्डित ने अपनी चन्द्रिकाटीका में सत्त्व-परिणामरूप चित्त की वृत्तियों का निरोध, अर्थात् उसका बहिर्मुखता से विच्छेद करके अन्तर्मुखरूप से अपने कारण में उसका लय करना, योग बतला कर

श्री भोज का अनुकरण किया है। सदा शिवेन्द्र सरस्वती ने रामानन्द यति का अनुसरण किया है। श्री हरिहरानन्द आरण्य एव राघवानन्द सरस्वती ने वाचस्पति का ही अनुगमन किया है।

संक्षेप में भोज आदि उपर्युक्त सभी व्याख्याकारों ने योग के दो प्रकारों का स्पष्टरूप से उल्लेख किया है। प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या करते हुए भगवान् व्यास ने जिन-जिन विषयों का उल्लेख किया, उन सबका श्री वाचस्पति मिश्र, विज्ञान-भिक्षु, श्री भोज, नागोजी भट्ट, रामानन्द यति, राघवानन्द सरस्वती और हरिहरानन्द आरण्य ने, संक्षेप अथवा विस्तार से वर्णन किया है। अनन्त पण्डित एव सदाशिवेन्द्र सरस्वती ने लक्षण मात्र की सक्षिप्त व्याख्या की है, कोई विशेष विवरण नहीं दिया है। इनमें भावागणेश ने श्री भिक्षु के मन का अनुकरण किया है।

## (२) योगी की स्वरूप स्थिति एवं अन्यथा वृत्तिस्वरूपता—

योगी अथवा कोई भी जीव स्वतन्त्र पुरुष है। अज्ञानवश पुरुष स्थूल एव सूक्ष्म शरीर से सम्बद्ध रहता है। वस्तुतः यह शरीर और मन के विकारो से सर्वथा असंपृक्त तथा शुद्ध चैतन्यस्वरूप है।<sup>१</sup> अज्ञानावस्था में चित्त पुरुष के साथ तादात्म्य-भाव की कल्पना कर लेता है। पुरुष को वस्तुओं के स्वरूप का ज्ञान चित्त के परिवर्तनों के कारण ही होता है। इस प्रकार चित्त की वृत्तियों के अनुरूप ही 'मैं करता हूँ', 'मैं सुखी हूँ', 'मैं दुःखी हूँ' इत्यादि कल्पनाएँ पुरुष के अधिष्ठान से चित्त करता है। चित्त-वृत्तियाँ एव सस्कार नष्ट हो जाने पर वह (चित्त) अव्यक्त हो जाता है। इस अवस्था में पुरुष अपने वास्तविक स्वरूप, शुद्ध चैतन्य में अवस्थित होता है।<sup>२</sup> उसमें कर्तृत्व के अभिमान की निवृत्ति हो जाती है, जिस प्रकार तरंगे शान्त होने पर जल स्थिर हो जाता है, जल के पूर्ण स्थिर होने पर हम सरोवर की सतह को देखते हैं। ठीक ऐसी ही दशा चित्त की भी है। जब यह पूर्णरूपेण शान्त हो जाता है, तब चित्त में पुरुष के वास्तविक स्वरूप का स्फुरण होता है। उस समय चित्त पुरुष के साथ तादात्म्य-अनुभव नहीं करता है, अतः पुरुष स्वरूप में अवस्थित हो जाता है। पुरुष का अपने स्वरूप में अवस्थित होना ही योगी की स्वरूप स्थिति है। चित्त की शाश्वत निरुद्धावस्था के बाद पुरुष की कैवल्यावस्था अवश्यम्भावी है। निरुद्ध अवस्था चित्त का लय और कैवलय दशा चित्त का प्रलय है, यही भेद है। लय=समग निरोध। प्रलय=भङ्गहीन रोध।

निरुद्धावस्था से इतर, चित्त की व्युत्थान अवस्था में भी पुरुष (या योगी का प्रत्यक् चेतनरूप) अपने स्वाभाविक असंग रूप में स्थित होता है। कारण चित्ति-शक्ति (पुरुष) कभी भी अपने स्वरूप से प्रच्युत नहीं होती, फिर भी अविवेकवश वैसा प्रतीत नहीं होता। व्युत्थान अवस्था में चित्त में उदित होनेवाली वृत्तियों के साथ अविशिष्ट रूप से ही पुरुष का भी ज्ञान होना है। जिस प्रकार सीप में रजत की प्रतीति होने पर (जो भ्रमज्ञान है) न तो सीप का अभाव होता है, न चॉदी की उत्पत्ति होती

१. चैतन्य पुरुष का धर्म है, ऐसा समझना नहीं चाहिये। द्र०—सांख्यसूत्र "निर्गुणत्वात् न चिद्धर्मा।

२. "तदाद्रष्टुः स्वरूपेऽवस्थानम्" (यो० सू० १/३)



है। बाद में भ्रम-निवृत्ति होने पर भी वस्तुस्थिति के ज्ञान से न तो सीप की उत्पत्ति हो जाती है, नही रजत का अभाव होता है। केवल भ्रमवश ही उनके भाव एवं अभाव का व्यवहार होता है। उसी प्रकार पुरुष सर्वदा अविच्छिन्न एकरस होने पर भी व्युत्थान अवस्था में अविवेक से अन्य, अर्थात् वृत्तियों के समान रूप से प्रतिभासित होता है।<sup>१</sup> पुरुष के इस अन्यथावृत्तिसारूप्य के विषय में महर्षि पञ्चशिखाचार्य का सूत्र भी भगवान् व्यास ने प्रमाण रूप उद्धृत किया है—“एकमेवदर्शनं ख्यातिरिव दर्शनं”<sup>२</sup> और इस प्रकार उन्होंने एकमात्र ख्याति अर्थात् वृत्ति को ही दर्शन बतलाया है। तात्पर्य यह है कि पुरुष वैसा ही दृष्टिगोचर होता है, जैसी वृत्ति होती है। इसीलिए सुख, दुःख, मोहरूप सतोगुणी, रजोगुणी, अथवा तमोगुणी जैसी भी चित्त की वृत्तियाँ होती हैं, वैसा ही व्यवहार या व्युत्थान-दशा में पुरुष का स्वरूप ज्ञात होता है। पञ्चशिख वाक्यगत ‘दर्शन’ शब्द का अर्थ है—‘चैतन्य’ और ख्याति शब्द का अर्थ बुद्धि की वृत्ति अथवा बौद्धिक आलोक है।<sup>३</sup> विज्ञानभिक्षु की व्याख्यानुसार, चुम्बक जिस प्रकार देह-बिद्ध लौह-कील को अपनी ओर आकृष्ट करके, शरीर का भोग-साधन एवं उपकार करता है और इस प्रकार भोगसाधन करके अपने स्वामी का स्व-स्वरूप हो जाता है। उसी भाँति चित्त भी सन्निधिमात्र से विषयस्वरूप शल्य को अपनी ओर आकृष्ट करके दृश्यरूप से पुरुष का भोगसाधन एवं उपकार करता है। अतः अपने स्वामी ‘पुरुष’ का स्व-स्वरूप कहलाता है।

यहाँ पर शरीर-बिद्ध लौह-कील को कर्षित करने में मनुष्य स्वयं कोई क्रिया नहीं करता है। फिर भी चुम्बक अपनी आकर्षण-शक्ति द्वारा बिद्धकील को खींच कर सान्निध्यमात्र से शरीर का उपकार करता है और उसका अपनत्वभागी ‘स्व’ स्वरूप बनता है और वह मनुष्य (जिसके कील चुम्बकी थी) स्वयं कुछ क्रिया किये बिना ही उसका स्वामी कहलाता है। इसी प्रकार चित्त भी लौह-कील तुल्य विषयों को खींच कर सामीप्य मात्र से पुरुष का उपकारी एवं ‘स्व’ कहलाता है और पुरुष निष्क्रिय होकर (अर्थात् स्वरूप सत् रहकर) भी चित्त का स्वामी कहलाता है।<sup>४</sup> पुरुष स्वरूप सत् रहता है, इसका तात्पर्य यह है कि बुद्धि का स्वामी होने पर भी पुरुष परिणामादि

१. “वृत्तिसारूप्यमितरत्र” (यो० सू० १/४)

२. द्र०—यदि पुन सर्वेषामेव प्रमाणत्वमभ्युपगम्यते तेन यच्छास्त्रमेकमेव दर्शनं ख्यातिरेव-दर्शनं तद्ग्राह्येत (युक्तिदी० ५ कारिका)।

३. पात० द०, हरि० आ०, पृ० १०।

४. द्रष्टव्य—तत्त्ववैशारदी—वाचस्पति—पृ० १/४।

से रहित है। पुरुष निस्संग है, अतः चित्त पुरुष से संयुक्त नहीं, अपितु समीपस्थ है। पुरुष एव चित्त का यह सान्निध्य भी देश अथवा काल-प्रयुक्त नहीं वरन् योग्यतास्वरूप है। पुरुष मे भोक्तृत्व एवं द्रष्टृत्व शक्ति है। चित्त मे भोग्यत्व एवं दृश्यत्व शक्ति है। पुरुष एव चित्त की उक्त शक्तियाँ ही उनकी योग्यता है। उक्त योग्यता से ही चित्त एवं पुरुष का सान्निध्य है और उनमे स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध है। परन्तु यह स्व-स्वामि-भाव सम्बन्ध भी वृत्तिसारूप्य के कारण अज्ञानवश ही होता है। वस्तुतः पुरुष सर्वदा निस्संग एवं भोक्तृत्वादि रहित है।<sup>१</sup> शुद्ध पुरुष भोक्ता नहीं होता। इस विषय में श्रुति भी प्रमाण है—

“आत्मेन्द्रियमनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः” (१/३/४)

भाव यह है कि शरीर, इन्द्रिय, मन आदि से युक्त होकर ही आत्मा भोक्ता कहा जाता है, शुद्ध चेतन रूप मे नहीं।

- 
१. ‘भोक्ता’ शब्द के विषय मे एक बात ज्ञातव्य है। स्वरूपतः पुरुष को जब ‘भोक्ता’ कहा जाता है तब भोक्ता का अर्थ है—भोगरूप चित्त विकार का प्रकाशक=निर्विकार ज्ञाता। भोगरूप क्रिया से विकृत रूपवाला जीव भी भोक्ता शब्द से अभिहित होता है। इस द्वितीय अर्थ मे पुरुष भोक्ता नहीं है। इस अर्थभेद को न समझकर सांख्य योगीय भोक्तृत्ववाद पर व्यर्थ ही दार्शनिको ने दोष दिया है।

### (३) वृत्तियों के प्रकार, स्वरूप एवं लक्षण तथा वृत्तिनिरोध :—

योग के अनुसार चित्त की वृत्तियाँ पाँच प्रकार की हैं, जिनमें कुछ वृत्तियाँ क्लिष्ट तथा अन्य अक्लिष्ट होती हैं।<sup>१</sup> यद्यपि संसार में पदार्थ असंख्य हैं। उनके ससर्ग से उत्पन्न होने वाली वृत्तियाँ भी असंख्य हैं। योग में उन सब वृत्तियों को पाँच प्रकार की वृत्तिरूप श्रेणियों में विभक्त किया गया है। इनमें से रागद्वेषादि क्लेशों की हेतुभूत वृत्तियों को क्लिष्ट तथा राग द्वेष आदि क्लेशों को नष्ट करने वाली वृत्तियों को अक्लिष्ट कहते हैं। अविद्या आदि क्लेशों से उत्पन्न कर्म सत्कारों को सचित करने वाली वृत्तियाँ क्लिष्ट होती हैं, क्योंकि इनसे सचित कर्माशय के विपाक को प्राप्त होने पर क्लेश देने वाली वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं। इसी कारण से व्यास ने क्लिष्ट वृत्तियों को सब कर्म सत्कारों का क्षेत्रीभूत कहा है।<sup>२</sup> विज्ञान भिक्षु ने इस प्रसंग में व्याख्या करते हुए कहा है कि “जिससे जो जीवित रहता है वही उसकी वृत्ति है—जैसे ब्राह्मणादि की वृत्ति याजनादि है।” चित्तवृत्ति से तात्पर्य ज्ञानरूप समस्त अवस्थाओं से है। उनका अभाव हो जाने पर चित्त का भी विलय हो जाता है। इसलिये ये वृत्तियाँ कही जाती हैं। ज्ञान के द्वारा अविद्या, अस्मितादि विषयिणी वृत्तियाँ नष्ट होती हैं। इनसे रज, तम आदि गुणों का अधिकार समाप्त हो जाता है। ये ही ज्ञान विषयक वृत्तियाँ गुणाधिकार-विरोधिनी अक्लिष्टा वृत्तियाँ कहलाती हैं।<sup>३</sup> ‘उदाहरणार्थ शरीराभिमान अथवा “मैं ही शरीर हूँ”—इस प्रकार की भ्रान्ति-पूर्ण वृत्ति, या तदनुसार किये गए कर्मों से जन्य वृत्तियाँ अविद्यामूलिका क्लेशवृत्तिका हैं। “मैं शरीर नहीं, मैं शरीरातीत शुद्ध आत्म तत्त्व हूँ”—ऐसे ज्ञानसम्पन्न ध्यान आदि अथवा तदनुकारी आचरण से जन्य चित्तवृत्तियाँ अक्लिष्टा वृत्तियाँ हैं। एतद्गुणा वृत्तियों की परम्परा से अविद्यादि नष्ट होने से पुनर्जन्मादि का अभाव होता है। अतः उन्हें गुणाधिकार-विरोधिनी अक्लिष्ट वृत्ति कहा जाता है। इससे पूर्व श्रवण-मननपूर्वक विवेक का अनुभव-गौण अक्लिष्टावृत्ति है। क्लिष्ट वृत्तियों से क्लिष्ट संस्कार और अक्लिष्ट वृत्तियों से अक्लिष्ट संस्कार उत्पन्न होते हैं।

१ “वृत्तयः पञ्चतयः क्लिष्टाक्लिष्टा” । (यो० सू० १/५)

२ “क्लेशहेतुका. कर्माशयप्रचये क्षेत्रीभूता क्लिष्टा” (व्यास भाष्य, १ ५)

३ “रूपाति-विषया गुणाधिकारविरोधिनी” (व्यास भाष्य, १ ५)

इन क्लिष्ट तथा अक्लिष्ट वृत्तियों के पाँचों प्रकारों के नाम हैं—प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा और स्मृति ।<sup>१</sup> इनमें से प्रमाण वृत्ति के पुनः तीन उपभेद हैं—प्रत्यक्ष, अनुमान तथा आगम ।<sup>२</sup>

प्रमाणों के प्रकार के सम्बन्ध में सांख्य और योग एकमत हैं । प्रमाण से तात्पर्य किसी वस्तु के यथार्थ स्वरूप को ख्यापित करने वाली वृत्ति से है । अनधिगत (स्मृतिज्ञान पूर्वाधिगत होता है) एव अबाधित (विपर्यय बाधित ज्ञान है) अर्थ-विषयक प्रमा ज्ञान है । अन्य शब्दों में इसे अनुभूत यथार्थ ज्ञान भी कह सकते हैं । मैं उठता हूँ, मैं बैठा हूँ, मैं प्रसन्न हूँ, मैं खिन्न हूँ, अमुक बात मैं अनुमान से जानता हूँ, अमुक बात मैं वेद शास्त्र से जानता हूँ, इत्याकारक ज्ञान यदि वास्तविक है, तो प्रमा कहलाता है । जिस वृत्ति-द्वारा यह यथार्थ बोध (प्रमा) उत्पन्न हो, वही प्रमाण है । उसे अन्य शब्दों में प्रमा का करण कह सकते हैं ।

प्रमा तीन प्रकार से उत्पन्न होती है, नेत्र आदि इन्द्रियों के द्वारा, लिङ्गज्ञान द्वारा अथवा आप्त वाक्य के श्रवण-द्वारा उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति से । इस प्रकार उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति प्रमा का करण होने से प्रमाण कहलाती है ।

- (१) नेत्रादि इन्द्रियों के विषय-सन्निकर्ष के द्वारा उदित होने वाली चित्तवृत्ति प्रत्यक्ष-प्रमाण कहलाती है ।
- (२) लिङ्ग-ज्ञान अथवा लक्षण से उत्पन्न होने वाली चित्तवृत्ति अनुमान प्रमाण कहलाती है ।
- (३) आप्त वाक्यों के सुनने से वाक्यार्थ के विषय में उत्पन्न होने वाली चित्त-वृत्ति आगम-प्रमाण या शब्द प्रमाण कहलाती है ।

उपर्युक्त तीनों प्रमाणों द्वारा पुरुष को जो ज्ञान होता है, उसे प्रमाण का फल= प्रमा कहते हैं । यही पौरुषेय चित्तवृत्ति-बोध कहा जाता है । यह फलरूप-प्रमा भी तीनों प्रकार के प्रमाणों के आधार पर प्रत्यक्ष-प्रमा, अनुमिति-प्रमा और शाब्दी-प्रमा के भेद से तीन प्रकार की होती है ।

### साक्षात् अनुभव या प्रत्यक्ष-प्रमाण तथा प्रत्यक्ष-प्रमा :—

प्रत्यक्ष-प्रमाण की ज्ञान-प्रक्रिया के सम्बन्ध में प्रमाण, प्रमेय, प्रमाता, प्रमा

१. प्रमाणविपर्यय विकल्पनिद्रास्मृतयः । (योग सू० १/६)

२. प्रत्यक्षानुमानागमा प्रमाणानि । (योग सू० १/७)

और साक्षी के भेद से पाँच पदार्थ माने गए हैं। इन्द्रिय-प्रणाली-द्वारा किसी बाह्य पदार्थ के साक्षात् सम्बन्ध से, चित्त उसी आकार को धारण कर लेता है। इस प्रकार विषयाकार को प्राप्त 'अयं घटः', 'अयं पटः' इत्यादि जो चित्तवृत्ति उत्पन्न होती है, उसे बौद्धप्रमा कहते हैं। इस प्रमा का करण, अर्थात् इस ज्ञान को उत्पन्न करने वाली, इन्द्रिय-सन्निकर्ष-जन्य चित्तवृत्ति होती है, अतः इन्द्रियसन्निकर्षजन्य चित्तवृत्ति प्रमाण है। जिस प्रकार जलाशयो का जल, कूल आदि प्रणालियों द्वारा क्षेत्र में पहुँच कर क्षेत्राकार हो जाता है, उसी प्रकार चित्त भी चक्षु आदि इन्द्रियो द्वारा घट-पटादि विषयो से संयुक्त होकर तदाकाराकारित हो जाता है। इस प्रकार 'यह घट है, यह पट है' इत्याकारक परिणाम को प्राप्त चित्तवृत्ति बौद्ध प्रमा कहलाती है। तत्पश्चात् 'घटमहजानामि' 'पटमहजानामि', इस प्रकार का विषय सहित पुरुष में जो बोध होता है वह फलरूप प्रमा है। यही पौरुषेय बोध या पौरुषेय ज्ञान है। यहाँ प्रथम ज्ञान बुद्धिनिष्ठ और द्वितीय ज्ञान पुरुषनिष्ठ है। 'अयं घटः' इत्याकारक बुद्धिनिष्ठ ज्ञान प्रमाण (साधन) है और 'घटमहजानामि' इत्याकारक जो बुद्ध्युपहित पुरुषनिष्ठ ज्ञान है, वह प्रमा (प्रमाण का फल) कहलाता है। भगवान् व्यास व उनके अनुगामी वाचस्पति, राघवानन्द प्रभृति विद्वानो ने प्रत्यक्ष-प्रमाण के सम्बन्ध में केवल इन्हीं दो, प्रमाणों के और प्रमा के विषय में बतलाया है। प्रमाता आदि का विवरण उन्होंने नहीं दिया है। शेष तीनों पदार्थों सहित इनका विवरण इस प्रकार है :—

- (१) इन्द्रियप्रणाली-द्वारा निष्पादित घटाद्याकार चित्तवृत्ति प्रमाण है।
- (२) पूर्व कथित घटादि आकार वाली चित्तवृत्ति का विषयरूप घटादि प्रमेय है।
- (३) प्रमाणरूप व्यापार का फल होने से बुद्धि-उपहित पुरुषनिष्ठ ज्ञान प्रमा है।
- (४) प्रमा का आश्रयभूत होने से बुद्धि-प्रतिबिम्बित चेतन प्रमाता है।
- (५) एवं बुद्धि-वृत्ति से उपहित शुद्ध चेतन साक्षी होता है।

“ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथञ्चन ।

ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यः सर्वगतः शिवः ॥”<sup>१</sup>

और

“साक्षी चेता केवलो निर्गुणश्च” ( श्वेताश्वतर ६/११ ) इत्यादि आस वचन भी इस बात की पुष्टि करते हैं कि शुद्ध चेतन साक्षी मात्र ही है। वह किसी धर्म अथवा गुण से रहित है।

प्रत्यक्ष-प्रमाण के प्रसंग में विज्ञानभिक्षु ने शुद्ध चेतन को प्रमाता तथा इन्द्रियो की अपेक्षा से रहित वृत्तियो ( बुद्धि आदि ) को साक्षि भास्य माना है, जो कि युक्तिसंगत नहीं है। “सांख्य-प्रवचन” में स्वयं भिक्षु जी ने भी “पुरुषस्तु प्रमा साक्ष्येव न प्रमाता” इत्यादि से पुरुष को प्रमा का साक्षी मात्र माना है, प्रमाता नहीं। अतः प्रस्तुत प्रसंग में भिक्षु जी की मान्यता अग्राह्य है।

भावागणेश तथा नागोजी भट्ट ने भी विज्ञानभिक्षु के मन का अनुसरण करते हुए अपनी-अपनी व्याख्याओं में भिक्षु जी की वार्त्तिक-कारिकाओं को प्रमाण रूप से उद्धृत किया है।

“योगवार्त्तिक” की कारिकाएँ इस प्रकार हैं :—

“प्रमाता चेतनः शुद्धः प्रमाण वृत्तिरेव च ।  
प्रमार्थाकारवृत्तीनां चेतने प्रतिविम्बनम् ॥  
प्रतिविम्बितवृत्तीनां विषयो मेय उच्यते ।  
वृत्तयः साक्षिभास्याः स्युःकरणस्यानपेक्षणात् ॥  
साक्षाद् दर्शनरूपं च साक्षित्वं सांख्यसूत्रितम् ।  
अविकारेण द्रष्टृत्वं साक्षित्वं चापरे जगुः ॥”

जैसा कि ऊपर बतलाया जा चुका है, शुद्ध चेतन को श्री भिक्षु जी एव उनके अनुयायियों का प्रमाता बतलाना सर्वथा अयुक्तिसंगत है, क्योंकि शुद्ध चेतन सर्व-धर्म-रहित और प्रमाता प्रमारूप धर्म से युक्त होता है। भोज एव अनन्त पंडित ने तीनों प्रमाणों के केवल लक्षण ही दिये हैं। प्रमाता आदि का प्रसंग ही नहीं चलाया है।

सांख्ययोग की प्रत्यक्ष-प्रतिक्रिया को हम उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझ सकते हैं। जैसे हमारे समक्ष एक घोड़ा खड़ा है। उसे देखने का यत्न करते ही चक्षु से उसका सयोग होता है। चक्षुरूप इंद्रिय उस घोड़ेरूप विषय को मन के समक्ष प्रस्तुत करती है। तत्पश्चात् मन अपने सकलरूप व्यापार से निश्चित करता है कि प्रस्तुत पदार्थ घोड़ा ही है, अन्य वस्तु नहीं। फिर मन सकल किये गए पदार्थ को बुद्धि के

सामने रखता है। बुद्धि के समक्ष विषय आते ही वह तदाकाराकारित हो जाती है। तब बुद्धि की यह इच्छावृत्ति चैतन्य का प्रतिबिम्ब पडने से प्रकाशित हो उठती है। इस प्रक्रिया द्वारा ही घोडा का ज्ञान होता है कि सामने दिखाई देने वाला पदार्थ घोडा ही है। जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है, प्रकृति का परिणाम होने से बुद्धि जड है, अतः उसमें स्वयं ज्ञान उत्पन्न नहीं होता है। चेतन पुरुष का प्रकाश पडते ही जड बुद्धि चेतनवत् प्रतीत होने लगती है और उसी से वह विषय को ग्रहण करती है। चेतन पुरुष और बुद्धि की क्रमशः दीपक एव दर्पण से तुलना की जा सकती है। जिस प्रकार स्वच्छ दर्पण में दीपक का प्रतिबिम्ब पडने से अन्य वस्तुएँ भी प्रकाशित हो उठती हैं, उसी प्रकार सात्त्विक बुद्धि में पुरुष के चैतन्य की परछाई पडने से बुद्धि की वृत्ति भी प्रकाशित हो जाती है। इसी के द्वारा हमें विषयो का ज्ञान होता है।

### अनुमान-प्रमाणः—

लक्षण चिन्ह से लक्ष्य वस्तु का ज्ञान अनुमान है। किसी वस्तु का गमक लिंग देख कर उस वस्तु की सत्ता की कल्पना करना—जिसका कि वह लिंग है—अनुमान प्रमाण कहलाता है। व्यास के अनुसार अनुमेय अर्थात् अनुमान के विषय के साथ समान जाति वाली वस्तु में रहने वाला और उससे भिन्न जाति वाले पदार्थ में न रहने वाला सम्बन्ध व्याप्ति कहलाता है। इसी सम्बन्ध (व्याप्ति) को विषय बनाकर—सामान्य अर्थ को प्रधानरूप से निश्चित करने वाली-वृत्ति अनुमान-प्रमाण कहलाती है।<sup>१</sup>

प्रत्यक्ष-प्रमाण का विषय बनने वाले घट आदि का उसके परिमाण रूप आदि विशेषों सहित ही ज्ञान होता है। दूसरी ओर अनुमान का विषय बनने वाले पर्वतस्थ वह्नि आदि का सामान्यरूप से केवल अग्निरूप में ही ज्ञान होता है, रसोई आदि में प्रत्यक्ष हुए वह्नि के समान विशिष्ट-स्वरूप आदि से युक्तरूप में नहीं। यही प्रत्यक्ष एव अनुमान प्रमाण में भेद है।

अनुमानरूप यथार्थ ज्ञान लिंग-लिंगी, साधन-साध्य अथवा कार्यकारण के सम्बन्ध से उत्पन्न होता है।

लिंग एव लिंगी अर्थात् साधन एव साध्य का जो उपाधिहीन अविनाभावी

१. “अनुमेयस्य तुल्यजातीयेषू अनुवृत्त भिन्नजातीयेभ्य व्यावृत्त य सम्बन्ध तद्विषया सामान्या वधारण प्रधानावृत्ति अनुमानम्।” (व्यास भाष्य, १/७)

सम्बन्ध होता है, उसे व्याप्ति कहते हैं और तज्जन्य बोध को व्याप्तिज्ञान।<sup>१</sup> लिङ्ग (चिह्न, लक्षण) के प्रत्यक्ष होने पर अप्रत्यक्ष लिंगी का व्याप्ति-ज्ञान द्वारा अनुमान किया जाता है। उदाहरणार्थ-किसी स्थल पर धूम्र का प्रत्यक्ष होने के अनन्तर अप्रत्यक्ष होने पर भी, जहाँ धूम्र होता है, वहाँ अग्नि होती है, इस व्याप्ति-ज्ञान के आधार पर, वहाँ अग्नि सत्ता का अनुमान किया जाता है। अतः इस प्रकार की चित्तवृत्ति अनुमान प्रमाण है।

### आगम प्रमाणः—

आप्त पुरुष के द्वारा देखे गए अथवा अनुभव से ज्ञात किए गए विषय को, दूसरे के प्रति तद्विषयक बोध कराने के लिये शब्द के द्वारा उपदेश किया जाता है। उस शब्द से उसके अर्थ विषयक श्रोता की जो वृत्ति होती है वह आगम या शब्द प्रमाण कहलाती है।<sup>२</sup> आप्त का अर्थ है—सच्चा विश्वस्त पुरुष। ऐसे आप्त वक्ता के वचन भी प्रामाणिक होते हैं। आप्त पुरुष तत्त्ववेत्ता होते हैं। उनके ज्ञान एवं क्रिया भ्रान्ति एवं प्रमाद से रहित एवं विप्रलिप्ता (परवश्रनेच्छा) शून्य होते हैं। मूलवक्ता के द्वारा या आप्तपुरुष के द्वारा दृष्ट अथवा अनुमिन शब्द ही उस विषय का स्वलन-शून्य आगम प्रमाण होता है। अश्रद्धेय एवं वचक वक्ता के द्वारा उपदिष्ट आगम भी प्रमाण कोटि में नहीं गिना जाता।

### विपर्यय—

किसी वस्तु के मिथ्या ज्ञान (अर्थात् ज्ञेयवस्तु के यथार्थरूप में न प्रतिष्ठ होने वाला ज्ञान) रूप-चित्त-वृत्ति को विपर्यय<sup>३</sup> कहते हैं।<sup>४</sup>

विपर्यय-काल में वस्तु अपने वास्तविक स्वरूप में नहीं भासित होती है, वरन् एक वस्तु में अन्य वस्तु की भ्रान्ति हो जाती है। जैसे सीप में रजत की भ्रान्ति अथवा दूर से या अन्धकार के कारण रज्जु में सर्प की भ्रान्ति रूप अयथार्थ

१. व्यक्ति के विशद परिज्ञान के लिये द्र० व्याप्ति-तत्त्व रहस्यम्।

२. “आप्तेन दृष्टोऽनुमितो वार्थ परत्र स्वबोध सक्रान्तये शब्देनोपदिष्यते। शब्दात्तदर्थविषया वृत्तिः श्रोतुरागमः।” (व्यास भाष्य सू० १/७)

३. द्र०—“आप्तोपदेश शब्द” (न्यायसूत्र . .) पर भाष्य।

४. विपर्यय ज्ञान के सविस्तार प्रतिपादन के लिये द्र० The Theories of Viparyaya

५. “विपर्ययो मिथ्याज्ञानम्, अतद्रूपप्रतिष्ठम्” (यो० सू० १/८)



ज्ञान विपर्यय वृत्ति है। जिस ज्ञान का निश्चित प्रमाण के द्वारा बाध हो जाय, वही अयथार्थ ज्ञान या मिथ्याज्ञान है। अन्धकार में सर्प की भ्रान्ति उत्पन्न करने वाली रज्जु का प्रकाश में प्रत्यक्ष होने पर सर्प की सत्ता के ज्ञान का बाध हो जाता है। अतः प्रमाण से बाधित हो जाने के कारण विपर्यय आप्रामाण्य है।

विपर्यय वस्तु से विलक्षण आकार-युक्त चित्त की वृत्ति को विपर्यय ज्ञान तथा विपर्यय के अनुरूप अथवा समानाकार में परिणत चित्तवृत्ति को प्रमाण कहते हैं। सगय भी विपर्यय वृत्ति के अन्तर्गत ही माना जाता है, क्योंकि उत्तरकाल में सगय भी सत्य ज्ञान से बाधित होता है।

यह विपर्ययवृत्ति ही अविद्या कहलाती है, जो कि इस क्लेश-सकुल ससार का मूल है। इसके अविद्या, अस्मिन्ना, राग, द्वेष और अभिनिवेशरूप पाँच भेद हैं।<sup>१</sup> इन पंच भेदों (क्लेशों) का आगे वर्णन किया जायगा। अविद्यादि उक्त पाँचों क्लेश ही यथाक्रम तमः, मोह, महामोह, तामिस्र और अन्ध तामिस्र कहलाते हैं। जैसा कि विष्णु पुराण की इस उक्ति से स्पष्ट होता है—

“तमोमोहोमहामोहस्तामिस्रोह्यन्धसंशितः ।

अविद्या पंचपर्वेषा प्रादुर्भूता महात्मनः ॥” १/५/५

( यहाँ अन्धसंज्ञक=अन्धतामिस्र है )

भगवान् व्यास ने भी विपर्यय की व्याख्या करते हुए भाष्य में पूर्वाचार्य परम्परा प्रसिद्ध इस मत का उल्लेख किया है, इस पंचपर्व अविद्या का विवरण सूत्रकार ने साधनपाद के अन्तर्गत चित्तमत के प्रसंग में दिया है। ईश्वर-कृष्ण की “सांख्यतारिका” में इन तम मोहादि के बासठ भेदों का उल्लेख किया गया है।

**विकल्पवृत्ति :**

वास्तविकता से शून्य केवल शब्द-ज्ञान पर आधारित वृत्ति को विकल्प वृत्ति कहते हैं।<sup>२</sup> विकल्पवृत्ति में उस वस्तु की सत्ता की अपेक्षा नहीं रहती है,

१. “सद्यः पंचपर्व भवत्यविद्या, अविद्या स्मिनारागद्वेषाभिनिवेशा क्लेशा इति ।”

(व्यास भाष्य) ।

२. भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः ।

तामिस्रोऽष्टादशधा तथा भवत्यन्धतामिस्रः ॥ (सांख्यकारिका, ४८)

३. शब्दज्ञानानुपाती वस्तुशून्यो विकल्पः (यो० सू०, १/६) ।

जिसके विषय में हम शब्द-प्रयोग करते हैं। विकल्प-वृत्ति का विषय न होने से, यह प्रमाण-वृत्ति से भिन्न है तथा विपर्यय भी नहीं है, क्योंकि ज्ञान होने पर भी इसका अलीक विषयक शाब्दिक व्यवहार चलता ही रहता है। उदाहरणार्थ आकाश-कुसुम या घोड़े का सींग कहने से शब्दों का अर्थबोध तो होता है, किन्तु उस बोध के अनुरूप कोई वस्तु नहीं है। इसी प्रकार “वन्ध्या का पुत्र आ रहा है,” इस शब्दजन्य ज्ञान से जो अलीक वन्ध्यापुत्राकार चित्त के परिणाम-रूप वृत्ति-विशेष उत्पन्न होती है, वह विकल्प है। इस वाक्य में वन्ध्या विशेषण और पुत्र विशेष्य रूप से प्रतीत होता है। इस प्रकार भी यह विपर्यय से भिन्न है। विपर्यय वृत्ति में विशेष्य-विशेषण भाव की प्रतीति नहीं होती है। विपर्ययज्ञान इन्द्रिय या विषय के दोष उत्पन्न होने पर, किसी दोष के कारण ही होता है। विकल्पज्ञान शब्दाश्रित चिन्ता के कारण होता है। ज्ञान के पश्चात् भी विकल्प का व्यवहार चलता है। “राहु का सिर”, “काठ की पुतली” आदि भी विकल्पवृत्ति के ही उदाहरण हैं। यहाँ राहु और सिर, काठ और पुतली में कोई भेद नहीं है, वे एक ही वस्तु हैं। विचार करने पर उनमें प्रतीत होने वाला विशेष्य-विशेषणरूप भेद अवास्तविक सिद्ध होता है।

प्रमाण, विपर्यय तथा विकल्प वृत्ति के भेद को सरल रूप में इस प्रकार समझा जा सकता है। वस्तु का यथार्थ ज्ञानप्रमाण, जैसे सीप में सीप का ज्ञान। वस्तु का अयथार्थ ज्ञान विपर्यय, जैसे सीप में चाँदी का भान होना विपर्यय है। सीप में सीप का ज्ञान होने पर इस ज्ञान का बाध हो जाता है। विकल्प यथार्थ ज्ञान नहीं है, क्योंकि इसका विषय कोई वस्तु नहीं होती। यह केवल शब्दज्ञान पर ही आश्रित है। यह मिथ्या ज्ञान भी नहीं है, क्योंकि व्यवहारकाल में इसका बाध नहीं होता। जो लोग जानते हैं कि पुरुष और चैतन्य भिन्न-भिन्न नहीं है, वे भी ऐसा ही वाग्-व्यवहार करते हैं। जिस स्थान में अभेद में भेद तथा भेद में अभेद की कल्पना की जाती है, वहाँ विकल्प-वृत्ति का ही अवलम्बन होता है। उदाहरणार्थ पुरुष तथा चैतन्य, राहु तथा सिर, काठ और कठपुतली ये सब दो-दो वस्तुएँ नहीं हैं, फिर भी यहाँ अभेद में भेद आरोपित किया गया है। भेद में भी अभेद आरोपित होता है। लौह तथा अग्नि अथवा जल एवं अग्नि, सर्वथा भिन्न-भिन्न वस्तुएँ हैं तथापि लोहे का गोला जलानेवाला है, अथवा (गर्म) पानी से हाथ जल गया इत्यादि कथनों से भेद में अभेद की बुद्धि की जाती है।

अस्मिता भी एक प्रकार की विकल्प-वृत्ति ही है, क्योंकि चैतन्य और अहंकार, दो भिन्न वस्तुओं में अभिन्नता का आरोप होता है।

निद्रा :-

(जाग्रत तथा स्वप्नावस्था की वृत्तियों के) अभाव पर आश्रित रहनेवाली वृत्ति निद्रा कहलाती है।<sup>१</sup> क्रिया एवं प्रवृत्ति रजोगुण का लक्षण है। जाग्रत अवस्था में चित्त रजः प्रधान रहता है। अतः इस अवस्था में वह सत्त्वगुण को गौरवरूप से सहायक बनाकर अस्थिर रूप से विषयो की प्रवृत्ति में सलग्न रहता है। तमोगुण स्थितिशील तथा आवरक होने से प्रकाश एवं क्रिया को अवरुद्ध करने वाला है। सुषुप्ति अथवा निद्रावस्था में रजोगुण एवं सत्त्वगुण को दबा कर तमोगुण ही प्रधानरूप से रहता है। तमोगुण की प्रबलता से निद्रावस्था में चित्त विषय-व्यापारशून्य होकर सुग्भावस्था में रहता है। जिस प्रकार अन्धकाराच्छादित कक्ष में समस्त वस्तुएँ छिप जाती हैं, केवल सब वस्तुओं का आच्छादक अन्धकार ही दृष्टिगोचर होता है, जिसके कारण कमरे में वस्तुओं के अभाव की प्रतीति होती है।<sup>२</sup> ठीक उसी प्रकार सुषुप्ति अवस्था में चित्त की सम्पूर्ण वृत्तियों को तमोगुण आक्रान्त करके स्वयं अपना प्राधान्य स्थिर रूप से रखता है, फिर भी इस अवस्था में रजोगुण का नितान्त अभाव नहीं समझना चाहिए। किञ्चित्मात्रा में स्थित रहकर इस अवस्था में भी रजोगुण जाग्रत्स्वप्न की वृत्तियों के अभाव की अस्फुट प्रतीति कराता रहता है और बाद में वही निद्रा को भंग करता है। अतः इस प्रकार के चित्त-परिणाम को निद्रावृत्ति कहते हैं।

प्रकृत सूत्र में अधिकार प्राप्त “वृत्ति पद का पुनर्कथन अनुवादक मात्र है। प्रमाण, विपर्यय, विकल्प एवं स्मृति के वृत्तित्व विषय में परीक्षकों का कोई वैपरीत्य नहीं है। निद्रा के विषय में विचारकों का वैमत्य रहने से यहाँ वृत्तित्व विधेय है। प्रस्तुत अनुवादक वृत्तिपद विधायक नहीं हो सकता। अतः सूत्र में वृत्ति पद का पुनर्ग्रहण किया गया है।

“अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिनिद्रा”। इस सूत्र की व्याख्या में श्री वाचस्पति मिश्र ने सूत्रगत “अभाव” पद से जाग्रत्-स्वप्न-पदार्थ सम्बन्धी वृत्तियों का अभाव, प्रत्यय शब्द से उपर्युक्त अभाव के कारण सत्त्वरज के आवरक तमोगुण (निद्रा प्राक्कालीन प्रच्छन्नभाव जिसका अनुभव प्रत्येक व्यक्ति करता है) “आलम्बन” से विषय-वृत्ति पद से प्रकरण-प्राप्त चित्तवृत्ति का अर्थ लेकर, सुषुप्ति अवस्था में स्वरूपमुख

१. “अभावप्रत्ययालम्बनावृत्तिनिद्रा” (यो० सू० १/१०)।

२. नैश अन्धकार की उपा शंकराचार्य ने भी दी है। (द्र०—मान्डूक्य उपनिषद् भाष्य.)

तथा तमःप्रयुक्त जड-भाव को विषय करने वाली चित्त की वृत्ति को निद्रा बतलाया है ।

विवरणकार शकर “अभाव” पद से जाग्रद्विषयाभाव लेते हैं । स्वप्नकालीन विषयाभाव को उन्होंने स्पष्ट नहीं किया । वे लिखते हैं—“अभाव इति जाग्रद्विषयाभावः न त्वत्यन्ताभाव एव” किन्तु आगे उन्होंने स्वयं ही शंका उठाई है कि स्वप्नावस्था निद्रा क्यों नहीं है ? फिर स्वप्न ही समाधान करते हुए लिखते हैं कि सूत्रकार ने “स्वप्न निद्राज्ञानालम्बनम् वा” सूत्र से स्वयं ही स्वप्न एव निद्रा का भेद स्पष्ट कर दिया है अतः “निद्रा” पाद से सुषुप्ता अवस्था ही अवगन्तव्य है । फिर स्वप्नकाल में स्मृति विद्यमान रहने से अभाव प्रत्ययालम्बनता भी नहीं रहती स्मृति अनुभूत विषयिणी ही होती है । स्मृति के प्रकरण भाष्यकार में व्यास की “स्वप्ने भाक्ति स्मर्तव्या” उक्ति स्वप्न स्मृतित्व स्पष्ट है ।

वस्तुतः त्रिगुणात्मिका बुद्धि-सत्त्व में जब सत्त्व को आक्रान्त कर समस्त करणावरक तम समुल्लसित होता है तो बुद्धि के विविध विषयाकार परिणामाभाव से तमोमयी वृत्ति “मैं सो रहा हूँ” उत्पन्न होती है । उससे मलिन चित्तसत्त्व की निद्रा वृत्ति का बोध करता हुआ पुरुष सुप्त अन्तः सज्ज कहलाता है । शका होती है कि निरुद्धदशा और कैवल्य की भाँति निद्रा को वृत्त्यभाव क्यों नहीं माना जाता है । किन्तु सम्प्रबोध काल में “मैं सुखपूर्वक सोया मेरा चित्त प्रसन्न है ।” “मैं दुःखपूर्वक सोया, मेरा मन अकर्मण्य है, भ्रमित हो रहा है”—इत्यादि स्मृति होती है । स्मृति सर्वदा अनुभूत विषयिणी ही होती है । अतः शका युक्तितः निरस्त हो जाती है ।

वैसे निद्रा एकाग्र तुल्या वृत्ति है किन्तु एकाग्र तुल्य होने पर भी तामसतया निद्रा एव सबीज व निर्बीज समाप्ति की प्रतिपक्षता है । अतः अन्य वृत्तियों की भाँति वह निरोद्धव्या है ।

वाचस्पति सम्मत व्याख्या के अनन्तर इस विषय में भिक्षु ने अविद्यावृत्ति का उल्लेख करके वेदान्त मत पर वाक्प्रहार किया है और लिखा है कि निद्रा वृत्ति का अविद्या-साक्षिभास्य स्वीकार किया जाय, तो जागृत अवस्था में सुषुप्ति की स्मृति, अपरिणामी साक्षी में सस्कार का “अभाव होने से” कैसे होगी ?

साक्षी का वास्तविक स्वरूप निःसन्देह अपरिणामी ही है । किन्तु बुद्धिसत्त्व प्रतिविम्बित पदार्थों का यावत् अभिव्यग्या चित्तिशक्ति में प्रतिफलन रहता है और साक्षी अभिव्यग्या चित्ति शक्ति को अभिव्यग्या न समझ कर स्वयं अपना

स्वरूप समझती है, तब तक उममें परिणामिन्वादि समस्त दोषों का आरोप सम्भव है। विकल्पाति के बिना उक्त दोषों से मुक्ति असम्भव है।

अविद्यासाक्षिभास्य का अर्थ है—अविद्या सम्बद्ध साक्षि द्वारा भास्य-प्रकाश्य ओर अविद्या-सम्बद्ध साक्षी वह है जिसे त्रिवेकल्पानि नहीं प्राप्त हुई है। अतः अविद्या साक्षिभास्य तो हर दशा में रहेगा ही। चाहे वह निद्राकालीन वृत्तिमाख्य हो चाहे जाग्रत्कालीन। अतः अपरिणामी साक्षी में मस्काराभाव वग जागरण काल में भी स्मृति विषयिणी शका का प्रश्न ही नहीं उठता।

पुनः उनका यह कथन कि सुषुप्ति को अविद्या-वृत्ति माने तो जाग्रत्स्वप्न की भी वृत्तियाँ अविद्यामात्र होगी, अतः इन्हें चित्तवृत्ति मानना ही व्यर्थ है, इसलिये उचित नहीं है कि प्रथम तो यह कि “मुखमद् अस्वाप्स प्रसन्न मे मनः” इत्यादि स्मृतियाँ जाग्रदवस्था की हैं। इनमें केवल स्वरूपमुख का कथन हो रहा है। ये सुषुप्तावस्था की स्मृतियाँ नहीं हैं, जो कि अज्ञान में विलीन हो चुकी हैं। दूसरे जाग्रत् और स्वप्न की वृत्तियाँ चित्त की ही वृत्तियाँ हैं, यह तो उभयपक्ष को मान्य है। रही सुषुप्ति की वृत्ति, वह है अविद्या, जो स्वयं ही चित्त की वृत्ति है। वस्तुतः योगी के लिये जाग्रत् स्वप्न सुषुप्ति सभी वृत्तियाँ अविद्या भाव हैं। अतः चित्त की सत्ता तो स्वीकार्य ही है और सुषुप्ति कतिपय मान्य आचार्यों के अनुसार अविद्याख्य प्रकृति की ही वृत्ति है। कारण का कारण भी परम्परया कारण ही कहा जाता है। अतः सुषुप्ति भी चित्तवृत्ति ही है, जैसे अविद्या है।

यह भेद अवश्य है कि जाग्रत् और स्वप्न की तुलना में निद्रा तामस वृत्ति होती है। यथा :—

“सत्त्वाज्जागरणं विद्याद्रजसा स्वप्नमादिशेत्।

प्रस्वापनं तु तमसा तुरीयं त्रिषुसन्नतम्।”

“विवरणकार” शंकराचार्य ने भी सूत्रगत अभावपद से वाचस्पति की भाँति जाग्रत्स्वप्नकालीन वृत्तियों के अभाव का अर्थ ग्रहण किया है।

श्री स्वामी हरिहरानन्द आरण्य के शब्दों में—“सुषुप्तिकाल में जो जड-आच्छन्न करणभाव होता है, निद्रा वृत्ति उसी का विज्ञान है।”

१. इस विषय में विपर्यय-वृत्ति का विवरण द्रष्टव्य है।

श्री हरिहरानन्द आरण्य ने “स्वप्नहीन सुषुप्ति” को निन्द्रावृत्ति बतलाया है तथा वाचस्पति की टीका की क्लिष्टता को अत्यन्त सुन्दर, सरल एवं स्पष्ट भाषा-शैली में समझा कर उन्हीं के मत का अनुसरण किया है। राघवानन्द सरस्वती ने भी सक्षेप में मिश्र जी के मत का अनुगमन किया है।

तमोगुण की प्रबलता से विस्तृत हुई, समस्त विषयों के त्याग-द्वारा प्रवृत्त होने वाली वृत्ति को निद्रा बतला कर श्री भोज ने भी मिश्र जी के मत का समर्थन किया है।

विज्ञान-भिक्षु के तर्कों को स्वीकार करते हुए नागोजी भट्ट ज्ञान-सामान्य की सत्ता सुषुप्ति अवस्था में भी स्वीकार करते हैं। साथ ही गाढ तमोरूप दोष भी बतलाते हैं। परन्तु गाढ तमोरूप दोष से तो सब वृत्तियों का अव्यक्तभाव हो जायगा। अतः गाढ तमोरूप दोष नहीं हो सकता है।

नागोजी भट्ट के मत के अनुरूप ही श्री रामानन्द यति ने सात्विक, राजसिक और तामसी निद्रा के अनुभवस्वरूप, बुद्धि के धर्मों को ही निद्रा बतलाया है। अनन्त पंडित ने सूत्र में “आलम्बन” के आगे “यस्याः” जोड़कर केवल सूत्र की विभक्तियों तोड़ कर रख दी हैं। योगसुधाकरकार ने अत्यन्त सक्षेप में भोज-वाचस्पति-सम्मत मत स्वीकार किया है। भाष्यकार ज्ञानानन्द ने भी उक्त विद्वानों का अनुमोदन किया है, कोई नवीन बात नहीं लिखी।

### स्मृति—

पूर्व अनुभूत विषयों की यथावत् आरोहपूर्वक मानसिक प्रतीति स्मृति नामक चित्तवृत्ति कहलाती है।<sup>१</sup>

सूत्रकार ने अनुभूत विषय के असम्प्रमोष को स्मृति बतलाया है। “असम्प्रमोष” का अर्थ होता है, किसी वस्तु या विषय का “न चुराया जाना या न खो जाना।” स्मृति के विषय में पहले अनुभव किये गए विषय के न खोये जाने से तात्पर्य है—किसी अभिव्यजक को पाकर सस्कार-प्रफुल्लित हो उठना। स्मृति की प्रक्रिया का क्रम इस प्रकार होता है। किसी भी विषय का ज्ञान उत्पन्न होकर सर्वदा उसी रूप में वर्तमान नहीं रहता है। यदि एक बार किसी वस्तु के विषय का ज्ञान सर्वदा उसी रूप में वर्तमान रहेगा, तो उस ज्ञान के द्वारा प्रयुक्त अन्य व्यवहार लुप्त हो जाएगा। अतएव सर्वप्रथम किसी विषय का अनुभव-द्वारा ज्ञान होने पर उसका

१. “अनुभूत विषया सम्प्रमोष स्मृति.” (यो० सू० १-११)

अज्ञात या अनुद्बुद्धरूप में चित्त पर सस्कार पड़ जाता है। सस्कार भी यदि सर्वदा जागृत रहे, तो उसके अपना कार्य करते रहने से, अन्य व्यवहार लुप्त हो जायगा। अतः वह सुप्तरूप में ही चित्त में स्थित रहता है। जब कोई उद्बोधक साधन उपस्थित होता है तो वह सस्कार जागृत हो जाता है। सुप्त सस्कार के जागृत होने पर जिस पदार्थ के ज्ञान या अनुभव से वह सस्कार पड़ा था, उसी पदार्थ के विषय में चित्त के तदाकार परिणाम को, स्मृति रूप वृत्ति कहते हैं। चित्त के सुप्त सस्कारों को जागृत करने वाले तीन साधन होते हैं—चित्त की एकाग्रता, अभ्यास तथा सहचार-दर्शन। इन तीनों में से एक भी साधन की प्राप्ति स्मृति को उत्पन्न करती है। स्नेही सम्बन्धियों की स्मृति में राग, शत्रु की स्मृति में द्वेष, आधीन विद्या के स्मरण में अम्यास तथा एक साथ देखे गए किन्हीं दो व्यक्तियों में से किसी एक के ज्ञान से दूसरे की स्मृति होने में सहचार-दर्शन, सस्कार को जागरूक करने वाला साधन होता है।

अनुभव स्मृति से भिन्न है, क्योंकि अनुभव का विषय अज्ञात वस्तु ही होती है और स्मृति का विषय पूर्व-ज्ञान होता है। स्मृति का विषय अनुभव से न्यून अथवा उसी मात्रा में हो सकता है, उससे अधिक मात्रा में नहीं, क्योंकि अनुभव ही स्मृति का आधार है।

सम् एव प्र उपसर्ग पूर्वक 'मुप स्तेये' (चोरी करना) धातु से सम्पन्न "सम्प्रमोष" का अर्थ है "चोरी करना"। सम्प्रमोष शब्द में नन् समास लगने पर बने "असम्प्रमोष" पद का अर्थ होता है—"तस्करता का अभाव" या "चोरी न करना" प्रस्तुत स्थल में अनुभवज्ञान पितृस्थानीय है एवं स्मृति-ज्ञान पुत्रस्थानीय है, क्योंकि वह अनुभव से उत्पन्न होता है। अस्तेय शब्द का प्रयोग साम्प्रियाय है, जिस प्रकार लोक में पैत्रिक संपत्ति का ग्रहण अस्तेय है, उससे अधिक किसी और की सम्पत्ति ग्रहण करना चोरी। उसी प्रकार स्मृति का भी स्व-जनक अनुभव के विषय से अधिक अन्य के विषय रूप सम्पत्ति का ग्रहण (प्रकाश) करना सम्प्रमोष (चोरी) होगा। अनुभूत विषय अनुभव द्वारा छोड़ी गई सम्पत्ति के समान है। अनुभूत विषय से अधिक विषय को स्मृति प्रकाशित नहीं करती है। इसी से "अनुभूत विषय का असम्प्रमोष स्मृति है" ऐसा लक्षण सूत्रकार ने किया है। इसी कारण स्मृति का विषय अनुभव के बराबर या न्यून हो सकता है, अधिक नहीं।

स्मृति के विषय को स्फुट करने के लिये भाष्य में यह शंका उठाई गई है कि चित्त केवल प्रत्यय मात्र को स्मरण करता है न कि केवल ग्राह्य को ? तात्पर्य

यह है कि चित्त केवल घटादि के ज्ञान को स्मरण करता है, अथवा घटादि विषय को, अथवा ग्राह्य-ग्रहण उभय को ग्रहण करता है। इसका समाधान यह है कि अनुभव, ग्राह्य और ग्रहण उभयाकार विशिष्ट होने से, तज्जन्य सस्कार भी विषय तथा ज्ञान के आकार-युक्त ही होते हैं। अतएव उनसे उत्पन्न होने वाली स्मृति ग्राह्य एवं ग्रहण दोनों के स्वरूप से संयुक्त होती है।

स्मृति दो प्रकार की होती है—भावितस्मर्तव्या तथा अभावितस्मर्तव्या। भावितस्मर्तव्या स्मृति का विषय कल्पित अर्थात् मिथ्या होता है। स्वप्नकाल में भावितस्मर्तव्या स्मृति ही होती है। वस्तुतः रज्जु में सर्प की प्रतीति रूप अनुभवाभास की भाँति स्वप्नकालीन भावितस्मर्तव्या स्मृति भी स्मृत्याभास ही है, वास्तविक स्मृति नहीं। अभावितस्मर्तव्या जाग्रत्कालीन सत्यपदार्थ के स्मरणज्ञान का यथार्थ स्मृति है।

प्रमाण, विपर्यय तथा विकल्पवृत्ति से जागृत् अवस्था में होने वाले अनुभवों से चित्त पर संस्कार पड़ते हैं। उन्हीं संस्कारों से स्मृति होती है। अनुभवों के अनुरूप संस्कार तथा संस्कारों के सदृश स्मृतियाँ होती हैं। निद्रा में जाग्रत् स्वप्नकालीन अभाव का अनुभव होता है। उसके भी संस्कार से उसी के अनुरूप स्मृति उत्पन्न होती है। स्वप्न भी जागृत् अवस्था में अनुभूत पदार्थों की स्मृति ही है। स्वप्न में जागृत् अवस्था के स्मर्तव्य विषय भी दृष्टिगोचर होते हैं, किन्तु वे सब कल्पित होते हैं। स्वप्न स्मृति की भी स्मृति है। इस अवस्था में यह ज्ञान भी नहीं होता है कि हम स्मरण कर रहे हैं। जाग्रत् काल में जिसे स्मृति कहते हैं, निद्रावस्था में उसी प्रकार की वृत्ति को स्वप्न कहते हैं। “जाग्रद्वस्थायां यद्रष्ट यच्छ्रुत तज्जनित वासनयानिद्रा समये या प्रपञ्च प्रतीयते सास्वप्नावस्था” (जाग्रत् अवस्था में जो कुछ भी देखता है और सुनता है उससे उत्पन्न वासना के द्वारा निद्रा समय में जो प्रपञ्चमय प्रतीति होती है वही स्वप्नावस्था है—तत्त्वबोध) प्रमाणादि चारों वृत्तियों में से प्रत्येक से स्मृतिवृत्ति उत्पन्न हो सकती है। स्वामी विवेकानन्द ने<sup>१</sup> स्मृति-वृत्ति को इस प्रकार समझाया है। वे लिखते हैं—“मान लो तुमने एक शब्द सुना। यह शब्द चित्तरूपी सरोवर में फेंके गए एक पत्थर के समान है। उससे एक छोटी-सी लहर पैदा हो जाती है और यह लहर फिर बहुत सी छोटी-छोटी लहरों को उत्पन्न कर देती है। यही स्मृति



है। निद्रा में यही घटना होती है। जब निद्रा नामक लहर विशेष चित्त के अन्दर स्मृतिरूप अनेक लहरे उत्पन्न कर देती है, तब उसे स्वप्न कहते हैं।”

पूर्व-कथित प्रमाणादि पाँचों वृत्तियों सुख दुःख और मोहस्वरूपा होने से क्लेशस्वरूपा है। अतः ये सभी निरोध करने योग्य हैं। इनका निरोध करने से पहले सम्प्रज्ञात, पुनः असम्प्रज्ञात समाधियों आविर्भूत होती है। मनोविज्ञान में इच्छा का भी महत्वपूर्ण स्थान है। योग मनोविज्ञान चित्त एवं उसकी वृत्तियों पर आधारित रहने पर भी उसमें इच्छा का अलग उल्लेख नहीं मिलता। चित्त की प्रमाण, विपर्ययादि वृत्तियों का विभाग यतः वृत्ति निरोध की दृष्टि से है, अतः योग के अन्तर्गत चित्त के ज्ञानांश का ही विभाग किया गया है। इच्छा वृत्ति का चित्त के क्रियात्मक अंश से सम्बन्ध है अतः योगोक्त चित्तवृत्ति-विभाग के अन्तर्गत इच्छा का उल्लेख प्राप्त नहीं होता है।

### वृत्तिनिरोध—

उपर्युक्त क्लेशस्वरूपा सम्पूर्ण वृत्तियों का निरोध अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा होता है। निसर्गतः बहिर्मुखी वृत्तियों को यम-नियमादि के सतत अभ्यास के द्वारा प्रथम निरुद्ध करके विषयाभ्यास से विरत बनाया जाता है। जिससे विषय-भोगों के प्रति उत्तरोत्तर तीव्र वैराग्य उत्पन्न होता है। पुनः उस वैराग्य को स्थिर रखने के लिये बारम्बार वैराग्याभ्यास किया जाता है। फलतः साधक तीव्रतर एवं तीव्रतम वैराग्य-स्थिति प्राप्त करता है। इस प्रकार अभ्यास एवं वैराग्य दोनों का ही आश्रय लगातार ग्रहण करना पड़ता है।

योगप्रदीपकार स्वामी ओमानन्द एव ब्रह्मलीन मुनि का मत है कि सूत्र में वृत्तिनिरोध-हेतु प्रथम अभ्यास का उल्लेख होने पर भी योग्यतानुसार वैराग्य का ही प्रथम स्थान है, क्योंकि अभ्यास तो विषयों से वैराग्य का ही करना है। वैराग्य भावना का भी अभ्यास किया जा सकता है, परन्तु प्रस्तुत प्रसंगगत पारिभाषिक अभ्यास वह नहीं है। अभ्यास एक चेष्टा विशेष है और वैराग्य एक ज्ञानविशेष। प्रशान्त चित्त में स्थिति-प्राप्ति का प्रयत्न अभ्यास है। अनात्म विषयों में हेय बुद्धि वैराग्य है। योगानुष्ठान में प्रथम यम-नियमादि ही अभ्यासनीय हैं। अभ्यास के द्वारा विषय-दोष-दर्शन होने पर चित्त निरोधोन्मुख होने पर वैराग्योदय होता है। अभ्यास की अपेक्षा वैराग्य सूक्ष्मतर है। चेष्टावृत्ति से ज्ञानवृत्ति सूक्ष्म होनी ही चाहिये। तात्त्विक दृष्टि से भी वैराग्य अभ्यास से महान् है। अतः वैराग्य का बाद में ही स्थान है। गीता में भी भगवान् कृष्ण ने—

१. “अभ्यासवैराग्याभ्यां तन्निरोध” (यो० सू०, १-१२)

“असंशय महाबाहो मनो दुर्निग्रहं चलम् ।

अभ्यासेन तु कौन्तेय वैराग्येण च गृह्यते ।”<sup>१</sup>

इस उक्ति में अभ्यास को ही प्रथम स्थान दिया है। इस प्रकार साधन की दृष्टि से प्रथम अभ्यास का ही स्थान है और गुस्त्व की दृष्टि से वैराग्य का प्रथम स्थान है।

वृत्ति निरोध के प्रसंग में भाष्यकार व्यास ने चित्त को पाप एवं पुण्य उभय प्रवाहिनी नदी के तुल्य बतलाया है। जिनमें वैराग्य के द्वारा विषय स्रोत पशुशुष्क किया जाता है और विवेकाभ्यास से विवेक स्रोत का उद्घाटन होता है। अतः वृत्तिनिरोध उभयाधीन है। व्यास ने यहाँ प्रथम वैराग्य का उल्लेख किया है। वह केवल प्राधान्य के कारण समझना चाहिये।<sup>२</sup> यदि तीव्र वैराग्य उत्पन्न हो जाय तो केवल वैराग्य से भी चित्तवृत्तियाँ अन्तरोन्मुखी हो सकती हैं, किन्तु आत्माभिमुख चित्त दृढ अभ्यास के बिना स्थैर्य धारण नहीं करता और स्थैर्यविहीन चित्त समाहित नहीं हो सकता।

गगनचारी पक्षी की उड़ान जैसे उभय पक्षाधीन है, उसी भाँति चित्तवृत्तियों के सम्यक् निरोध-हेतु अभ्यास एवं वैराग्य दोनों ही अपरिहार्य हैं। अन्यथा एक पक्ष से उड़ने में प्रयत्नशील पक्षी की भाँति साधक लड़खड़ा कर गिर जायगा।

तमः प्रधान चित्त निद्रा, आलस्य, निस्तसाह आदि दोषाक्रान्त रहता है। रज के प्राबल्य से चित्त चांचल्यवश विक्षेप दोष से अभिभूत होता है। अभ्यास के द्वारा तमः प्रयुक्त मूढावस्था के दोषों की निवृत्ति होती है तथा वैराग्य से रज प्रयुक्त चांचल्य या विक्षेप निराकृत होता है। अतः वृत्तिनिरोध में दोनों ही युगपत् आचरणीय हैं।

१. गीता—६/३५।

२. साख्य सूत्र... “वैराग्यादभ्यासाच्च” में जो वैराग्य का प्रथम उपस्थान है, वह वैराग्य के प्राधान्य का ज्ञापक है।

## (४) अभ्यास, उसकी दृढ़ता तथा द्विविध वैराग्य

जैसा कि पहले बतलाया जा चुका है, चित्त वृत्तियों की निरोध स्थिति को स्थिर रखने के लिये अभ्यास एव वैराग्य दोनों ही अनिवार्य हैं। अब प्रश्न यह उठता है कि ये अभ्यास एव वैराग्य हैं क्या तथा इनके द्वारा किस प्रकार चित्तस्थिति होती है ?

### अभ्यास एव उसकी दृढ़ता—

चित्तवृत्तियों के निरोध में निरोध की स्थिरता-हेतु सतत प्रयत्न का नाम अभ्यास है।<sup>१</sup> यहाँ पर सतत् प्रयत्न से तात्पर्य मानसिक प्रसन्नतापूर्वक यम नियम आदि योगांगों के अनुष्ठान से है। रजोगुणी-तमोगुणी वृत्तियों से रहित चित्त के हर्ष-शाकादि-शून्य, सात्त्विक निर्मल एव एकाग्र वृत्तिप्रवाह को स्थिति कहते हैं। इस स्थिति की प्राप्ति-हेतु वीर्य अर्थात् पूर्ण सामर्थ्य या दृढ़ता तथा उत्साहपूर्वक यम, नियमादि का अनुष्ठान तथा इस (अनुष्ठान) के भी आगे सम्पादन की इच्छा से उसके साधन-श्रद्धा, वीर्य आदि में—तत्परतापूर्वक निरन्तर प्रयत्न अभ्यास कहलाता है। गीता में भी प्रसन्नतापूर्वक योगानुष्ठान का उपदेश दिया गया है।<sup>२</sup>

प्रकृत स्थल में योग के अष्टांगों का प्रयत्नपूर्वक बारम्बार अनुष्ठान अभ्यास का स्वरूप तथा वृत्तिनिरोध उसका प्रयोजन है।

अनादिकाल से सचित्त सत्कारों से विवश चित्त का स्वाभाविक चांचल्य त्याग कर वैराग्य से निरुद्ध एव अभ्यास से स्थिर हो जाना दुर्लभ सा प्रतीत होता है, किन्तु अभ्यास से दुःसाध्य कार्य भी सुकर हो जाते हैं। यह अन्य बात है कि अभ्यास की अवधि दीर्घ हो। वृत्ति निरोध के हेतु भी दीर्घकाल तक निरन्तर उचित सत्कारपूर्वक अनुष्ठान करने पर, चित्तस्थिति का अभ्यास दृढ़ अवस्थायुक्त हो जाता है।<sup>३</sup> यहाँ 'उचित सत्कार' से तात्पर्य तप, ब्रह्मचर्य, प्रणव आदि भगवन्नाम

१. "तत्र स्थितौ यत्नोऽभ्यास" (यो० सू० १/१३)

२. "तं विद्याद् दुःखयोगवियोग योगसंज्ञितम् ।

स निश्चयेन योक्तव्यो योगो निर्विण्णचेतसा ॥" (गीता—६/२३)

३. "स तु दीर्घकालनैरन्तर्यसत्कारासेवितो दृढभूमिः"—यो० सू०, १-१४ ।

जप रूप विद्या एव श्रद्धा-भक्ति से है। यद्यपि विषय-वासना-संकुल व्युत्थान-संस्कार अनादि जन्म-परम्परायुक्त होने से हमारे स्वभाव के अंग बन चुके हैं, किन्तु पूर्वोक्त प्रकार से संपादित निरोध स्थिति का प्रबल अभ्यास व्युत्थान-संस्कारों को अभिभूत करने में समर्थ हो जाता है, जैसा कि भाष्यकार ने भी कहा है।<sup>१</sup> हाँ, यह अवश्य है इस स्थिति के लिये धैर्यपूर्वक दीर्घ अनुष्ठान की आवश्यकता है। अन्त में निरोध-अभ्यास ही हमारा स्वभाव बन जायगा।

वस्तुतः चित्त का स्वभाव भी जन्म-जन्मान्तरो से सचित विषय-वासनाओं के अभ्यासों की समष्टि ही तो है। यदि इसके विपरीत निरन्तर अभ्यास किया जाय, तो वही हमारा स्वभाव बन जायगा। अतः अभ्यास की आवश्यकता है। प्रत्येक कार्य सरोवर के वक्षःस्थल पर काँपते हुए प्रवाह के समान है।<sup>२</sup> हर क्रियासे मानो चित्त-सरोवर के ऊपर एक तरंग सी लहरा जाती है। यह कम्पन अल्पकाल में विलीन हो कर केवल संस्कार शेष रहता है। चित्त में ऐसे अनेक संस्कार एकत्रित होकर अभ्यास का रूप धारण कर लेते हैं।

अभ्यास की शक्ति बड़ी अद्भुत है। अभ्यास के बल पर कुशल नर्तकी डोरी व बतागे पर भी नृत्य कर सकती है। सरकस आदि में केवल मनुष्य ही नहीं, अश्व, हस्ती आदि पशु तथा हिंसक सिंह, चीते भी अपने स्वभाव के विपरीत आश्चर्यजनक आचरण करते देखे जाते हैं। सखिया, सोमल आदि विष, अहिफेन (अफीम) एव तम्बाकू आदि द्रव्य, मारक एव मादक होने पर भी शनैः-शनैः स्वल्प परिमाण में सेवन करने से पाच्य खाद्य में परिणत हो जाते हैं। इस प्रकार एक दिन वे न केवल व्यसन ही बन जाते हैं, वरन् उनके बिना रहना भी दुष्कर हो जाता है। इसी भाँति यदि योग-जिज्ञासु भी चित्तस्थिति के हेतु पूर्ण तत्परता से उसके साधनों का अनुष्ठान करेगा तो दुष्कर चित्तस्थिति भी सुकर बन कर स्वभाव बन जाएगी।

### वैराग्य तथा गुण-वैतृष्ण्यः—

लोक में दृष्टिगोचर तथा वेद-विहित विषयों में तृष्णा रहित मुमुक्षु के चित्त में वशीकार प्रज्ञा का उदय होता है। यही वैराग्य कहलाता है।<sup>३</sup> विषय लौकिक

१. “तपसा ब्रह्मचर्येण विद्यया श्रद्धया च सम्पादित संस्कारवान्दृढभूमिर्भवति। व्युत्थान-संस्कारेण द्रागित्येवानभिभूतविषय भवति।”—व्या० भा०

२. राजयोग—पृ० १३८।

३. दृष्टानुश्रविक विषयवितृष्णस्य वशीकर प्रज्ञा वैराग्यम्।—योग० सू०, १-१५।

एव अलौकिक के भेद से दो प्रकार के होते हैं । जड चेतनात्मक स्रक्, चन्दन, वनिता, अन्नपान एव ऐश्वर्य आदि प्रत्यक्ष लौकिक विषय है । दूसरे होते हैं— पारलौकिक विषय, जो पुनः शरीरान्तर-वेद्य तथा अवस्थान्तरवेद्य के भेद से दो प्रकार के हैं । देवलोक, अप्सराग, स्वर्ग, वैदेह्य (विदेहावस्था का आनन्द), प्रकृतिलयत्व आदि शरीरान्तर-वेद्य विषय है । दिव्य रस, गन्ध, तथा विभूतिपाद में वर्णित सिद्धियों अवस्थान्तर-वेद्य विषय है । अतः गुण-दोष का विचार करने पर, इन सब ऐहिक तथा आमुष्मिक विषयों के उपस्थित होने पर भी, उनके नीरस, नश्वर एव दुःखरूप प्रतीत होने से, इन सबके प्रति दोष दृष्टियुक्त साधक के चित्त में जो उपेक्षारूप, त्याग और प्राप्तिगून्ध्य स्थिर-प्रज्ञा उदित होती है, वही वशीकार सज्जक वैराग्य है । जैसा कि कुमारसम्भव में कहा गया है—

“विकारहेतौ सति विक्रियन्ते येषां न चेतांसि त एव धीराः ।”

विकार का कारण उपस्थित होने पर भी जिनके चित्त में विकार उत्पन्न नहीं होता वे ही धीर हैं । चित्त की इसी प्रकार की अवस्था का अभिधान (वशीकार-सज्ञा) वैराग्य है । इसी की अपेक्षा से अग्रिम सूत्र में महर्षि पतञ्जलि ने पर वैराग्य बतलाया है ।

किसी विषय के त्यागमात्र को वैराग्य नहीं कहा जा सकता, क्योंकि रोगावस्थादि में भी विषयों में अरुचि उत्पन्न हो जाती है, जिससे विषय का त्याग होता है । विषय की प्राप्ति न होने पर भी उसमें उपेक्षाभाव जागृत हो जाता है । किसी के आग्रह से भी किसी विषय का त्याग हो सकता है । संसार को दिखाने के लिये अथवा किसी के विशेष भय, लोभ एव मोहवश भी किसी विषय का परित्याग किया जा सकता है, किन्तु उक्त सभी अवस्थाओं में त्यक्त विषयों के प्रति मन में सूक्ष्म रूप से तृष्णा वर्तमान रहती है ।

विवेक से विषयों को पूर्णतः दुःखरूप एवं बन्धन का हेतु समझ कर उनमें अनासक्त हो जाना तथा उनके प्रति सर्वथा संग-दोष से मुक्त हो जाना ही वैराग्य है । जैसा कि निम्न श्लोक में कहा गया है—

“न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्त्मैव भूय एवाभिवर्धते ॥”

वैराग्य “पर” और “अ-पर” के भेद से दो प्रकार का होता है । अपर वैराग्य

पर वैराग्य का हेतु होता है, अतः पहले अपर वैराग्य के विषय में ही बतलाया गया है। उपर्युक्त अपर वैराग्य यतमान, व्यतिरेक, एकेन्द्रिय तथा वशीकार के भेद से चार प्रकार का होता है। श्री व्यास ने चार प्रकार के वैराग्य का उल्लेख नहीं किया है। जिन टीकाकारों ने इस विषय का विवरण दिया है, उनकी व्याख्या सर्वत्र समान है।

दूसरा होता है “पर” वैराग्य। विवेक ख्याति की पूर्ण निष्ठा प्राप्त होने पर सत्त्वगुण के कार्यरूप विवेक ख्याति में भी तृष्णा का अभाव हो जाना, या जहाँ तक गुणों का अधिकार है, उन सब विषयों में तृष्णागून्य हो जाना “पर” वैराग्य है।<sup>१</sup> दिव्य तथा अदिव्य विषयों में तृष्णा का अभाव हो जाना अपर वैराग्य है। अपर वैराग्य से योगी ऐहिक एवं पारलौकिक विषयों की दुःखरूपता समझ कर उनसे विरक्त हो जाता है, जिससे उसका चित्त एकाग्र होकर उसमें सम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है। जिसकी उच्चतम अवस्था सत्त्व और पुरुष की भिन्न रूप से पहचान है। इसी को विवेकख्याति पुरुषख्याति, या सत्त्वपुरुषान्यताख्याति आदि नामों से अभिहित किया जाता है। यद्यपि यह विवेकख्याति भी शुद्ध, सात्त्विक वृत्ति है, फिर भी अन्ततः है तो गुणों के अधिकार के अन्दर ही। अभी गुणों के अधिकार की समाप्ति तो नहीं हो जाती।

विवेक-ज्ञान के बारम्बार अभ्यास से चित्त में और भी अधिक उत्तरोत्तर निर्मलता एवं आत्मशुद्धि की प्रतीति होती है। इस स्थिति में, विवेकख्याति के भी एक सात्त्विक वृत्ति एवं गुणों का परिणाम होने से, उससे भी विरक्ति उत्पन्न हो जाती है। इस प्रकार जब गुणों के प्रति भी हमारी आसक्ति नहीं रहती है, तब चित्त में “पर” वैराग्य का उदय होता है। इसी का दूसरा नाम गुण-वैतृष्य है। यही वैराग्य की शक्ति का उच्चतम विकास है। भगवान् व्यास के अनुसार यह ज्ञान का प्रसादमात्र है, क्योंकि इस स्थिति में रज एवं तम क्षीणतम अवस्था में रहते हैं। इसकी प्राप्ति से योगी धर्ममेघ समाधिनिष्ठ होकर अपने मन में समझता है कि प्राप्त करने योग्य “कैवल्य” मैंने प्राप्त कर लिया, क्षय करने योग्य क्लेश

१. “तत्पर पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्यम्” (यो० सू० १/१६)

२. धर्ममेघ समाधिनिष्ठ क्षीणक्लेशयोगी जीवन्मुक्त हो जाता है (योगभाष्य ४/३०)। इस अवस्था के अनन्तर उसे निश्चितरूप से कैवल्य प्राप्त होता है। यद्यपि धर्ममेघ समाधि कैवल्यवस्था नहीं है, तथापि पर-वैराग्य का कैवल्य अविनाभावी फल है। इस दृष्टि से धर्ममेघ-निष्ठ को—“प्राप्त करने के योग्य कैवल्य प्राप्त हो गया”—ऐसा प्रज्ञा का कथन किया गया है। (द्रष्टव्य—तत्त्ववैशारदी सू० १-१६)

नष्ट हो गये, ससार के आवागमन का चक्र छिन्न-भिन्न हो गया, जिसके कारण बारम्बार जन्म-मरण का त्रास भोगना पड़ता है। इस प्रकार ज्ञान की ही पराकाष्ठा वैराग्य है।<sup>१</sup> इस प्रकार यह सिद्ध होता है कि वैराग्य ज्ञान विशेष है।

सूत्रकार ने गुणवैतृष्य को पर-वैराग्य बतलाया है। अतः भाष्यकार की इस उक्ति से उनका विरोध प्रतीत होता है, किन्तु इसका भी समाधान भाष्यकार ने तुरन्त कर दिया है। वस्तुतः कैवल्य, पर-वैराग्य का अविनाभावी फल है। तात्पर्य यह है कि गुणवैतृष्यरूप पर-वैराग्य ही परिपक्वावस्था में विवेकज्ञान रूप में परिणत हो जाता है। अतः सूत्र एवं भाष्य में विरोध नहीं है।




---

१. “ज्ञानस्यैव पराकाष्ठा वैराग्यम् एतस्यैव हि नान्तरीयक कैवल्यमिति” (व्यास-भाष्य सू० १-१६)

## (५) सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि—

अभ्यास एवं वैराग्य सहित चित्तवृत्तिनिरोध के प्रसंग में पूर्व प्रकरणों में योग का सामान्य रूप से निरूपण किया गया है। अब उसका भेद-प्रभेदपूर्वक विशेषरूप से निरूपण किया जायगा। समाधि, सम्प्रज्ञात और असम्प्रज्ञात के भेद से, दो प्रकार की होती है।

### सम्प्रज्ञात समाधि एवं उसके भेद-प्रभेद —

जब किसी ध्येय वस्तु पर चित्त केन्द्रीभूत होकर चिरकाल तक स्थिर रहता है, तब उसे एकाग्र कहते हैं। यह पहले भी बतलाया जा चुका है कि चित्त की एकाग्रभूमि में सम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है। प्रत्येक ध्यान, ध्याता अर्थात् ध्यान करनेवाला व्यक्ति, ध्येय अर्थात् ध्यान की जाने वाली वस्तु और ध्यान अर्थात् ध्यान की क्रिया—इन तीनों से युक्त होता है। प्रारम्भिक अवस्था में कोई भी ध्यान आलम्बनशून्य नहीं हो सकता है। यह सालम्बन भी दीर्घकाल तक वर्तमान रहता है। हम अमुक ध्येय का ध्यान कर रहे हैं, विशिष्ट ज्ञानपूर्वक होने से इस समाधि को सम्प्रज्ञात कहते हैं। इसे सबीज समाधि भी कहते हैं, क्योंकि इस दशा में चित्त के समाहित होने के लिये किसी सालम्बन की अपेक्षा रहने से बीजभूत अज्ञान भी वर्तमान रहता है। प्रत्येक साधक को प्रारम्भ में इसी आलम्बन समाधि का आश्रय लेना पड़ता है। “सम्यक् सशय विपर्यय रहितत्वेन प्रकर्षेण ज्ञायते ध्येयस्य स्वरूपं येन स सम्प्रज्ञातः” विषयभेद से इसके चार भेद हैं—वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत।<sup>१</sup>

समस्त संशय, विपर्यय से शून्य अर्थात् यथार्थरूप से जिसके द्वारा ध्येय वस्तु का ज्ञान हो, उस एकाग्रता-विशेष का नाम सम्प्रज्ञात समाधि है।<sup>२</sup> इसका ध्येय या भाव्य विषय ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतृ के भेद से तीन प्रकार का होता है। ग्राह्य विषय पुनः स्थूल एवं सूक्ष्म विषयों में विभक्त है। भौतिक पंचमहाभूत स्थूल होने से,

१. “वितर्कविचारानन्दास्मितानुगमात् सम्प्रज्ञातः”—योग० सू० १-१७।

२. “सम्यक् सशयविपर्ययरहितत्वेन प्रकर्षेण ज्ञायते ध्येयस्य स्वरूपं येन स सम्प्रज्ञातः”—योग० विवृ०—पृ० १००।



स्थूल ग्राह्य कहलाते हैं। सूक्ष्मभूत या पचतन्मात्राँ सूक्ष्म ग्राह्य कहलाती है। एकादश इन्द्रियों ग्रहण कहलाती है, क्योंकि इनके द्वारा विषयो का ग्रहण होता है। ग्रहीतृ विषयक समाधि के विषय अहंकार एव महत्त्व है। पुरुष एव प्रकृति स्वरूपः सम्प्रज्ञात समाधि के विषय नहीं है। उक्त ग्रहीतृ पदार्थ “अहमस्मि” इत्याकारक अस्मिताज्ञान युक्त ही ध्यान का विषय बनने से, सम्प्रज्ञात समाधि में ग्रहीतृ विषयक समापत्ति केवल अस्मितानुगत समाधि ही है। जिस प्रकार धनुर्विद्या के अभ्यास में प्रथम स्थूल लक्ष्य का वेधन किया जाता है, बाद में सूक्ष्म का, उसी भाँति योग-साधक पहले स्थूल विषयो का साक्षात्कार करता है, तत्पश्चात् सूक्ष्म विषयो का।

### वितर्कानुगत समाधि—

चित्त में स्थूल विषय का आभोग वितर्क कहलाता है।<sup>१</sup> वितर्कानुगत समाधि स्थूल महाभूत या पांचभौतिक चतुर्भुजादि भगवत्प्रतिमा आदि रूप ग्राह्यविषयक समाधि है। आभोग का अर्थ है—एक वस्तु का दूसरी में आरोप करने पर देण सम्बन्धी एकता। चित्त का विषय-सान्ध्यकाल में तद्रूप होकर साक्षात्कार करना ‘आभोग’ है। ( वस्तुस्वरूपसाक्षात्कारिणी प्रज्ञा आभोगः )।<sup>२</sup>

वितर्कानुगत समाधि के ही प्रकृतिगतभेद सवितर्का एव निर्वितर्का समापत्तियाँ हैं। इनमें शब्द, अर्थ एव ज्ञान से संकीर्ण समापत्ति सवितर्का<sup>३</sup> कहलाती है। इसी की प्रकृष्ट भूमिका में शब्दार्थज्ञान-शून्य अर्थ (ध्येय) मात्र को प्रकाशित करने वाली निर्वितर्का समापत्ति कहलाती है।<sup>४</sup> सवितर्का शब्द, अर्थ एवं उसके ज्ञान की स्मृति से युक्त होती है। अतः यह शब्द-संकेत स्मरणवती होने से विकल्पात्मिका है। विकल्पमय ज्ञान वास्तविक नहीं होता है। वितर्क शब्द का प्राचीन अर्थ शब्दमयी चिन्ता भी है। वितर्क का अर्थ हुआ विशेष तर्क। अतः जिसमें वितर्क अथवा विशिष्टरूप से शब्दमय चिन्ता हो, वह समाधि-प्रज्ञापूर्ण स्थिति सवितर्का समापत्ति है। यथा—नौ को ध्येय बनाने पर वर्णसमुच्चयरूप “गौः” शब्द, सास्नादियुक्त प्राणिविशेष रूप “गौः” अर्थ एव मानस बोध-स्वरूप “गौः” ज्ञान, ये तीनों भिन्न-भिन्न होने पर भी सवितर्का समापत्ति में इनका अविभक्त या मिश्रितरूप

१. “वितर्कश्चित्तस्यालम्बनेस्थूल आभोग” (व्या० भा०—१/१७)

२. तत्त्व०

३. “तत्रशब्दार्थज्ञानविकल्पसंकीर्णा सवितर्का समापत्तिः।” (यो० सू० १/४२)

४. “स्मृतिपरिशुद्धौ स्वरूपशून्येव, अर्थमात्रनिर्मासा निर्वितर्का।”—(यो० सू० १/४३)।

से ज्ञान होता है। निर्वितर्का समापत्ति में चित्त ध्येयभूत अर्थाकारमात्रवती प्रज्ञा से परिपूर्ण होता है। यह स्थिति शब्द-सकेतस्मरणशून्य तथा आगम, अनुमान-ज्ञानादि के विकल्प से रहित, केवल ध्येयाकार प्रकाशिनी है। अतः इसे निर्विकल्पक भी कहते हैं। कारण इसमें ग्राह्य विषय का वास्तविक स्वरूप स्फुटित होता है। इसमें ध्येय विषय के प्रकाशनार्थ शब्दादि के सकेतो का स्मरण अपेक्षित नहीं होता है। इसी भाव को सूत्रकार से “स्मृतिपरिशुद्धौ” आदि पदों से व्यक्त किया है। ध्येयाकारमात्र की भासिका होने से निर्वितर्का समापत्ति में चित्त के अपने ग्रहणस्वरूप का भी भाव नहीं होता। अतः चित्त का स्वरूप नहीं के तुल्य हो जाता है। इसी दृष्टि से सूत्र में “स्वरूपशून्याद्व” इत्यादि शब्दों का प्रयोग किया गया है। चित्त का ग्रहणस्वरूप उस समय रहता तो है, किन्तु ध्येय में वह इतना तन्मय हो जाता है कि उसकी प्रतीति नहीं होती।

### विचारानुगत समाधि—

जब स्थूल विषयक समाधि अधिकृत हो जाती है, तब उसके अनुभव के साथ विचार-विशेष से अग्रिम भूमिका में सूक्ष्म तत्त्वों का ज्ञान होता है। सूक्ष्म आलम्बन में चित्त का आभोग विचार का हेतु है।<sup>१</sup> पञ्चतन्मात्र आदि इसके सूक्ष्म विषय हैं। विचार के लिये भी शाब्दिक सहायता अपेक्षित है। अतः प्रकृतिगत भेदानुसार इसके सविचारा एवं निर्विचारा समापत्ति रूप दो भेद हैं। सविचारा समापत्ति में शब्द, अर्थ एवं ज्ञान का विधान रहता है। समाधिप्रज्ञा की शुद्धि होने पर इसमें भी बाद में सूक्ष्म ध्येय अर्थ-मात्र का बोध होता है। उसी को निर्विचारा समापत्ति कहते हैं। इन्हें सवितर्का एवं निर्वितर्का की भाँति समझना चाहिये। भेद केवल यह है कि सवितर्का, निर्वितर्का स्थूलविषयिणी है और सविचारा-निर्विचारा सूक्ष्म विषयिणी।<sup>२</sup> सूक्ष्म विषयों की चरम-सीमा अव्यक्ता प्रकृति पर्यन्त है।<sup>३</sup> इसी को अलिङ्ग भी कहते हैं।

निर्विचारा समापत्ति में ही पूर्णतः शुद्ध तत्त्व का साक्षात्कार होता है। कारण शब्दाश्रित चिन्ता पूर्णतः शुद्ध नहीं होती है। शब्दों के द्वारा सोचने से जो भ्रान्ति सम्भव है, वह शब्दहीन चिन्ता (निर्विचारा समापत्ति) में असंभव है।

१. व्या० भा०—१-१७।

२. “एतयैव सविचारानिर्विचारा च सूक्ष्मविषया व्याख्याता ।” यो० सू० १-४४।

३. “सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम् ।” यो० सू० १/४५।

शतपथ ब्राह्मण में कहा गया है—‘अपरिमिततर हि मनः परिमिततरा हि वाक्”<sup>१</sup>  
तथा “वाग्वैमनसो ह्यसीयसी ।”

### आनन्दानुगतसमाधि—

यह केवल सूक्ष्म ग्रहण-विषयक समाधि है। सात्विक अहंकार-जन्य होने से इन्द्रियाँ (ग्रहण) आनन्दस्वरूप है। अतः इनके आलम्बन से सत्त्व के प्रकर्ष से अत्यन्त आनन्द की अनुभूति होती है। शरीर, चित्त, ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय, एवं प्राणों का यह अधिष्ठान स्वरूप है। अतएव यह आनन्द समस्त शरीर की सात्विक स्थिरता अथवा उस स्थैर्य का स्वभाविक बोध-स्वरूप है। इन्द्रियगण के विषय-व्यापार से उनकी शान्ति ही अपेक्षाकृत परम आनन्दप्रदायिनी है। योगी इन्द्रियगण की शाश्वतिक शान्ति के लिये प्रयत्नशील रहता है। यह आनन्द अनुभव का ही विषय है। ह्लाद इन्द्रियो का स्वभाव है। क्योंकि इन्द्रियो के मूल में सत्त्व प्रधान वैकारिक अहंकार है। अतः इन्द्रियो के चरितार्थ होने पर आनन्द का बोध होता है। यहाँ पर इन्द्रिय के कथन से इन्द्रियगत स्थैर्य का तात्पर्य ग्राह्य है। “महाभारत” शान्तिपर्व में इन्द्रियो के पिण्डीवत्-भाव की चर्चा की गई है। इन्द्रियो का पिण्डीवत्-भाव (केवल ग्रहणतत्त्व का अवलम्बन) होने से इन्द्रियगत आनन्दभाव प्रकट होता है। उसमें समाहित होना आनन्दानुगत समाधि है।<sup>२</sup>

भाष्यकार ने आनन्दानुगत समाधि को विचार विकल कहा है, क्योंकि स्थूलभूत से तन्मात्र तत्त्व में प्रविष्ट होने के लिये, जिस प्रकार यत्नतः विचारपूर्वक ध्यान आवश्यक है, इसमें वह भी अनपेक्षित है। विचारानुगत सम्प्रज्ञात के विषय सूक्ष्मभूत है, वे भी इस समाधि के विषय नहीं होते। अतः इसे विचार-विकल कहा गया है।<sup>३</sup> आनन्दानुगत समाधिवर्ती आनन्द के द्रष्टा का बोध सास्मित समाधि है।

१ शत० ब्रा० १/४, ४/७ ।

२. “इन्द्रियाणि मनश्चैव यथा पिण्डीकरोत्ययम् ।

स्वयमेवमनश्चैव पञ्चवर्गश्च भारत ॥

पूर्वं ध्यानपथे स्थाप्य नित्ययोगेन शाम्यति ।

न तत् पुरुषकारेण न च दैवेन केनचित् ॥

मुखमेष्यति तत्तस्य यथैव सयतात्मन ।

मुखेन तेन सयुक्ता रस्यते ध्यानकर्मणि ॥”—मोक्ष० १६५ अ० ।

३. द्रष्टव्य—यो० भा० सू० १/१७ ।

अस्मितानुगत समाधि, तुलना मे आनन्दानुगत से भी सूक्ष्म है, क्योंकि समस्त कारण अस्मिता के ही विकार हैं। अस्मिता इन्द्रियो का उपादान कारण होने से नितान्त सूक्ष्म है।

इन्द्रिय-विषयक समापत्ति के विषय मे श्री भिक्षु ने लिखा है कि बाह्येन्द्रियाँ स्थूल होने से वितर्कानुगत समाधि की ही विषय है।<sup>१</sup> बाह्येन्द्रियाँ-ज्ञानेन्द्रिय, कर्मेन्द्रिय और प्राण है। आन्तरिन्द्रिय मन है। वही समस्त इन्द्रियो का नेता है। समस्त इन्द्रियाँ मूल अन्तःकरण-त्रय (बुद्धि, अहंकार और मन) की ही विकारस्वरूपा है।

### अस्मितानुगत समाधि—

एकाग्रता की सूक्ष्मता और सत्वगुण की वृद्धि के साथ-साथ अहंकार की आनन्दात्मिकता वृत्ति के सूक्ष्म होने पर अस्मिता का साक्षात्कार होता है। चित् प्रतिविम्बक बुद्धि ही अस्मिता है। दृक् शक्ति पुरुष है और दर्शनशक्ति बुद्धि। इन दोनों की एकत्वरूप वृत्ति अस्मिता है <sup>२</sup>। इसमे अहंकार भी सूक्ष्म रूप से रहता है। वस्तुतः इसमे प्रकृति, पुरुष, बुद्धि, तथा अहंकार इन चारों का संस्कार होता है। यह समाधि ग्रहीतृ-विषयक होती है किन्तु इसमे समाधि का आलम्बन स्वरूप-द्रष्टा नहीं, अपितु विरूप-द्रष्टा, व्यावहारिक पुरुष ही होता है, पहले भी बताया गया है कि प्रकृति एवं पुरुष स्वरूपतः साम्प्रज्ञात समाधि के विषय नहीं होते।

उपर्युक्त चारों प्रकार की सम्प्रज्ञात समाधियों में प्रथम वितर्कानुगत समाधि में चारों व्याप्त हैं। विचारानुगत मे तीन है, आनन्दानुगत मे दो तथा अस्मितानुगत केवल अपने आप मे ही अनुगत है। प्रकृति का कार्य बुद्धि, बुद्धि का अहंकार, अहंकार का इन्द्रियाँ एवं सूक्ष्म पंचभूत (पञ्चतन्मात्राएँ) एवं पञ्चसूक्ष्मभूतों का कार्य स्थूल पञ्चभूत होते हैं। अतः स्थूल भूत विषयिणी भावना वितर्क, विचार, आनन्द एवं अस्मिता चतुष्टयानुगत कही गई है। सूक्ष्म पञ्चभूत विषयक विचारानुगत समाधि तृतीयानुगत है। यह केवल वितर्क रहित है। अतः इस समापत्ति मे पञ्चभूतों का भान नहीं होता है। अतः भाष्यकार इसे वितर्क-विकल अर्थात् वितर्क रूप-अंगहीन कहते हैं। ग्रहणविषयक आनन्दानुगत समाधि विचार से भी विकल है। इसमे स्थूल-सूक्ष्म उभय विषयभूतों का भान नहीं होता है। यह द्वितयानुगत अर्थात् आनन्दानुगत और अस्मितानुगत दोनों से व्याप्त है। चतुर्थ

१ द्रष्टव्य—यो० वा० १/१७।

२. “दृक्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवास्मिता”—यो० सू० २-६।

अस्मिता-विषयक समापत्ति आनन्द-विकल अस्मिता मात्र ही है,<sup>१</sup> क्योंकि इसमें स्थूल सूक्ष्म-पञ्चभूत एवं इन्द्रियों तथा स्वैर्यगत आनन्द किन्हीं का भी भान नहीं होता है। यहाँ आनन्द-विकल का अर्थ आनन्दशून्य नहीं, अपितु आनन्द से अतीत है ग्रहण-विषयक आनन्द की अपेक्षा यह अधिक अभीष्ट शान्ति स्वरूप है। इसी प्रकार धीरे-धीरे स्थूल से सूक्ष्म की ओर अभ्यास का क्रम बढ़ाने से अन्त में, सम्प्रज्ञात समाधि की चरम सीमा रूप विवेकख्याति का उदय होता है। आनन्दानुगत समाधि ग्रहण-विषयक समापत्ति है और अस्मितानुगत समाधि ग्रहीतृ विषयक समापत्ति है। समापत्ति से तात्पर्य इतर वृत्तियों के क्षीण हो जाने पर ध्येयाकाराकारित चित्त की स्थिति से है। समाधि में भी चित्त ध्येयाकार में परिणत होता है, किन्तु समाधि शब्द एक एकाग्रता विशेष को लक्ष्य करता है और समाधिप्रज्ञा से चित्त की परिपूर्णता समापत्ति है। सूत्रकार ने चित्त को स्फटिकमणि की उपमा देते हुए, यह विषय इस प्रकार स्फुट किया है:—वृत्तियों (राजस-तामस इतर वृत्तियों) के क्षीण हो जाने पर स्फटिकमणि की भाँति निर्मल चित्त की ग्राह्य, ग्रहण या ग्रहीतृ विषय में एकाग्रस्थिति प्राप्त कर लेने पर तदाकाराकारिता समापत्ति कहलाती है।<sup>२</sup> स्फटिकमणि के समक्ष विभिन्न रंग आने पर वह उसी-उसी रंग का दिखाई देने लगता है। वैसे ही चित्त जिस-जिस ध्येय का आलम्बन ग्रहण करता है, स्वयं भी तद्रूप हो जाता है। वस्तुतः समापत्ति स्थितिप्राप्त चित्त की समाधि का नाम है। स्थितिप्राप्त का अर्थ एकाग्र भूमि-प्राप्त है। जब अभीष्ट विषय में इच्छानुसार निश्चल समाधि का अभ्यास हो जाय, तब चित्त स्थितिप्राप्त होता है। उस स्थिति की समाधि ही समापत्ति है। शुद्ध समाधि और समापत्ति में यही भेद है।

विषयभेद से समापत्ति ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीतृ-भेद से तीन प्रकार की है। वितर्क, विचार, आनन्द एवं अस्मितानुगत समाधियों का विभाजन भी विषयगत ही है। स्थूल-सूक्ष्म ग्राह्य के भेद से वितर्कानुगत एवं विचारानुगत समाधियों का विभाजन है। इन विषयों की प्रकृति के भेद से सवितर्का, निर्वितर्का एवं सविचारा,

१. “तत्र प्रथमश्चतुष्टयानुगत समाधि सवितर्क ।

द्वितीयो वितर्कविकल सविचार ॥

तृतीयो विचारविकल सानन्द ।

चतुर्थस्त द्विकलोऽस्मितामात्र इति ॥” (व्या० भा० स० १, सू० १७)

२. “क्षीणवृत्तेरभिजातस्येवमणेर्रहीतृग्रहणग्राह्येषू तत्स्थितदञ्जनता समापत्ति ।”

(यो० सू० १/४१)

निर्विचारा समापत्तियों का विभाजन है। विभाग-बाहुल्य को छोड़ कर प्रकृति एवं विषय युगपद् उभयानुसार विभाग ही अभ्यास दृष्टि से उपादेय है। समस्त सभ्य समापत्तियाँ ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीतृ के अन्तर्गत है। श्री हरिहरानन्द अरण्य ने यह विभाग कोष्ठो—द्वारा इस प्रकार दिखलाया है :—

प्रकृति	विषय	समापत्ति
१. शब्दार्थज्ञान— विकल्प-सकीर्ण	स्थूल— (ग्राह्य-ग्रहण)	सवितर्का— (वितर्कानुगत)
२. —वही—	सूक्ष्म— (ग्राह्य, ग्रहण, ग्रहीतृ)	सविचारा— (विचारानुगत)
३. स्मृति-परिशुद्ध होने पर स्वरूपशून्य के समान अर्थमात्र-निर्भासा	स्थूल (ग्राह्य, ग्रहण)	निर्वितर्का— (वितर्कानुगत)
४. —वही—	सूक्ष्म (ग्राह्य-ग्रहण, ग्रहीतृ)	निर्विचारा (विचारानुगत) =सूक्ष्म, सानन्द, सास्मित।

अभी तक जितनी भी समाधियों का वर्णन किया गया है, वे सब सबीज समाधियाँ हैं, क्योंकि इनमें सबसे किसी न किसी स्थूल आलम्बन की अपेक्षा रहने से बीजभूत अज्ञान भी विद्यमान रहता है। स्थूल अर्थ में सवितर्का और निर्वितर्का समापत्तियाँ होती हैं, सूक्ष्म अर्थ में सविचारा और निर्विचारा।<sup>१</sup>

उक्त सवितर्कादि समापत्तियों का ग्रहीतृ ग्रहण ग्राह्य के उपभेदों सहित वाचस्पति मिश्र ने आठ प्रकारों में विभाजन किया है। उसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है—जैसा कि पहले वितर्कानुगत एवं विचारानुगत समापत्तियों के स्पष्टीकरण में बतलाया गया है। स्थूल और सूक्ष्म ग्राह्य अर्थात् पंचभूत और पंचतन्मात्राओं के आलम्बन से सवितर्का, निर्वितर्का और सविचारा, निर्विचारा के भेद से चार प्रकार की ग्राह्य समापत्ति, “शब्दादि श्रोत्र के विषय है और अहंकार इन्द्रियों का कारण है,” इस प्रकार के विचारपूर्वक इन्द्रिय सम्बन्धी सविचारा ग्रहण समापत्ति

१ ताश्चतस्र समापत्तयो बहिर्वस्तुबीजा इति समाधिरपि सबीज । तत्र स्थूले, अर्थे सवितर्को निर्वितर्क, सूक्ष्मेऽर्थे सविचारो निर्विचार । (व्या० भा०)

और उक्त विचारशून्य केवल इन्द्रिय विषयक निर्विचारा ग्रहण समापत्ति, इस प्रकार दो प्रकार की ग्रहण समापत्ति हुई। इसी प्रकार विचारपूर्वक एव विचारशून्य होने से सविचारा, निर्विचारा दो प्रकार की ग्रहीतृ विषयिणी समापत्ति। इस प्रकार से सब मिलाकर आठ प्रकार की सम्प्रज्ञात समापत्तियाँ सिद्ध हुई।

×

×

×

सूत्रकार ने समापत्तियों के वितर्कादि चारों भेद और उनका स्थूल सूक्ष्म-विषयत्व प्रदर्शित करके “सूक्ष्मविषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्” यह बनला कर “ता एव सबीजः समाधिः” ऐसा सूत्रक्रम रखा है और इस प्रकार पूर्वोक्त समस्त समापत्तियों का सबीजत्व प्रतिपादित किया है।

“ता एव सबीजः समाधिः” इस सूत्रान्तर्गत “एव” के क्रम को बदल कर वाचस्पति मिश्र ने “ता सबीज एव समाधिः” यह अन्वय श्रेयस्कर माना है। क्योंकि उनका कथन है कि पूर्वोक्त क्रम से, वे ही सवितर्का आदि चार प्रकार की ग्राह्य समापत्तियाँ हैं, अन्य नहीं, ऐसा अर्थ निकलेगा, साथ ही समापत्तियों के आठों भेदों का कथन उसके अन्तर्गत नहीं हो पायेगा तथा दूसरे प्रकार के क्रम में उक्त आठों प्रकार आ जायेंगे, किन्तु एक तो भाष्यकार ने सूक्ष्म विषयक होने से सूक्ष्म-ग्राह्य-समापत्तियों में ही ग्रहण-ग्रहीतृ विषयक समापत्तियों को भी अन्तर्भूत करके “ताश्चतस्रः समापत्तयः”, इन शब्दों से चार प्रकार की समापत्तियों का कथन किया है। इससे सिद्ध है कि समापत्तियों के सूत्रत्रय आठ प्रकार गिनाने उन्हें अभीष्ट नहीं है। ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार ने किसी प्राचीन ग्रन्थ (सम्भवतः पद्यमय) से इस वाक्य को यथावत् ग्रहण किया है, क्योंकि योगसूत्रों में सर्वत्र ऐसा व्युत्क्रम शब्द-प्रयोग नहीं मिलता है। (प्राचीनकाल में परम्परा-प्राप्त या पूर्वाचार्यप्रयुक्त शब्दों को यथावत् प्रयोग करने की प्रथा प्रचलित थी।) एवकार का क्रम भिन्न रखने पर “ताः सबीजसमाधय एव” ऐसा पाठ गुद्ध होगा।

श्री विज्ञानभिक्षु समापत्तियों के छः प्रकार ही स्वीकार करते हैं। इन्होंने “वितर्क विचारानन्दास्मितानुगमात्सम्प्रज्ञातः” केवल इस सूत्र को लक्ष्य बनाकर पहिले तो सवितर्क-निर्वितर्क और सविचारा-निर्विचारा, स्थूल-सूक्ष्म विषयक समापत्तियों की भाँति “आनन्दा” और “अस्मिता” के भी सानन्दा-निरानन्दा और सास्मिता व निरस्मिता दो-दो भेद रचे हैं। इस प्रकार आठ भेद करके, पुनः जो

ह्लादस्वरूप सम्प्रज्ञात-योग है, वह निरानन्द कैसे हो सकता है और जो चैतन्यस्वरूप सम्प्रज्ञात योग है, वह उससे शून्य अर्थात् निरस्मित कैसे हो सकता है, ऐसा कहकर भिक्षुजी ने स्वरचित निरानन्दा एवं निरस्मिता का निराकरण करके समापत्तियों के छः प्रकार ही स्वीकार किये हैं। प्रथम तो इनका यह विभाजन ही युक्ति युक्त नहीं है, क्योंकि आनन्दानुगत और अस्मितानुगत के भी सविचारा, निर्विचारा दो-दो भेद होने से सबीज समाधि के आठ भेद सिद्ध होते हैं। अतः भिक्षुजी का यह विभाजन शास्त्रानुगत न होने से अप्रामाणिक है। दूसरे उनको स्वयं भी स्वरचित दो प्रकारों का निरसन करना पड़ा है, तब छः प्रकार शेष बचे हैं। जिन प्रकारों की सत्ता ही सिद्ध न हो सके, उन्हें हम वैज्ञानिक विभाजन कैसे मान ले ?

समापत्तियों के आठ प्रकारों को वाचस्पति मिश्र के मतानुसार-सर्व श्री राघवानन्द सरस्वती तथा मणिप्रभाकर भी स्वीकार करते हैं। शेष सभी व्याख्याकारों ने केवल वितर्क, विचार, आनन्द एवं अस्मितानुगतरूप सम्प्रज्ञात समाधि के सामान्य चार भेदों का ही उल्लेख किया है, उनके विशिष्ट चार उपभेदों के विषय में वे मौन हैं।

सूत्रकार एवं भाष्यकार ने यद्यपि स्वतन्त्र आठ प्रकारों का कथन नहीं किया है, किन्तु उनकी ओर संकेत कर दिया है। भाव यह है कि यद्यपि सवितर्का एवं निर्वितर्का समापत्ति स्थूल-ग्राह्य-विषयक है और सविचारा और निर्विचारा सूक्ष्म ग्राह्य विषयक, जिनका कि स्पष्ट उल्लेख भाष्यकार ने किया है, किन्तु “सूक्ष्म विषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्” सूत्र में सूक्ष्मविषयता का प्रकृतिपर्यन्त-पर्यवसान बतलाया गया है, जिसके अन्तर्गत इन्द्रिय एवं अहंकार भी हैं। जिस प्रकार पञ्चतन्मात्राँ अहंकार का कार्य एवं सविचारा समापत्ति का विषय हैं, जैसा कि भाष्यकार ने कहा है,<sup>१</sup> उसी प्रकार इन्द्रियों भी अहंकार का कार्य होने से सविचारा समापत्ति का विषय बन सकती हैं। इसी प्रकार अहंकार का भी कारण महत्तत्त्व आदि भी उसी में अन्तर्भूत है, क्योंकि कार्य में कारण अनुगत रहता है। अतः ग्रहण एवं ग्रहीतृ विषय सूक्ष्म होने से तद्विषयक समापत्ति-ग्राह्य समापत्तिरूप वितर्कानुगत समाधि में अन्तर्भूत होने से, उक्त आठों प्रकार की सबीज समापत्तियों का ग्रहण हो जाता है। यदि यह कहा जाय कि इस प्रकार ग्राह्य समापत्ति में समस्त विषय अन्तर्भूत होने से “क्षीणवृत्तोरभिजातस्येवमणेरग्रहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्यतदञ्जनतासमापत्तिः”, इस सूत्रगत उनका विभाजन असंगत है, तो यह भी समीचीन नहीं है, क्योंकि

१. द्रष्टव्य—व्या० भा० (१/४५) ।



सूक्ष्म रूप से इन सबका ग्राह्य-समापत्ति में समावेश होने पर भी, उनका ग्रहण एव ग्रहीतृ रूप में विवेचन आवश्यक है ।

समाधि को प्राप्त करने में साधक जितनी अधिक तत्परता एवं धैर्य से साधन करता है, उतनी ही शीघ्रता से उसे समाधि-लाभ होता है । तीव्र सवेग युक्त साधक शीघ्र ही समाधि लाभ करके उसका फल प्राप्त करता है ।<sup>१</sup> तीव्र सवेगयुक्त साधको को भी साधन-तत्परता में कुछ भेद होते हैं । अधिक, अधिकतर और अधिकतम तत्परतायुक्त साधन होने से तीव्र सवेगयुक्त योगी भी मृदुतीव्र-मध्यतीव्र और अधिमात्रतीव्र उपायवाले होते हैं और अपनी योग्यतानुसार शीघ्र, शीघ्रतर और शीघ्रतम समाधि-प्राप्ति करते हैं ।<sup>२</sup> अथवा ईश्वरप्रणिधान से भी शीघ्र ही समाधि प्राप्त होती है ।<sup>३</sup> ईश्वर क्लेश, कर्म एवं उनके विपाक के सस्कारों से सर्वथा असम्पक्त, सब पुरुषों से विशेष प्रकार का अर्थात् उत्कृष्ट कोटि का होता है ।<sup>४</sup> यद्यपि प्रत्येक पुरुष वस्तुतः विषयो से असम्बद्ध ही होता है, किन्तु अज्ञानवश उसमें कर्तृत्व, भोक्तृत्व आदि का अध्यारोप होता है । जिस प्रकार योद्धाओं की जीत-हार होने पर सेना के स्वामी का ही जय-पराजय कहा जाता है, इसी प्रकार चित्त और पुरुष का भी स्वस्वामिभाव-सम्बन्ध है और चित्त में होने वाले क्लेश-कर्मों का व्यवहार पुरुष में किया जाता है । इस प्रकार का अज्ञान से प्रयुक्त औपाधिक क्लेशादि का सम्बन्ध विवेकशील ईश्वर में कभी नहीं होता । यही श्री व्यासके अनुसार उसकी अन्य पुरुषों से विशेषता है । मुक्त पुरुष भी क्लेशादि से असम्बद्ध हो जाते हैं, किन्तु मुक्त पुरुष मुक्ति से पूर्व बन्धन में रहता है और प्रकृष्ट सत्वरूप उपादान के कारण ईश्वर में शाश्वतिक उत्कर्ष है । ईश्वर के अन्यान्य गुणकर्मों का ज्ञान हमें शास्त्र से होता है ।<sup>५</sup>

×

×

×

१. “तीव्र सवेगानामासन्न ” — १/२१ यो० सू० (सूत्र शैली में रचित ग्रन्थ में साधारण-सी बात के लिये दो-दो सूत्रों की रचना विस्मयकारिणी है । ऐसा प्रतीत होता है कि सूत्रकार ने योग-साधकों के आश्वासन हेतु यह बात दोहराई है कि जितनी तत्परता से साधन किया जायगा, उतनी ही जल्दी समाधि अविकृत होगी ।)
२. मृदुमध्याधिमात्रत्वात्ततोऽपिविशेष (१/२२ यो० सू०)
३. “ईश्वर प्रणिधानाद्वा” (१/२३ यो० सू०)
४. “क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्ट पुरुष विशेष ईश्वर ” (१/२४ यो० सू०)
५. “योऽसौ प्रकृष्टसत्त्वोपादानादीश्वरस्य शाश्वतिक उत्कर्षं स किं सनिमित्तं आहोस्विन्ननिमित्तं । तस्य शास्त्र निमित्तं । शास्त्र पुन किं निमित्तं । प्रकृष्ट सत्त्व-निमित्तं । .....तच्च तस्यैश्वर्यं साम्यातिशयविनिर्मुक्तम् । न तावदैश्वर्यान्तरेण तदतिशयेते ।” (व्या० भा० १/२४)

ईश्वर मे निरतिशय सर्वज्ञता का बीज है।<sup>१</sup> वह (ईश्वर) गुरुओं का भी गुरु है। किसी भी ऋषि-मुनि आदि की सर्वज्ञता किसी काल-विशेष मे ही होने से कालावच्छिन्न होती है। अतः उन्हें ईश्वर कोटि मे नहीं न्यस्त कर सकते। ज्ञान अनन्त-अनादि है। ईश्वर का चित्त इसका मूल स्रोत, असीमित एवं नित्य तथा गुरुत्व की अन्तिम कोटि है। वह किसी भी काल या देश से अनवच्छिन्न है।<sup>२</sup> प्रणव ईश्वर का वाचक है।<sup>३</sup> इसके नित्य निरन्तर जप एवं भावना करने से शीघ्र ही समाधि लाभ होता है। अतः प्रणव जप के साथ साथ उसके अर्थ की भावना करना चाहिये।<sup>४</sup> श्री मद्भगवद्गीता मे भी प्रणव जप की महिमा का गुणगान किया गया है।<sup>५</sup> उपनिषदो मे ब्रह्मरूप लक्ष्य-प्राप्ति-हेतु आत्मा को शर और प्रणव को धनुष बताया गया है—

“प्रणवो धनुःशरोह्यात्मा ब्रह्मतल्लक्ष्यमुच्यते।

अप्रमत्तो वेद्व्यं शरवत्तन्मयोभवेत्।”<sup>६</sup>

तथा—“ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद् भविष्यदिति सर्वमोङ्ग-कार एव”<sup>७</sup> अर्थात् समस्त भूत, भविष्य और वर्तमान वस्तु ओम् रूप अक्षर ही है। उक्त त्रिकाल से अतीत वस्तु भी सब कुछ ओकार ही है।

प्रणव-जप-द्वारा अभीष्ट-सिद्धि के रहस्य का आधार मन्त्रयोग है। प्रणव को सम्पूर्ण मन्त्रों का सेतु, मंगलप्रद, सर्वसिद्धिप्रदायक तथा सब मन्त्रों का नायक भी कहा गया है—

१. तत्र निरतिशय सर्वज्ञबीजम्। (यो० सू० १/२५)

२. “स पूर्वेषामपि गुरु कालेनानवच्छेदात्” (यो० सू० १/२६)

३. “तस्यवाचक प्रणव” (यो० सू० १/२७)

४. “तजपस्तदर्थभावनम्” (यो० सू० १/२८)

५. सर्वं द्वाराणि सयम्यमनो हृदि निरुद्धय च।

मूर्ध्याधायात्मन प्राणमास्थितो योगधारणम् ॥

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म, व्याहरन् मामनुस्मरन्।

य प्रयाति त्यजन् देहं स याति परमां गतिम् ॥ (गी० ८/१२-१३)

६. मुण्डकोपनिषद्, २/२/४।

६. माण्डूक्योपनिषद् १।

“मन्त्राणां प्रणवः सेतुः ।”

तथा

“माङ्गल्यं पावनं धर्म्यं सर्वकामप्रसाधनम् ।

ओङ्कारः परमं ब्रह्म सर्वमन्त्रेषु नायकम् ॥”

तन्त्रो मे मन्त्रविज्ञान की महत्ता एवं विशिष्ट-विशिष्ट मन्त्रो मे निहित शक्तियो का विशद विवेचन प्राप्त होता है। मन्त्र विज्ञान की यथार्थता से अनभिज्ञ होने के कारण ही सामान्य जन मन्त्रो के विषय मे उदासीन एवं उपहासपरायण रहते हैं। मन्त्र सङ्घटना वर्णाश्रित है। अतः वर्ण अनुपेक्षणीय है। वर्ण स्वतन्त्र रूप मे तथा समग्र वर्णमाला भी अपने सामूहिक रूप मे मन्त्रात्मक ही है।<sup>१</sup> मानव शरीर मे जन्मतः ही इन वर्णों की सूक्ष्म सस्थिति रहती है। साथ ही इन वर्णों—आहत ध्वनियो के समाहारभूत अनाहत नाद अथवा प्रणव का निरन्तर घोष भी वही होता है। रवि रूपा अव्याकृत वाक्, अपर प्रणव आदि इसी के नामान्तर हैं। समग्र वर्ण इस एकाक्षर रवि रूप अव्याकृत वाक् से ही निःसृत होते हैं। यह गतिशील जीवन स्पन्दन है। इससे परे जीवन मूलभूत परप्रणवात्मक कुण्डलिनी की स्थिर घनावस्था है। वर्णरश्मियो के आश्रय से अपरप्रणवात्मक—पराग्वर्ती अव्याकृत वाक् में निमज्जन करके—सूर्यमण्डल भेद कर—साधक पर शब्द रूप कुलकुण्डलिनी, शक्ति की महा-मञ्जूषा उद्घाटित कर कृतकृत्य बन जाते हैं। उपर्युक्त वर्णरश्मियो से साधक के मलनिवृत्त होकर उसके स्वाभाविक शक्ति स्रोत का उद्घाटन होता है अतः जीव का सहज समृद्धिमय स्वरूप निखर उठता है। वर्ण निहित शक्तियों साधक को अज्ञात स्थिति मे वाचक शब्दानुबेध से हर्ष, शोक, रागादि रूप धारण करके बन्धन मे बाँधती है, ज्ञात होने पर सिद्धि माता का कार्य करती है।<sup>२</sup>

मन्त्रयोग का रहस्य आधुनिक विज्ञान ने भी समझा है।<sup>३</sup> तदनुसार मन्त्रयोग द्रव्य और चेतनता मे परिवर्तन करने मे समर्थ है। जहाँ कार्य है, वहाँ सूक्ष्म स्पन्दन (वाइब्रेशन) अवश्य होगा। जहाँ स्पन्दन है वहाँ शब्द अवश्यम्भावी है। अतः सृष्टिमूल प्रणवध्वनि ( ओकार ) ही है।

१ सर्वेऽपि वर्णा केवला सयुक्ता समुदिता अपि सर्वार्थ-साधका मन्त्रा एवेति । (प्रयोगक्रम-दीपिका प्रपञ्चसारयन्त्रटीका वृ० पटल) ।

२. द्र०—मन्त्र और मातृकाओ का रहस्य—पृ० २२ ।

३. द्र०—जपमूत्रम् (स्वामी प्रत्यागात्मानन्दजी कृत) प्रथम खण्ड ।

“आधुनिक विज्ञान यह स्वीकार करता है कि चरमसत्य (अल्टीमेट रियलिटी) का प्राथमिक प्रकटीकरण या सृष्टि एक सूक्ष्म स्पन्दन के द्वारा होती है, जिसे ध्वनि या शब्द कहते हैं। इस शब्द के द्वारा ससार की उत्पत्ति ही नहीं, वरन् उसका निर्वाह भी होता है। अतः यह स्पन्दन के अनेक रूपों में विभक्त हो जाता है। ये स्पन्दन ही दृश्यात्मक जगत् को संवृत करके व्याप्त रहते हैं।”

विज्ञान अभी तक भौतिक द्रव्यों के चरम-विधान का स्पष्ट चित्र खींचने में असमर्थ रहा है, किन्तु इतना अतिम और निश्चितरूप से सिद्ध हो चुका है कि द्रव्य और शक्ति परस्पर परिवर्तनीय हैं। सापेक्षवाद के सिद्धान्त से यह पूर्ण सिद्ध हो चुका है कि मात्रा (मैटर) और शक्ति (इनर्जी) का अत्यन्त भिन्न रूप में कोई अस्तित्व नहीं है। वे एक ही सत्ता के दो रूप हैं। इन दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध के विषय में प्रसिद्ध वैज्ञानिक आइन्स्टीन का समीकरण-सिद्धान्त  $E=MC^2$  सुविख्यात है।<sup>१</sup>

केवल पदार्थ ही शक्ति का द्योतक नहीं होता, अपितु भौतिक दृश्यों का ज्ञान भी विविध स्पन्दनों पर निर्भर है। विभिन्न प्रकार के स्पन्दन ज्ञानतन्तुओं (इन्द्रियों) से टकरा कर, पाँच विभिन्न प्रकार की चेतनाओं (पञ्चतन्मात्र सम्भवतः) को जन्म देते हैं। अतः पञ्चतन्मात्रात्मक जगत् का आधार ये स्पन्दन या कम्पन ही हैं।

विविध स्पन्दन एकमात्र उसी स्पन्दन के द्योतक हैं, जिसका संचालन उस सर्व-शक्तिमान् ईश्वर की इच्छा से होता है, जो विशिष्ट जगत् का अधिष्ठाता देवता होता है।

सृष्टि के कारणभूत उस महान् आधारभूत अविभाजित स्पन्दन को शब्दब्रह्म कहने हैं। वेदशास्त्रों में भी प्रणव को शब्दब्रह्म<sup>२</sup> कहा गया है।

इसके द्वारा उत्तम रीति से विनम्रतापूर्वक स्तुति की जाती है, अतः वह प्रणव कहलाता है।

“प्रकर्षेण नूयते स्तूयतेऽनेनेति, स्तौतीति वा प्रणव ओकारः” (भोजवृत्ति)

अतः भक्तिपूर्वक ईश्वर को सब कर्म अर्पित करके उसी के भरोसे रहकर,

१. द्रष्टव्य—साइन्स ऑफ योग—पृ० ६३ से ६८ तक।

२. शब्द ब्रह्म का मननीय लक्षण देवी पुराण ... में है—

उसके नाम-जप और भावना करने को ईश्वरप्रणिधान कहते हैं। इस ईश्वर-प्रणिधान से योगी के मार्ग में आने वाले अनेक विघ्नों का अभाव भी होता है और समाधि से (अन्तरात्मा) शुद्ध चैतन्य के स्वरूप का साक्षात्कार होता है।<sup>१</sup> योग-मार्ग में आनेवाले विघ्न, व्याधि, स्त्यान, संशय, प्रमाद, आलस्य, अविरति, भ्रान्ति-दर्शन, अलब्धभूमिकत्व, अनवस्थितत्व आदि हैं।<sup>२</sup> ये सब चित्त के विक्षेपस्वरूप हैं। दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमेजयत्व, श्वास और प्रश्वास भी पूर्वोक्त नौ विघ्नरूप विक्षेपों के साथी हैं।<sup>३</sup>

**व्याधि—**

१. धातु, रस एवं करण (इन्द्रिय) की विपमता उत्पन्न रोगों को व्याधि कहते हैं।
२. चित्त की अकर्मण्यता सत्यान है।
३. मैं योगसाधन कर सकूँगा कि नहीं, योग साधन करने पर भी मुझे समाधि-सिद्धि होगी कि नहीं—इस प्रकार उभय कोटि को स्पर्श करने वाला विज्ञान सशय है।
४. समाधि के साधनों की भावना न करना प्रमाद है।
५. तमोगुण की अधिकता से चित्त अथवा शरीर के भारीपन के कारण समाधि के साधनों में अप्रवृत्ति आलस्य है।
६. विषयों में आसक्ति को अविरति कहते हैं। अ-यथेष्ट-ज्ञान अथवा कौन ज्ञान किस स्तर का है—यह न जानना ही भ्रान्तिदर्शन है।
८. किसी प्रतिबन्धक के कारण समाधि की भूमिका का प्राप्त न होना अलब्धभूमिकत्व है।
९. समाधि की भूमिका प्राप्त होने पर भी उसमें स्थिति न होना अनवस्थितत्व कहलाता है।

१. “तत् प्रत्यक्चेतनाधिगमोऽप्यन्तरायाभावश्च” (१/२६)

२. “व्याधिस्त्यानसशयप्रमादालस्याविरतिभ्रान्तिदर्शनालब्धभूमिकत्वानवस्थितत्वानिचित्तविक्षेपास्तेऽन्तराया । (१/२०)

३. “दुःखदौर्मनस्याङ्गमेजयत्वश्वासाप्रश्वासाविक्षेपसहभुव ।” (यो० सू० ७/३१)

विक्षेपयुक्त चित्त वाले योगी का चित्त क्षुब्ध हो जाने के कारण पाँच और भी उपविक्षेप उत्पन्न होते हैं, जिनके नाम दुःख, दौर्मनस्य, अङ्गमे-जयत्व, श्वास और प्रश्वास हैं।

१. आधिभौतिक, आधिदैविक और आध्यात्मिक तीनों प्रकार की पीड़ाएँ (अर्थात् प्रतिकूलता से वेदनीय) दुःख है।
२. इच्छा-पूर्ति के अभाव में मानसिक क्षोभ दौर्मनस्य कहलाता है।
३. शरीर के अंगों का काँपना अङ्गमेजयत्व कहलाता है।
४. बिना प्रयत्न के बाहरी वायु का नाभिकारन्ध्र से अन्दर जाना श्वास तथा—
५. उसी प्रकार स्वाभाविक रीति से आन्तरिक वायु का नासिका छिद्रों से बहिर्गमन प्रश्वास कहलाता है। विक्षेप के प्रसंग में श्वास-प्रश्वास से तात्पर्य अनियमित श्वास-प्रश्वास से है। ये सब विक्षिप्त चित्त में ही विक्षेप के साथ उदय होते हैं, समाहित चित्त में नहीं।

समाधि के विरोधी इन सब विक्षेपों को अभ्यास एवं वैराग्य के द्वारा रोका जाता है, जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है। इन विक्षेपों को रोकने तथा मन को एकाग्र करने के लिए एकतत्त्व का अभ्यास करना चाहिये।<sup>१</sup> वह तत्त्व है—ईश्वर, जैसा कि प्रसंग चल रहा है कि ईश्वर-प्रणिधान से शीघ्रतर समाधि प्राप्ति एवं विघ्नों का नाश होता है।

( ईश्वर-प्रणिधान से अन्तरायाभावप्रसंग में “तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः” ऐसी सूत्रकार की उक्ति है। ) प्रकृत सूत्र में “एकतत्त्व” के विषय में मतभेद है। “भोजवृत्ति” में “एकस्मिन् अभिमते तत्त्वे” किसी भी स्थूल अथवा सूक्ष्म अभिमत तत्त्व का ध्यान बतलाया गया है। दूसरी ओर श्री विज्ञानभिक्षु ने “एक स्थूल किञ्चित्” कह कर, किसी भी एक स्थूल तत्त्व के ध्यान का ही अर्थ करके श्री वाचस्पति की “एकतत्त्वमीश्वरः प्रकृतत्वात्” उक्ति का खण्डन करते हुए यह कहा है कि—“किसी बाधक के बिना एकतत्त्वरूप सामान्य शब्द का ईश्वरतत्त्व रूप विशेष अर्थ मानना अनुचित है। किन्तु विज्ञान भिक्षु का यह मत उपक्रमोपसंहार की दृष्टि से भी असंग

---

१. तत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यास ” (योग सू० १/३२)

है, क्योंकि प्रकरण के वल पर ही किसी गब्द का विवक्षित अर्थ लगता है और यहाँ “एक तत्त्व” शब्द सामान्यार्थक होते हुए भी ईश्वरप्रणिधान के प्रकरण में ईश्वर का ही अर्थ देता है।

व्यास ने प्रस्तुत सूत्र के अवतरणिका-भाष्य में—“तत्राभ्यासस्यविषयमुपसहरन्तिदमाह”—यह कहते हुए—“नत्प्रतिषेधार्थमेकतत्त्वाभ्यासः”—इस प्रकृत सूत्र की व्याख्या की है। अतः उपक्रम किये हुए का ही उपसहार होने के नियम के कारण यहाँ “एकतत्त्व” का अर्थ ईश्वर ही समीचीन सिद्ध होता है।

“एकोऽन्यार्थे प्रधाने च प्रथमे केवले तथा।

साधारणे समानेऽल्पे सख्यायाञ्च प्रयुज्यते ॥”<sup>१</sup>

इस अभियुक्ति के अनुसार सूत्र में एक शब्द प्रधानार्थक होने से “एकतत्त्व” शब्द का अर्थ प्रधान तत्त्व हुआ। जैसा कि (वाचस्पति मिश्र) ने कहा है और वह प्रधान तत्त्व यहाँ पर अन्य कोई स्थूलादि पदार्थ न होकर ईश्वर ही है, जैसा कि ऊपर सिद्ध हो चुका है। यह बात दूसरी है कि यहाँ पर सूत्रकार को ईश्वरप्रणिधान के साथ-साथ उसके उत्कृष्टस्वरूप आत्मा की धारणा का कथन भी अभीष्ट हो। किन्तु यहाँ एकतत्त्वाभ्यास के आलम्बन में ईश्वर तथा आत्मा या अहभाव दोनों ही श्रेष्ठ होने से सूत्रकार को दोनों का कथन अभीष्ट हो सकता है। प्रतिक्षण में उदीयमान चित्तवृत्तियों का “द्रष्टा मैं हूँ” एतद्गुणा अहविषयिणी धारणा को अवलंबन करके स्मरण करते रहने से चित्त प्रसन्न होता है। यही श्रुति-निर्दिष्ट “ज्ञान आत्मा” की धारणा है, जिसे वाचस्पति मिश्र ने ईश्वरप्रणिधान के ही अन्तर्गत उपाय विशेष होने से उसे स्पष्ट नहीं किया है।

वास्तव में यदि केवल ईश्वर का कथन ही इष्ट होता, तो भी सूत्रकार “एकतत्त्व” शब्द का व्यवहार न करते और साथ ही यह भी बतलाया गया है कि ईश्वरप्रणिधान से अन्तराय दूर होते हैं। अतः “एकतत्त्वाभ्यास” उसी “ईश्वर-प्रणिधान” के अन्तर्गत एक उपाय विशेष है, उससे सर्वथा भिन्न-नवीन वस्तु नहीं, फिर अन्ततः—“यथाभिमतध्यानाद्वा”—आगे कहे जाने वाले इस सूत्र से किसी भी एक तत्त्व का अर्थ तो निकल ही आता है। अतः श्री भोज एव भिक्षु जी दोनों के ही मत स्वतंत्र सिद्ध होते हैं।

“एकतत्त्व” के अर्थ के विषय में ईश्वरप्रणिधान को अस्वीकार न करके, श्री

२. यो० भा० वि० १७४ यह औणादिक पदार्णव (पेत्सुरि कृत) . . है।

वाचस्पति मिश्र का मर्म स्पष्ट करते हुए श्री हरिहरानन्द आरण्य का यह कथन संगत प्रतीत होता है कि एकतत्त्व का ध्यान करने के प्रसंग में आत्मस्वरूप का ध्यान ही अधिक श्रेयस्कर है। “ईश्वरप्रणिधान” के प्रसंग में भी अपने आप को ईश्वर में स्थित करके, यह ईश्वर के ही समान है—ऐसा ध्यान करे। अपने कथन की पुष्टि में उन्होंने यह प्रमाण प्रस्तुत किया है—

“एकं ब्रह्ममयं ध्यायेत् सर्वेविप्र चराचरम् ।

चराचरविभागश्च त्यजेदहमितिस्मरन् ॥”

अर्थात् सम्पूर्ण जड-जगम को ब्रह्ममय समझ कर ध्यान करे और आत्मैकरूप का ध्यान करते हुए, समस्त चराचर के भेद को त्याग दे। अतः इस प्रकार से सभी प्रकार के अभ्यासों में एक तत्त्व के अवलम्ब वाले चित्त का अभ्यास ही श्रेष्ठ है।

किसी ने कोई नवीन अथवा विशिष्ट बात न कहकर, शेष व्याख्याकारों में से श्री राघवानन्द सरस्वती ने संक्षेप में वाचस्पति मिश्र के मत का ही अनुमोदन किया है। मणिप्रभाकर रामानन्द यति को भी मिश्र जी का ही मत मान्य है और तदनुसार ही श्री सदाशिवेन्द्र सरस्वती भी “एकतत्त्व” से ईश्वर का ही अर्थ ग्रहण करते हैं।

भावागणेश तथा नागोजी भट्ट ने अपनी वृत्तियों में “यत्रकुत्रचिदप्येकाग्रं” कहकर शब्दभेद से श्री भोज के “कस्मश्चिदभियते तत्त्वे” का अर्थ स्वीकार किया है। “चन्द्रिकाकार” अनन्तपंडित ने तो शब्दशः इस अर्थ में उन्हीं का अनुकरण किया है। किन्तु जैसा कि ऊपर सिद्ध किया जा चुका है, श्री भिक्षु एव भोज के अनुयायियों का यहाँ मतभेद है।

ईश्वर-प्रणिधान से ईश्वर की कृपा से प्रत्येक विघ्न स्वतः शान्त हो जाते हैं। ईश्वर सर्वशक्तिमान् है। ईश्वर में श्रद्धा-भक्ति विशेष ईश्वर प्रणिधान है। व्यास के शब्दों में श्रद्धा साधक की मंगलमयी जननी की भोंति, कल्याण प्रदायिनी है (द्र० ... ) और हर प्रकार के विघ्नों से रक्षा करती है। शास्त्रोक्त परिकर्म के अनुसार सुखी प्राणियों के प्रति मैत्री की भावना, दुःखी जनो के प्रति कृणा, पुण्यात्माओं के प्रति आनन्द की भावना तथा पुण्यहीनों के प्रति उपेक्षा की भावना करने से मन प्रसन्न होता है। प्रसन्न चित्त शीघ्र ही स्थिति प्राप्त करता है। इसके

१. द्र०—भास्वती (१/३३)

२. “मैत्रीकृणामुहितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्य विषयाणां भावना तत्त्वित्तप्रसादनम् ॥”  
(यो० सू० १/३४)



अतिरिक्त प्राणवायु को प्रयत्न-विशेष के साथ बाहर निकालने (रेचन या प्रच्छर्दन) और धारण करने (विधारण कुम्भक) से भी चित्त एकाग्र होता है।<sup>१</sup>

भिक्षु जी प्राणायाम को चित्त-प्रसादन का साधन बनलाते हैं, पर ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये। इस विषय में निम्नोक्त युक्ति द्रष्टव्य है—

“प्रच्छर्दन विधारणाभ्यां वा प्राणस्य” इस सूत्र में “वा” का प्रयोग विकल्पार्थक अवश्य है, किन्तु यह विकल्प विज्ञानभिक्षु के कथनानुसार मैत्री, कृष्णा, मुदिता आदि के समान चित्त-प्रसादन का हेतु न होकर, “विषयवती” इत्यादि के साथ इसका विकल्प होने से, “मनसःस्थिति निबन्धनी” का अर्थ आक्षिप्त करना है। राघवानन्द सरस्वती, रामानन्द यति एवं हरिहरानन्द आरण्य ने भी “प्रच्छर्दन तथा विधारण” को मन की स्थिति के संपादन का ही हेतु बतलाया है। श्री भोज तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती भी, इससे मन की एकाग्रता का सम्पादन होता है, ऐसा कहकर, श्री वाचस्पति सम्मत मत की ही पुष्टि करते हैं। श्री भावागणेश, नागोजी भट्ट एवं अनन्त पंडित ने भिक्षु जी का अनुगमन किया है। भाष्यकार कहते हैं—“ताभ्यां मनसःस्थिति सम्पादयेत्” अर्थात् उन दोनों (प्रच्छर्दन तथा विधारण) से मन की स्थिति का संपादन करे।

विचारदृष्टि से देखने पर भी यह ज्ञात होता है कि प्राणायाम चित्तप्रसाद का हेतु नहीं, अपितु उसकी स्थिति का हेतु है। मन की गति प्राणों की गति के अधीन है। प्राणायाम से जब प्राण की गति श्रमित होकर अवरुद्ध होती है, तब मन की गति अर्थात् चित्तवृत्ति भी निरुद्ध होती है, यह योगि परंपरा में सिद्ध है। “चले वाते चल चित्तम् (वायु के चञ्चल रहने से चित्त भी चञ्चल रहता है)—इत्यादि वाक्य इस विषय में प्रमाण है। यह बात अन्य है कि मन की स्थिरता से वह प्रसन्न भी होता है। इस प्रकार भिक्षु जी एवं उनके अनुयायियों का मत अग्राह्य और अप्रामाणिक सिद्ध होता है। प्रसन्नचित्त ही स्थिरता प्राप्त करता है। भगवान् कृष्ण ने भी गीता में कहा है—“प्रसन्नचेतसो ह्याशु बुद्धिः पर्यवतिष्ठते।” अतः पहले मैत्री आदि की भावना—द्वारा चित्त प्रसन्न करके बाद में प्राणायाम या वक्ष्यमाण “विषयवती प्रवृत्ति” आदि से स्थिर किया जाता है। प्रसन्नचित्त शीघ्र स्थितिपद प्राप्त करता है। “प्राणायामः स विज्ञेयो रेचक पूरक कुम्भकैः”—इस स्मृति का भाव न समझते हुए ही इसे प्रमाणरूप में देकर “पूरक के बिना कुम्भक होता ही नहीं,

१. “प्रच्छर्दनविधारणाभ्यां वा प्राणस्य” (यो० सू० १/३४)

क्योंकि पूरक कुम्भक और रेचक इन तीनों का सामूहिक अभिधान “प्राणायाम” है—यह कहकर श्री विज्ञान भिक्षु ने चतुर्थ प्राणायाम शून्यक (बाह्य कुम्भक) की सत्ता को ही अस्वीकार कर दिया है।

द्वितीय पाद में भी प्राणायाम को चित्तस्थिति का ही हेतु बतलाया गया है। यहाँ विषयवती प्रवृत्ति उत्पन्न होने पर मन स्थिर होता है।<sup>१</sup> यहाँ पर विषयवती प्रवृत्ति से तात्पर्य दिव्य शब्द, स्पर्शादि विषयिणी प्रत्यक्षस्वरूपा वृत्ति से है। यह स्थिति एकाग्रता से स्वतः आती है। योगियों के कथनानुसार नासिका के अग्रभाग में धारणा करनेवाले को दिव्य सुगन्धि का अनुभव होता है। इसे गन्ध प्रवृत्ति या गन्ध सविद् कहते हैं। जिह्वाग्र में सयम की दृढता से दिव्य रसास्वादन होता है। इसे रससविद् या रस-प्रवृत्ति कहते हैं। इसी प्रकार जिह्वा के मध्य भाग, जिह्वामूल और तालु में सयम की स्थिरता से क्रमशः दिव्य स्पर्श, दिव्य शब्द तथा दिव्य रूप का साक्षात्कार होता है। इन्हें भी क्रमशः स्पर्श-सविद्, शब्द-सविद् तथा रूप सविद् कहते हैं। ये ही विषयवती प्रवृत्तियाँ कहलाती हैं।

चन्द्र-सूर्य, नक्षत्र, मणि, प्रदीप, रत्न-प्रभा आदि में चित्त के सयमजन्य साक्षात्कार भी विषयवती प्रवृत्ति के ही ही अन्तर्गत हैं।<sup>१</sup>

शका होती है कि गन्धादि अनात्म-विषयक प्रवृत्तियों का साक्षात्कार आत्म-जिज्ञासु के लिये उपयोगी कैसे हो सकता है, क्योंकि इन अनात्म तत्वों की प्राप्ति मुमुक्षु का लक्ष्य नहीं है। फिर भी जिस प्रकार योगशास्त्रोक्त प्राथमिक

१. “विषयवती वा प्रवृत्तिस्तन्नामनस स्थितिनिबन्धिनी” (यो० सू० १-३५)
२. “तालु के अवर आक्षिप्त स्नायु (Optic nerve) है। जिह्वा में स्पर्शज्ञान का अधिक प्रस्फुटभाव है और जिह्वामूल वाक्योच्चारण के सम्बन्ध में कान से सम्बद्ध है। अतः इन स्थानों पर धारणा करने से ज्ञानेन्द्रिय की सूक्ष्म शक्ति प्रकट होती है।
३. चन्द्रादि को स्थिर नेत्र से निरीक्षण करके नेत्र मुद्रित करने पर भी यथावत् उन्हीं रूपों का ज्ञान होता रहता है। इनका ध्यान करते-करते उन्हीं के रूप की प्रवृत्तियाँ भी उत्पन्न होती हैं। रूपादि के अन्तर्गत होने से वे भी विषयवती हैं। इस विषय में श्रुति भी प्रमाण है—“पृथ्व्य पृ तजोऽनिलखे समुत्थिते पञ्चात्म के योगगुणे प्रवृत्ते” (श्वे० उ०) इस पर शांकर भाष्य है—ज्योतिष्मती स्पर्शवती तथा रसवती पुरा। गन्धवत्यपरा प्रोक्ता चतसस्तु प्रवर्तय। आसा योगब्रवृत्तीना यद्येकापि प्रवर्तते। प्रवृत्तयोगतप्राहुयोगिनी योगचित्तक। (पात० यो० ८०—हरिहरानन्द आरण्य—पृ० ७८)

पदार्थ मे सयम से उनका साक्षात्कार हो जाता है, उसी प्रकार आत्मविषयक सयम से आत्मसाक्षात्कार भी हो सकता है। इस प्रकार श्रद्धा उत्पन्न करने के लिए विषयवती प्रवृत्ति उपयोगी है। यद्यपि शास्त्र-आचार्यादि के उपदेश से ज्ञात अर्थ सत्य ही होता है तथापि शास्त्र, गुरु से ज्ञात अर्थों मे से एक का भी साधन-द्वारा प्रत्यक्ष कर लेने पर कैवल्य पर्यन्त निखिल सूक्ष्म विषयो मे सयम का अवकाश ही नहीं रहता है और श्रद्धा एवं विश्वास दृढ हो जाने से, योगसाधन मे अधवसाय की वृद्धि होती है। इस प्रकार विषयवती प्रवृत्ति<sup>१</sup> चित्त-स्थिति मे सहायक सिद्ध होता है।

पूर्वोक्त “विषयवती प्रवृत्ति” की भाँति “विशोका-ज्योतिष्मती” प्रवृत्ति भी उत्पन्न होकर चित्तस्थिति का सम्पादन करती है।<sup>२</sup> विशोका का अर्थ है—शोकरहित, ज्योतिष्मती अर्थात् प्रकाशयुक्त। सुखमय-सात्त्विक अभ्यास से दुःख अर्थात् रजोगुण के परिणाम से शून्य हो गई है ऐसी सात्त्विक प्रकाशमयी प्रवृत्ति को “विशोका ज्योतिष्मती” प्रवृत्ति कहते हैं।

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति ‘चित्तसविद्’ और “आस्मिता सविद्” भेद से दो प्रकार की होती है। प्रवृत्ति और सविद् दोनों शब्दों का अर्थ यहाँ साक्षात्कार है। विषयवती प्रवृत्तियों के ध्यान के लिये नासिका आदि पाँच स्थान नियत हैं, उसी प्रकार “विशोका ज्योतिष्मती” प्रवृत्ति के लिये भी अनाहतादि सात चक्र रूप विशेष स्थान निश्चित हैं, जिनमे चित्त को स्थिर किया जाता है।<sup>३</sup> कमलाकृति-होने से ये (चक्र) कमल भी कहलाते हैं।

इन चक्रों मे से हृत्-कमल अर्थात् अनाहतचक्र मे ध्यान से चित्त स्थिति का वर्णन व्याख्याकारों ने किया है जो इस प्रकार है—

नाभि एवं छाती के बीच दश अंगुलि सीमित हृदयकमल है। यह रक्तवर्ण,

१. विषयवती प्रवृत्ति—विषयक सयम के विषय मे गन्धविषयक सयम का स्थान नासिकाग्र, रस का जिह्वाग्र, रूप का तालु, रस का जिह्वामध्य और शब्द का जिह्वामूल बनलाया गया है।
२. “विशोका वा ज्योतिष्मती” (यो० सू० १-३६)  
“पातञ्जल योग प्रदीप—ओमानन्द—पृ० २४६
३. मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार ये सात चक्र हैं।  
“नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्” इस सूत्र की व्याख्या मे इनका विवरण द्रष्टव्य है।

अष्टदल, पञ्चच्छिद्र, निम्नाभिमुख एव सपुटित है। रेचक प्राणायाम की क्रिया से उसे ऊर्ध्वमुख एव प्रस्फुटित किया जाता है। प्रकुल्लित हृत्पद्म मे प्रणव (ॐ) अक्षर है। इसका 'अकार' सूर्यमण्डल एव जागरितस्थल है। उसके ऊपर "उकार" चन्द्रमण्डल और स्त्रप्रस्थान है। उसके ऊपर "मकार" रूप वह्निमण्डल है, जो उसका सुषुप्तिस्थान है। उनसे भी ऊपर अकाशस्वरूप ब्रह्मनाद (अर्धमात्रा) है, जो तुरीयस्थान है। उस कमल की कर्णिका के मध्य ब्रह्मनाडी (सुषुम्णा)<sup>१</sup> है। यह उपर्युक्त हृदयस्थ आन्तर सूर्य-मण्डल आदि के मध्य से भेदन करती हुई ब्रह्माण्ड (मूर्धा) तक चली गई है। अतः यह बाह्य सूर्यमण्डलादि से भी सतत सम्बद्ध है। यही सुषुम्णा नाडी चित्त का निवासस्थल है। सुषुम्णा मे सयम-द्वारा चित्त एकाग्र करने से वह (चित्त) सात्त्विक ज्योतिस्वरूप अकाशवत् प्रकाशित होता हुआ, कभी सूर्य, कभी चन्द्र, कभी नक्षत्र एव कभी मणिप्रभा आदि विविध आकारो मे भासित होता है। तदनन्तर उस बुद्धिसत्त्व (चित्त) का साक्षात्कार होता है, जो ज्योतिष्मती प्रवृत्ति कहलाता है। इसके पूर्वोक्त सूर्य आदि अनेक विषय होने से यह प्रवृत्ति भी विषयवती के ही अन्तर्गत है। वह वृत्तिसत्त्व प्रधान एव रज, तम के परिणाम से जन्म दुःख शून्य होने से "विशोका" पदवाच्य है।

"विशोका" के सूक्ष्मतम स्तर "अस्मिता" मे धारणा द्वारा स्थिरीकृत चित्त जब सत्त्वप्रधान होने के कारण निस्तरंग समुद्रवत् शान्त और अनन्त हो जाता है, तब उसे "अस्मिता-मात्र ज्योतिष्मती" कहते हैं। जिसके विषय मे महर्षि पञ्चशिखाचार्य ने यह सूत्र कहा है—

**"तमणुमात्रमात्मानमनुविद्यास्मीत्येव तावत्संप्रजानीते"**

अर्थात् उस अणुमात्र अहंकारास्पद आत्मा को अनुभव द्वारा जान कर "मैं हूँ" इस प्रकार अपने स्वरूप को ( योगी ) जानता है। अतः इस प्रकार प्रथम निर्दिष्ट चित्त-साक्षात्कार रूप विषयवती ज्योतिष्मती प्रवृत्ति है और दूसरी अस्मितामात्र ज्योतिष्मती प्रवृत्ति होती है। शोक के कारणभूत रजोगुण एव तमोगुण से रहित होने से दोनों ही विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्तियाँ हैं।

इनके उत्पन्न होने से भी साधक का चित्त स्थिर होता है।

×

×

×

- 
१. सुषुम्णा को भी ब्रह्मनाडी कहते हैं तथा उसके अन्दर से जाने वाली एक और सूक्ष्म नाडी है, वह भी ब्रह्मनाडी कहलाती है।

अथवा विरक्त योगियों के चित्त-विषयक समय से भी चित्त शीघ्र स्थिति प्राप्त करता है ।<sup>१</sup>

विषयो मे जिनका चित्त पूर्णतः अनासक्त होकर अविद्यादि ममस्त क्लेश-संस्कार मिट गये हैं, ऐसे शुक, सनकादि वीतरागों के चित्त को आलम्बन करके ध्यान करने वाले साधक के चित्त में भी वैसे ही सात्विक संस्कार उत्पन्न होते हैं और उसका चित्त सरलता से स्थिरता प्राप्त कर सकता है ।

×

×

×

स्वप्नज्ञान अथवा निद्रा-ज्ञान का आलम्बन करके ध्यान करने से भी चित्त दृढ-स्थिति लाभ करता है ।<sup>२</sup>

यहाँ पर स्वप्न तथा निद्रा पदों का सात्विक स्वप्न एवं सात्विक निद्रा से तात्पर्य है ।

स्वप्नावस्था में कभी-कभी अूर्व ज्ञान होता है, उसका तथा “सुखमहं अस्वाप्स” आदि सुषुप्ति अवस्था में प्राप्त सात्विक सुख की भावना करने से चित्त प्रशान्त होता है ।

स्वप्न एवं निद्राज्ञान का आश्रय ग्रहण करने के कथन से दो अभिप्राय हो सकते हैं—एक तो यह कि कभी-कभी मनुष्य अच्छे सात्विक एवं मनोरजक स्वप्न देखता है, जैसा कि श्री वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि स्वप्न में निर्जन वन में चन्द्र-मण्डल से प्रकट हुई, दिव्य, मनोहर भगवत्प्रतिमा आदि की आराधना करते हुए जागता है । ऐसी स्थिति में उस दिव्य दर्शन के आनन्द से अतृप्त योगी अन्य ओर न जाकर उसी का ध्यान करना चाहता है । वस्तुतः इस प्रकार की स्वप्नावस्था में योगी आनन्दविभोर रहता है । अतः जागने पर भी ऐसे स्वप्नों की घटनाएँ व्यक्ति के मन पर गहरी छाप छोड़ जाती हैं । इस प्रकार के स्वप्न-ज्ञान की विषयभूत भगवत्प्रतिमा में ही चित्त को एकाग्र करके भावना करने से चित्त स्थिर होता है । इसी प्रकार गाढ़ निद्रा-रूपी सुषुप्ति से जागने पर—“सुखमहमस्वाप्सं प्रसन्न मे मनः

१. “वीतरागविषय वा चित्तम्” (यो० सू० १-३७)

२. “स्वप्ननिद्राज्ञानालम्बनम् वा” (यो० सू० १-३८) अधिकारी विशेष के लिये यह उपाय विशेष उपयोगी है । कल्पना-प्रवण व्यक्ति तथा हिप्नोटिक (Hypnotic) प्रकृति के व्यक्ति इसके योग्य अधिकारी हैं ।

प्रज्ञां मे विशारदी करोति”—इत्यादि स्मृति होती है। इस सात्त्विक निद्रा-ज्ञान रूप स्मृति का विषय है अपना स्वरूप, जिसका आश्रय ग्रहण कर चित्त को एकाग्र करने से स्थितिपद प्राप्त होता है।

दूसरा अभिप्राय यह हो सकता है कि रजोगुण के प्राधान्यभाव में उदित स्वप्नावस्था में बाह्य ज्ञान अवरुद्ध हो जाता है, किन्तु मानस-भावों का ज्ञान होता रहता है। निद्रावस्था में तमोगुण से रजोगुण पूर्णतः आक्रान्त हो जाने से, बाह्य और मानस दोनों ही प्रकार के विषय अभिभूत होकर केवल जाग्रत्स्वप्नकालीन वृत्तियों के अभाव का अस्फुट अनुभव अवशिष्ट रहता है।

अतः जिस प्रकार स्वप्न में तमोगुण के कारण वृत्तियाँ अन्तर्मुख होती हैं, उसी प्रकार ध्यानावस्था में सत्त्वगुण-द्वारा वृत्तियाँ अन्तर्मुखी बनाना चाहिये। तथा जिस प्रकार सुषुप्ति अवस्था में तम के प्राधान्य से अभाव की प्रतीति होती है, उसी प्रकार सत्त्व की प्रधानता से बाह्यमानस रुद्धभाव को आश्रय करके अभ्यास करना चाहिये। इस प्रकार स्वप्न एवं निद्रा-ज्ञान के आश्रय से चित्त स्थिर होता है।<sup>१</sup> श्री विज्ञानभिक्षु ने इस सूत्र की व्याख्या दूसरे ही प्रकार से की है, वह इस प्रकार है। स्वप्न रूप जो ज्ञान है, उसके आलम्बन वाला चित्त अर्थात् प्रपञ्च-भान में स्वप्नदृष्टि रखने वाला चित्त—जैसा कि कहा है कि “दीर्घस्वप्नमिमं विद्धि दीर्घवा चित्तविभ्रमम्” (योगवासिष्ठ ३/४२/८) इस प्रपञ्च को लम्बा स्वप्न जानो या चित्त का भ्रम समझो। यह दृष्टिकोण क्षणभंगुरत्व आदि गुणों के कारण जाग्रतावस्था के ज्ञान में स्वप्नदृष्टिरूप है। यह भी वैराग्य द्वारा चित्त की स्थिरता में हेतु है।

×

×

×

इन सब के अतिरिक्त चित्तस्थिति का एक और भी उपाय है।

अपने चित्त की अभीप्सित वस्तु का ध्यान करने पर भी चित्त स्थिति पद प्राप्त करता है।<sup>२</sup>

अपनी इष्ट वस्तु के कथन से यह नहीं समझना चाहिये कि किसी तमो भावव्यंजक वस्तु के ध्यान से चित्त स्थिर हो जाएगा। अपनी अभिरुचि एवं शास्त्रीय मर्यादा के अनुसार साकार भगवत्प्रतिमा आदि जिस विषय में

१. पातञ्जल-योग-दर्शन—स्वामी हरिहरानन्द आरण्य—पृ० ८३।

२. “यथाभिमतध्यानाद्वा”—यो० सू० १-३६।

सात्विक श्रद्धा हो, उसके ध्यान से चित्त शीघ्र ही एकाग्र हो जाता है। इस प्रकार एक विषय में एकाग्रता की योग्यता प्राप्त कर लेने पर अन्यत्र निगुण आदि में सुलभता से स्थिति लाभ हो सकता है।

चित्तस्थिति के विभिन्न उपाय जान लेने पर जिज्ञासा होती है कि यह किस प्रकार जाना जाए कि अब चित्त पूर्ण स्थिर हो चुका है? इसका उत्तर यह है कि जब पूर्वोक्त उपायो से ध्यान-क्रिया के अनुसार सूक्ष्मतम परमाणु से लेकर परम बृहत् आकाश पर्यन्त प्रत्येक पदार्थ में चित्त की आव्याहत गति हो जाय, अर्थात् इन सब में जब जिस वस्तु में चाहे तब उसी में ध्यान द्वारा चित्त स्थिर किया जा सके—ऐसे वस्तुओं पर वशीकार<sup>१</sup> प्राप्त हो जाने पर चित्त पूर्ण स्थिर हो जाता है। इस अवस्था से युक्त योगी को किसी भी प्रकार फिर किसी अभ्यास आदि से साध्य परिष्कार की आवश्यकता नहीं रहती है।

×

×

×

इस प्रकार स्थितिप्राप्त एवं वृत्तियों के क्षीण हो जाने से अत्यन्त निर्मल चित्त अजिज्ञात मणि की भाँति ग्राह्य-ग्रहण और ग्रहीता में तन्मयता रूप समापत्ति प्राप्त करता है,<sup>२</sup> जिनका कि पहले सम्प्रज्ञात समाधि के प्रसंग में वर्णन हो चुका है। समापत्ति रूप प्रज्ञा ही सम्प्रज्ञात योग है, जिसके वितर्क, विचार आदि पूर्व कथित आठ भेद हैं और निर्विचारा समापत्ति इसकी उच्चतम अवस्था है। निर्विचारा के वैशारद्य<sup>३</sup> से अध्यात्मप्रसाद<sup>४</sup> होता है<sup>५</sup> और योगी सर्वथा शोकरहित हो जाता है।

१. “परमाणु परममहत्त्वान्तोऽस्य वशीकार” (यो० सू० १-४०)

(किसी एक विषय में स्थिति-प्राप्त चित्त को योग-प्रणाली द्वारा परमाणु से आरम्भ करके परम महान् विषय धारण करने की अवस्था को “वशीकार” कहते हैं।

२. “क्षीणवृत्तेरभिजातस्येवमणेरहीतृग्रहणग्राह्येषु तत्स्थितदंजनता समापत्तिः। (यो० सू० १/४१)

३. “स्वच्छ स्थितिप्रवाहो वैशारद्यम्” (यो० भा०)

अतः अशुद्धि के आच्छादक मल से रहित प्रकाशात्मक बुद्धि-सत्त्व का रज, तम से अनाक्रान्त और स्वच्छ स्थितिप्रवाह ही वैशारद्य है।

४. “आत्मनि बुद्धौ वर्तत इति, अध्यात्मम्”

प्रसाद-प्रसन्नता, निर्मलता। अतः बुद्धि की प्रसन्नता निर्मलता ही अध्यात्म प्रसाद है।

(आगामी पृष्ठ पर)

इस अध्यात्मप्रसाद रूप प्रज्ञा का अन्वय ( नामानुसार अर्थयुक्त ) नाम “ऋतम्भरा प्रज्ञा” है।<sup>१</sup> ऋतम्भरा का अर्थ है-सत्यपूर्णा, क्योंकि यह केवल सत्य अर्थ को ही धारण करती है (ऋत विभर्ति इति)। इस में विपर्यय की गन्धमात्र भी नहीं है। ऋत नाम सत्य का है ( निघण्टु ३/१० ) और भर नाम धारणकर्ता का। अतः सत्य अर्थ को धारण करने वाली होने से इस प्रज्ञा का ऋतम्भरा नाम चरितार्थ ही है। वस्तुतः यथार्थ-विषयिणी बुद्धि का योगिक नाम ऋतम्भरा है।

ऋत और सत्य में भेद है जो ज्ञातव्य है। आगम और अनुमानादि के द्वारा प्राप्त होने वाला यथार्थज्ञान सत्य ( अर्थात् Conceptual fact ) है<sup>२</sup> तथा साक्षात् अनुभव से प्राप्त यथार्थ ज्ञान ऋत ( अर्थात् Perceptual fact ) होता है। अतः ऋत का अर्थ वह शाश्वत सत्य है, जो साक्षात् अनुभूत हो।

इसी कारण से आगम अनुमानादि जन्य प्रज्ञा से, विशिष्टरूप से अर्थ साक्षात्कारवती होने से इसकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की गई है<sup>३</sup> क्योंकि आगम अनुमानादि वस्तु के सामान्य रूप का बोध कराने में ही समर्थ होते हैं। केवल प्रत्यक्ष प्रमाण ही वस्तु के विशेषरूप का ज्ञान कराने में समर्थ होता है। साथ ही इन्द्रियजन्य प्रत्यक्ष स्थूल वस्तुओं का ही प्रत्यक्ष करा सकता है। सूक्ष्म, व्यवहित एवं विप्रकृष्ट अतीन्द्रिय पदार्थों का लोकप्रत्यक्ष से ग्रहण संभव नहीं है। फिर इन पदार्थों की सत्ता भी अस्वीकार नहीं की जा सकती है, क्योंकि समाधिप्रज्ञा से वे पूर्णतः ग्राह्य हैं। अतः श्रुतानुमानप्रज्ञा से यह ऋतम्भराप्रज्ञा विशेषार्थता के कारण अन्यविषया अर्थात् भिन्न विषयवाली है।

१. “ऋतम्भरा तत्रप्रज्ञा” (यो० सू० १-४८)

२. सवितर्की, निर्वितर्की एवं सविचारा उक्त तीनों समापत्ति-काल में अविद्या वर्तमान रहने से बुद्धि-वृत्तिपूर्णतः यथार्थ विषयिणी नहीं होती साथ ही निर्विचारा समापत्ति के वैशारद्यकाल में अविद्या वर्तमान न रहने से उक्त बुद्धि-वृत्ति यथार्थ है। अतः इसी अवस्था की प्रज्ञा “ऋतम्भरा” कहलाती है।

३. “श्रुतानुमानप्रज्ञाम्यामन्य-विषया विशेषार्थत्वात्।” (यो० सू० १/४९)

(गत पृष्ठ का शेषांश)

निर्विचारा समापत्ति की प्रवीणता द्वारा योगी को परमाणु से प्रकृतिपर्यन्त समस्त पदार्थों का क्रमानुरोध के बिना एक साथ ही साक्षात्कार हो जाता है। इसी साक्षात्कार का अभिधान अध्यात्म प्रसाद है। इसे स्फुट-प्रज्ञालोक तथा प्रज्ञा-प्रासाद भी कहते हैं।

५. “निर्विचारवैशारद्येऽध्यात्मप्रसादः” (यो० सू० १-४७)



इस ऋतम्भरा-प्रज्ञा से जन्य संस्कार अन्य व्युत्थान संस्कारों का बाधक होता है।<sup>१</sup> यही से विवेक-ख्याति के अधिकार का समारम्भ हो जाता है—और विवेक ख्याति के उदय से भोगाधिकार की समाप्ति हो जाती है, क्योंकि विवेकख्याति पर्यन्त ही चित्त की चेष्टा रहती है। इसके भी निरुद्ध हो जाने पर सब कुछ निरुद्ध हो जाता है। अंत में पूर्वोक्त गुणवैतृष्य रूपपर वैराग्य द्वारा समाधिप्रज्ञात्मक निखिल-वृत्तिप्रवाह एव तज्जन्य संस्कारों को भी अवरुद्ध कर दिया जाता है। यही अवस्था पूर्ण निरोध निर्बीज समाधि है, जिसे असम्प्रज्ञात योग भी कहते हैं, जिसके विषय में कहा गया है कि विवेकख्याति के भी निरुद्ध हो जाने पर सर्ववृत्तिनिरोध रूप निर्बीज समाधि होती है।<sup>२</sup> यह भी अवगन्तव्य है कि निर्बीज समाधिमात्र असम्प्रज्ञात नहीं कहलाती। इसी प्रकार सालम्बन समाधिमात्र सम्प्रज्ञात नहीं होती। एकाग्रभूमिक चित्तकी चिर-स्थायिनी समाधिप्रज्ञा पूर्ण स्थिति ही सम्प्रज्ञात पद वाच्य है। उस स्थिति में निरोध ही चित्त का स्वभाव बन जाता है। असम्प्रज्ञात समाधि कैवल्य साधिका है, किन्तु निर्बीज से कैवल्य प्राप्ति नहीं भी हो सकती है। इस दृष्टि से निर्बीज एवं कैवल्य में किञ्चित् भेद है। समाधि को जिस अवस्था में संसरण होने योग्य व्यक्त पदार्थ नहीं है, वह निर्बीज है। जो सर्ववृत्तिनिरोध स्वरूप समाधि कैवल्य साधिका होती है, वह असम्प्रज्ञात है।

इस निर्बीज समाधि के भी “भवप्रत्यय” और उपायप्रत्यय दो भेद हैं—“भव” शब्द का अर्थ है “अविद्या”<sup>३</sup> और प्रत्यय का अर्थ यहाँ है “कारण”।<sup>४</sup> अतः अविद्याजन्म वृत्तिनिरोध “भवप्रत्यय” कहलाता है।<sup>५</sup> यह “भवप्रत्यय” विदेह एवं प्रकृतिलयो का होता है। विदेह एव प्रकृतिलयो को विवेकख्याति प्राप्त नहीं हो पाती है, अतः इनकी समाधि सावधिक होती है और इस अवधि की समाप्ति के पश्चात् ये पुनः जन्म-मरण-त्रास भोगते हैं। इन्हें कैवल्य प्राप्त नहीं होता है। फिर भी इनकी चित्तवृत्तियाँ निरुद्ध होकर, संस्कार मात्र शेष मन से ये एक निश्चित अवधि तक कैवल्य-तुल्य-स्थिति का अनुभव करते हैं। यह भव प्रत्यय रूप वृत्तिनिरोध मुमुक्षु कैवल्यकामी के लिये त्याज्य है।

१. “तज्ज. संस्कारोऽन्य संस्कार प्रतिबन्धी।” (यो० सू० १/५०)

२. “तस्यापि निरोधे सर्वनिरोधान्निर्बीज समाधि।”<sup>३</sup> (यो० सू० १/५१)

३. “भवन्ति जायन्ते जन्तवोऽस्यामिति भवोऽविद्या।” (तत्त्व० १/१९)

४. “प्रतीयन्ते लप्स्यन्ते प्राणिनोज्जेनेति प्रत्ययः करणम्।” (तत्त्व० १/१९)

५. “भवोऽविद्या प्रत्ययः कारणम् यस्य वृत्तिनिरोधस्य स भवप्रत्ययः।” (तत्त्व १/१९)

इस विषय में व्याख्याकारों में मतभेद है। वाचस्पति के अनुसार “भव” का अर्थ—‘भवन्ति जायन्ते जन्तवोऽस्यामिति भवोऽविद्या’—इस व्युत्पत्ति के अनुसार “अविद्या” है। इस प्रकार मिश्र जी के अनुसार “विदेह” एवं “प्रकृतिलय” जो भवप्रत्यय पर आश्रित होते हैं, उपाय-प्रत्ययवालों की अपेक्षा हेय हैं, क्योंकि उनकी समाधि अज्ञानमूलक होने के कारण उन्हें कैवल्य की उपलब्धि नहीं होती है, जबकि उपाय प्रत्यय वालों को कैवल्य-प्राप्ति हो जाती है। विज्ञानभिक्षु के मतानुसार विदेह और प्रकृतिलयों को भी अधिकार-समाप्ति होने पर कैवल्यकी प्राप्ति हो जाती है, किन्तु भाष्यविरुद्ध एवं अप्रामाणिक होने के कारण भिक्षु जी का मत अग्राह्य है, क्योंकि अज्ञानाश्रित होने से विदेह एवं प्रकृतिलयों को कैवल्य की उपलब्धि असंभव है। इसी पाद के “क्लेशकर्मविपाकाद्यैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः” के भाष्य में प्रकृतिलयों को बाद में बन्धकोटि बतलाई गई है। जब प्रकृतिलयों को ही भावो बन्धकोटि बतलाई है जो कि उच्चतर भूमिका वाले हैं, तब विदेह तो उनसे निम्नभूमिका वाले होने से उनकी भी बन्धकोटि सिद्ध हो है।

दूसरे “सांख्य-प्रवचन-भाष्य” में विज्ञानभिक्षु ने स्वयं भी यह तथ्य स्वीकार करके, विदेह एवं प्रकृतिलयों को संसारापत्ति का प्रतिपादन किया है।<sup>१</sup>

श्री भिक्षु ने स्पष्ट नामोल्लेख किए बिना, कोई “भव” का अर्थ अविद्या लेते हैं, ऐसा लिख कर, मिश्र जी के मत का अनेक युक्तियों द्वारा खंडन किया है। वे “भव” का “अर्थ” जन्म लेते हैं तथा विदेह एवं प्रकृतिलयों को जन्म से स्वतः निर्बीज समाधि की सिद्धि बतलाते हैं। आचार्य शंकर के अनुसार भी विदेह एवं प्रकृतिलयों को जन्मतः निर्बीज समाधि सिद्ध होती है साथ ही उन्होंने उनकी श्रेष्ठता का प्रतिपादन भी किया है। प्रथम तो “भव” का अर्थ यहाँ “जन्म” नहीं, “अविद्या” हो है, क्योंकि यदि उनमें अविद्या का अंश विद्यमान न रहता, तो वे इस स्थिति को प्राप्त ही नहीं होते। फिर भिक्षु जी के मतानुसार शरीर निरपेक्ष होते हुए भी बुद्धिवृत्ति वाले विदेह कहलाते हैं। (द्र० १/१६ को योगवार्तिक) जन्म देह-सम्बन्ध-प्राप्ति से होता है। अतः शरीर-निरपेक्ष नहीं रहेगा। जिसका चित्त प्रकृति में लीन है, उसका जन्म कैसे हो जाएगा ? यदि जन्म हो गया है, तो चित्त आवृत होगा और संसार में चित्तावर्तन से वे अवस्थाएँ समाप्त हो जाती हैं। दूसरे जन्म का अर्थ है तद्-तत् इन्द्रियों-द्वारा तद्-तत् विषयों का सम्यक् ग्रहण अतः यदि इस भाँति सब विषयों का ग्रहण हो रहा है, तो कैवल्य-तुल्य अनुभव नहीं होगा।

इसके अतिरिक्त भिक्षु जी के कथनानुसार देवता विशेषों को देवलोक में “भवप्रत्यय” अर्थात् जन्म है कारण जिसका वह असम्प्रज्ञात योग होता है, किन्तु समाधिसिद्धि के मस्कारों से युक्त प्राणी जन्म ग्रहण नहीं करता, क्योंकि समाधि सिद्ध हो जाने पर, उसे विदेह-कैवल्य या क्रममुक्ति अवश्य प्राप्त होती है। यह हो सकता है कि—

“प्राप्प्रपुण्यकृतां लोकानुषित्वा शाश्वतीः समाः ।

शुचीनां श्रीमतां गेहे योगभ्रष्टोऽभिजायते ॥ गीता ६।४१

इत्यादि उक्तियों के अनुसार उन्हें पुनर्जन्म में पूर्वभ्यासवश योगानुष्ठान में शीघ्र सफलता मिले। किन्तु वह मार्ग भी उपायप्रत्यय वालों का है।

यह भी विचारणीय है कि यदि अवधि समाधि समाप्ति के पश्चात् विदेह एव प्रकृतिलयों की समाधि भी कैवल्यप्रापक होती, या उन्हें भी पूर्ण ज्ञान प्राप्त हो जाता, तो वायुपुराणोक्त “पुरुष निर्गुण प्राप्प्रकालमंख्या न विद्यते” इस फल की प्राप्ति उन्हें भी होनी चाहिये थी।<sup>१</sup> किन्तु उसका वायु-पुराण की इस उक्ति से स्पष्ट विरोध प्रतीत होता है कि इन्द्रियादि चिन्तकों की निर्बीज समाधि इतनी-इतनी अवधि तक रहती है। इसके अतिरिक्त “उपायप्रत्यय” की अपेक्षा भाष्यकार एवं सूत्रकार का “भवप्रत्यय” को हेय बताना भी अयुक्त सिद्ध हो जाएगा।

“भव नाम अविद्या का है” वाचस्पति मिश्र की इस उक्ति को असंगत बतलाते हुए, भिक्षु जी ने हेतु भी दिया है कि अज्ञानी को पर वैराग्य होना असंभव है, किन्तु भाष्यकार ने परवैराग्यजन्य असम्प्रज्ञात समाधि के दो भेद नहीं बतलाए हैं, वरन् “संस्कारशेष” रूप निरोध समाधि के दो भेद बतलाए हैं। परवैराग्य आदि का विधान तो उपायप्रत्यय से जन्य समाधि के लिये है यदि “भवप्रत्यय” में भी परवैराग्य आदि की अपेक्षा रहे तो “उपाय प्रत्यय” एवं “भवप्रत्यय” में भेद ही क्या है और जब हर एक निर्बीज समाधि का कारण परवैराग्य ही है तो भवमूलक समाधि ही कैसे हो सकती है ? फिर यह असम्प्रज्ञात समाधि है भी नहीं, क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि से तो कैवल्य प्राप्त होता है, गुणाधिकार की समाप्ति होती है। यहाँ तो अधिकार अचरितार्थ हो रहते हैं। यदि “भवप्रत्यय” की निरोध समाधि भी असम्प्रज्ञात समाधि

१. यह उक्ति वायुपुराण में अप्राप्त है। श्री मिश्र ने इसे वायु पु० की उक्ति कहा है।

२. मस्कारमात्र शेष चित्त का अर्थ है चित्त नहीं रहा किन्तु चित्त का संस्कार वर्तमान है, जैसे हिंसा के न रहने पर भी पात्र में उसका संस्कार (गन्ध) अवशिष्ट रहता है।

होती तो उपायप्रत्यय जन्य असम्प्रज्ञात समाधि से उसका सारूप्य एव वैरूप्य दर्शाना भी व्यर्थ है। श्री भोज तो उनकी इस समाधि को योगाभास ही बतलाते हैं।

विदेह एव प्रकृतिलय कौन है ? इस विषय में भी मतभेद है। मिश्रजी ने पाट्कौशिक शरीर से रहित पंचभूत एव इन्द्रियादि के उपासको को देहपात के अनन्तर तत्-तत् प्रभाव को प्राप्त होने वालों को विदेह तथा अष्टप्रकृति<sup>१</sup> में से किसी भी एक की आत्मत्वेन उपासना करके, देहपात के पश्चात् यथोपयोगी प्रकृति को प्राप्त उपासको को प्रकृतिलय बतलाया है।

भिक्षु जी शरीर की अपेक्षा से रहित बुद्धिवृत्तियुक्त विदेह होते हैं, ऐसा बतलाते हैं, किन्तु बुद्धि की वृत्तियाँ भोगायतन में ही रहती हैं। भोगायतन शरीर ही है। अतः शरीर के बिना बुद्धि की वृत्तियाँ नहीं रह सकती, क्योंकि वृत्तियाँ भी पूर्व कर्मों की भोगस्वरूपा हैं। दूसरे भिक्षु जी ने जो विदेह एव प्रकृतिलयों को असम्प्रज्ञात समाधि की प्राप्ति बतलाई है, वह भी नहीं हो सकती, क्योंकि असम्प्रज्ञात समाधि पूर्णतः वृत्तिरहित अवस्था है। इस प्रकार स्वयं भिक्षु जी का कथन उन्हीं के मत से असंगत सिद्ध हो जाता है, यह भी विचारणीय है कि असम्प्रज्ञात समाधि तो विवेक ख्याति से प्राप्त होती है और विदेह एव प्रकृतिलयों को विवेकख्याति प्राप्त नहीं होती, अन्यथा उन्हें अन्य तत्त्वों में आत्मबुद्धि ही क्यों होती ?

तथा—

“दशमन्वन्तराणीह तिष्ठन्तीन्द्रियचिन्तकाः ।

भौतिकाश्च शत पूर्ण सहस्र त्वाभिमानिकाः ॥

बौद्धा दशसहस्राणि तिष्ठन्ति विगतज्वराः ।

पूर्ण शतसहस्रं तु तिष्ठन्त्यव्यक्त चिन्तकाः ॥

पुरुषं निर्गुणं प्राप्य कालसंख्या न विद्यते” (वायुपुराण)

भिक्षु जी का कथन है कि “वायुपुराण”<sup>२</sup> की यह उक्ति अज्ञानी इन्द्रियादि उपासक कर्मदेवों की तत्-तत् पद में अवस्थित होकर अधिकार-प्राप्ति के काल की

१. “प्रकृतिलयाश्चा व्यक्तमहदहकारपञ्चतन्मात्रेष्वन्यतममात्मत्वेनप्रतिपन्ना ।” (तत्व० १/१९)

२. वायु पुराण के किसी भी संस्करण में ये श्लोक नहीं मिलते। शिवपुराण की वायवीय संहिता में भी ये श्लोक नहीं हैं। जिस वायु पुराण से ये श्लोक लिये गये हैं—यह अनुसन्धेय है।

सीमा मात्र को निर्वारित करती है, उनकी असम्प्रज्ञान-समाधिकाल की सीमा की निर्धारक नहीं है। क्योंकि इन्द्रिय आदि के चिन्तनमात्र से असम्प्रज्ञात समाधि की सिद्धि नहीं होती। इस प्रकार वे इन्द्रियादि उपामनाजन्य समाधि को प्रलय, मरण, मूर्च्छा-तुल्य कादाचित्तक वृत्त्यभाव बनलाकर उसे अपरुषार्थ सिद्ध करते हैं।

भिक्षु जी का यह कथन भी अपेक्षालब्ध ही है, क्योंकि इनकी समाधि चिन्तन-जन्य है और मरण एवं मूर्च्छादि में पीडा-निमित्तक वृत्त्यभाववन् स्थिति होती है। अत्यन्त पीडा के कारण मृत्युकाल में जीव को अत्यन्त विस्मृति हो जानेसे वृत्त्यभाववन् स्थिति होती है। श्रीमद्भागवत में कहा गया है—

“जन्तोर्वैकस्यचिद्धेतोर्मृत्युरत्यन्तविस्मृतिः” किन्तु मृत्यु एवं मूर्च्छाकाल में भी किञ्चित् अभिभूत होकर वृत्ति विद्यमान रहती है। आचार्य शंकर ने “प्रश्नोप-निषद्भाष्य” में लिखा है—“मरणकाले क्षीणेन्द्रियवृत्तिः सन् मुख्यया प्राणवृत्त्या एव एव अवतिष्ठते” (३, १०)

फिर मरण एवं मूर्च्छा आदि में तो वृत्तियों का ध्येयगून्त्य अभावमात्र होता है और इस समाधि में इन्द्रियादि का इन्द्रिय-चिन्तन ध्येय सहित है। अतः विदेह एवं प्रकृतिलयों की समाधि को मरण एवं मूर्च्छा-तुल्य समझ कर अपरुषार्थ बतलाना भी अन्याय्य है।

अविद्या-प्रत्यय का अर्थ है—अविद्यामात्रमूलक, मृत्यु मूर्च्छादि में अविद्या के साथ पीडा भी मूल है। विवरणकार के अनुसार पुर्यष्टक<sup>१</sup> शरीर से सम्बद्ध रहने वाले देव विदेह कहलाते हैं। वे (विदेह) वैराग्य एवं अभ्यास से युक्त अपने सस्कार मात्र के उपयोग वाले चित्त से उस अवस्था में कैवल्यवदनुभव करते हैं और सत्त्वगुण के विनिर्मोक से अर्थात् स्वरूप-निवृत्ति पूर्वक सस्कार द्वारा अपने उस प्रकार के सस्कार के परिपाक को क्षीण करते हैं। प्रकृतिलय के विषय में उन्होंने इससे अधिक कोई विशेष बात नहीं कही है।

विदेह एवं प्रकृतिलय कौन हैं, इस विषय में श्री भोज एवं नागोजी भट्ट का भी वाचस्पति से मत-वैपरीत्य है। श्री भोज आनन्दानुगत समाधि की अवस्था को कैवल्यवत् स्थिति समझ कर, उसी में लीन होने वालों को विदेह तथा अस्मितानुगत समाधि को चरम लक्ष्य जान कर उसमें लीन होने वालों को प्रकृतिलय बतलाते हैं,

१. पुर्यष्टक—“भूतेन्द्रियमनोबुद्धिवासना कर्मबाधय ।

अविद्याचाष्टक प्रोक्त पुर्यष्टमृषिसत्तमै ॥” (मनुस्मृति की कुल्लूक रचित व्याख्या १/५६)

किन्तु यह मागे तो दूसरा ही है। श्री भोज की यह मान्यता किसी भ्रम के ही कारण है। “विभूतिपाद” के २६वें सूत्र “भुवनज्ञान सूर्ये सयमान्” की व्याख्या में भाष्यकार श्री व्यास ने स्पष्टरूप से वितर्कानुगत, विचारानुगत, आनन्दानुगत एवं अस्मिन्नानुगत समाधि वालों के अलग-अलग नाम देकर विदेह एवं प्रकृतिलयों को उनमें भिन्न अवस्थायुक्त बतलाया है। भाष्य इस प्रकार है—

“तत्राच्युताः सवितर्कध्यानमुखाः, शुद्धनिवासाः सविचारध्यानमुखाः,  
सत्याभा आनन्दमात्रध्यानमुखाः सज्ञासंज्ञिन्श्चास्मितामात्रध्यानमुखाः।  
विदेहप्रकृतिलयास्तु मोक्षपदे वर्तन्ते न लोकमध्ये न्यस्ताः।”

नागोजी भट्ट ने “भूतेन्द्रियतन्मात्राहंकार—महतामन्यतमात्मत्वेन” उपासना करने वालों को विदेह एवं प्रकृति तथा शबल ईश्वर की आत्मत्वेन उपासना करके लीन होने वालों के प्रकृतिलय कहा है। जिनमें विदेह अल्प ऐश्वर्य वाले होने से गासित है और प्रकृतिलय प्रभूत ऐश्वर्ययुक्त होने से ईश्वर-कोटि में है, किन्तु उनका भवप्रत्यय अविद्याजनक है, यह भट्टजी को भी मान्य है।

ऐसा प्रतीत होता है कि नागोजी ने विदेह एवं प्रकृतिलयों के विषय में प्रकृति शब्द को लेकर केवल “अव्यक्त प्रकृति” में लीन होने वाले प्रकृतिलय है, यह कल्पना करके, उसके पूर्व के शेष सब तत्त्वों में लीन होने वाले ही विदेह होंगे, ऐसी मान्यता बनाली। किन्तु वास्तव में यह मतभेद वाचस्पति की गूढार्थता तक ध्यान न पहुँच सकने के कारण है। मिश्र जी प्रकृति पद से अष्टप्रकृति का अर्थ लेते हैं। हमारे भट्टजी ने शबल ईश्वर के आत्मवत् उपासकों को भी प्रकृतिलय कहा है। वह प्रकृतिलयों को प्रभूत ऐश्वर्ययुक्त बताते हैं, इसी से शबल ईश्वर के उपासकों को भी प्रकृतिलय बतला दिया है।

अन्य व्याख्याकारों में केवल भावागणेश को छोड़ कर, जिन्होंने “ते च महदादयो देवाः तेषां न साधनानुष्ठानम्”—कह कर उनकी श्रेष्ठता प्रतिपादित की है, शेष सभी व्याख्याकारों ने वाचस्पति के ही मत को पुष्टि की है। विवरणकार शंकर ने भी विदेहों की महत्ता प्रतिपादित की है तथा कुछ विषयों में उनका भिक्षु से मत साम्य भी है।

सार यह है कि यह “भवप्रत्यय”—जन्य समाधि कैवल्यार्थियों के लिये उपेक्षणीय है।

×

×

×

दूसरी है उपायप्रत्ययजन्य निर्वीज समाधि, जिसके विषय में पहिले भी बतलाया जा चुका है। यह श्रद्धा, वीर्य, स्मृति, समाधि एव प्रज्ञा पूर्वक तथा बाद में विवेकख्याति में भी विरक्तता उत्पन्न होने पर आविर्भूत होती है।<sup>१</sup> इसी को असम्प्रज्ञात समाधि कहते हैं। इस अवस्था में वृत्तियाँ पूर्णतः शान्त हो जाती हैं, केवल उनका संस्कार शेष रहता है, जिनके निरोध हेतु बारम्बार विरामप्रत्यय अर्थात् निरोध-संस्कारों का अभ्यास किया जाता है।<sup>२</sup>

असम्प्रज्ञात समाधि केवल सम्प्रज्ञात समाधि की ही विरोधिनी नहीं, अपितु विवेकख्याति रूप प्रज्ञा के संस्कारों की अवरोधकारिणी भी होती है। इस अवस्था में बारम्बार निरोध संस्कारमात्र उत्पन्न होते रहते हैं, जिससे निरोधस्थिति टूट जाती है। ऐसी आग का नहीं करनी चाहिये कि निरोधसंस्कारों के उदय होते रहने से चित्त अधिकारविशिष्ट बना रहेगा। क्योंकि निरोधसंस्कार चित्ताधिकार के विरोधी होने से भोग के हेतु नहीं है। इसी असम्प्रज्ञात समाधि से योगी जीवन्मुक्त पद प्राप्त करता है। अविद्यारूपी कारणभूत आलम्बन समाप्त हो जाने से इसे निर्वीज समाधि भी कहते हैं।

श्रीयुत ५० बलदेव उपाध्याय ने सम्प्रज्ञात एव असम्प्रज्ञात समाधि के भेद को बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त देकर समझा कर स्पष्ट किया है। तदनुसार लकड़ों के टुकड़ों से अग्नि प्रज्ज्वलित करने से प्रथम वे जलते हैं और उनका दाहक अग्नि एकाकार लौ के रूप में दृष्टिगत होता है। पहले लकड़ों के टुकड़े जलने हैं, तत्पश्चात् अग्नि स्वयं जलता रहता है। अन्ततः दाह्य पदार्थ के अभाव में आग स्वयं भी शान्त हो जाती है। इसी भाँति चित्त की अनेक वृत्तियाँ-किसी एक वस्तु में चित्त एकाग्र करने पर-क्षीण होकर ध्येयाकारवृत्ति को टूट करती है। उस समय ध्येय वृत्ति ही प्रधानतः प्रकाशित रहती है। ध्यान-प्रकर्ष-जन्य इस सुदृढ वृत्ति को समाधिप्रज्ञा कहते हैं। प्रज्ञाग्नि की प्रदीप्ति से समिधाभूत इतर-वृत्ति-समूह भस्मसात् हो जाता है। अन्त में वृत्त्यभावकाल में जब एकाग्र भूमिक चित्त ध्येयमात्र के चिन्तन में निरन्तर संलग्न रहता है, तब सम्प्रज्ञात समाधि होती है। प्रज्ञा का उदय इसी का फल है। सम्प्रज्ञात की अंतिम प्रज्ञा है—विवेकख्याति, जो ऋत सत्य का प्रकाश करती है, क्लेशों को नष्ट करती है तथा कर्मबन्धन शिथिल करके, चित्त को निरोधाभिमुख करती है।

१. “श्रद्धावीर्यसमाधिप्रज्ञापूर्वकइतरेषाम् ।” (यो० सू० १/२०)

२. “विरामप्रत्ययाम्यामपूर्वः संस्कारशेषोऽयम् ।” (यो० सू० १/१८)

नितान्त सात्त्विक होने पर भी विवेक-प्रज्ञा अन्तः वृत्ति है । अतः इसे भी निरुद्ध करने पर पूर्ण निरोध असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है ।

योगसाधक का लक्ष्य असम्प्रज्ञात समाधि ही है, क्योंकि इसकी प्राप्ति हो जाने पर कैवल्य करतलस्थ आमलकवत् हो जाता है, अर्थात् प्रारब्ध समाप्त होने पर, देहपात के साथ ही कैवल्य भी अवश्यम्भावी है ।



# योग - दर्शन

( भाष्यार्थ-बोधनी )

व्यास तथा अन्य व्याख्याकारों के आधार पर  
'पातंजल-योग-सूत्र' का विवेचनात्मक  
एवं तुलनात्मक अध्ययन

## द्वितीय अध्याय

- (१) क्रियायोग तथा उसके प्रयोजन ।
- (२) पञ्चक्लेश तथा उनके निवारण के उपाय ।
- (३) प्रज्ञा एवं ज्ञानदीप्ति ।
- (४) योग के अष्ट अङ्ग ।
- (५) इन्द्रिय - निग्रह की आवश्यकता ।



## (१) क्रियायोग तथा उसके प्रयोजन ।

### क्रियायोग—

तपस्या, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान ये क्रियायोग कहलाते हैं। वैसे क्रियायोग का शाब्दिक अर्थ है कर्म के आश्रय से योग का अभ्यास करना। शरीर, प्राण एवं इन्द्रिय आदि का उचितरूप से अभ्यास-द्वारा वशीकरण रूप तप, प्रणव आदि पवित्र भगवन्नाम जप एवं उपनिषद् इत्यादि विवेकज्ञानोत्पादक सन्-शास्त्रों का नियमित अध्ययन रूप स्वाध्याय एवं सब कर्मों के कर्मफल की अनिच्छापूर्वक ईश्वर को अर्पणस्वरूप ईश्वरप्रणिधान इनका तीनों का सामूहिक अभिधान क्रियायोग या कर्मयोग है, जिसके लिये गीता में कहा गया है—“योगःकर्मसु कौशलम्” (२/५०)।

प्रथम परिच्छेद में योग-प्राप्ति के मुख्य उपाय अभ्यास एवं वैराग्य के साधन की विविध विधियों का विधान है, किन्तु उनके आश्रय से समाहित चित्त-युक्त उत्तम अधिकारी ही योग-साधना कर सकता है। मध्यम वर्ग के अधिकारी जिनका चित्त अभी सांसारिक भोग-वासनाओं एवं राग-द्वेष आदि से चंचल (विक्षिप्त) है, उन्हें उस रीति से योग की प्राप्ति दुर्लभ है। विक्षिप्त चित्त-युक्त जिज्ञासु भी क्लेश क्षीण करके अभ्यास-वैराग्य पूर्वक समाधि को भावना कर सके, इस अभिप्राय से क्रियायोग का विधान है।

तपस्या शारीरिक, स्वाध्याय वाचिक एवं ईश्वरप्रणिधान मानसिक क्रियायोग है।

तपः—“नातपस्विनो योगसिद्धयति” इस प्रसिद्धि के अनुसार अतपस्वी को योग सिद्ध नहीं होता। अनादिकालीन क्लेश एवं कर्म के सस्कारों से सकुलित चित्त का मल तप के बिना विरल नहीं हो सकता। अतः क्रिया योग की प्राप्ति के लिये तप उसका प्रथम सोपान है, किन्तु यह तपश्चर्या इस प्रकार की होनी चाहिये जिससे शारीरिक धातु-वैषम्य से योग-साधना में विघ्न न पड़े, अर्थात् शरीर तथा इन्द्रियों में

---

१. “तप स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि क्रियायोगः।”

२. “समाविभावार्थं क्लेशतनूकरणार्थश्च।” (योग सू० २/१-२)

बाधा उत्पन्न न हो और मन प्रसन्न रहे—ऐसा तप योगेच्छु से सेव्य है।<sup>१</sup> इस प्रकार शीत-उष्ण, क्षुधा-पिपासा, सुख-दुःख, हर्ष-शोक एवं मान-अपमानादि समस्त द्वन्द्वों की दशा में विक्षेपशून्य स्वास्थ्यकारक एवं चित्त की निर्मलता का हेतु तप सात्विक कहलाता है। सात्विक तप से ही योग-साधना में स्थिर-प्रवृत्ति होती है। शारीरिक पीडा, व्याधि, इन्द्रिय-विकार एवं चित्तमालिन्य का उत्पादक तामसी तप योग में निन्दित है, क्योंकि व्याधि, शारीरिक पीडा आदि चित्त की प्रसन्नता एवं योगमार्ग के विघ्न है। युक्त आहार विहारादि से ही सात्विक तप होता है। ऐसे योग से ही क्लेशों का नाश होता है। गीता में कहा गया है—

“युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥” (६/१७)

जिस प्रकार स्वर्ण को वल्नि में तपाने से धातु-मल भस्म होकर स्वर्ण स्वच्छ एवं दीप्त हो उठता है, उसी प्रकार तपस्या की अग्नि में शरीर एवं इन्द्रियादि तप्त होकर रज एवं तम का मल नष्ट हो जाने से सत्त्वगुण के प्रकाश में वृद्धि होती है। तप शारीरिक, वाचिक एवं मानसिक तीन प्रकार के होते हैं।

### शारीरिक तप—

देवता, ब्राह्मण, गुरुजन एवं ज्ञानीजनों का पूजन, पवित्र, सरल, ब्रह्मचर्य एवं अहिंसापूर्ण जीवनयापन शारीरिक तप कहलाता है।<sup>२</sup> आसन, प्राणायाम तथा शुद्ध-सात्विक आहार-विहारादि शारीरिक तप के अन्तर्गत ही हैं। भगवद्गीता में इन्हें युक्त आहार-विहार कहा गया है। युक्त, आहार विहार युक्त साधक की योग-साधना दुःखनाशक होती है—

“युक्ताहारविहारस्य युक्तचेष्टस्य कर्मसु’।

युक्तस्वप्नावबोधस्य योगो भवति दुःखहा ॥” (६/१७)

युक्ताहार से तात्पर्य शुद्ध, सात्विक योगोपयोगी एवं परिमित भोजन से

१. “चित्तप्रसादनमबाधमानमनेनासेव्यमिति मन्यते” । (व्या० भा० २/१)

तुल० “शारीरन्तु तपो घोर साख्या प्राहुर्निरर्थकम् ।”

२. “देवद्विजगुरुप्राज्ञ पूजन शौचमार्जवम् ।

ब्रह्मचर्यमहिंसा च शारीर तप उच्यते ॥” (गीता अ० १७/१४)

है। योगाभ्यासी को आहार के विषय में पूर्ण सचेत रहना चाहिये, क्योंकि अन्न का शरीर एवं मन पर प्रकृष्ट प्रभाव पड़ता है। (तुल० अन्नमयहि सोम्य मनः—छान्दोग्य०) अन्न सात्त्विक एवं पवित्र साधनो से अर्जित होना चाहिये। स्वाद के वशीभूत न होकर शरीर में आसक्ति एवं ममता त्याग-पूर्वक शरीर एवं चित्त को केवल भजन कार्य में उपयोगी बनाने वाले स्निग्ध, मधुर, प्रिय एवं क्षुधा-परिमाण के चतुर्थ भाग से न्यून आहार करना युक्ताहार या मिताहार कहलाता है।<sup>१</sup> मिताहार का विवेक विवरण हठयोग के ग्रन्थों में द्रष्टव्य है, द्र० घरण्ड संहिता, हठयोग प्रदीपिका ।

### युक्त विहार—

अत्यन्त थकान की उत्पत्ति से भजन में विघ्नकारक लम्बी एवं कठिन यात्रा वर्जित है। चलना-फिरना बिल्कुल बन्द कर देने से भी तमरूप आलस्य एवं प्रमाद का आविर्भाव होता है। ये भजन में बाधक है। अतः घूमने-फिरने का कार्य इतनी मात्रा में होना चाहिये जिससे शरीर स्वस्थ एवं प्रसन्न रहे। इससे साधन सफलतापूर्वक होता है।

### युक्त चेष्टा—

नित्य नियमित कर्तव्य एवं नियत सत्कर्मों को करते रहना तथा अधिक शारीरिक श्रम न करना एवं कर्तव्य त्याग न करना युक्त चेष्टा है।

### युक्त स्वप्नावबोध—

आवश्यकता से अधिक या न्यून मात्रा में न सोना युक्तस्वप्नावबोध है। तमवृद्धि बचाने के लिये रात्रि में उचित परिमाण से अधिक नहीं सोना चाहिये। निद्रा को क्रमिक अल्प करना चाहिये (स्वास्थ्य आदि पर लक्ष्य रखकर), कृच्छ्र, चान्द्रायण आदि उग्र तप साधारणतया योग में वर्जित है। तप का एक सारवान् विवरण गीता १७/५-६ में द्रष्टव्य है।

आवश्यकतानुसार केवल सत्य, प्रिय एवं सबके यथायोग्य सम्मानपूर्ण वाणी का व्यवहार करना वाचिक तप है।<sup>२</sup> वाणी को सयत रखने की दृष्टि में प्रयत्नपूर्वक

१. “सुस्निग्धमधुराहारश्चतुर्थांशविजितः ।

भुज्यते शिवसम्प्रीत्यै मिताहारः स उच्यते ॥”

२. “अनुद्वेगेकर वाक्य सत्यं प्रियहितं च यत् ।

स्वाध्यायाम्यसनं चैव वाङ्मयं तप उच्यते ॥” गीता १७/१५)

सप्ताह में एक दिन का मौनव्रत रखना प्रगस्त है। (प्रारम्भिक अवस्था में ही प्रयोज्य)।

### मानसिक तप—

मन का सयम मानसिक तप है। हिंसात्मक क्लिष्ट भावनाओं को तथा अपवित्र विचारों को मन से दूर करने का प्रयत्न करना तथा मैत्री, करुणा, मुदिता आदि शुद्ध, पवित्र भावों को मन में धारण करना मानसिक तप है।<sup>१</sup>

शरीर एवं इन्द्रियों को अपनी इच्छानुसार कार्य न करने देकर अपने वश में रखना ही तपस्या है।

### स्वाध्याय—

स्वाध्याय से तात्पर्य भगवान् के पवित्र प्रणव आदि नामों तथा गायत्री आदि मंत्रों के जप तथा उपनिषद्, गीता आदि मोक्ष शास्त्रों के अध्ययन से है। इससे भी वृत्तिनिरोध होता है तथा योगसाधन में श्रद्धा होती है।

### ईश्वरप्रणिधान—

ईश्वरप्रणिधान भी योग का साधन है। मनसा, वाचा, कर्मणा जो कुछ भी कर्म करे उन सबको ईश्वर को अर्पित कर देना ईश्वरप्रणिधान है। जैसा कि निम्नश्लोक में कहा गया है—

“कामतोऽकामतो वापि यत्करोमि शुभाशुभम् ।  
तत्सर्वं त्वयि सन्यस्तं त्वत्प्रयुक्तः करोम्यहम् ।”

अर्थात् फल की इच्छा से या निष्काम भाव से जो भी शुभ या अशुभ कर्म मैं करता हूँ, वह सब मैं आपको अर्पित करता हूँ, क्योंकि (हे अन्तर्यामी परमेश्वर) मैं आपके द्वारा प्रेरित होकर कर्म करता हूँ, अर्थात् इसमें मेरापन कुछ भी नहीं है।

अथवा ईश्वरप्रणिधान का दूसरा अर्थ फल-प्राप्ति की इच्छा के परित्यागपूर्वक कर्मों का अनुष्ठान है। जैसा कि गीता में भगवान् ने कहा है—

१. “मन प्रसाद सौम्यत्व मौनमात्मविनिग्रह ।

भावसंशुद्धिरित्येतत्तपो मानसमुच्यते ॥” (गीता १७/१६)

“कर्मण्येवाधिकारस्ते माफलेषु कदाचन ।

मा कर्मफलहेतुर्भू मा ते सङ्गोऽस्त्वकर्मणि ।” (२/४७)

वस्तुतः “साधनपाद” में मध्यम अधिकारियों के हेतु अष्टांग योग के साधनो का विधान है । तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधान तो वक्ष्यमाण पाँचों नियमों के ही अन्तिम तीन भाग हैं । फिर भी व्यावहारिक जीवन को शुद्ध एवं सात्विक बनाने में ये विशेष रूप से सहायक हैं । इनसे चित्त शुद्ध एवं निर्मल होकर अष्टांगयोग सुकर हो जाता है ।

तप से शरीर, वाणी एवं अन्तःकरण की शुद्धि होती है । स्वाध्याय से तत्त्वज्ञान की प्राप्ति एवं चित्त की एकाग्रता का सम्पादन होता है । ईश्वरप्रणिधान से कर्मों में कामना एवं कर्मफल में अनासक्ति तथा ईश्वर की कृपा उपलब्ध होती है । इसी से इन्हें क्रियायोग नाम देकर अष्टांग-योग के पूर्व अनुष्ठान करने को बताया गया है । वैसे तपः—स्वाध्याय-क्रियायोग का व्यापक अर्थ लेने पर योग के आठों अंग इन्हीं में अन्तर्भूत हो सकते हैं ।

×

×

×

क्रियायोग के दो प्रयोजन हैं । समाधि की भावना करना एवं क्लेशों को क्षीण करना ।<sup>१</sup> क्रियायोग से अशुद्धि का क्षय होता है । समस्त आन्तर्बाह्य इन्द्रियों की राजस चंचलता एवं तामस जडता ही उसकी अशुद्धि है । यही अशुद्धि क्लेशों की प्रबल अवस्था है । अतः अशुद्धि का आवरण हटने से ही क्लेश क्षीण होते हैं । क्लेश क्षीण होने से चित्त समाधि की ओर अभिमुख होता है अर्थात् समाधि की भावना होती है ।

शका हो सकती है कि यदि क्रियायोग से क्लेश क्षीण हो सकते हैं, तो विवेकख्याति व्यर्थ है, अथवा प्रसंख्यानाग्नि क्लेशों को दग्ध करने में समर्थ होता है तो क्रियायोग से क्लेशों का तनूकरण व्यर्थ है ।

इसका समाधान यह है कि क्रियायोग से क्लेशों को क्षीण किए बिना प्रसंख्यानाग्नि रूप विवेकख्याति उत्पन्न नहीं हो सकती, क्योंकि प्रबल एवं विरोधी क्लेशों से सम्बद्ध चित्त विवेकख्याति उत्पन्न करने में असमर्थ है । क्रियायोग के अनुष्ठान से चित्त अभ्यास एवं वैराग्य के संपादन-योग्य बनता है । अभ्यास एवं वैराग्य से

१. “समाधिभावनाय क्लेशतनूकरणार्थश्च ।” (यो० सू० २-२)

क्रमप्राप्त सम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है। सम्प्रज्ञात समाधि के अभ्यास की दृढता से उसकी अन्तिम अवस्था में विवेकख्याति का उदय होता है। क्षीणकृत क्लेश प्रसख्यानग्नि के द्वारा भृष्टबीजवत् उत्पादकशक्ति-शून्य बनते हैं। तब परवैराग्यजन्य सस्कारो की दृढता से चित्त का विवेकख्याति रूप अधिकार भी समाप्त होकर समाधि का उदय होता है।



## (२) पंच क्लेश तथा उनके निवारण के उपाय ।

बन्धन के कारणभूत विपर्यस्त ज्ञान को क्लेश कहते हैं। योग साधनो के लिए क्लेशो को नष्ट करना अनिवार्य है, क्योंकि ये क्लेश वृत्तिमान रहकर गुणो के अधिकार को दृढ करते हैं। उनके कार्यरूप परिणाम को अवस्थापित करते हैं। अव्यक्त से महत्, महत् से अहंकार इत्यादि कार्य-कारण की परम्परा को उद्भावित करते हुए परस्पर एक दूसरे के अनुग्राहक बन कर कर्म-विपाक (जाति, आयु, भोग) को निष्पन्न करते हैं। अर्थात् कर्मों से क्लेश और क्लेशों से कर्म यह परम्परा सतत प्रवर्तित रहती है।

ये क्लेश पाँच हैं, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश।<sup>१</sup> यद्यपि पंच क्लेशों में प्रथम अविद्या ही मुख्यरूप से विपर्यस्त-ज्ञानरूपा वृत्ति है, फिर भी द्वेष अस्मिता आदि क्लेश चतुष्टय भी अविद्यामूलक होने से विपर्यय-ज्ञानस्वरूप ही है। अस्मिता आदि का सद्भाव एवं समुच्छेद अविद्या वृत्ति के ही अधीन है। प्रसुप्त, तनु, विच्छिन्न एवं उदार इन चार अवस्थाओं से युक्त अस्मिता आदि सब क्लेशों की अविद्या प्रसवभूमि के तुल्य है।<sup>२</sup>

प्रसुप्त : चित्त में बीजभाव को प्राप्त अर्थात् कार्यजन की शक्ति से युक्त अवस्था में रहनेवाले क्लेश प्रसुप्त कहलाते हैं। प्रसुप्त क्लेश अपने आलम्बनभूत विषय के समक्ष उपस्थित होने पर जागरूक या वृत्तिमान हो उठते हैं। जैसे शैशवावस्था में विषय भोग की वासनाएँ दबी रहती हैं, युवावस्था में अपना आश्रय ग्रहण कर पल्लवित होती हैं, विदेह एवं प्रकृतिलयों के क्लेश भी इसी कोटि के अन्तर्गत हैं।

तनु : क्लेशों की विरोधी भावनाओं अथवा क्रियायोग आदि से शिथिलीकृत क्लेश तनु कहलाते हैं। अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष एवं अभिनिवेश—इन पाँचों क्लेशों के प्रतिपक्ष क्रमशः सम्यक्-ज्ञान, विवेकज्ञान, तटस्थभाव, अहन्ता एवं ममता का परित्याग है। इनकी भावना (अनुष्ठान) से क्लेशभाव को प्राप्त क्लेश तनु-अवस्थायुक्त होते हैं। तनु अवस्थायुक्त क्लेश विषय-सन्निधि में भी कार्यारम्भ-सामर्थ्यहीन होने से शान्त रहते हैं, किन्तु इनके सूक्ष्म सस्कार चित्त में वर्तमान रहते हैं।

---

१. “अविद्या स्मितारागद्वेषाभिनिवेशा क्लेशा ।” (यो० सू० २-३)

२. “अविद्या क्षेत्रमुत्तरेषा प्रसुप्ततनु विच्छिन्नोदाराणाम् ।” (यो० सू० २-४)



विच्छिन्न : जिस अवस्था में क्लेश किसी अन्य प्रबल वृत्तिमान क्लेश के द्वारा अल्पकाल के लिए अभिभूत होकर उस समय केवल शक्तिरूप से रहते हैं, उन्हें उस काल में विच्छिन्न कहते हैं। ऐसे क्लेश प्रथम अभिभूत करने वाले क्लेश का अभाव होते ही पुनः वृत्तिमान हो उठते हैं। यह विच्छिन्नभाव अधिक स्थाई नहीं होता है। जैसे द्वेष होने पर राग और राग होने पर द्वेष नहीं होता, क्योंकि ये परस्पर विरुद्ध होते हैं। राग भी एक विषय में वृत्तिमान रहने से अन्यत्र न रहता हो, ऐसा भी नहीं होता है। एक स्त्री में अनुरक्त व्यक्ति अन्य में विरक्त नहीं होता, अपितु एक में उत्कृष्ट राग होने के कारण लब्धवृत्ति (उदार) है और अन्यत्र भविष्यद् वृत्ति (विच्छिन्न) है, क्योंकि वह भविष्यद् वृत्तिराग लब्धवृत्ति रागावस्था में प्रस्तुत, तनु तथा विच्छिन्न रूप से वर्तमान है।

यहाँ पर यह ज्ञातव्य है कि राग की वर्तमानावस्था में अनुत्कट क्रोध विजातीय राग की उदारता के कारण विच्छिन्न है और एक स्थान में राग के आविर्भाव काल में अन्यत्र अनुत्कट राग सजातीय राग की उदारता के कारण विच्छिन्न है। अतः एक क्लेश की उदारावस्था में अन्य क्लेश कभी प्रसुप्त, कही तनु और कोई विच्छिन्न अवस्था में वर्तमान रहते हैं।

उदार : अपने विषय में लब्धवृत्ति<sup>१</sup> अर्थात् उत्कटरूप से अपने कार्य में तत्परता पूर्वक भासमान क्लेशों की उदार अवस्था कहलाती है।

उपर्युक्त चारों अवस्थायुक्त समस्त क्लेश प्रतिपक्षों की भावना से शान्त तथा अपने अभिव्यंजक के आश्रय से पुनः उदारावस्था को प्राप्त हो जाते हैं। अतः क्लेश-प्रद होने से हेय है।

### दग्धबीजावस्था

क्लेश की इन चारों अवस्थाओं के अतिरिक्त एक और पंचमी दग्धबीजावस्था है। क्रियायोग अथवा सम्प्रज्ञात समाधि में बीजरूप में विद्यमान प्रसुप्त क्लेशों को विवेकख्याति द्वारा दग्ध कर दिया जाता है। इस अवस्था में विषय के सन्निधिकाल में पुनः क्लेश अंकुरित नहीं होते। जिस प्रकार अग्नि में जलकर बीज पुनः उत्पन्न नहीं होते, उसी प्रकार सम्प्रज्ञात समाधि से प्रतनुकृत क्लेश प्रसंख्यानाग्नि में जलकर

- 
१. उदार का यह अर्थ उदार शब्द के मूल अर्थ को ध्यान में रखने से सगत ही होता है। उद्गत है जरा जिसका वह उदार। अरा=केन्द्र से परिविपर्यत व्याप्त शर। इस उद्गतभाव को लक्ष्यकर ही उदार शब्द प्रयुक्त हुआ है।

पुनः क्लेशांकुरो को उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाते हैं। जैसा कि कहा गया है—

“बीजान्यग्न्युपदग्धानि न रोहन्ति यथा पुनः ।

ज्ञानदग्धैस्तथा क्लेशैनात्मना समपद्यते पुनः ।”

सूत्रकार ने अविद्या-क्षेत्र में क्लेश की चार ही अवस्थाओं का कथन किया है। पंचम दग्धबीजावस्था का नहीं किया, क्योंकि प्रथम चार अवस्थाएँ क्लिष्ट होने से हेय हैं और उनके हान के लिए विशेष प्रयत्न करने पड़ते हैं। पंचमी अवस्था क्लेशोत्पादक नहीं है। दूसरे इस अवस्था की निवृत्ति हेतु प्रयत्न विशेष नहीं करना पड़ता है। असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा चित्त के स्वकारण में लीन होने के साथ इस अवस्था की भी स्वतः निवृत्ति हो जाती है।

### क्लेशों का स्वरूप—

#### अविद्या—

क्लेशों में से प्रथम अनित्य, अपवित्र, दुःखद एवं अनात्मा पदार्थों में क्रमशः नित्य, पवित्र, सुखद एवं आत्मबुद्धि रखना अविद्या कहलाती है।<sup>१</sup>

उदाहरणार्थ यह सम्पूर्ण जगत् उसकी सम्पत्ति एवं स्वर्ग आदि प्रपञ्च सब अनित्य है। इनमें नित्यबुद्धि रखना अविद्या है। नित्य=ध्वंस शून्य।

श्लेष्मा (कफ), रक्त, मल-मूत्र आदि से युक्त परम बीभत्स अपवित्र शरीर को पवित्र मानना, अशुचि में शुचिख्यातिरूप अविद्या है। अधर्म, पाप, हिंसा आदि अनेक अशुद्धियों से पूर्ण अन्तःकरण को शुद्ध समझना अविद्या है।

सांसारिक विषय-भोग सब परम दुःखरूप हैं, इनमें सुखख्याति अविद्या है।

इसी प्रकार शरीर, इन्द्रिय, चित्त आदि अनात्म पदार्थों को आत्मा समझना अनात्मा में आत्मख्याति है। पहिले बतलाया जा चुका है कि अविद्या समस्त क्लेशों की जननी होने से शेष चारों क्लेशों में भी अनुगत है। यह अनित्य नित्यख्याति आदि पूर्वोक्त भेदों से चार प्रकार की है। अविद्या के उक्त चारों लक्षणों में से अनित्य में नित्य का ज्ञान अभिनिवेश क्लेश में प्रधानतया अनुगत है।

१. “अनित्याशुचिदुःखानात्मसु नित्यशुचिसुखात्मख्यातिरविद्या ।” (योग सू० २/५)

इसी प्रकार अशुचि में शुचि का ज्ञान राग क्लेश में व्याप्त है, दुःख में सुखज्ञान का द्वेष में प्राधान्य है और अनात्म में आत्मज्ञान अस्मिता क्लेश में मुख्य रूप से रहता है। इस प्रकार अविद्या ही इन चारों में व्याप्त है।

×

×

×

### अस्मिता—

दृक्-शक्ति (पुरुष) एवं दर्शन-शक्ति (बुद्धि) की अभिन्नवत् प्रतीति अस्मिता क्लेश है।<sup>१</sup>

पुरुष दृक्-शक्ति अर्थात् द्रष्टा है। बुद्धि दर्शन शक्ति अर्थात् समस्त प्रपञ्च को दिखलाने का साधन है। पुरुष भोक्ता है, बुद्धि भोग्य है। इस प्रकार ये दोनों परस्पर अत्यन्त भिन्न हैं। इनका अभिन्न बोध ही अस्मिता नामक क्लेश है। पुरुष चेतन है, चित्त जड, पुरुष अपरिणामी है, चित्त परिणामशील। दर्शनशक्ति अर्थात् दृश्य देखने के लिये व्यवहार में आनेवाले यन्त्र है। सत्त्व एवं पुरुष के अविशेष-प्रत्यय को भोग कहा गया है (३/३५)। सुख-दुःख भोग्य है, जो अन्तःकरण में होते हैं। अतः अन्तःकरण भोग्यशक्ति है। करण में आत्मख्याति होना ही अस्मिता है। प्रदानकरण होने से बुद्धि को अस्मितामात्र कहा गया है। अन्य इन्द्रियो में आत्मख्याति भी अस्मिता है। किन्तु वे सब बुद्धि की ही परिणाम-स्वरूपा हैं। अतः बुद्धि को ही भोग्यशक्ति=दर्शनशक्ति कहा गया है।

पञ्चशिखाचार्य ने भी कहा है—

“बुद्धितः परं पुरुषमाकारशीलविद्यादिभिर्विभक्तम्-  
पश्यन् कुर्यात् तत्रात्मबुद्धिं मोहेन।”<sup>२</sup>

(पुरुष) बुद्धि से परे पुरुष को अपने आकार, शील एवं विद्या आदि के द्वारा भिन्न न देखकर उसमें आत्म बुद्धि मोहवश होती है।

यही असंग पुरुष एवं चित्त का पारस्परिक अव्यारोप है। इसी से आत्मा

१. “दृक्दर्शनशक्त्योरेकात्मतेवा स्मिता।” (योग० सू० २-६)

२. इस वचन में “आकार”=सदा विशुद्धि। “विद्या”—चैतन्य “शील”=औदासीन्य या साक्षित्व, पुरुष के इन लक्षणों का ज्ञान न होने से ही उसे बुद्धि से अभिन्न समझ कर अविद्यावश बुद्धि को ही आत्मा मान लेते हैं।

में बन्धन का आरोप होती है। इसे हृदयग्रन्थि भी कहते हैं। मुण्डक उपनिषद् में इसके उच्छेद का उपाय सत्त्वपुरुषान्यताख्याति बताया गया है—

“भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः ।

क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन् दृष्टेपरावरे ॥” (२/२/८)

अर्थात् उस पर एव अवर अर्थात् चेतन पुरुष तथा जड चित्त का विवेकशुक्ल सक्षात्कार हो जाने पर हृदय-ग्रन्थि भिद जाती है। समस्त सगुण छिन्न-भिन्न हो जाते हैं और सम्पूर्ण कर्मों का क्षय हो जाता है।

यहाँ इतना विशेष और अवगन्तव्य है कि पुरुष-प्रतिविम्बित चित्त की सज्ञा अस्मिता तथा पुरुष एव चित्त की अभिन्न प्रतीति अस्मिता क्लेश है। पुरुष व चित्त का विविक्त ज्ञान विवेकख्याति है।

अस्मिता अहंभाव अर्थात् मैं हूँ, मैं मुखी हूँ, मैं दुःखी हूँ, आदि अहंकार को कहते हैं।

इस अस्मिता क्लेश के कारण शरीर, इन्द्रियो एव मन में अहमत्त्व-ममत्वादि उत्पन्न होते हैं। अतः उनको सुखानुभूति करानेवाले विषयो और पदार्थों में आशक्ति उत्पन्न हो जाती है, वही वक्ष्यमाण राग नामक क्लेश होता है।

**राग—**

मुख-भोग के पश्चात् उसके प्रति पुनः भोगने की जो अभिलाषा रहती है, उसी को राग कहते हैं।<sup>१</sup>

मुख से परिचित व्यक्ति के मन में मुख की वारम्बार स्मृति होती है और वह फिर मुख भोगना चाहता है। फलस्वरूप मुख के साधन स्त्री, पुत्रादि तथा ऐश्वर्य-भोगादि को प्राप्त करने के हेतु मन में एक चाह, तृष्णा या लोभ उत्पन्न हो जाता है, वही राग नामक क्लेश है।

इस राग से ही द्वेष नामक क्लेश की उत्पत्ति होती है। चित्त में राग के सस्कार दृढ होने पर जिस किसी के द्वारा सुख-साधन प्राप्ति में बाधा पड़े उसके प्रति द्वेष भावना उदित होती है।

१. “सुखानुशयी राग ।” (यो० सू० २/७)

द्वेष—

दुःख के अनुभव के पश्चात् दुःख की स्मृतिपूर्वक दुःख अथवा दुःख के साधनभूत शत्रु आदि में जो बदला लेने की इच्छा अथवा क्रोध उत्पन्न होता है, उसे द्वेष कहते हैं। इस प्रकार दुःख के पीछे दुःख के संस्कार से उत्पन्न आशययुक्त वृत्ति द्वेष है।<sup>१</sup>

द्वेष अर्थात् शरीर इन्द्रियादि का दुःख एव हनन से वचाने के संस्कार ही अभिनिवेश क्लेश के उत्पादक है।

अभिनिवेश—

अविद्वानो के समान विद्वानो के चित्त में भी स्वाभाविक रूप से सिद्ध (मरणत्रास रूप) क्लेश अभिनिवेश कहलाता है।<sup>२</sup>

जीवन के प्रति ममत्व प्राणिमात्र में देखा जाता है। प्रत्येक व्यक्ति यह कामना करता है कि मैं जीवित रहूँ, मेरा अभाव न हो। सर्वप्राणिगण इस मनोभाव से पूर्वजन्म में अनुभूत मरणत्रास की अनुमिति होती है। पूर्व अनुभव के बिना स्मृति असंभव है। मरण का अनुभव वर्तमान जन्म में हुआ नहीं है, फिर भी प्राणी उससे भयभीत होता है। भय का आधारभूत कोई भयंकर अनुभव अवश्य होता है। जिसने पहिले कभी मृत्यु का अनुभव नहीं किया उसमें आत्म-अस्तित्व विषयक प्रार्थना का भाव नहीं हो सकता है। पूर्वानुभूत मरण दुःख भय के अनेक संस्कार ही कालान्तर में जीवन के प्रति इस ममत्व के रूप में परिणत हो जाते हैं। प्रत्येक व्यक्ति में पूर्वजन्मानुभूत संचित संस्कारों से उत्पन्न यह अभिनिवेश क्लेश स्वाभाविक रूप से<sup>३</sup> क्रियाशील रहता है। साथ ही यह मूढातिमूढ को जिस प्रकार क्लेश देता है, उसी

१. “दुःखानुशयी द्वेषः।” (यो० सू० २/८)

-

२. “स्वरसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः।” (यो० सू० २/९)

३. अभिनिवेश स्वाभाविकरूप की भाँति क्रियाशील अवश्य रहता है, किन्तु वस्तुतः स्वाभाविक है नहीं। बहुधा ऐसी शका की जाती है कि मरणभय तो स्वाभाविक है, अतः इसमें पूर्व अनुभव की क्या आवश्यकता है? मरणभय किसी निमित्त से अर्थात् भयावह दृश्यादि के उपस्थित होने पर ही व्यक्तभाव धारण करता है, सर्वदा नहीं। अतः वह अस्वाभाविक है। स्वाभाविक न होने के कारण इसका कोई न कोई निमित्त अवश्य होगा।

प्रकार श्रुतानुमानादि ज्ञान-सम्पन्न विद्वानो को भी क्लेश पहुँचाता है, क्योंकि यह पूर्वजन्मों की वासना से जन्य है।

कहा जा सकता है कि वर्तमान जन्म में भविष्य में होने वाले मरणत्रास के अनुमान से ही अभिनिवेश क्लेश हो सकता है। अतः पूर्व जन्म में अनुभूत मरणत्रास की कल्पना व्यर्थ है। इसका समाधान यह है कि यदि यह त्रास भावी मृत्यु की कल्पनाजन्य ही होता, तो इसे जन्मजात नहीं होना चाहिये था। सद्योजात शिशु, कीट-पतंग आदि तक में यह उच्छेद-स्वरूप मरण-भय की भावना पाई जाती है। बालक अत्यन्त प्रारंभिक अवस्था से ही स्वतः डरता है। इससे सिद्ध होता है कि उसके मन में पूर्व कालीन मृत्यु की अनुभूति से जन्य संस्कार वर्तमान है, क्योंकि उसने इस जन्म में तो मृत्यु का अनुभव अभी किया नहीं है। दूसरे यदि यह भय भावी मृत्यु की कल्पना से जन्य हो तो शास्त्रोपदिष्ट —

“य एनं वेत्ति हन्तारं यश्चैनं मन्यते हतम् ।

उभौ तौ न विजानीतो नायं हन्ति न हन्यते ।

नेनं छिदन्ति शस्त्राणि नेनं दहति पावकः ।

न चैनं क्लेशयन्त्यापो न शोषयति मारुतः ॥” (गीता २।१९-२३)

इत्यादि ज्ञान-सम्पन्न विद्वानो (मननकारी मात्र, आत्मदर्शनकारी विद्वान नहीं) को नहीं होना चाहिये था। अतः इस प्रकार आत्मा को अजर-अमर जानने वाले शास्त्रज्ञ विद्वानों में भी यह भय दृष्टिगोचर होता है। वे भी पूर्व अनुभूत भय के संस्कारों से विवश होकर भौतिक शरीर की रक्षा में संलग्न रहते हैं।

यह अवश्य ही जानना चाहिये कि अभिनिवेश क्लेश के लक्षणस्वरूप “स्व-रसवाही विदुषोऽपि तथा रूढोऽभिनिवेशः” इस सूत्रांतर्गत विदुस (विदुषः-षष्ठी का एकवचन) शब्द का अर्थ शास्त्रज्ञ विद्वान है, सम्प्रज्ञात समाधिनिष्ठ योगी नहीं, क्योंकि “आनन्दं ब्रह्मणो विद्वान न बिभेति कदाचन” यह श्रुति (तै० उप० २।४/१) समाधिनिष्ठ योगी की निर्भीकता में प्रमाण है। श्री वाचस्पति मिश्र भी “न सम्प्रज्ञावान विद्वान, अपितु श्रुतानुमित विवेकः” यह कह कर विद्वान पद से शास्त्रज्ञ विद्वान का ही अर्थ ग्रहण करते हैं; किन्तु विज्ञानभिक्षु विद्वान पद का सम्प्रज्ञात समाधिनिष्ठ विद्वान अर्थ करते हुए, उसे भी अज्ञानियों के समक्ष मरणात्रासयुक्त बतलाते हैं। भिक्षु जी का कथन श्रुति विरुद्ध तो है ही, साथ ही सूत्र के भी विरुद्ध है। क्योंकि—“तज्जः संस्कारोऽन्य संस्कार-प्रतिबन्धी” (१-५०) महर्षि पतंजलि के इस कथन से सम्प्रज्ञात-

समाधिजन्य सस्कार, अन्य मिथ्या सस्कारों के विरोधी सिद्ध होते हैं। फिर सम्प्रज्ञात समाधि-साधना से विवेकाख्याति द्वारा क्लेश नष्ट होते हैं। अतः विद्वान् पद का अर्थ सम्प्रज्ञात समाधिनिष्ठ विद्वान् करना सूत्र के स्वारस्य को नष्ट करना है, जब कि वह अपना सरल स्वाभाविक अर्थ शास्त्रज्ञ के रूप में स्पष्ट ही दे रहा है। विवरणकार ने भी विद्वान् पद से सम्प्रज्ञात समाधिनिष्ठ योगी का अर्थ न ग्रहण कर वाचस्पति सम्मत मत को मान्यता प्रदान की है। भास्वतीकार हरिहरानन्द आरण्य भी वाचस्पति जी के तथ्य को और अधिक स्पष्ट तथा पुष्ट करते हुए कहते हैं कि—“विदुषः आगमानुमान-ज्ञानवतो न तु सम्प्रज्ञानवतः, आगमानुमानाभ्यां येन पूर्वपरांतो विज्ञातस्तादृशस्य विदुषः अनादिः पुरुषः “पुराणस्त्रयम्भू पुरुष” इति “पूर्वान्त विज्ञानम्”। “वासांसि जीर्णानि यथा विहाय नवानि गृह्णाति नरोऽपराणि तथा देहान्तरप्राप्तिं रित्येव पुरुषस्यामरत्व विज्ञानमेवापरांत विज्ञानम्” अतः इस प्रकार जिसके द्वारा श्रुतानुमानादि से आत्मा का अमरत्व ज्ञात है, ऐसे शास्त्रज्ञ विद्वान् को भी अभिनिवेश क्लेश होता है। किन्तु यह स्मर्तव्य है कि यह विद्वान् केवल शब्दों का ज्ञाता अर्थात् कोरा शास्त्रज्ञ है, क्रियात्मकरूप से योग द्वारा अनुभव अथवा यथार्थ ज्ञान का साक्षात्कर्ता नहीं।

श्री राघवानन्द सरस्वती भी इसी प्रकार से—

“न त्वेवाहं जातु नासं न त्वं नेमे जनाधिपाः ।

न चैव न भविष्यामः सर्वे वयमतः परम् ॥”

गीता (२।१२) के इस श्लोक को उद्धृत करके, इस प्रकार स्मृति आदि से जिसने आत्मा का अमरत्व जान लिया है, ऐसे शास्त्रज्ञ-मात्र विद्वान् का अर्थ (विदुषः पद से) ग्रहण करते हैं।

“श्रुतानुमानाभ्यां ज्ञातससारकैवल्यतत्त्वस्य विदुषोऽपि मरणत्रासरूपोऽभिनिवेश इत्यर्थः” इत्यादि वचनों के द्वारा श्री नागोजी भट्ट ने भी वाचस्पति प्रभृति विद्वानों के अनुरूप विद्वान् शब्द का शास्त्रज्ञ विद्वान् अर्थ स्वीकार किया है।

शेष व्याख्याकारों में से केवल भोज को छोड़ कर अन्य सभी व्याख्याकारों ने सामान्यतः विद्वान् शब्द ही व्यवहृत करके उसका कोई अर्थ-विशेष स्पष्ट नहीं किया है।

श्री भोज के मत में यह अभिनिवेश दुःख सामान्य कीट से लेकर ज्ञानसम्पन्न मानव तक को निमित्तभेद से होता है। “आकृमेब्रह्मपर्यन्त” इत्यादि उनके कथन में

ब्रह्म शब्द का तात्पर्य हिरण्यगर्भ ब्रह्म से है—ब्रह्मपर्यन्त=ब्रह्मापर्यन्त, ब्रह्मा=हिरण्यगर्भ ।

सारांश यह है कि समस्त क्लेश त्वाज्य है, क्योंकि वर्तमान (दृष्ट) अथवा भावी (अदृष्ट) जीवन में भोग्य कर्माग्य (कर्मसंस्कार-समूह) की जड़ उक्त क्लेश ही होते हैं । कारण यह है कि धर्म-अधर्मान्मक कर्माग्य काम-क्रोधमोहादि-प्रभूत ही होता है । प्राणी पुण्य एवं पाप कर्म करता है । राग से सुख के लिये पर प्रसाद यजन-पूजन इत्यादि पुण्य भी करता है तथा प्राणिपीडन आदि अपुण्य भी । इसी प्रकार द्वेष से भी दुःख-निवृत्ति के लिये पुण्य-पापमय दोनों ही प्रकार के कर्म होते हैं । सुख से सुखद विषय में राग और सुख-विरोधी विषयों में द्वेष उत्पन्न होता है । दुःख से दुःखद विषय में द्वेष एवं तद्विरोधी विषयों में राग उत्पन्न होता है । सब के मूल में अविद्या विद्यमान रहती है तथा प्रत्येक क्लेश एक दूसरे की उत्पत्ति में सहायक है । यह पहले कहा जा चुका है । अतः इस प्रकार पुण्य एवं पाप रूप प्रत्येक कर्म का वृत्त्याकार समाप्त होकर उसका सूक्ष्म संस्कार चित्त पर पड़ना रहता है । इस प्रकार प्रत्येक मने वृत्ति द्वारा पड़ने वाले संस्कार ही वासना का रूप धारण कर लेते हैं । इन्हीं कर्म-संस्कार-समूहों को कर्माग्य कहते हैं । इस प्रकार कर्माग्य का मूल कारण क्लेश ही है, जैसा की भाष्यकार की—“तत्रपुण्यापुण्यकर्माग्यः काम-क्रोध लोभ मोहप्रभवः”—उक्ति से भी स्पष्ट है । यहाँ पूर्वोक्त अविद्यादि पञ्च क्लेश ही काम-क्रोधादि नामों से अभिहित हैं । यथा मोह का अर्थ अविद्या, अस्मिन्ना, काम का राग, क्रोध का द्वेष तथा लोभ का अर्थ अभिनिवेश है । अतः कर्माग्य को “कामक्रोधादिप्रभव”

#### १. “क्लेशमूल कर्माग्यो दृष्टादृष्टजन्मवेदनीय” (यो० सू० २/१२)

कर्माग्य—कर्म संस्कार समूह । चित्त में कोई वृत्ति आने पर उसकी म्यूठ क्रिया कुछ काल बाद समाप्त हो जाती है । पर उसकी सूक्ष्म छाप चित्त पर पड़ जाती है । यही संस्कार है । संस्कार सबीज-निबीज द्विविध होते हैं । क्लिष्ट वृत्ति-जन्य अज्ञानमूलक संस्कार तथा अक्लिष्ट वृत्ति जन्य प्रज्ञामूलक संस्कार के भेद से सबीज संस्कार भी दो प्रकार के होते हैं । क्लेशमूलक सबीज संस्कारों की समष्टि का नाम कर्माग्य है । इसी कर्माग्य का जाति, आयु और भोगरूप में विपाक होता है ।

कर्म—विपाक होने पर उसके अनुभवमूलक संस्कार का नाम वासना है । वासना का जाति-आयु-भोगरूप विपाक नहीं होती है, किन्तु कर्मों के विपाक हेतु विपाकोचित वासना रहना आवश्यक है ।



कहने से अविद्या अस्मितादि पचक्लेशप्रभव समझना चाहिये। यह भी अवगन्तव्य है कि इच्छा-स्वरूप काम तथा लोभ तथा लोभ से काम्य-कर्मों में प्रवृत्ति होने पर स्वर्गादि सुख-जनक धर्म उत्पन्न होता है और काम एवं लोभ से ही परद्रव्यापहरण आदि अशुभ कर्मों से नरकादि दुःखोत्पादक अधर्म उत्पन्न होता है। अधर्म में धर्म बुद्धि ही मोह है। अतः मोहवश यज्ञ-यागादि में अधर्म रूप हिंसादि में धर्म बुद्धिपूर्वक प्रवृत्ति होने पर अधर्म उत्पन्न होता है। क्रोध-वश परपीड़न एवं ब्रह्म-वध आदि अधर्म कर्म होते हैं। कभी-कभी क्रोधवश धर्माचरण भी दृष्टिगोचर होता है। जैसे बिमाता के अपमान-जन्य क्रोध के कारण ध्रुव ने तप-अनुष्ठान से प्रकृष्ट धर्म प्राप्त किया था। तात्पर्य यह है कि क्लेश ही इस सम्पूर्ण अनर्थ परम्परा का मूल कारण है।

कर्मशय दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय के भेद से दो प्रकार का होता है। तीव्रसंवेगपूर्वक किये हुए अनुष्ठान से मंत्र, तप समाधि आदि से सम्पादित अथवा ईश्वर, देवता एवं ऋषियों की अर्चा पूजा से निष्पन्न, पुण्य रूप कर्मशय शीघ्र ही फल देता है। इसी प्रकार दाहण अविद्या के कारण भयभीत, व्याधिग्रस्त दीन, शरणागत अथवा तपस्त्री महात्माओं के प्रति किये गए अपकार से निष्पन्न पापरूप कर्मशय भी शीघ्र ही परिपाक को प्राप्त होता है। सारांश यह है कि अत्युत्कट पुण्य या पाप कर्म, सस्कारों के विशेष प्रबल होने से शीघ्र ही इसी जीवन में अपना फल प्रदान करते हैं। मनुष्य इसी जीवन में अत्यन्त प्रबल शुभ सस्कार उपाजित करके अपने शरीर को देवशरीर में परिणत कर सकता है। जैसे कि बालक नन्दीश्वर ने एक ही जन्म में मनुष्य शरीर को त्यागकर देव शरीर को प्राप्त किया था। इसी प्रकार देवेन्द्र नहुष ने उग्र पाप-कर्मवश देव-शरीर से सर्प-शरीर को प्राप्त किया था।<sup>१</sup> ये दोनों ही दृष्टजन्मवेदनीय कर्मशय के उदाहरण हैं।

नारकीय प्राणियों का कर्मशय सदैव अदृष्टजन्मवेदनीय ही होता है, क्योंकि नरक में भोगने योग्य पीड़ा इस जीवनकाल में नहीं भोगी जा सकती है। पर इस विषय में मतभेद है।

भाष्यकार व्यास का मत है कि नारकीय व्यक्तियों का दृष्टजन्मवेदनीय

- 
१. नन्दीश्वर की कथा के हेतु द्रष्टव्य शिवपुराण—सप्तकुमारसंहिता का ४५ वां अध्याय। राजा नहुष की कथा का वर्णन महाभारत, अनुशासन पर्व, (१३/१०० अ०)। उद्योगपर्व, (अ० १५/१७) में द्रष्टव्य है।

कर्मशय नहीं होता है, क्योंकि सहस्रो वर्षों तक भोगने योग्य कुत्सित कर्मों का फल शतवर्षावधि में नहीं भोगा जा सकता है तथा प्रसख्यान-अग्नि में कर्मशयों को दग्ध किये हुए योगियों व ज्ञानियों का दृष्टजन्मवेदनीय कर्मशय नहीं हो सकता है, किन्तु श्री विज्ञानभिक्षु ने —“तत्र नारकाणां नास्ति दृष्टजन्मवेदनीयः कर्मशयः”—इस पक्ति से नारकाणां पद का अर्थ “नरक के निवासियों” के अर्थ से ग्रहण करके कहा है कि साधन सामग्री के अभाव में कर्मनिष्ठान न हो सकने के कारण नारकीय प्राणियों का दृष्टजन्मवेदनीय कर्मशय नहीं होता है। साथ ही स्वर्गीय प्राणियों को कर्मोपयोगी मानव शरीर न प्राप्त होने पर भी वे लीला विग्रह धारण करके प्रयाग आदि तीर्थों में स्नानादि कर्मनिष्ठान से, उनका कर्मशय दृष्टजन्मवेदनीय हो सकता है। अतः श्री भिक्षु जी के अनुसार भाष्यकार ने केवल नारकीयों के लिये ही दृष्टजन्मवेदनीय कर्मशय का निषेध किया है। सूत्रकार एवं भाष्यकार दोनों ने स्वर्ग और नरक के कारण-भूत पुण्य-पापरूप कर्मशयों को ही वलेशमूलक एवं दृष्टजन्मवेदनीय प्रतिपादित किया है। देवादि के सामान्य कर्मशयों को नहीं और इसीलिये भाष्यकार ने मानवतन-धारी नन्दीश्वर तथा नहुष को ही दृष्टजन्मवेदनीय कर्मशयवालों में उदाहृत किया है, देवतातनधारी इन्द्रादि को नहीं। नरकवासियों में साधना भाव से जब कर्म ही नहीं होते तब उनके कर्मशयों में दृष्टजन्मवेदनीयता का निषेध करना भाष्यकार का असंगत हो जाएगा, साथ ही क्षीण-क्लेश ज्ञानियों व योगियों की भाँति नारको का भी जो नरक प्राप्ति के हेतुभूत, इस जगत् में जो किया हुआ कर्म है, वही ग्राह्य है।

प्रसख्यान-प्राप्त योगियों के क्लेश एवं सस्कार विवेकाग्नि से दग्ध हो चुकते हैं। अतः क्लेशमूल नष्ट हो जाने से पुनः क्लेशाङ्कुरप्ररोह का एवं तज्जन्य कर्मशय की उत्पत्ति का प्रश्न ही नहीं रहता है। जब कर्मशय ही न रहेगा तो भावी जन्म में भोग कैसे हो सकता है? क्योंकि क्लेशमूल विद्यमान रहने पर ही उसका जाति, आयु एवं भोग के रूप में विपाक होता है।

यहाँ जाति का अर्थ है—जन्म, अथवा देव, मनुष्य, पशु, पक्षी एवं कीट पतंगादि योनियाँ। आयु शब्द जीवनकाल को निर्धारित करता है अर्थात् प्रारब्धानुसार जिस निश्चित अवधि-पर्यन्त पिण्डप्राण-सम्बन्ध रहता है उसे आयु कहते हैं। इन्द्रियादि से सुख-दुःखादि का साक्षात् अनुभव करना भोग है।

१. “सतिमूले तद्विपाको जात्यायुर्भोगाः।” (यो० सू०, २/१३)

पूर्वोक्त क्लेश-मूल के विद्यमान रहने पर ही कर्माशयरूप वृक्ष पुष्ट होकर जाति, आयु एवं भोग के रूप में फलोत्पत्ति करने में समर्थ होता है। विवेकख्याति द्वारा क्लेशमूल उच्छिन्न हो जाने पर वह नवीन फल-फलवादि उत्पन्न करने में असमर्थ हो जाता है। जिस प्रकार किसी हरे-भरे फल-फूलों से लदे वृक्ष को जड़ से खोद डालने पर वह पुनः बढ़ कर पल्लवित नहीं हो सकता, वरन् धीरे-धीरे उसके हरे-भरे पत्ते, फल-फूल सब स्वतः धूप-वात में सूख कर नष्ट हो जाते हैं। उसी प्रकार क्लेशमूल का विवेकख्याति द्वारा उच्छेद हो जाने पर वह पुनः नवीन कर्माशय एवं कर्मविपाक उत्पन्न नहीं कर सकता है और पूर्व कर्मों से प्राप्त जाति, आयु और भोगों का भी धीरे-धीरे अभ्यास एवं वैराग्य से क्षय हो जाता है, अथवा जिस प्रकार तुष (भूसी) से सम्बद्ध अदग्ध बीज-भाव को प्राप्त धान के चावल अकुरोत्पत्ति में समर्थ होते हैं तुषरहित (भूसी से अलग कूटे हुए) दग्ध बीज भाव को प्राप्त चावल नहीं, इसी प्रकार अविद्यादि क्लेश-संयुक्त धर्माधर्म रूप कर्माशय जात्यादि रूप अकुर उत्पन्न कर सकते हैं, क्लेशरहित प्रसख्याग्नि से दग्ध-बीज भाव को प्राप्त कर्माशय विपाकप्ररोही नहीं होते हैं। अतः रागद्वेषादि क्लेश वर्तमान रहने पर ही उनके सत्कारों से कर्माशय और कर्माशय के विपाक से फिर जाति, आयु, भोग से क्लेश उत्पन्न होते हैं, क्योंकि कारण के वर्तमान रहने पर ही वह व्यक्तभाव का आश्रय ग्रहण करके फल देता है या कार्यरूप में परिणत होता है। कार्य सूक्ष्मभाव धारण करके पुनः नवीन कार्य का कारण बनता है। वृक्ष से बीज, बीज से वृक्ष, इसी तरह क्लेशों से कर्माशय, कर्माशय से क्लेश उत्पन्न होते हैं। अतः जब क्लेश नष्ट हो जायेंगे तो उनके कर्म सत्कार कहाँ से रहेंगे। अतः पहले क्लेश नष्ट करने चाहिए क्योंकि वे स्थूल हैं। प्रथम स्थूल मल को हटाने पर ही सूक्ष्म मल की निवृत्ति की जा सकती है।<sup>१</sup>

कर्माशय दृष्टजन्मवेदनीय और अदृष्टजन्मवेदनीय होते हैं, जिनका

- 
१. “यथा वस्त्रादेर्विविधो मलः स्वल्पास्त्रल्पप्रयत्नाभ्यां नाशयते तथात्र ध्याननाश्या स्थूलमल-स्थानीया वृत्तयः, सूक्ष्मास्तु प्रतिप्रसवनाश्याः ।” (पातञ्जल रहस्य २/११)

तथा

“यथा वस्त्राणामिति, निर्धूयते वाताहत्या निराक्रियते, यत्नेन, पापाणे प्रहारादिना, उपायेन धारसयोगादिना, अत्रेदं दृष्टान्ते साधनत्रयं दार्ष्टान्तिकेऽपि साधनचित्वाभिप्रायेणोक्तं, स्वल्पेति । स्वल्प क्रियायोग प्रतिपन्नस्तनुनाहेतुर्यासा स्थूलामननूकृतानां तास्तथा महान-तिदुष्कर प्रसख्यानाग्निरसम्प्रज्ञातयोगसाध्यचित्तनाशश्च प्रतिपन्नौ दाहकनाशकौ यासामिति महाप्रतिपन्ना—इत्यर्थः ।” (योगवार्तिक २/११)

पहले प्रतिपादन किया जा चुका है। इस विभाग के अतिरिक्त कर्माशय नियतविपाक एवं अनियत-विपाक के अनुसार भी दो प्रकार के होते हैं। नियत-विपाक का अर्थ है—निश्चितरूप से फल देने वाला कर्माशय, तथा अनियतविपाक का अर्थ है, अनिश्चित रूप से फल देने वाला कर्माशय, क्योंकि दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय तो निश्चितरूप से इसी जन्म में फल देगा, अन्यथा उसकी दृष्टजन्मवेदनीयता ही नहीं सिद्ध होगी। अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय नियतविपाक और अनियतविपाक दोनों प्रकार का हो सकता है।

यहाँ यह स्मर्तव्य है कि प्रत्येक कर्माशय का फल जाति, आयु और भोग नहीं होता। प्रत्येक जन्म में चूँकि अनेक विचित्र प्रकार के कर्मों का संस्कार होता है, अतः कर्माशय दुर्विज्ञेय विचित्र और अनेक प्रकार के फल देने वाला होता है। किसी एक जाति में एक निश्चित प्रकार के देह के साथ जीवात्मा सम्बन्धरूप फल किसी एक ही कर्माशय का होता है। इस प्रकार पूर्व संचित कर्मों में से एक जन्म द्वारा क्षय मुख्यतः किसी एक ही कर्माशय का होगा। इस प्रकार अवशिष्टकर्मों की फल प्राप्ति कर अवकाश ही न मिल सकेगा। अतः फलक्रम का निश्चय न हो सकने के कारण लोगों को कर्मानुष्ठान में अप्रवृत्ति होगी यहाँ पर कर्माशय का तात्पर्य वह कर्म संस्कार समूह है, जो फलोत्पत्ति करता है।

यहाँ पर भाष्यकार व्यास ने विचारपूर्वक यह भी प्रतिपादित किया है कि एक कर्म अनेक जन्मों का कारण भी नहीं हो सकता है, क्योंकि जब एक कर्म से एक जन्म मानने में भी कर्मफल को अवकाश नहीं रहता है तो, एक कर्म से अनेक जन्म मानने में तो और भी अवकाशाभाव एवं फल प्राप्ति विषयक अनाश्वास प्राप्त होगा।

अनेक कर्म एक साथ अनेक जन्म के कारण भी नहीं हो सकते हैं, क्योंकि कोई भी व्यक्ति एक समय में अनेक जन्म या देह धारण नहीं कर सकता। एक समय में एक पुरुष एक ही देह धारण करता है, अनेक नहीं।

सारांश यह है कि प्रत्येक कर्म का अलग-अलग जाति, आयु एवं भोगरूप में विपाक नहीं होता है। अनेक कर्म मिलकर किसी एक जन्म का संपादन करते हैं तथा उनसे निश्चित भोग के उपयुक्त अवधिपर्यन्त आयु निर्धारित करते हैं। यही अनुभवगम्य भी है, क्योंकि एक जन्म में अनेक प्रकार के कर्मों के फलस्वरूप विविध प्रकार के भोग भी होते हैं। जो कर्म मिल कर किसी एक जन्म का सम्पादन करते हैं, उन कर्मों से वही जन्म तदुपयुक्त आयु पाता है तथा इस आयुःकाल में उन्हीं से

सुख-दुःख रूप भोग प्राप्त होते हैं। इस प्रकार यह कर्माशय त्रिविपाक कहलाता है। आगामी जन्म के कारणभूत कर्म प्रायः उससे निकट पूर्ववर्ती एक ही जन्म में संचित होते हैं। जैसे वर्तमान जीवनकाल में हम जितने भी चित्र-विचित्र कर्म करते हैं, उन्हीं के संस्कार मिल कर, इससे बाद में होने वाले जन्म के कारणभूत होंगे। इसे एकभविकवाद भी कहते हैं। अतः कर्माशय एकभविक होता है। अर्थात् एक ही भव में या जन्म में निष्पन्न होता है। यह सामान्य नियम है। जैसा कि भाष्यकार व्यास ने भी कहा है—

“तस्माज्जन्मप्रयाणान्तरेकृत पुण्यापुण्यकर्माशयप्रचयो विचित्रः प्रधानोपसर्जनभावेनावस्थितः प्रयाणाभिव्यक्त एकप्रघटकेन मरणं प्रमाध्य संमूर्छित एकमेव जन्म करोति।” ..... अत एकभविकः कर्माशय उक्त इति”। (२/१३) अर्थात् जन्म से लेकर मरणपर्यन्त किया हुआ विचित्र (विविध सुखदुःखादिफलो से विलक्षण) धर्मा-धर्मरूप कर्माशय प्रधान (शीघ्र फलप्रद) और गौण (विलम्ब से फलप्रद) भाव से स्थित कर्माशय मृत्युकाल में अभिव्यक्त होकर एक ही समय में परस्पर सम्मिलित रूप से मरणसाधनपूर्वक एक ही जन्म का आरंभ करते हैं। अतः कर्माशय एकभविक (एक भव=जन्म में जात) ही कहलाता है। इस एकभविकत्ववाद के कतिपय अपवाद भी हैं, किन्तु मुख्यरूप से एकभविकवाद ही सर्वत्र व्याप्त है।

यह एकभविक कर्माशय सामान्य और विशेष दो प्रकार का होता है, जिन्हें दृष्ट तथा अदृष्टजन्मवेदनीय कहा जाता है। अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय त्रिविपाक (जाति, आयु एवं भोग हेतु) होने से सामान्य तथा दृष्टजन्मवेदनीय विशेष कहलाता है। पहिले कहा जा चुका है कि प्रत्येक कर्माशय जाति, आयु और भोग रूप त्रिविपाकारम्भी ही नहीं होता है। दृष्ट-जन्म वेदनीय कहीं केवल भोग एवं कहीं आयु एवं भोग दोनों का हेतु होता है, जहाँ यह राजा नहुष की भाँति केवल भोग का हेतु होता है, वहाँ एक विपाकारम्भी तथा नन्दीश्वर की भाँति आयु एवं भोग दोनों का हेतु होने से द्विविपाकारम्भी होता है। दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय सदैव नियतविपाक एवं एकभविक ही होता है। अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशयो में से जिस कर्माशय से आगामी जन्म का सम्पादन होता है, वही नियतविपाक एवं एकभविक होता है, शेष नहीं।” अतः अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्माशय एकभविकत्ववाद का अपवाद है; क्योंकि अदृष्टजन्मवेदनीय अनियतविपाक कर्माशय की तीन गतियाँ होती हैं—

१. प्रथम है किये हुए अविपक्व कर्मों का (प्रायश्चित्तादिक द्वारा) बिना फल दिये ही नष्ट हो जाना।

२. द्वितीय है, किसी प्रधान कर्मशय के साथ मिल कर परतन्त्रभाव से फल देना ।
३. तृतीय है, नियतविपाक प्रधान कर्मशय-द्वारा तिरस्कृत होकर दीर्घ-काल तक सुप्त पड़े रहना ।

इनमे से अविपक्व कर्मों के नाश का उदाहरण है—धर्मचरण करने से अयर्म या पाप का नष्ट होना । जैसे किमी ने हत्या-कर्म किया, किन्तु उसका फल मिलने से पूर्व ही प्रायश्चित्त कर लेने से इस क्रियाका फलरूप दुःख उसे नहीं मिलता है । इसी प्रकार अयर्म से धर्म नष्ट होता है, अथवा गुक्ल कर्मों से पाप-पुण्य दोनों का नाश होता है । योग-साधना से विवेकव्याप्ति उत्पन्न होने पर पाप-पुण्य रूपा दोनों ही प्रकार के कर्मशय नष्ट हो जाते हैं । यही अविपक्व कर्मों का नाश है ।

“द्वे द्वे हवै कर्मणी वेदितव्ये पापकस्यैको राशि पुण्यकृतोऽवहन्ति ।  
तदिच्छस्व कर्माणि सुकृतानि कर्तुमिहैव तै कर्मकवयो वेदितव्ये” ॥<sup>१</sup>

दूसरा है नियत-विपाक, प्रधान कर्मशय के साथ समय-समय पर अपने अनुकूल अवसर पाकर सहकारी रूप से फल देना । इस प्रकार प्रधान कर्मशय के साथ मिलकर फल क्षीणभाव से व्यक्त होता है । जैसे यज्ञ के पुण्यरूपा प्रधान कर्मशय के साथ उसमे की गई पशु-आलम्भन रूप हिंसा का फल क्षीणभाव से व्यक्त होता है और अधिक कष्टप्रद नहीं होता है । जैसा कि जात्यायुर्भोग के प्रसंग में, पचशिख की “स्यात्स्वल्पः संकरः सपरिहारः सप्रत्यवर्षः कुशलस्थनाप कर्षयालम्”—इस उक्ति को उद्धृत करके भाष्यकार व्यास ने कहा है ।

जो कर्म तीव्र क्षमा, दया, क्रोध, लोभादि पूर्वक किया जाता है, अथवा बारम्बार किया जाता है, उसका फल नियमितरूप से शीघ्र ही प्राप्त होता है । इस प्रकार का कर्मशय ही प्रधान कर्मशय या नियतविपाक कर्मशय कहलाता है । ऐसा कर्मशय सदैव विपाक-हेतु उन्मुख रहता है । इसके ठीक विपरीत कर्मशय अप्रधान (=उपसर्जन). कहलाता है । भावी जन्म प्रधान और अप्रधान कर्मशयों की समष्टि होती है । अप्रधान कर्मशय का फल सम्यक् रूप से नहीं फलित होता है । जब कभी उसके अनुकूल वृत्तियाँ व कर्म उपस्थित होते हैं, तब वह प्रधान कर्मशय के सहकारी के रूप में विपक्व होता है । अतः इह जन्म में आचरित सम्पूर्ण कर्मों का

१. व्या० भा०, २/१३ में उद्धृत ।

फल इसी के बाद के जन्म में मिल जाएगा—ऐसा एकभविकत्व नियम अप्रधान कर्माशय के लिये पूर्णतः लागू नहीं होता है।

अनियत-विपाक कर्माशय की तृतीय गति है—दीर्घकाल तक प्रधान कर्माशय द्वारा अभिभूत होकर सुप्त पड़े रहना तथा जन्म-जन्मान्तरो में कभी अपने अनुरूप कर्मों की अभिव्यक्ति होने पर प्रतिफलित होना। अत्यन्त प्रबल पुण्यकर्मों के सतत-भोग से पाप कर्मों को फलप्रसव का अवकाश नहीं मिलता है, अथवा अत्यन्त उग्र पापाचरण के नैरन्तर्य से पुण्य-कर्माशय विपक्व नहीं हो पाता है—ऐसी अवस्था में पाप के प्राबल्यकाल में पुण्यकर्माशय पाप से तिरस्कृत होकर सुप्त पड़ा रहता है और पुण्य की प्रबल अवस्था में उससे पाप-कर्माशय अभिभूत रहने से बीजरूप में चिरकाल पर्यन्त अवस्थित रहता है। यहाँ पर ज्योतिष्टोमादि की अगभूत हिंसा की भाँति प्रधान एवं गौण कर्माशय अंग-अंगी नहीं हैं, अपितु जिसे फल देने का अवसर मिल गया है, वह प्रधान तथा जिसे फल-प्रसव का अवकाश नहीं प्राप्त हुआ है, वह अप्रधान कर्माशय है। इस अवस्था में एकभाविकत्व नियम समयक् धटित नहीं होता है। अतः कर्म की गति अत्यन्त विचित्र है। भगवान् कृष्ण भी गीता में कहते हैं—“गहना कर्मणो गतिः।” (४/१७)

यहाँ पर यह भी ज्ञातव्य है कि अवस्थाभेद से कर्म तीन प्रकार के होते हैं—संचित, प्रारब्ध और क्रियमाण।

अनन्त जन्मों में सम्पादित कर्मों में से जिन्हें भोगने का अब तक अवसर न मिल सकने से जो संस्काररूप से कर्माशय में स्थित है, वे संचित कर्म कहलाते हैं।

कर्माशय में स्थित असंख्य कर्मों में से जिन कर्मों-द्वारा यह जन्म प्राप्त होकर इसमें भोग्य आयु एवं भोग नियत हो चुके हैं, उन्हें प्रारब्ध कर्म कहते हैं।

वर्तमान जीवनकाल में नवीन—नवीन इच्छाओं से जिन नवीन कर्मों की उत्पत्ति एवं संग्रह हो रहा है, उन्हें क्रियमाण कहते हैं।

संचित कर्म संस्कार ही उपसर्जन (अप्रधान) कर्माशय या अनियतविपाक कर्माशय है। प्रारब्ध कर्म-संस्कार समूह ही प्रधान कर्माशय या नियतविपाक कर्माशय कहलाते हैं। क्रियमाण कर्मों के संस्कार कुछ तो प्रारब्ध कर्मों के साथ मिलकर इसी जीवन में फलप्रसव करने लगते हैं, यही दृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय कहलाते हैं। कुछ संचित कर्मों के उपसर्जन कर्माशय में मिल जाते हैं और जन्मान्तरो में फलोत्पत्ति करते हैं। इन कतिपय अपवादों के वर्तमान रहने पर भी एकभविकत्व नियम ही

उत्सर्ग है, क्योंकि अपवाद (विशेष विधि) से उत्सर्ग (सामान्य विधि) की निवृत्ति नहीं हो सकती। अतः एकभक्तिवत् नियम ही मुख्य है, यही प्रधान नियम है।<sup>१</sup>

इन कर्माशयों में से नियतविपाक अदृष्टजन्मवेदनीय कर्माशय के अनुसार ही मरण होता है। उसी के अनुसार भावी जन्म की अभिव्यक्ति भी होती है। मरणकाल में मनुष्य की जिस प्रकार की मनोवृत्ति होती है और जिस प्रकार के कर्मसंस्कार प्रधान रूप से जागृत होते हैं, उन्हीं के अनुसार अगले जन्म एवं योनि की प्राप्ति हाती

१. “न चोत्सर्गस्यापवादोऽत्र निवृत्तिरित्येकभक्तिवत् कर्माशयोजुजायत इति” (व्या० भा०, २/१३)

तुलनीय Exception proves the law

मानवयोनि से पशु, पक्षी, कीट-पतंगादि अग्रम योनियों की प्राप्ति विकासवाद (Evolution Theory) के विरुद्ध है। साथ ही इसे मानने से ईश्वर की सर्वशक्तिमता क्षमा, कल्याण एवं कल्याणकारिता में भी सन्देह होता है। मानव जीवन की प्राप्ति आत्मकल्याण के निमित्त होती है—जैसा कि कहा गया है—

“आत्मानं रथिन विद्विशरीरं रथमेव तु ।

बुद्धिं तु सारथीं विद्धि मनःप्रग्रहमेव च ॥

इन्द्रियाणि हयानाहुर्विपयास्तेषु गोचरान् ।

अत्मेन्द्रियनोयुक्तं भोक्तेत्याहुर्मनीषिणः ॥” (कठ० उप० १/३/३४)

अतः यदि मानव जीवन पाकर मनुष्य आत्मकल्याण-रत न हो तो उसकी आत्मशुद्धि और स्वच्छ विकास के लिये अग्र योनि की प्राप्ति ही श्रेयस्कृत है। प्रथम तो सामान्यतौर पर मनुष्यों का पुनर्जन्म मनुष्य अथवा उससे ऊँची योनियों में ही होता है। पशु-पक्षी, सरीसृप आदि निकृष्ट योनियों में किन्हीं अवस्था-विशेष में ही मनुष्य का जन्म होता है। वह भी उसके लिये कल्याणप्रद ही होता है, क्योंकि ये सब केवल भोग-योनियाँ हैं और इनमें जन्म लेकर उसके पाप कर्माशय क्षीण होते हैं। नवीन कर्माशय की सृष्टि नहीं होती है, जिसका फल उन्हें पुनः भोगना पड़े, अतः ईश्वर की कल्याणकारिता में कोई शक नहीं।

वस्तुतः प्रवृत्तियाँ एवं निवृत्तियाँ असंख्य हैं। जब ये हिंसा, विषयलिप्सा, मक्कारी, असत्य, अपवित्रता, तस्करता, देशद्रोह एवं अवर्म आदि से संकुल होती हैं, तो मनुष्य को मनुष्यत्व से परित्यक्त कर देती हैं। ये वृत्तियाँ विविध दोषों—काम, क्रोध, मोह, लोभ, भय इत्यादि के स्थूनाधिक्यानुसार गुणस्त्रय के परिणामभेद से उतने ही प्रकार की हैं, जितने प्रकार की भेदोपभेदसहिता पशु, पक्षी, कीट, पतंग, सरीसृप, जलचर आदि

—आगामी पृष्ठ पर



है। यदि उस समय उसकी वृत्तियाँ पशुतुल्य हैं तो अगले जन्म में उसे पशु योनि ही मिलती है और उसी पशुचित्त वासना के अनुसार जाति, आयु एवं भोग होता है। श्रीमद्भगवद्गीता एवं उपनिषदों में भी ऐसा ही बतलाया गया है—

यं वापि स्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ।', (गीता ८।६)

तथा

(गत पृष्ठ का शेषांश)

समस्त योनियाँ हैं। जब मनुष्य में अवर प्राणियों के समान वृत्तियाँ उदित होती हैं, तो तद्-तत् विशिष्ट वृत्तिकाल में तद्-तत् विशिष्ट स्वभावयुक्त पशु-पक्षी आदि के स्वभाव में कोई अन्तर नहीं रहता है। इस प्रकार की मनोवृत्तियुक्त मानव उस-उस वृत्तिकाल में स्थूल शरीर से मानव रहने पर भी सूक्ष्म शरीर से तद्-तत् विशिष्ट योनि के स्वभाव वाला ही बनता जाता है। इसे हम उदाहरण द्वारा इस प्रकार समझ सकते हैं—

हिसा, मास-भक्षण इत्यादि स्वभाव मानवता के विरुद्ध धर्म है, किन्तु निरन्तर हिसको के ससर्ग से मनुष्य पर इसके अमिट सस्कार पड़ते रहते हैं और तदनुकूल ही उसका आचरण भी होता है। कर्मों से सस्कार और सस्कारों से कर्म होते हैं। अतः परिणामस्वरूप ऐसे व्यक्ति का स्वभाव एक दिन पूर्णतः क्रूर एवं हिंसक बन जायगा। अन्ततोगत्वा एक दिन उसका सूक्ष्म शरीर हिंसावृत्ति प्रधान पशुविशेषतुल्य ही हो जाता है। उस पशु जैसी हिंसा के अतिरिक्त वृत्तियाँ भी उसके सूक्ष्म शरीर में निविष्ट हो जाती हैं। इस प्रकार के निर्दयी हिंसक व्यक्ति के मुख पर क्रूरता एवं रक्त-पिपासा के भाव स्पष्ट झलकने लगते हैं, अर्थात् उसके सूक्ष्म शरीर का प्रभाव स्थूल शरीर पर भी प्रतीत होने लगता है। ऐसा मनुष्य प्रत्येक स्थान में हिंसा, मास-भक्षण आदि के साधन एवं सामग्री की खोज में सलग्न रहेगा। शरीरान्त के समय उसके ये ही हिंसा सम्बन्धी कर्माशय जागृत होंगे तथा उसकी वैसी ही हिंसक प्रवृत्ति के अनुसार किसी हिंसक योनि में अगले जन्म में उत्पत्ति होगी। जैसा कि गीता ८।६ के “यं वापिस्मरन्भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् । तं तमेवैति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥” आदि वाक्यों में कथित है। इस प्रकार जिस किसी स्थान में ऐसी हिंसक योनि में गर्भ तैयार होगा, जहाँ इस प्रकार की वासनाओं की पूर्ति के सम्पूर्ण साधन उपलब्ध होंगे, वही यह प्रविष्ट होगा। क्योंकि प्रकृति के नियम से ही स्वभाव अपने समान स्वभाव की ओर कर्षित होता है। जिस प्रकार अयस्कान्त मणि लौह को अपनी ओर आकृष्ट करता है, उसी प्रकार प्रत्येक गर्भ भी

—आगामी पृष्ठ पर

“कामान् यः कामयते मन्यमानः स कामभिर्जायते तत्र-तत्र ।

पर्याप्तकामस्य कृतात्मनस्तु इहैव सर्वे प्रविलीयन्ति कामाः ॥”

( मुण्डक ३/२ २ )

अभी यह बतलाया गया है कि अगले जन्म में यदि किसी मनुष्य को पशुयोनि प्राप्त होती है तो उसकी पशुचित वासना के अनुकूल ही जाति, आयु एवं भोग होता है, किन्तु जब इससे पूर्व वह व्यक्ति पशु नहीं था तो पशुयोग्य वासना कहाँ से आई ?

(गत पृष्ठ का शेषांश)

स्वानुकूल स्वभावयुक्त सूक्ष्म शरीरो को आकृष्ट करता है, इससे ईश्वर की सर्वज्ञता, सर्व-नियंत्रिता एवं व्यवस्था का ज्ञान होता है कि प्रत्येक जीव के लिये शरीर-त्याग से पूर्व ही तदनुकूल गर्भ प्रस्तुत रहता है ।

ईश्वर अत्यन्त दयालु है, अतः उसकी प्रेरणा से मांस, रक्त आदि को देख कर मनुष्य को स्वतः ग्लानि होती है, पर-पीडन आदि में हिचकिचाहट होती है, हृदय काँप जाता है, किन्तु हिंसा से आवृत हृदय उसकी प्रेरणा की अवहेलना कर देता है । इतने पर भी ईश्वर मनुष्य का कल्याण करता है । इसी से वह उसे निम्न योनियों में उसकी मज-निवृत्ति हेतु प्रेषित करता है । पहले बतलाया जा चुका है कि मनुष्य से निम्न स्तरीय योनियाँ केवल भोग योनियाँ हैं । इनमें कर्माग्नय संचित नहीं होते हैं । यदि उक्त हिंसक व्यक्ति का मानव योनि में ही पुनर्जन्म हो, तो प्रारब्धवश वह हिंसा कर्म में ही रत रहेगा और पुनः उसी प्रकार के संस्कार और संस्कारों से फिर वैसे ही कर्मों की पुनरावृत्ति होते रहने में, वह आत्मकल्याण से वंचित रहेगा । मनुष्य शरीर शस्त्र की भाँति है, इसमें कुकर्मा-द्वारा अपना अपघात भी किया जा सकता है और दुष्कर्मों से रक्षा (आत्मकल्याण) भी । यदि कोई आत्म-रक्षा के लिये दिये गए शस्त्र से मुरापाण की उन्मत्तावस्था में स्वयं अपना ही हनन करने लगे, तो उस अवस्था में उममें शस्त्र छीन लेने में ही कल्याण है । अतः जब तक यह हिंसारूप मद दूर न हो, तब तक के लिये ईश्वर मानव शरीररूपी शस्त्र जीव से छीन लेते हैं । जब अवर योनियों में इस हिंसा मूल की निवृत्ति हो जाती है तब निर्मल चित्त होकर उसे पुनः मानव शरीर की प्राप्ति होती है, जिससे वह आत्मोन्नति कर सके ।

अथवा जिस प्रकार अबोध शिशु अपने शरीर को विष्टा में सान लेता है, तो हितैषिणी जननी उसे जल से स्वच्छ करती है, उसी प्रकार

—आगामी पृष्ठ पर

क्योंकि वासना और कर्माशय दोनों भी तो सस्कारों की समष्टि ही हैं, किन्तु इसका उत्तर यह है कि कर्माशय एकभविक होते हैं। वासना के लिये एकभविकत्व नियम नहीं है। वासना तो अनेक भव-पूर्विका होती है। यदि वासना भी एकभविक ही होती तो मनुष्य के बाद पशु योनि प्राप्त होने पर पशु-योग्य भोग न सम्भव होता, क्योंकि तदनुकूल वासना नहीं है और वासना के बिना भोग नहीं होता है। यहाँ पर यह भी समझ लेना चाहिये कि कर्माशय तो कर्म-सस्कार समूह मात्र होता है, किन्तु वासना क्लेश, कर्म तथा कर्माशय के विपाक के अनुभव-जन्य होती है। वस्तुतः प्राणी जिस-जिस योनि में जब-जब जाता है, तो उन सब में भुक्त क्लेश, कर्म और विपाक के अनुभव से जो सस्कार चित्त पर पड़ते हैं और जो पुनः उस योनि में जाने पर उसके अनुकूल स्मृति को उत्पन्न करके तदुचित भोग सम्पन्न कराते हैं, उन्हें वासना कहते हैं। इस प्रकार मनुष्य शरीर के पश्चात् जब पुनः पशुशरीर की प्राप्ति होती है, तो उससे पहले जिन किन्हीं जन्मों में उसने पशु-शरीर से भोग का अनुभव किया था, उसी के सस्कार एवं स्मृति (वासना) से वर्तमान पशु-शरीर में पशु-उचित भोग संपन्न होता है। अतः वासनाएँ अनादिकालीन तथा अनेकभवपूर्विका होती हैं।

किन्तु यह समस्त अनर्थ-परस्पराक्लेशमूल के वर्तमान रहने पर ही क्रियाशील रहती है। विवेकख्याति-द्वारा क्लेशों के दग्ध हो जाने पर कर्माशयों से नवीन जाति, आयु एवं भोग की प्राप्ति नहीं होती।

उक्त जाति, आयु एवं भोग पुण्य एवं अपुण्य हेतुक होने से सुख-दुःखरूप फलप्रदान करते हैं,<sup>१</sup> जिनसे राग-द्वेष उत्पन्न होते हैं। यद्यपि विषयी पुरुष भोगकाल में अभिलषित विषयों में ही सुख की प्रतीति करते हैं, किन्तु योगी के लिये

---

१. “ते हादपरितापफला पुण्यापुण्य हेतुत्वात् ।” (यो० सू० २/१४)

(गत पृष्ठ का शेषांश)

प्रकृति माता अपनी अबोध सन्तानों को निम्न योनियों में ले जाकर हितकर नियमों से प्रक्षालित करती है। फिर प्राणी अपनी उचित अथवा अनुचित इच्छाओं की पूर्ति में ही सुख मानता है। अतः सर्वज्ञ ईश्वर इस प्रकार उसकी मनोवृत्तियों के अनुसार इच्छा पूर्ति भी कर देता है और आत्मोन्नति के मार्ग को भी स्वच्छ कर देता है। साथ ही उसके शुभ-अशुभ कर्मों के अनुसार उसे न्यायपूर्वक दंडादि का विधान भी हो जाता है। इसी भाँति सब वृत्तियों के विषय में अवगन्तव्य है।

वे भी दुःखद ही है, क्योंकि भविष्य में उनके लिये क्लेश होगा। अतः विवेकी-पुरुष सुखप्रद समस्त विषय भोगों को भी परिणाम, ताप एवं संस्कार-जन्य दुःख की कल्पना करके तथा गुणों के विरोध के कारण दुःखरूप ही समझता है।<sup>१</sup>

भगवान् कृष्ण ने भी गीता में कहा है :—

“विषयेन्द्रियसंयोगाद्यत्तदग्रेऽमृतोपमम् ।

परिणामे विषमिव तत्सुखं राजसं स्मृतम् ॥”

अर्थात् विषय एवं इन्द्रिय-संयोग से प्रथम अमृतवत् प्रतीत होनेवाला राजसं सुख परिणाम में विष के तुल्य (दुःखप्रद) होता है। अतः परिणाम में दुःख देने वाला सुख, सुख नहीं, सुखाभास अर्थात् दुःखरूप ही है। अतएव विष-संयुक्त स्वादिष्ट भोजन की भाँति बुद्धिमान पुरुष विषय सुख को दुःखरूप ही समझता है :—

परिणाम-दुःख—

विषय-भोगाभ्यास से इन्द्रियाँ सन्तुष्ट नहीं होती अपितु, उनमें राग के कारण पुनः पुनः उपभोग की तृष्णा बढ़ती है। भगवान् मनु ने कहा है—

“न जातु कामः कामानामुपभोगेन शाम्यति ।

हविषा कृष्णवर्मेव भूय एवाभिवर्धते ॥”<sup>२</sup>

विषयोपभोगों से इन्द्रियाँ बलक्षयवश भोगसामर्थ्यहीन हो जाती हैं, किन्तु भोग-लिप्सा शांत नहीं होती और दुःख ही मिलता है। यही विषय सुख का परिणाम दुःखता है।

तापदुःख—

विषय-सुख की प्राप्ति एवं उसकी साधनभूत सामग्री में राग उत्पन्न होता है। राग स्वयं क्लेश स्वरूप है। जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है। अतः सुख सामग्री की प्राप्ति में बाधा पड़ने पर, बाधक के प्रति द्वेष उत्पन्न होता है। वह भी पूर्वोक्त क्लेश ही है। इस दुःख से मनुष्य क्षुब्ध रहता है। विषयसुख-भोग की वर्तमानावस्था में भी भावी दुःख की सम्भावना से परित्याप होता है

१ “परिणामतापसंस्कारदुःखैर्गुणवृत्तिविरोधाच्च दुःखमेव सर्वं विवेकिनः ।” (योग सू०, २/१४)

२. यह श्लोक अनेकत्र मिलता है, द्र० विष्णु पुराण ४/१०/६।

कि भविष्य मे यह सुख प्राप्त न हो सकेगा । यही सुख के परिणाम की तापदुःखता है ।

### संस्कारदुःख—

सुखभोग-जन्य संस्कारों से राग की उत्पत्ति होती है । उसकी प्राप्ति मे बाधा उपस्थित होने पर द्वेष उत्पन्न होता है । इस प्रकार सुखानुभूति से सुख-संस्कार रूप वासना एवं दुःखानुभूति से दुःख-संस्कार रूप वासना होती है । इस प्रकार अनुभव से संस्कार और संस्कारों से अनुभव का चक्र सतत प्रवर्तित रहता है । इन संस्कारों से विविध मनुष्य पुनः शुभाशुभ कर्मों मे प्रवृत्त होता है । शुभाशुभ कर्मों मे प्रवृत्ति से धर्माधर्म रूप कर्माशय की उत्पत्ति होती है, कर्माशय-प्रचय से पुनः जन्म-मरण आदि की परम्परा का चक्र चलता है । वासना स्वयं दुःखद नहीं होती है, किन्तु धर्माधर्म रूप कर्माशय की क्षेत्रस्वरूपा होने से दुःख मे हेतु होती है । यदि क्षेत्रीय वासना ही न हो, तो बीजस्वरूप कर्माशय सुख-दुःखादि के अंकुर उत्पन्न करने मे असमर्थ रहेगे । उदाहरण द्वारा कर्माशय एवं वासना का भेद इस प्रकार समझा जा सकता है । जिस प्रकार चूल्हा साक्षान् रूप से दाहकत्व का हेतु नहीं है, किन्तु दाहक अंगारों का सग्रहस्थल है । दहन-क्रिया अंगारों से होती है । उसी प्रकार वासना-रूप चूल्हे मे कर्माशयों के तप्त अंगार ताप पहुँचाते हैं ।

### गुणवृत्तिविरोध—

सत्त्व, रज एवं तम इन गुणों की वृत्तियों के परस्पर विरोध होने के कारण भी स्थायी सुख की प्राप्ति नहीं हो पाती है । सत्त्व, रज एवं तम, ये तीनों गुण क्रमशः प्रकाशशील, प्रवृत्तिशील एवं स्थितिशील तीन प्रकार के होने से सुख दुःख एवं मोहात्मक है । गुणवृत्त सदैव चंचल रहता है । अतः तीनों गुणों के परिणाम के प्राधान्यानुसार मनोवृत्तियाँ कभी शान्त, कभी घोर एवं कभी मूढभाव धारण करती हैं । गुणावृत्त के अस्यैर्य के कारण चित्त शान्त नहीं रह पाता है । अतः सुखकाल मे गुणों की वृत्तियों के उक्त विरोध से दुःख की अनुभूति होती है । वस्तुतः मित्रो, संतानो, अधिक क्या कहा जाय, पति-पत्नी का सम्बन्ध भी शनैः-शनैः नानारूपों मे परिणत होता रहता है । नाश ही इस संसार का धर्म है । अतः प्रत्येक सुख का नाश अवश्यम्भावी है । प्रकृति के गुणत्रय का पारस्परिक विरोध होने से प्रत्येक गुण स्वसंस्कारानुगुण चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करता है और अवसर पाकर आक्रान्त कर लेता है । इस प्रकार प्राणी स्थायी सुख प्राप्त नहीं कर पाता है । अतः

विवेकी पुरुष के लिये सुख-दुःखात्मक संसार का प्रत्येक पदार्थ दुःखरूप<sup>१</sup> एवं त्याज्य है ।

इतमें भावी दुःख ही त्याज्य है;<sup>२</sup> क्योंकि अतीत दुःख भोग-द्वारा नष्ट हो चुका है और वर्तमान दुःख आगामी क्षण में भोग से स्वतः नष्ट हो जाएगा । अतः जो दुःख अभी तक नहीं आया है, उसी का साधन-द्वारा क्षय किया जा सकता है । इस त्यागने योग्य दुःख का कारण द्रष्टा एवं दृश्य का संयोग है ।<sup>३</sup> द्रष्टा से तात्पर्य शुद्ध चैतन्य, आत्मा से है । महत् से स्थूलभूत पर्यन्त सम्पूर्ण जड़ चेतनात्मक प्रकृति ही दृश्य है । बुद्धि से संयुक्त होने के कारण ही पुरुष सुख दुःखादि बोध का उपद्रष्टा है । प्रकाश, क्रिया एवं स्थिति दृश्य का मूल स्वभाव है । भूतेन्द्रियाँ इसका विकृत स्वरूप एवं पुरुष के हेतु भोग एवं मोक्ष का सम्पादन इसका प्रयोजन है ।<sup>४</sup> इन दृश्य भूतगुणत्रय की विशेष ( भूत एवं इन्द्रियाँ ) अविशेष ( तन्मात्र, अस्मिता ) लिंगमात्र ( महत् ) एवं अलिंग ( प्रकृति ), ये चार अवस्थाएँ हैं ।<sup>५</sup> जो द्रव्य बहुतां में सामान्य

१. तुल०—सांख्यदर्शन के छठे अध्याय में भी ऐसा ही कहा गया है —

“कुत्रापि कोऽपि मृत्सीति ” ॥६॥

“तदपि दुःखशवमिति दुःखपक्षे निःक्षिपन्ते विवेचकाः ॥८॥”

अर्थात् “क्या कहीं कोई मृत्सी है, (जिसे लोग सुखरूप मानते हैं) वह सुख भी दुःखमिश्रित है, अतः विवेकीजन उसे भी दुःख-कोटि में रखते हैं । योगशास्त्र वैद्यकशास्त्र की भाँति चतुर्व्यूह है । इसमें हेय (दुःख), हेय-हेतु (द्रष्टा एवं दृश्य का संयोग), हानि या दुःख का नाश (कैवल्य) एवं हानोपाय अर्थात् विवेकख्याति, ये चारों विषय वर्णित हैं । जैसे वैद्यक में रोग, रोग का कारण, आरोग्य और आरोग्य-साधन (औषधि) इन चारों का विवरण होता है ।

२. “हेयं दुःखमनागतम् ।” (यो० सू० २/१६)

३. “द्रष्टृ दृश्ययोः संयोगो हेयहेतुः ।” (यो० सू०, २/१७)

४. “प्रकाशक्रिया स्थितशीलं भूतेन्द्रियात्मकं भोगापवर्गार्थं दृश्यम् ।” (यो० सू० २/१८)

५. विशेषाविशेषलिंगमात्रा लिंगानि गुणपर्वणि ।” (यो० सू० २/१९)

इस सूत्र में चार पर्वों-द्वारा सांख्य-योग की सृष्टि-प्रक्रिया का स्थूल से सूक्ष्म की दृष्टि से वर्णन हुआ है । प्रकृति (अलिंग) से महत् (लिंग), महत् से अहंकार, अहंकार से पंचतन्मात्र एवं एकादश इन्द्रियाँ और पंचतन्मात्र से पंचमहाभूत उत्पन्न होते हैं । समस्त ब्रह्माण्ड महाभूतमय ही है । यही सांख्ययोग की सृष्टि-प्रक्रिया है । ये ही कार्यकारण-

—आगामी पृष्ठ पर

रूप से नहीं पाया जाता है, उसे विशेष कहते हैं। योगमत में षोडश विकारों की पारिभाषिक सज्ञाविशेष तथा उनकी छः प्रकृतियों की सज्ञा अविशेष है। विशिष्ट कार्य रूप स्थूलभूत विशेषपद के द्योतक हैं। इनकी प्राप्ति हमें इन्द्रियों से होती है। विशेषों का तत्त्वान्तर परिणाम नहीं होता है। ये किसी भी तत्त्व के कारण नहीं हैं। अतः केवल कार्य अर्थात् गुणत्रय के विशिष्ट परिणाम होने से इनकी विशेष सज्ञा है। विशिष्ट परिणाम होने में इनमें सत्त्व, रज, तम के सुख, दुःख एवं मोहरूप धर्म विशेष, शान्त, घोर एवं मूढ़भाव से वर्तमान रहते हैं। षोडश चरम विकारों में से, आकाश, वायु, अग्नि, जल एवं पृथ्वी, क्रमशः शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध रूप पंच तन्मात्रों के विशेष परिणाम हैं। पंच ज्ञानेन्द्रियाँ श्रोत, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण तथा पंचकर्मेन्द्रियाँ, वाक्, पाणि, पाद, पायु एवं उपस्थ और ग्यारहवें मन, ये अहंकार के विकार-विशेष हैं। अतः सुख, दुःख एवं मोहात्मक, अवशिष्ट षोडश विकार-विशेष पद वाच्य है। वस्तुतः विशेष शब्द यहाँ तीन अर्थों का द्योतक है। प्रथम तो षड्ज-ऋषभादि शब्द, शीतोष्णादि स्पर्श, रक्त पीतादि रूप, मधुर-अम्लादि रस एवं सुगन्ध-दुर्गन्धादि गन्ध, इस प्रकार के शब्दादि के विविध भेदोपभेदों की विशेष सज्ञा है। स्थूलभूतगण

(गत पृष्ठ का शेषांश)

भूत गुणत्रय, सू० २/१८ में वर्णित दृश्य है, जैसा कि सूत्र में “भूतेन्द्रियात्मक दृश्यम्” आदि शब्दों से कहा गया है। ये गुण विवेकख्यातिविहीन अज्ञानियों के साथ संयुक्त रह कर भोगसम्पादन करते हैं तथा विवेकख्यातियुक्त योगियों से वियुक्त होकर मोक्षप्राप्ति कराते हैं। अतः इन्हें भोगापवर्गार्थ कहा गया है। (सू० २/१८ में)

विशेष पर्व में से पंचभूत ग्राह्य विशेष है। ग्रहणविशेष—अर्थात् इन्द्रियाँ बाह्य-अभ्यन्तर द्विविध हैं। बाह्येन्द्रियाँ-ज्ञानेन्द्रियों और कर्मेन्द्रियों के भेद द्विविध हैं, जो ऊपर अभिहित हुई हैं। प्राण भी इन्हीं के अन्तर्गत है। अतः उसकी पृथक् गणना नहीं होती। पर है वह भी बाह्येन्द्रिय। ज्ञानेन्द्रियगण सत्त्वप्रधान, कर्मेन्द्रियाँ रजः प्रधान तथा प्राण तमः प्रधान इन्द्रिय है।

मुख्य प्राण प्राण, अपान, व्यान, उदान और समान के भेद से पाँच प्रकार का है। मन आन्तर इन्द्रिय है, जो विषयों का सकल्पकारी है। इस विषय में प्रसिद्ध उक्ति भी है—“मन सकल्प कर्मेन्द्रियम्” सकल्प=सम्यक् कल्पन। सम्यक् कल्पन से तात्पर्य ग्रहण, चेष्टा एवं धारण से है। इच्छा एवं ज्ञान पूर्वक ज्ञेय विषय का ग्रहण, चेष्टा एवं धारणादि व्यापार ही सकल्प है।

उसी प्रकार के विशेष हैं। दूसरे सत्त्व, रज एव तम के प्रधान्यानुसार शान्त, घोर एवं मूढभाव भी विशेष कहलाते हैं, जो उर्पयुक्त विशेषों के सहभावी हैं। षड्जादि विशेषअज्ञात रहने पर भी विषयजन्य सुख-दुःख मोहादि की उत्पत्ति होती है। तीसरे भूतगण चरम विकृत होने से भी विशेष है। इनका कोई तत्त्वान्तर-परिणाम नहीं होता है। पंचभूत ग्राह्य विशेष है। बाह्येन्द्रियाँ अर्थात् ज्ञानेन्द्रियाँ एवं कर्मेन्द्रियाँ बाह्य विषयों का व्यवहार करती हैं। आन्तरिन्द्रिय मन बाह्येन्द्रियों द्वारा प्रस्तुत शब्द, स्पर्शादि एवं आन्तरिक अनुभव-जन्य सुख-दुःखादि विषय लेकर इच्छा एव, ज्ञानपूर्वक ज्ञेयादि विषयों का ग्रहण, करण एवं धारण करता है। यहाँ व्यवहार शब्द का अर्थ जानना और चालन करना है।

पूर्वोक्त षोडश विशेषों के कारण भूत पंचतन्मात्र तथा अस्मिता (अहंकार) ये छः अविशेष हैं। अनेक कार्यों में अनुगत सामान्य उपादान ही अविशेष है। महत् से अहंकार या अस्मिता, अस्मिता से शब्द तन्मात्र, स्पर्श तन्मात्र, रूप तन्मात्र, रस तन्मात्र तथा गन्ध तन्मात्र इस क्रम से, महत्तत्त्व से समस्त अविशेष विकसित होते हैं। पंचतन्मात्र भी अस्मिताजन्य होने से अस्मितायुक्त है।<sup>१</sup> इन्द्रियगण अस्मितामात्र का विकार है।

१, “न्याय में कारक का कारण भी परस्परया कारण कहलाता है। इस दृष्टि से हम महत् से छहो अविशेषों की उत्पत्ति मान सकते हैं। गुणपूर्वों की व्याख्या करते हुए भाष्यकार श्री व्यास ने छहों अविशेषों को एक जाति मान कर लिङ्गमात्र महत्त्व का परिणाम कहा है। समस्त अविशेषान्तर्गत कार्य-कारण-क्रम को उन्होंने प्रकृत प्रसंग में स्पष्ट नहीं किया है। किन्तु महत् से युगपत् छ अविशेष उत्पन्न हुए, यह कथन सगत नहीं है। भाष्यकार का भी यह आशय नहीं है। प्रथम पाद सूत्र पेंतालिस “सूक्ष्म-विषयत्वं चालिङ्गपर्यवसानम्” के भाष्य में भी उन्होंने अहंकार को पञ्चतन्मात्र तथा महत्त्व को अहंकार का कारण बतलाया है। अतः महत् से अहंकार तथा अहंकार से पंच तन्मात्र एव एकादश इन्द्रियगण यही क्रम यथार्थ है। पुनः पंच तन्मात्रों से पंचभूत की उत्पत्ति होती है। साध्यकारिका में भी सृष्टि-प्रक्रिया का यही क्रम है—

“प्रकृतेर्महास्ततोऽहंकारस्तस्मात्, गणश्च षोडशक ।

तस्मादपि षोडशकात्पञ्चभूतं पञ्चभूतानि ॥”

(साध्यकारिका ३२)

साथ ही यह भी स्मर्तव्य है कि अस्मिता से उत्पन्न होने के बाद पञ्चतन्मात्रों

—आगामी पृष्ठ पर



प्रश्न हो सकता है कि जब पञ्चतन्मात्र भी अहंकार से ही उत्पन्न होते हैं, इनमें भी अहंकार उपादानरूपेण व्याप्त है, तो केवल अहंकार को ही अविशेष क्यों न मान लिया जाये, पञ्चतन्मात्रों की गणना करके षड् अविशेष क्यों माने ? इसका उत्तर यह है कि पञ्चतन्मात्र शान्त घोरादि “विशेष” गुण रहित होने से अविशेषों में ही गणनीय है। जैसा कि—

“तन्मात्राण्यविशेषाणि अविशेषास्तस्तो हिते ।

न शान्ता नापि घोरास्ते न मूढाश्च विशेषिणः ॥”<sup>१</sup>

विष्णुपुराण की इस उक्ति से भी प्रमाणित होता है। दूसरे विशेषों की व्याख्या करते समय, उनका विशेष अभिधान चरम विकृत होने से भी बतलाया गया था, किन्तु पञ्चतन्मात्र तो पञ्चभूतों की प्रकृति भी है। अतः चरम विकृत न

#### १. विष्णुपुराण (१/२/४२) ।

(गत पृष्ठ का शेषांश)

के विषय में शब्द तन्मात्रों के बाद स्पर्श तन्मात्र, तत्पश्चात् रूपादि समस्त तन्मात्रों का उत्पत्तिक्रम औपादानिक या तात्त्विक नहीं, अपितु नैमित्तिक है। शब्द तत्त्व स्पर्श तत्त्व का, अथवा रूपादि तत्त्व रसादि का उपादान नहीं हो सकता है, किन्तु शब्द क्रिया के निमित्त से उसका उपादान अहंकार (अस्मिता) ही स्पर्शज्ञान के रूप में अभिव्यक्ति होता है और इस प्रकार शब्दगुणक होने से स्पर्श द्वि-लक्षण, रूप स्पर्शगुणक होने से त्रिलक्षण, रस चतु-लक्षण तथा गन्ध पञ्चलक्षणा है। इसी दृष्टिकोण से पञ्चतन्मात्रजन्य पञ्चभूतों का क्रम भी सम्भन्ता चाहिए। वैज्ञानिक प्रणाली से तथ्यान्वेषण करने पर भी ज्ञात होता है कि शब्द की गति रुकने पर ताप उत्पन्न होता है, ताप से रूप एव रूप (सूर्य के प्रकाश) से सम्पूर्ण रासायनिक द्रव्य (उद्भिजादि) समुद्भूत होते हैं। रासायनिक द्रव्य के सूक्ष्म चूर्ण से ही गन्धज्ञान की अनुभूति होती है, किन्तु यह अतात्त्विक दृष्टिकोण है। तात्त्विक दृष्टि से सूक्ष्म शब्द से स्थूल शब्द (आकाश), स्पर्श तन्मात्र से वायुभूत इत्यादि क्रम से प्रत्येक तन्मात्र से तदनु रूप पञ्चभूतों की उत्पत्ति होती है। इस विषय में शास्त्र भी प्रमाण है—

“शब्दलक्षणमाकाश वायुस्तुस्पर्शलक्षणा ।

ज्योतिषा लक्षणा रूपामाश्च रसलक्षणा ॥

घारिणी सर्वभूतानां पृथिवी गन्धलक्षणा ॥”

(महाभारत, अश्वमेध) (अ० ४३, श्लो० २१-२२) (स्वामी ह० - आरण्य की व्याख्या के अनुसार) ।

होने से भी वे अविशेष पदवाच्य है। फिर वे पङ्कज-कृपभादि नीलपीतादि एव मधुर-अम्ल इत्यादि विविध विगोपरहित भी है।

वस्तुतः तन्मात्र का अर्थ होता है—तद्मात्र=केवल वही, अर्थात् सूक्ष्म शब्द मात्र या स्पर्शमात्र अथवा रूपमात्र इत्यादि। जिस अवस्था में “विशेष” पदवाच्य पङ्कजादि भेद भी निरस्त हो जाते हैं, शब्द की वही सूक्ष्मातिसूक्ष्म अवस्था शब्दतन्मात्र है। इसी प्रकार शेष तन्मात्रों के विशेषों की अस्तावस्था ही तद्गत स्पर्शरूपादि तन्मात्र है। शब्दस्पर्शादि की इस सूक्ष्मावस्था को ही परमाणु अवस्था कहते हैं।<sup>१</sup> परमाणु अवस्था में उनके अवयवों एव विस्तार आदि के तारतम्य का स्फुट आभास नहीं होता है। इसका ज्ञान सामयिक धारा-क्रम से प्राप्य है। अखण्ड्य अवयव को परमाणु कहते हैं। तन्मात्र भी इसी प्रकार का परमाणु है। यह समाधि द्वारा साक्षात्कार करने पर ही ज्ञेय है।<sup>२</sup>

षष्ठ अविशेष अस्मिता है। अस्मिता का अर्थ होता है अहंकार या “मैंपन का भाव,” इन्द्रिय शक्ति समूह के साथ चैतन्य का तादात्म्यभाव ही अस्मिता (अहंकार) है। समस्त इन्द्रियों के सामान्य उपादान कारणभूत अभिमान एव बुद्धि इन दोनों की ही अस्मिनामात्र सज्ञा है। केवल “मैं हूँ” इस प्रकार का भाव महत् का द्योतक है। “मैं” श्रवण शक्ति सम्पन्न हूँ, “मैं” प्राणशक्ति सम्पन्न हूँ, इत्यादि रूप इन्द्रियशक्ति सम्पन्न अहंभाव अस्मिता है, ये पङ्क अविशेष महत् तत्त्व के विकार हैं। महत् में ही शब्दादि रूप समस्त भाग एव विवेकख्याति रूप माक्ष आदि समस्त क्रियाएँ पर्यवसान-लाभ करती हैं। इसके आगे प्रकृति की त्रिगुण-साम्यावस्था में भोग का प्रश्न ही नहीं उठता है।

समस्त विकारों के आधारभूत सत्तामात्र महत्तत्त्व (समष्टि तथा व्यष्टि चित्त या बुद्धि) को ही लिङमात्र कहते हैं। लिङ का अर्थ है गमक या अनुमापक। किसी वस्तु के अनुमापक को उसका लिङ या चिह्न कहते हैं। महत्तत्त्व आत्मा एव अव्यक्त का अनुमापक होने से उनका लिङ कहलाता है। “सांख्य-तत्त्वकौमुदी” में महत् विषयक १०वीं कारिका की व्याख्या करते समय, श्री वाचस्पति मिश्र ने भी—  
“लिङ्गम्” प्रधानस्य। यथा चैते बुद्ध्यादयः प्रधानस्य लिङ्गं . . . पुरुषस्य लिङ्गं

१. ये परमाणु वैशेषिक का परमाणु नहीं हैं।

२. तन्मात्र सम्बन्धी सविस्तार प्रतिपादन के लिये “तन्मात्र तथा विश्व का मनोमय मूल” नामक पुस्तिका द्रष्टव्य है।

भवदपीति भावः”—इत्यादि पक्तियों से यही भाव व्यक्त किया है। लिङमात्र का अर्थ होता है स्वरूप लिङ अथवा प्रधान लिङ। अन्य तत्त्व भी पुरुष एव प्रकृति के लिङ कहे जा सकते हैं, किन्तु वे सब अपने साक्षात् कारणों के ही मुख्य रूप से लिङ हैं। महत्तत्त्व तो अन्य किसी का लिङ नहीं है, अतः वह पुरुष एव प्रकृति का मुख्य लिङ होने से लिङमात्र कहा जाता है।

महत् का दूसरा विशेषण सत्तामात्र आत्मा है, जिसका अर्थ है—“आत्म-अस्तित्व मात्र” का भाव, अर्थान् “मैं हूँ” या “मैं मात्र” एतद्गुणी भाव। इसी को “बुद्धितत्त्व” भी कहते हैं। आत्मसत्ता विषयक निश्चय इसी महत् या बुद्धितत्त्व का गुण है। निश्चय एव सत्ता अन्योन्याश्रित है। आत्मविषयक निश्चय तथा विषय सम्बन्धी निश्चय, दोनों ही बुद्धि के गुण हैं, किन्तु आत्मनिश्चय ही मुख्य एव अन्तिम है। यही बुद्धि का स्वरूप भी है। विषय-सम्बन्धी निश्चय ता बुद्धि का विकारस्वरूप है। एतावता “अस्मि” इत्याकारक प्रत्यय ही सत्तामात्र-आत्मा या महत्तत्त्व पदवाच्य है। प्रथम “मैं हूँ” इत्याकारक भाव रहता है, यही महत्तत्त्व है। तत्पश्चात् उसके विकारस्वरूप “मैं श्रोता हूँ”, “मैं घ्राता हूँ” इत्यादि भाव उत्पन्न होता है। यही अभिमान या अहकार है। यही अस्मिता है जिसका विकार इन्द्रियगण है।

इसी लिङमात्र महत्तत्त्व से अहकारादि क्रम से स्थूलभूतात्मक सकल जगत् पर्यन्त, समस्त प्रपञ्च का विकास होता है। तत्पश्चात् उसी क्रम से लयोनमुख होता हुआ प्रत्येक तत्त्व इसी महान् आत्मा में विलीन होकर पुनः प्रकृति-प्रलीन हो जाता है। गुणों के चारों पर्वों में से पूर्वोक्त तीन अवस्थाएँ ही पुरुषार्थ-सिद्धि में हेतु हैं। चतुर्थ अलिगावस्था में पुरुषार्थ रूप प्रयोजन की सिद्धि नहीं होती है, क्योंकि अलिगावस्था गुणों की अव्यक्तावस्था है। व्यक्तभाव तो महत्पर्यन्त ही रहता है।

महत् के लय प्राप्त होने पर उस समय समस्त व्यक्त-व्यापार का अभाव हो जाने से उसे अव्यक्तावस्था कहते हैं। यही गुणपर्वों की सूक्ष्मतम अवस्था है। यह त्रिगुणसाम्यावस्था है। गुणों के वैषम्य से ही व्यापार होता है, गुणसाम्य में नहीं। इसका कोई व्यक्त चिह्न न होने से इसे अलिङ्ग कहते हैं। अव्यक्त, प्रकृति, प्रधान आदि इसी के नामान्तर हैं।

भाष्यकार श्री व्यास ने इसके निःसत्तासत्त, निःसदसत्त, निरसत् इत्यादि विशेषण भी बतलाए हैं। सत्ता से तात्पर्य पुरुष के अर्थ-क्रिया-क्षमत्व से है। असत्

का अर्थ शशविषाणादिवत् अभाव पदार्थ है। प्रकृति गुणसाम्यावस्था होने से पुरुषार्थ-साधकत्वहीन है। साथ ही गुणवैपम्यावस्था में उसी से पुरुषार्थ साधन होता है। अतः पुरुषार्थक्रिया का मूलशक्तिभूत कारण होने से उसे असत् भी नहीं कह सकते हैं। अतः प्रकृति निःसत्तासत्त है।

त्रिगुण-साम्य-स्वरूप होने से प्रकृति किसी का कार्य भी नहीं है, न ही किमी का कारण है। अतः विपमावस्था में ही प्रकृति किसी का कारण होती है। सत् का अर्थ है वर्तमान, अमत् का अर्थ है अवर्तमान, अतः जो महत् आदिक की भाँति साक्षान् ज्ञेय नहीं है तथा महदादि का कारण होने से उसका अभाव भी नहीं है, वह निःसदसत् है।

प्रधान को असत् या अत्यन्त तुच्छ पदार्थ न समझ लिया जाय, अतः भाष्यकार व्यास ने, उसके लिये पुनः “निरमत्” शब्द का प्रयोग किया है। वह अव्यक्त होने से महदादिवत् व्यक्तरूपेण अज्ञेय है, किन्तु समस्त पदार्थों की क्रिया शक्ति के रूप में, वह प्रधान शक्ति स्वरूप से ज्ञेय है। तात्पर्य यह है कि वह भावपदार्थ-विशेष है।<sup>१</sup> जिस अवस्था में समस्त व्यक्तभाव का विलय होता है, वही अव्यक्त है—

“अव्यक्तं क्षेत्रलिङ्गास्थं गुणानां प्रभवाप्ययम्।

सदा पश्याम्यहं लीनं विजानामि शृणोमि च॥”

( महाभारत अश्वमेध पर्व ४३/३७ )

एतावता त्रिगुणात्मक दृश्य की पूर्वोक्त विशेष, अविशेष, लिङ्गमात्र एवं अलिङ्ग ये चार अवस्थाएँ हैं। इनमें से प्रथम तीन तो पुरुषार्थ-प्रयोजन में हेतु हैं, किन्तु अन्तिम अलिङ्ग अवस्था हेतु नहीं है।

इसी दृश्य के साथ द्रष्टा (पुरुष) का संयोग हेतु है। इनके संयोग के नाश से समस्त क्लेश नष्ट हो जाते हैं। यह पहले भी बतलाया जा चुका है कि द्रष्टा केवल दृक्शक्तिमात्र (दृशिमात्रः) अर्थात् ज्ञानस्वरूप चैतन्यमात्र है। स्वयं शुद्ध होने पर भी बुद्धि की वृत्तियों के अनुसार देखने वाला है।<sup>२</sup> दृशिमात्र का अर्थ है सर्वविशेषण-

१. एस० एन० दास गुप्त ने इस विषय की अच्छी व्याख्या की है (Study of Patanjali P. 8-9)।

२. “द्रष्टा दृशिमात्र शुद्धोऽपि प्रत्ययानुपश्य ।” (यो० सू० २/२०)

गून्य, शुद्ध दर्शनशक्तिमान् अर्थात् ज्ञानमात्र । यह ज्ञान उसका धर्म नहीं, अपितु वह ज्ञानस्वरूप ही है—उसमे ज्ञान एव ज्ञान मे अभेद होता है—

“ज्ञानं नैवात्मनो धर्मो न गुणो वा कथंचनः ।

ज्ञानस्वरूप एवात्मा नित्यःसर्वगतः शिवः ॥”

( सौर पुराण ११।२६ )

सर्व विकारगून्य शुद्ध चैतन्य मात्र पुरुष, बुद्धि स्वरूप उपाधि के माध्यम से इस सान्त ज्ञान के रूप मे प्रकाशित होने की दृष्टि से ही बद्ध है ।

दृश्य का स्वरूप उस पुरुष के लिये ही है,<sup>१</sup> अर्थात् प्रकृति का विविध परिणाम रूप व्यापार उस पुरुष के भोग एवं मोक्षरूप पुरुषार्थ की सिद्धि के हेतु ही है । प्रकृति के विविध व्यापारो मे अपना कोई प्रयोजन नहीं होता है,<sup>२</sup> जिन्होंने अपने कैवल्य रूप अर्थ की सिद्धि कर ली है, उनके लिये प्रकृति (दृश्य) का यह स्वरूप नष्ट हो जाता है, तथापि कृतार्थों के प्रति नष्ट हो जाने पर भी उसका नाश नहीं होता है, क्योंकि वह इतर व्यक्तियों के लिये सामान्यरूप से अभिव्यक्त रहता है,<sup>३</sup> अर्थात् अकुशल=अज्ञानी व्यक्तियों के लिये भोक्ता एवं भोग्य या द्रष्टा एवं दृश्यभाव बना ही रहता है । अतः उनके लिये दृश्य नष्ट न होने से उसका अत्यन्त अभाव नहीं होता । केवल विवेकज्ञानप्राप्त योगी के लिये ही दृश्याभाव नष्ट होता है । इस विषय मे सांख्यसूत्र भी है—“इदानीमिव सर्वत्र नात्यन्तोच्छेदः” ।<sup>४</sup> वस्तुतः इसका

१. “तदर्थ एव दृश्यस्यात्मा ।” (यो० सू० २/२१)

२. तुल०—“इत्येष प्रकृतिकृतो महदादिविशेष भूतपर्यन्त ।

प्रतिपुरुष विमोक्षार्थं स्वार्थं इव परार्थारम्भ ॥

वत्सविवृद्धिनिमित्तं क्षीरं स्य यथा प्रवृत्तिरजस्य ।

पुरुषविमोक्षनिमित्तं तथा प्रवृत्तिः प्रधानस्य ॥

नाना विधैरुपायैरूपका रिण्यनुपकारिण पुंस ।

गुणत्रयगुणस्य सतस्तत्स्यार्थमपार्थकं च ॥”

( ईश्वरकृष्ण, सांख्यकारिका, ५६/५७/६० )

३. “कृतार्थं प्रति नष्टमप्यनष्टं तदन्यसाधारणत्वात् ।”

( यो० सू० २/२२ )

४. ३६/१६६ ।

कारण पुरुषो का असंख्यत्व है ।' असंख्य तत्त्व का अन्त नहीं होता है । असंख्य का असंख्य से भाग करने पर असंख्य ही अवशेष रहेगा । श्रुति भी कहती है—“पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते” अकुशल पुरुषो के साथ अनादि दृश्य का अनादि सम्बन्ध होता है । भगवान् व्यास ने भी प्रकृत प्रसंग में लिखा है—“दृग्दर्शनशक्तयोर्नित्यत्वा दनादिःसंयोगः, व्याख्यात इति तथा चोक्त—धर्मिणमनादिसंयोगाद्धर्ममात्राणामप्यनादिःसंयोग इति” । अतएव ऐसी कल्पना नहीं करनी चाहिये कि किसी काल में समस्त पुरुष केवली हो जाये तो द्रष्टा एवं दृश्य के संयोग का स्वरूप नष्ट हो जायगा ।

द्रष्टा एवं दृश्य अथवा भोक्ता एवं भोग्य— इन दोनों के (भोग्यत्व एवं भोक्तृत्व) स्वरूप की प्राप्ति का हेतु यही संयोग है । सूत्रकार ने इस भोक्तृ-भोग्य भाव को “स्व-स्वामिशक्ति” कह कर व्यक्त किया है । यहाँ पर ‘स्व’ शब्द दृश्यभाव या भोग्यभाव का द्योतक है तथा “स्वामी” शब्द द्रष्टा (पुरुष) अथवा भोक्तृभाव का प्रकाशक है । “शक्ति” शब्द स्वभाव अथवा स्वरूप का बोधक है । समस्त दृश्य पुरुष के भोग-निमित्त होने से, वह (दृश्य) पुरुष का “स्वभूत” (स्वत्व) है और भोक्ता होने से पुरुष उसका स्वामी है । दृश्य एवं द्रष्टा का भोग्यभाव एवं भोक्तृभाव रूप सम्बन्ध ही “संयोग” है । यही हेतु ससार का हेतु है । जब पुरुष प्रकृति से संयुक्त होता है, तब इस संयोग के ही कारण उनके दृश्यत्व एवं द्रष्टृत्व रूप द्विविध शक्तियों का प्रकाश होता है । दृश्य की प्राप्ति से भोग एवं द्रष्टा की स्वरूपोपलब्धि

१. सांख्ययोगमत में पुरुष अनेक है । द्र०—यो० सू० (२/२३, ४ १४)

तथा

“जननमरणकरणानां प्रतिनियमादयुगपत्प्रवृत्तेष्व ।

पुरुषबहुत्वं सिद्धं त्रैगुण्यविपर्ययाच्चैव ॥” (सा० का० १८)

श्रुति भी कहती है—

“अजामेकां लोहितशुक्लकृष्णां बह्वीं प्रजा सृजमाना मत्स्या ।

अजोह्येको जुषमाणोऽनुशेते जहात्येना भुक्तभोगामजोज्य ॥”

(श्वेताश्वतर उपनिषद् ४/५)

इस श्रुति से भी पुरुष बहुत्व सिद्ध होने के साथ-साथ मुक्त पुरुष में त्यक्त होने से उसके प्रति नष्ट होने पर भी प्रकृति (दृश्य) का बद्ध पुरुषो के प्रति भोग्यत्व सिद्ध होता है अर्थात् बद्ध पुरुषो के लिये वह अनष्ट ही है । प्रकृत सूत्र में इसी श्रुति का भाव अभिव्यक्त हुआ है ।

२. “स्वस्वामिशक्त्यो स्वरूपोपलब्धि हेतु संयोग ।” (यो० सू०, २/२३)

से मोक्ष (अपवर्ग) प्राप्त होता है। अतः इस भोग्यत्व एव भोक्तृत्व रूप सम्बन्ध की प्राप्ति का कारण यह सयोग है और इससे विपरीत रूप में द्रष्टा मात्र के स्वरूप की उपलब्धि का कारण उक्त संयोग का वियोग है।

इस सयोग के कारण ही समस्त जगत् रूप प्रपञ्च का विस्तार है। गीता में दृश्य एव द्रष्टा को क्षेत्र तथा क्षेत्रज्ञ बतला कर इसी सयोग से समस्त स्थावरजगम रूप जगत् की उत्पत्ति बतलाई गई है।<sup>१</sup>

सांख्यकारिका में भी जड प्रकृति एव निष्क्रिय पुरुष को क्रमशः अन्धे एव लँगड़े की उपमा देकर, उनसे समुद्भूत समस्त सृष्टि का कारण यह सयोग ही बतलाया गया है।<sup>२</sup>

द्रष्टा एव दृश्य का यही संयोग सावनपाद सूत्र १७ में उक्त अस्मिन्नानामक क्लेश है, जिसके द्वारा चित्तस्वरूप “स्व” एव पुरुष-स्वरूप “स्वामी” भूत जड-चेतनात्मक सम्मिश्रण से नवीन जीवभाव को उत्पत्ति होती है। इसी सयोग को ( २-१७ ) में हेय-हेतु बतलाया गया है। इस संयोग की वर्तमानावस्था में ही इस से मुक्ति प्राप्ति हेतु “स्व” एव “स्वामी” के स्वरूप का साक्षात्कार किया जाता है।

स्वामिभूत पुरुष स्वभूत दृश्य के साथ दर्शनार्थ अर्थान् ज्ञानप्राप्ति-हेतु सयुक्त होता है। यह पुम्प्रकृति का सयोगजन्य ज्ञान भ्रांतिज्ञान तथा सम्यक् ज्ञान के भेद से दो प्रकार का होता है। दृश्य के स्वरूप की प्राप्ति-भूत भोग की प्राप्ति भ्रांतिज्ञान है। द्रष्टा के स्वरूप की उपलब्धि अपवर्ग या मोक्ष है। उक्त संयोग से प्रथम दृश्य के स्वरूप की उपलब्धि होती है, जिससे भोग (बन्धन) प्राप्त होता है। तत्पश्चात् द्रष्टा के स्वरूप की उपलब्धि होने पर पुरुष को अपवर्ग की प्राप्ति हो जाती है, जिससे उक्त सयोग का वियोग हो जाता है। अतः यह सयोग दर्शन-कार्य (विवेकख्याति) पर्यन्त ही रहता है। वस्तुतः शुद्ध दर्शन विवेक-ख्याति ही है। अतः यह दर्शन (विवेकख्याति) उक्त सयोग के वियोग का कारण बन जाता है। भाष्यकार श्री व्यास भी कहते हैं—“दर्शन कार्यावसानः-सयोग इति दर्शन वियोगस्य कारणमुक्तम्।” (२/२३) यह दर्शन अदर्शन अथवा विपरीत दर्शन का विरोधी होता है। बुद्धि एवं पुरुष की

१. “यावत्सजायते किञ्चित्सत्त्वं स्थावर जगमम्।

क्षेत्रक्षेत्रज्ञ सयोगात्तद्विद्धि भरतर्षभ॥” (गीता १३/२६)

२. “पुरुषस्य दर्शनार्थं कैवल्यार्थं तथा प्रधानस्य।

पञ्चबन्धवदुभयोरपि सयोगस्तत्कृतं सर्गं ॥२१॥”

एकताख्याति या भोगरूप व्युत्थान ही अदर्शन है। विवेकख्याति रूप दर्शन से भोगरूप अदर्शन की निवृत्ति है। अतः उक्त अदर्शन-जन्य सयोग की अवधि दर्शन कार्य पर्यन्त बतलाई गई है। बुद्धिनिवृत्ति की अवस्था ही कैवल्य है। अतः विवेकज्ञान परम्परया कैवल्य का हेतु होता है। वस्तुतः विवेकज्ञान कैवल्य का साक्षान् कारण नहीं होता है। अज्ञान-निवृत्ति ही कैवल्य का हेतु है, किन्तु अज्ञान-निवृत्ति विवेकज्ञानाभ्यास के द्वारा होती है। अतः विवेकज्ञान को कैवल्य का कारण कहा है।<sup>१</sup>

जिस अदर्शन की निवृत्ति से कैवल्य प्राप्त होता है, वह अविद्या-संस्कार स्वरूप है। अतएव यही अदर्शन दृश्य एव द्रष्टा के पूर्वोक्त सयोग का कारण है।<sup>२</sup> यह अविद्या विपर्यय-ज्ञान-वासना स्वरूप है, जिसका इसी परिच्छेद के आरम्भ में विस्तृत वर्णन किया जा चुका है। इसी अविद्या से बुद्धि पुष्प के साथ तादात्म्य अनुभव करती है और चित्त की त्रिगुणात्मक वृत्तियों से वस्तुतः असम्बन्ध होने पर भी पुष्प में उनका अध्यारोप होता है। अतः अज्ञान (अविद्या) वश जीव अकर्ता पुष्प को सुखी, दुःखी एव कर्तृत्वभाव-युक्त मानता है।<sup>३</sup> इससे बुद्धि न तो कार्यनिष्ठा (गुणाधिकार की समाप्ति) की प्राप्ति करती है, न ही सत्त्व-पुरुषान्यताख्याति ही प्राप्ति होती है। इस अविद्या (अदर्शन) के अभाव से ही उक्त हेतु दुःख के हेतुभूत सयोग का अभाव होता है। इसी को हान कहते हैं (हान=त्याग, अज्ञान का त्याग) यही द्रष्टा की कैवल्य स्थिति है।<sup>४</sup> जिसे पहले अदर्शन का अभावरूप कैवल्य बतलाया गया है, किन्तु अदर्शन का अभाव विवेक-ज्ञान से होता है। स्वल्पनशून्य विवेकख्याति ही अज्ञान-नाश (हान) का उपाय है।<sup>५</sup>

१ “मात्र दर्शन मोक्षकारणमदर्शनाभावादेव बन्नाभाव समोक्ष इति ।

दर्शनस्य भावे बन्धकारणस्यादर्शनस्य नाश इत्यतो दर्शनज्ञान कैवल्यकारणमुक्तम् ॥”

(व्या० भा०, यो० सू० २/२३)

२ “यस्तु प्रत्यक्चेतनस्य स्वबुद्धि सयोग ।” (व्या० भा० सू० २/२४)

“तस्य हेतुरविद्या ।” (यो० सू० २/२४)

३. तुल०—“तस्मात् तत्सयोगादचेतन चेतनावदिव लिङ्गम् ।

गुणकर्तृत्वे च तथाकर्तृत्वं भवत्युदासीन ॥” (सांख्यकारिका न० २०)

तथा

“प्रकृते क्रियमाणानि गुणौ कर्माणि सर्वश ।

अहंकार विमूढात्मा कर्ताहमिति मन्यते ॥” (गीता, ३/७)

४. “तदभावात् सयोगाभावो हानं तद्दृशे कैवल्यम् ।” (यो० सू० २५)

५. “विवेकख्यातिरविष्णवाहानोपायः ।” (यो० सू० २/२६)



विवेक का अर्थ द्रष्टा एव दृश्य का भेद एव ख्याति का अर्थ है ज्ञान । अतः बुद्धि एव पुंल्लया दृश्य एव द्रष्टा का भिन्न रूप से ज्ञान ही विवेकख्याति है । इसे सत्त्वपुरुषान्यताख्याति भी कहते हैं । यही विवेकज्ञान अज्ञान मूल पंचक्लेशो की निवृत्ति का उपाय है, किन्तु यह विवेकज्ञान सतत् अभ्यास से दृढ अवस्था-युक्त, स्खलनशून्य अर्थात् समस्त संशय, विपर्ययरहित होना चाहिये । इसीसे सूत्रकार ने “अविप्लवा विवेकख्याति” को हान का उपाय कहा है । अविप्लवा का अर्थ है, निर्भङ्ग । मिथ्याज्ञान या संशय-विपर्यय आदि ही इसके विघ्न हैं । यहाँ निर्विघ्न को त्रुटिरहित समझना चाहिये । अतः जब समस्त संशय, विपर्यय, आदि से शून्य, निर्मल अङ्गि विवेक ज्ञान उदय होगा तभी क्लेश निवृत्ति कर सकेगा ।

तात्पर्य यह है कि सर्व प्रथम विवेकज्ञान, आचार्य एवं शास्त्रादि के उपदेश से उत्पन्न होता है । इस प्रकार का परोक्ष ज्ञान अनादि संस्कारजन्य अविद्या के नाश में असमर्थ होता है । अतः शास्त्राचार्यादि के उपदेश-श्रवण से उत्पन्न अपरोक्ष विवेकज्ञान विप्लवयुक्त होता है, क्योंकि इस अवस्था में मिथ्याज्ञान से उत्पन्न व्युत्थान संस्कार चित्त में वर्तमान रहने से रजोगुणी-तमोगुणी वृत्तियाँ भी विद्यमान रहती हैं, जो विवेकज्ञान की विच्छेदक हैं ।

शास्त्रादि-श्रवण के अतिरिक्त युक्तिपूर्वक मनन से यह ज्ञान श्रवणजन्य ज्ञान की अपेक्षा दृढतर एव स्फुटतर प्रतीत होता है, किन्तु इस अवस्था में युक्त ज्ञान भी स्खलनशून्य नहीं कहा जा सकता है । समाधि-द्वारा सत्त्वपुरुष का विवेकपूर्ण साक्षात्कार ही अविप्लवा विवेकख्याति कही जा सकती है । इसके लिये दीर्घकाल तक निरन्तर सत्कारपूर्वक योगांगों के अनुष्ठान की आवश्यकता है । समाधि-द्वारा बारम्बार धैर्यपूर्वक सतत अभ्यास से ही क्रमशः विवेकज्ञान प्रस्फुट होता है । निरन्तर अभ्यास से सम्प्रज्ञात समाधि की पूर्णवस्था में मिथ्याज्ञानोत्पत्ति की आशंका निरस्त होने पर अज्ञान भृष्ट बीजवत् पुनः संसरण रूप अकुरोत्पत्ति में असमर्थ हो जाता है साथ ही दृष्ट-अदृष्ट विषयो के प्रति आसक्ति की सम्यक् निवृत्ति हो जाती है । द्रष्टा एवं दृश्य का पूर्णतः भेद-ज्ञान होता है । इस अवस्था में मिथ्याज्ञान से विवेकज्ञान भग्न होने की सम्भावना नहीं रहती है । अतः अविचल या विप्लवशून्य, निर्मल विवेकख्याति ही हान का विप्लवशून्य उपाय है, गीता में इसी अवस्था के लिये कहा गया है—

“क्षेत्रक्षेत्रज्ञयोरेवमन्तरं ज्ञानचक्षुषा ।

भूतप्रकृति मोक्षं च ये विदुर्यान्ति ते परम् ॥ (गीता १३/१४)

उक्त श्लोक मे क्षेत्र, क्षेत्रज्ञ से तात्पर्य क्रमशः दृश्य एव द्रष्टा का तथा ज्ञान चक्षुओ से विवेकख्याति का तात्पर्य ग्राह्य है।

अविप्लवा विवेकख्याति से युक्त अवस्था की ही संज्ञा धर्ममेव समाधि है। यही जीवनमुक्ति भी है। इसी से योगोक्त अविद्यामूलक पंचक्लेशो का निवारण होता है।

---

### (३) प्रज्ञा एवं ज्ञानदीप्ति —

विवेकख्यातिनिष्ठ योगी को प्रकृष्ट सप्त-सोपानमयी प्रज्ञा प्राप्त होती है,<sup>१</sup> ऐसा योग शास्त्र का कथन है। विवेकख्याति श्रेष्ठतम प्रज्ञा है और वही अन्तिम शुद्ध सत्त्वमयी प्रज्ञा है। इसके उपरान्त अन्य कोई प्रज्ञा उदित नहीं होती, अपितु परवैराग्य जन्य अमम्प्रज्ञाति समाधि में इस विवेकख्यातिरूप प्रज्ञा का भी निरोध हो जाता है। अतएव सूत्रकार की “तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा” इस उक्ति से, किसी अन्य प्रकृष्ट प्रज्ञा के सात प्रकार नहीं समझने चाहिये। वस्तुतः प्रकृत सूत्र में उक्त “प्रान्तभूमियां” विवेकख्याति के ही भेद स्वरूप क्रमाच्च सप्त सोपान हैं। विवेकख्याति में निष्ठा प्राप्त होने पर साधक क्रमशः ज्ञान (प्रज्ञा) की जिन सात चरम अवस्थाओं को प्राप्त करता है, उन्हीं का यहाँ स्वरूप कथन हो रहा है, क्योंकि जैसा कि अभी ऊपर बतलाया जा चुका है विवेकख्याति ही अन्तिम प्रज्ञा है, अतः विवेकप्रज्ञा की प्राप्ति के उपरान्त सूत्रकार को किसी अन्य प्रज्ञा के सात प्रकारों की प्राप्ति का कथन अयुक्तिसंगत होगा। सूत्रकार ने पहले “विवेकख्यातिरविप्लवा हानोपायः” बतलाकर “तस्य साप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा” ऐसा कहा है। अन्तिम सूत्र में “तस्य” का अर्थ है “विवेकख्यातिप्राप्तस्य”। अतः विवेकख्याति युक्त योगी की यह (विवेकख्यातिरूप) प्रज्ञा सात प्रान्तभूमियों वाली होती है, यही अर्थ उचित प्रतीत होता है। अग्रिम सूत्र “योगाङ्गानुष्ठानादशुक्षये ज्ञान दीप्तिराविवेकख्यातेः” से भी विवेकख्याति ही अन्तिम प्रज्ञा सिद्ध होती है और यहाँ पहले से ही विवेकख्याति प्रज्ञा का प्रकरण चल रहा है। अतः प्रकरण के बल पर भी उक्त “सप्त प्रान्तभूमियाँ” विवेकख्याति ( अर्थात् ख्यातिमान साधक ) की ही हैं। भाष्यकार भी कहते हैं “सप्त प्रकारैव प्रज्ञाविवेकिनोभवति”।

प्रस्तुत सूत्र गत् “तस्य” शब्द के अर्थ के विषय में मतभेद है। जैसा कि पहले भी बताया जा चुका है प्रकृत सूत्र में “तस्य” शब्द विवेकख्यातियुक्त योगी का परामर्शक है। अतः उक्त प्रकार के योगी को सात प्रकार की चरम अवस्था युक्त प्रज्ञा मिलती है, यह सूत्रार्थ हुआ, किन्तु श्री विज्ञानभिक्षु ने “तस्य” शब्द का अर्थ “विवेकख्यातिरविप्लवाहानोपायः” उक्त सूत्रस्य “हानोपायः” का परामर्शक माना

---

१. “तस्य सप्तधा प्रान्तभूमिः प्रज्ञा ।” (यो० सू० २/२७)

है। उनका कथन है कि “विवेकख्याति” स्त्रीलिंग है और “तस्य” शब्द पुल्लिंग। अतः उसका प्रयोग विवेकख्याति के लिये नहीं हो सकता है। फिर भी इसी सूत्र में आये “हानोपायः” का परामर्शक हो सकता है, क्योंकि वह पुल्लिंग है, किन्तु यह विचारणीय है कि सूत्रोक्त हान का उपाय तो स्वयं विवेकख्याति ही है और वह ख्याति स्वयं प्रज्ञास्वरूप है। अतः इस प्रज्ञा को मान प्रान्तभूमियो वाली प्रज्ञा-प्राप्ति के कथन से क्या प्रयोजन होगा, यह स्पष्ट नहीं हो पाता है। अतएव उक्त धारणा नितान्त विचारणीय है। वस्तुतः यह मान प्रान्तभूमियो वाली प्रज्ञा योगी को ही प्राप्त होती है। अतः ‘तस्य’ पद उसी योगी के लिये प्रयुक्त हुआ है। यही दृष्टि व्यासभाष्य के “मप्यप्रकारैव प्रज्ञा विवेकिनो भवति” इस उक्ति में भी स्पष्ट होता है। साथ ही भाष्योद्धृत इस पक्ति में यह मान प्रकार की प्रज्ञा विवेकख्याति ही है, यह भी स्पष्ट हो जाता है।

उक्त “तस्य” पद का अर्थ करते हुए श्री भावागणेश, नागोजी भट्ट एवं अनन्त पण्डित ने भिक्षु जी का अनुसरण करते हुए “हानोपायभूत” विवेकख्याति को सातप्रान्तभूमियुक्त प्रज्ञा की प्राप्ति बतलाई है। शेष श्री भोज, वाचस्पति मिश्र, विवरणकार शंकर, राघवानन्द सरस्वती, हरिहरानन्द आरण्य, सदाशिवेन्दु सरस्वती, प्रभृति विद्वानो ने व्याससम्मत मत की पुष्टि की है।

अतः जब साधक को विवेकज्ञान की उपलब्धि होती है, तो वह प्रारम्भ से अन्त तक क्रमशः सात उच्चतम स्तरों में आता है। ये अवस्थाएँ विवेकख्याति में स्थिति प्राप्ति के लक्षणस्वरूप हैं। अतः इनमें से एक भी अवस्था के आगम से योगी को यह निश्चय हो जाता है कि अब उसे वास्तविक विवेकज्ञान की प्राप्ति हो रही है। प्रान्तभूमि का अर्थ होता है सीमाभूमि अर्थात् अन्तिम अवस्था। अतएव “प्रान्तभूमिप्रज्ञा” का अर्थ है प्रज्ञा (ज्ञान) की चरम अवस्था। जिस विषय में प्रज्ञा की प्रान्तभूमि प्राप्त हो जाती है, उस विषय में आगे और प्रज्ञा नहीं हो सकती। यह उस विषय की उच्चतम अवस्था है, उसीमें प्रज्ञा की समाप्ति हो जाती है। विवेकख्याति-निष्ठ योगी की प्रान्तभूमियों के नाम क्रमशः (१) ज्ञेयशून्यावस्था, (२) हेयशून्यावस्था, (३) प्राप्यप्राप्त अवस्था, (४) चिकीर्षाशून्यावस्था, (५) चित्त की कृतार्थता, (६) गुणलीनता और (७) आत्मस्थिति है।

इनमें से प्रथम चार अवस्थाएँ प्रयत्नसाध्य हैं। इनका सामूहिक अभिधान “कार्यविमुक्तिप्रज्ञा” है। इनके द्वारा कार्य से विमुक्ति प्राप्त होती है। विमुक्ति से तत्पर्य प्रज्ञा की समाप्ति है। प्रयत्न द्वारा साध्य होने से इनका सामूहिक

अभिधान “कार्यविमुक्ति प्रज्ञा” है।<sup>१</sup> अन्तिम तीनों अवस्थाओं की सामूहिक संज्ञा “चित्तविमुक्ति” है। इनकी प्राप्ति “कार्यविमुक्तिप्रज्ञा” प्राप्त कर लेने पर स्वयमेव हो जाती है। अतः ये अप्रयत्नसाध्य हैं। चित्त विमुक्ति का अर्थ है, चित्त के अधिकार की समाप्ति।

### १—ज्ञेयशून्यावस्था—

इस प्रज्ञा का प्रथम प्रकार ज्ञेयशून्यावस्था है। इस अवस्था में पहुँच कर योगी यह अनुभव करने लगता है कि जो कुछ भी जानने योग्य था, उसे मैंने जान लिया, इससे अधिक अब कुछ भी ज्ञेय नहीं है। स्पष्ट है कि इस स्थिति के प्राप्त होने पर ज्ञेय की निवृत्ति हो जायेगी। इस अवस्था में योगी का चित्त जिज्ञासा की दृष्टि से पूर्ण सन्तुष्ट हो जाता है। जब तक सत्य की प्राप्ति नहीं होती, चित्त की ज्ञान-पिपासा शान्त नहीं होती है और मन को वास्तविक सत्य के अन्वेषण में इधर-उधर भटकते रहने से आत्मतुष्टि नहीं होती। विवेकी को प्रथम प्रज्ञा प्राप्त होते ही उसकी ज्ञान-पिपासा शान्त हो जाती है। त्रिगुणस्वरूप दृश्य, परिणाम, ताप संस्कार-दुःख एवं गुणवृत्ति-विरोध-पूर्ण होने से, हेय है।<sup>२</sup> इसमें कहीं भी सत्य सुख की उपलब्धि नहीं हो सकती है। सुख एवं ज्ञान हमारे ही अन्दर है। इस प्रकार ज्ञेय का अभाव हो जाने से इस अवस्था में पूर्वोक्त ज्ञान-जिज्ञासाजन्य असन्तोष लुप्त हो जाता है। यह विवेकज्ञान-निष्ठा की प्राप्ति का प्रथम लक्षण है। इस प्रकार प्रथम प्रज्ञा की प्राप्ति होने पर विषय सुख के दुःखमयस्वरूप सम्यक् ज्ञान से विषयाभिमुखता से सम्यक् निवृत्ति होती है।

### २—हेयशून्यावस्था—

द्वितीय अवस्था में हेयभूत दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति होती है। इस अवस्था में योगी यह अनुभव करने लगता है कि हेय (दुःख) के कारणभूत संयोगजन्य समस्त अविद्या, अस्मितादि क्लेश क्षीण हो चुके हैं, अतः अब कुछ भी क्षय करने योग्य नहीं बचा है। “क्षीणा हेयहेतवा न पुनरेतेषां क्षेतव्यमस्ति” (व्या० भा०), अर्थात् द्रष्टा एवं दृश्य का संयोग-स्वरूप हेय-हेतु विनष्ट हो चुका है, अब और इसमें कुछ नाश करने योग्य नहीं है। इस संयोग के ही कारण समस्त क्लेश बाधा पहुँचाते थे,

१. “एषा चतुष्टयी कार्यविमुक्तिप्रज्ञाया ।” (व्या० भा०)

“कार्यान्तरेण विमुक्ति प्रज्ञाया इत्यर्थः ।” (वाच० “तत्त्व वै०”)

२. यो० सू० २/१५-१८-२९ ।

जिनकी सकारण समाप्ति हो चुकी। इस प्रकार द्वितीय प्रज्ञा में क्लेश-नाश के हेतु की गई चेष्टा में साफल्यप्राप्तिवश उस विषय में कर्तव्य-समाप्ति के ज्ञान से समय-चेष्टा की निवृत्ति होती है।

### ३—प्राप्यप्राप्त अवस्था—

तृतीय अवस्था पूर्ण-ज्ञान-प्राप्ति की अवस्था है। इस अवस्था में हान के स्वरूप का निरोध-समाधि से प्रत्यक्ष ज्ञान हो जाता है। अतः चरमगति-विषयिणी जिज्ञासा समाप्त होती है। “साक्षात्कृत निरोधसमाधिनाः हानम्” इस प्रकार की प्रज्ञा उदित होने पर उस विषय में सर्वज्ञता प्राप्त हो जाती है।

### ४—चिकीर्षाशून्यावस्था—

इस अवस्था में विवेक की अवस्था से समस्त कुशल धर्मोत्पत्ति विषयक व्यापार की इतिवृत्ति होती है और योगी की अनुभूति इस प्रकार की होती है—“भावितो विवेकख्यातिरूपो हानोपायः”, अर्थात् विवेकख्यातिरूप मोक्ष का उपाय निष्पादित हो चुका, अतः मोक्ष-सम्बन्धी कोई धर्म निष्पाद्य नहीं रहा। इस प्रकार मोक्ष धर्म-सम्पादन विषयिणी इच्छा का अभाव हो जाता है। अतः इसे चिकीर्षाशून्यावस्था कहते हैं, क्योंकि यही विप्लव शून्य हानोपाय (मोक्षोपाय) है (२/२६)। इस अवस्था में प्रयत्नसाध्य प्रज्ञा समाप्त हो जाती है। यहाँ प्रज्ञा की समाप्ति चित्त के गुणाधिकार की समाप्ति नहीं है। इसके पश्चात् शेष तीन प्रज्ञाएँ स्वयमेव आविर्भूत होकर चित्त निवृत्ति कर देती हैं। वहीं पर-वैराग्य की चरम सीमा है। उसी की अग्रया बुद्धि सज्ञा है। वही बुद्धि-व्यापार की अन्तिम सीमा है। तत्पश्चात् कैवल्य की उपलब्धि हो जाती है।

### चित्त-विमुक्ति-प्रज्ञा—

### ५—चित्तसत्त्व-कृतार्थता—

इस प्रज्ञा में बुद्धि के अधिकार की समाप्ति हो जाती है—“चरिताधिकार बुद्धि” अर्थात् बुद्धि का भोग एवं अपवर्गरूप पुरुषार्थ सिद्ध हो चुकता है। बुद्धि-द्वारा भोगापवर्ग सिद्धि के अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन नहीं होता है, अतः इस प्रज्ञा में बुद्धि विषयक व्यापार से विरक्त होती है।

## ६—गुणलीनता—

बुद्धि के चरितार्थ हो चुकने से षष्ठ प्रज्ञा में योगी को—समस्त विघ्न नष्ट हो चुकने से—बुद्धि-स्पन्दन-निवृत्ति का निश्चय हो जाता है। अतः वह “गिरिशिखर-कूटच्युता इव ग्रावाणो निरवस्थानाः स्वकारणे प्रलयाभिमुखाः सह तेनास्तं गच्छन्ति न चैषां प्रविलीनानां पुनरस्त्युत्पादः प्रयोजनाभावादिति” अर्थात् पर्वत शिखर के किनारे से गिरे हुए शिलाखण्ड की भाँति पुरुष से सम्भिन्न प्रयोजनाभाववश निराधार स्वकारण में लयाभिमुख गुण समूह चित्त सहित अस्त हो रहे हैं, यह अनुभव करता है। प्रयोजन का अभाव हो जाने से अब एक बार विलीन हुए गुणों<sup>१</sup> की पुनः उत्पत्ति नहीं हो सकती है, इस प्रकार की आत्मसन्तुष्टि का अनुभव करता है गुणलीनावस्था में योगी को—समस्त क्लिष्टाक्लिष्ट संस्कार क्षीण हो जाने से—चित्त के शाश्वतिक निरोध की स्फुटत्व प्रतीति होती है।

## ७—आत्मस्थिति—

“एतस्यामवस्थायां गुणसम्बन्धातीतः स्वरूपमात्रज्योतिरमलः केवली पुरुषः इति” (व्या० भा०), अतः इस अवस्था में पुरुष गुणों के सम्बन्ध में अतीत (पर) होकर आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। आत्मस्थिति ही चरम लक्ष्य है। इस प्रकार आत्मस्थिति में प्रतिष्ठित चेतन मात्र=स्वप्रकाश ज्योति-स्वरूप, सर्वथा निर्मल पुरुष, केवली (सर्वसम्बन्धशून्य) कहा जाता है। यही जीवनमुक्तावस्था है। यहाँ पर गुण का अर्थ त्रिगुण है।

यह अवस्था कैवल्य नहीं, अपितु कैवल्य विषयिणी सर्वोत्कृष्ट प्रज्ञा की अवस्था है। कैवल्य में तो चित्त का प्रतिप्रसव हो जाता है, किन्तु दुःख-संस्पर्श से अतीत होकर जीवित रहने से और विदेह कैवल्य का आश्रय न लेकर योगी जीवनमुक्त कहा जाता है। “जीवन्नेव विद्वान् विमुक्तो भवति” (व्यासभाष्य ४/३०)। बात यह है कि सप्त-प्रान्तभूमि प्रज्ञा के पश्चात् चित्त के निरुद्ध हो जाने पर, शान्त उपाधियुक्त पुरुष को मुक्त, कुशल कहा जाता है। जब कि इस प्रज्ञा की भावना करते समय उसे केवल कुशल कहते हैं। वह जीवनमुक्ति इसीलिये है कि जीवनकाल में उसे दुःख की अनुभूति नहीं होती। सच तो यह है कि विवेक दर्शन में निष्णात होने

- 
१. यहाँ पर गुणों का तात्पर्य सुख-दुःख मोहरूप बौद्धिक गुण है, मौलिक त्रिगुण नहीं। चूँकि वे ही मूलकारण ही हैं अतः वे किस में लय प्राप्त करेंगे? प्रकृति स्वयं ही त्रिगुण की साम्यावस्था है।

से जीवन्मुक्त को दुःख का सस्पर्श तक नहीं होता है, जैसे निर्माण-चित्त का आश्रय ग्रहण करके जीवित रहने से भी योगी जीवन-मुक्त होता है। कैवल्य में विवेक-अविवेक कुछ भी नहीं रहता। विवेक से अविवेक नष्ट होकर बुद्धि-निवृत्ति होती है। विवेक अग्नि के समान स्वाश्रय को भी नष्ट कर देता है। चित्त-प्रलय-युक्त योगी विदेहमुक्त एवं उक्त प्रज्ञावान् योगी जीवन्मुक्त होता है।

किन्तु जिस विवेक-ख्याति—द्वारा योगी मुक्त होता है, उसकी प्राप्ति के लिए दीर्घकालीन साधन की आवश्यकता होती है। इसकी प्राप्ति के साधन योग के अष्ट अंग हैं। इन योगांगों के अनुष्ठान से रजोगुण-तमोगुण प्रयुक्त विपर्यस्त ज्ञान रूप क्लेश एवं शुक्लकृष्णादि कम-स्वरूप अशुद्धि का नाश होता है और विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञान दीप्ति होती है।<sup>१</sup> ज्ञानदीप्ति का अर्थ है, उत्तरोत्तर स्फुटतर यथार्थ ज्ञान के प्रकाश की अभिव्यक्ति। विवेक-ख्याति इस ज्ञानदीप्ति की चरम सीमा है। जितना अधिक योगाङ्गों का अनुष्ठान किया जाता है, उस अनुष्ठान की गति के अनुसार क्रमशः उतना ही अधिक अविद्या, अस्मिता आदि क्लेश-कर्म रूप अशुद्धि का क्षय होता जाता है। अशुद्धि का तात्पर्य केवल अज्ञान से नहीं, अपितु अज्ञानमूलक कर्म, तन्मूलक एवं तज्जन्य सस्कारों से भी है। योगाङ्गों के निरन्तर अनुष्ठान से क्लेश-कर्म एवं कर्म-सस्कार, इन सबका उत्तरोत्तर नाश होता है, क्योंकि अविद्या-अस्मिता आदि समस्त क्लेश अज्ञान, अर्थात् विपर्यस्त ज्ञान स्वरूप होते हैं, तथा योगाङ्गानुष्ठान का अर्थ है अविद्यादि के अवश या अज्ञान से विपरीत कार्य-कलाप, अर्थात् ज्ञानमूलक कर्माचरण अज्ञानमूलक कर्म का विरोधी होता है। अतः योगाङ्गानुष्ठान से अज्ञान का नाश होता है। अज्ञान के नष्ट होने से ज्ञान की और अधिक वृद्धि होती है। ज्ञान की इस उत्तरोत्तर वृद्धि को ही ज्ञानदीप्ति कहते हैं। यह ज्ञानदीप्ति सत्त्वगुणान्यताख्याति पर्यन्त प्रकर्ष का अनुभव करती है।

इस प्रकार से योगाङ्गों का अनुष्ठान अशुद्धि का वियोग-कारण एवं विवेक-ख्याति का प्राप्ति-कारण है। इस प्रसंग में भाष्यकार ने कारण के नौ प्रकारों का विवरण दिया है—(१) उत्पत्ति-कारण, (२) स्थिति-कारण, (३) अभिव्यक्ति-कारण, (४) विकार-कारण, (५) प्रत्यय-कारण, (६) प्राप्ति-कारण, (७) वियोग-कारण, (८) अन्यत्व-कारण और (९) घृति-कारण।<sup>२</sup>

१. “योगाङ्गानुष्ठानादशुद्धिक्षये ज्ञानदीप्तिराविवेक ख्याते ।” (योग० सू० २/२८)

२. “उत्पत्तिस्थित्यभिव्यक्तिविकारप्रत्ययास्तय ।

वियोगान्यत्वघृत्य कारण नवधास्मृतम् ॥” (व्या० भा० २/२८)



इन नौ प्रकार के कारणों में से योगाङ्गानुष्ठान अज्ञान का वियोग कारण है, जिस प्रकार छेदन की जानेवाली वस्तु का परशु विभेद-कारक होने से वियोग-कारण होता है। साथ ही विवेक-ज्ञान का वह प्राप्ति कारण है, जिस प्रकार धर्म कर्म सुख की प्राप्ति का कारण होता है।

यहाँ पर योग अज्ञान का वियोग कारण तथा विवेक-ज्ञान का प्राप्ति कारण है। कोई योगाङ्गो को ज्ञान का कारण कहने से उसका उपादान कारण न समझ लें, इसी से भाष्यकार ने इस बात को स्पष्ट कर दिया है। विवेक-दर्शन से अविवेक नष्ट होता है और विवेक योगाङ्गानुष्ठान से प्राप्त होता है। इसी रूप में योगाङ्गपरम्परया मोक्ष का या ज्ञान-प्राप्ति का हेतु है। वस्तुतः मोक्ष का कोई उपादान कारण नहीं होता। विवेकज्ञान नित्य है। अज्ञान से ही अविवेक (संयोग) की प्रतीति होती है। यह संयोग भी अभिन्न-प्रत्ययमात्र है, जो विवेक-प्रत्यय से नष्ट हो जाता है। योग अशुद्धि का वियोग-कारण और विवेक का प्राप्ति-कारण है। जिस प्रकार संयोग का कोई उपादान कारण नहीं है, उसी प्रकार, वियोग (मोक्ष) का भी कोई उपादान कारण नहीं है। मोक्ष विवेकज्ञान से उत्पन्न नहीं होता, अपितु नित्य है। विवेक-ज्ञान से पुरुष अपने स्वरूप की उपलब्धि करता है, न कि उत्पत्ति। वह तो नित्य मुक्त, शुद्ध, बुद्ध, चैतन्यरूप ही है। स्वरूपतः बद्ध नहीं। अज्ञान की उपाधिवश ही, उसके इस स्वरूप की उपलब्धि नहीं होती है। इस उपाधि की निवृत्ति से स्वरूपोपालब्धि होती है।

इसी प्रकार यह शका भी हो सकती है कि ज्ञानका कारण प्रत्यक्ष, अनुमान एवं आगम प्रमाण ही होते हैं। अतः योगाङ्गानुष्ठान विवेक-ज्ञान का कारण कैसे कहा जा सकता है? उक्त तीनों प्रमाणों से ज्ञान प्राप्त होता है, योगियों की भी यही मान्यता है, किन्तु योगाङ्गानुष्ठान ज्ञान का कारण किस प्रकार है, यह पहले भलीभाँति स्पष्ट किया जा चुका है। अतएव उक्त रीति से योगाङ्गानुष्ठान द्वारा प्राप्त समाधिजन्य ज्ञान ही परमप्रत्यक्ष ज्ञान है। प्रत्यक्षदर्शी पुरुषों द्वारा उपदिष्ट ज्ञान ही मोक्ष विषयक विशुद्ध आगम होता है। समाधि से प्राप्त ज्ञान ही ऋतजात सत्य होता है।

## (४) योग के अष्ट अंग—

### साधना प्रक्रिया की अवतारणा—

यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान और समाधि योग के ये अष्ट अंग हैं।<sup>१</sup> इन्हीं के अनुष्ठान से विवेकख्याति पर्यन्त ज्ञानदीप्ति होती है। तत्पश्चात् सम्प्रज्ञात समाधि परिपक्व हो जाने पर “सर्ववृत्तिनिरोध” रूप असम्प्रज्ञात समाधि का आविर्भाव होता है। इनमें से धारणा, ध्यान और समाधि ये तीन योग के अन्तरंग साधन हैं तथा पूर्व के पाँच बहिरंग साधन हैं। इन सबका पृथक् नाम-निर्देश, इनकी योगसाधना में अनिवार्यता का सूचक है तथा “अष्टौ” कहने से ये आठ ही योग के अंग हैं, अधिक नहीं, यह अभिप्राय है।

“योगसूत्र” के समाधिपाद में अभ्यास-वैराग्य तथा श्रद्धा, वीर्यादि के सतत् अनुष्ठान से समाधि-सिद्धि बतलाई गई है, किन्तु उनका अन्तर्भाव इन्हीं आठों अंगों में है। यथा, प्रत्येक योगांग का बारम्बार अनुष्ठान ही अभ्यास है। वैराग्य का नियमान्तर्गत सन्तोष में तथा श्रद्धा आदि का यथायोग्य तप आदि में अन्तर्भाव होता है। पूर्वोक्त परिकर्मों का धारणा, ध्यान और समाधि में अन्तर्भाव है। साधन पाद में वर्णित तप, स्वाध्याय एवं ईश्वरप्रणिधानरूप क्रिया-योग का नियमों में सद्भाव है। महाभारत में भी योग के आठ ही अंग बतलाये गए हैं—“वेदेषु चाष्टगुणिन योगमाहुर्मनीषिणः”<sup>१</sup> लिङ्ग पु० (१/८/७) कहता है—साधनान्यष्टा चास्य।

श्री विज्ञानभिक्षु के अनुसार योगारूढ गृहस्थादि मन्दाधिकारियों के लिए अष्टांगयोग का विधान है।<sup>२</sup> उत्तम और मध्यम अधिकारी-वर्ग के हेतु केवल ज्ञान एवं ज्ञानसमुचित कर्मों के वर्णन में उन्होंने यह बतलाया है।<sup>३</sup> कुछ भी हो, सच तो यह है कि विविध क्लेश संकुल ससार से निवृत्ति के लिए क्रमशः अन्तर्मुख होने

---

१. “यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।” (यो० सू० २/२६)

२. समाधि पाद में सू० ३३ से ३६ तक चित्त परिकर्म वर्णित है।

३. शान्ति० २१६/७ नीलकण्ठी टीका में .....

४. यो० सा० सं० पृ० ६०।

५. यो० सा० सं० पृ० ६१।

का सुगम साधनमार्ग अष्टांगयोग है, जिसमें अन्य किसी साधन की अपेक्षा न होने से यमो का सर्वप्रथम स्थान है। नियम-साधना पहले यमो के साधन की अपेक्षा रखती है। उसी प्रकार क्रमानुसार उत्तरोत्तर आसन, प्राणायामादि स्वपूर्ववर्ती नियम, आसन-जयादि कारण सापेक्ष है। यमो को अपने पूर्व अष्टांगयोग में से किसी के भी अनुष्ठान की अपेक्षा नहीं होती है।

इन यमो के नाम हैं—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य एव अपरिग्रह (सग्रह का अभाव) ।<sup>१</sup>

“यम उपरमे” धातु से निष्पन्न “यम” शब्द का अर्थ होता है—“निवृत्त होना”। अतः हिंसा, असत्य, स्तेय, मैथुन एव परिग्रह की निवृत्तिस्वरूप अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, एव अपरिग्रह योगसम्मत यम है। मनुष्य का समस्त प्राणिवर्ग के प्रति व्यवहार ही बहिर्मुखता की चरम सीमा है। अतः सर्व प्रथम व्यावहारिक जीवन को सात्त्विक, दिव्य एव योगाभिमुख बनाने के लिये यम प्रथम सोपान है। यमो के सम्यक् आचरण से बाह्य-व्यवहार की शुद्धि होती है और स्थूल क्लेश-कर्मों की निवृत्ति होती है।

### अहिंसा—

समस्त प्राणियों के प्रति सब प्रकार से द्रोहत्याग ही अहिंसा है, अर्थात् मनसा वाचा, कर्मणा किसी प्राणी को क्लेश न पहुँचाने की वृत्ति ही अहिंसा है, यही अहिंसा सबसे बड़ा धर्म एव सुख है। अन्य सब धर्म अहिंसा की प्रतिष्ठाहेतु ही किये जाते हैं। विज्ञानभिक्षु ने योरसारसग्रह में “ईश्वर गीता” के अहिंसा परक श्लोको को प्रमाणरूप में उद्धृत करते हुए शास्त्रोक्त हिंसा को अहिंसा ही बतलाया है।<sup>१</sup>

१. “अहिंसा सत्यमस्तेयब्रह्मचर्या परिग्रहा यमा ।” (यो० सू० २/३०)

तथा

“अहिंसासत्यमस्तेय ब्रह्मचर्य परिग्रहौ ।

यमा सक्षेपत प्रोक्ताश्चित्तशुद्धिप्रदानृणाम् ॥” (यो० सा० स० पृ० ६१)

२. तुल०—“कर्मणा मनसावाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।

अक्लेशजनन प्रोक्तात्वहिंसा परमर्षिभि ॥

अहिंसाया परोधर्मो नास्त्यहिंसापर सुखम् ।

विधिना या भवेद्विंशति सा त्वहिंसैव कीर्तिता ॥”

—आगामी पृष्ठ पर

भाष्यकार कहते हैं—“नानुपहत्य भूतान्युपभोगः सम्भवति” (२/१५) अतः शरीर धारण करने के लिये जीवपीड़ा अत्याज्य है ।

मुमुक्षु, योग-साधक के लिये हिंसा-कर्म सर्वथा सर्वदा परित्याज्य है । वे तो आततायी तथा सर्पादि सदृश हिंसक जीवों की भी हिंसा नहीं करते । भिक्षु जी ने जिस शास्त्रोक्त हिंसा को अहिंसा बतलाया है, वह शौच, आचमनादि में अज्ञानवश होने वाली हिंसा अथवा गृहस्थाश्रमियों से कर्तव्याचरण में होने वाली अनिवार्य हिंसा ही समझनी चाहिये ।<sup>१</sup> भाष्यकार की “नानुपहत्य भूतानि भोगः सम्भवति” उक्ति से भी यही तात्पर्य ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि योगियों के लिये सूत्रकार एवं भाष्यकार दोनों ने अहिंसा का “महाव्रत” रूप में पालन करना बतलाया है ।

यह भी स्मरणीय है कि केवल वध न करना ही अहिंसा नहीं है, अपितु समस्त प्राणियों के प्रति मन, वचन एवं कर्म से, मैत्री, करुणा आदि सद्भावों का पोषण भी अहिंसा के अन्तर्गत है । मन, वाणी एवं शरीर द्वारा क्रमशः अनिष्ट-

---

१. तुल०—“अत्र यद्वै हिंसाया अहिंसात्वमुक्तं तच्छौचाचमनाद्यपरिहार्यहिंसापरं गृहस्थादि-कर्तव्यहिंसापरं वा ।” (योगसार संग्रह, पृ० ६४)

---

(गत पृष्ठ का शेषांश)

(यो० सा० संग्रह, पृ० ६२) (ये कूर्मपुराण २/ है)

किन्तु हिंसा के स्वरूप का निर्णय मनोवृत्ति के अनुसार किया गया है । क्रूरता, जिघांसा, द्वेष आदि दूषित वृत्तिशून्य व्यक्ति से माता-पिता का वध भी परमार्थतः हिंसा नहीं है । हिंसा में भी तारतम्य होता है । पिता, माता, भाई, बहिन, सतानादि की हिंसा और शत्रु की हिंसा भी एक कोटि का दुष्कर्म नहीं । पिता-माता, सतान और भ्राता आदि के वध के लिये शत्रु-वध की अपेक्षा अधिक क्रूर वृत्ति की आवश्यकता होती है, अतः इनकी हिंसा अधिक जघन्य पाप है । इनके पश्चात् सामान्य मनुष्य, पुनः शत्रु, तदुपरान्त उपकारी पशु, पुनः सामान्य पशु, फिर अपकारी पशु एवं अन्य जीव, तत्पश्चात् सामान्य उद्भिज्ज, अपकारी वृक्ष, भक्ष्य वृक्ष, शस्यादि एवं अन्त में अदृश्य जीवों की हिंसा क्रमशः मृदुतर होती है । सामान्य ससारियों के लिये आततायी की हत्या एवं वृक्षादिनाश अधिक दोषपूर्ण हिंसा कोटि में परिगणित नहीं होते, क्योंकि वे जिस अवस्था में हैं, उसमें वे ऐसा करने को बाध्य हो जाने से अधिक दूषित नहीं होते, किन्तु यह सब व्यवस्था जन-सामान्य के हेतु है ।

चिन्तन, पुरुषभाषण तथा ताड़न आदि से किसी प्राणी को पीड़ा पहुँचाना हिंसा है। अतः इससे विपरीत आचरण अर्थात् मन, वचन और कर्म द्वारा सर्वदा और सर्वथा प्राणिमात्र के प्रति द्रोहत्याग योग सम्मत अहिंसा है। इसीलिये भगवान् व्यास ने सम्मत प्राणिवर्ग का अनभिद्रोह कहकर अहिंसा की व्याख्या की है।<sup>१</sup>

हाँ, यह अवश्य है कि प्राण-हरण सबसे प्रबल हिंसा है, क्योंकि प्राण ही प्राणियों की प्रियतम वस्तु है। पुरुष वचन से मर्मछेदन आदि अपेक्षाकृत मृदुतर हिंसाएँ हैं। साथ ही जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है, इसमें मनोवृत्ति का प्राधान्य होता है। अतः अध्यापनार्थ ताड़न, रोग निवृत्त्यर्थ शल्यक्रिया या आपरेशन, कटु अथवा तत्काल कष्टप्रद औषधि-दान तथा प्रायश्चित्तादि के हेतु दण्ड-विधान, यदि केवल कल्याण चिन्तनपूर्वक किये जाते हैं, तो वे अहिंसारूप ही हैं, योग के महाव्रत का इससे सम्बन्ध नहीं है।

अहिंसा के अतिरिक्त शेष चारों यम अहिंसामूलक ही हैं और उनका अनुष्ठान अहिंसा की निर्मलता के हेतु किया जाता है। अन्य सत्यादि यमों का अनुष्ठान न करने से असत्यादि द्वारा अहिंसा मलिन होने का भय रहता है।<sup>२</sup>

### सत्य—

यथार्थ चिन्तन एवं कथन सत्यानुष्ठान है, अर्थात् जिस रूप में किसी वस्तु को प्रत्यक्ष किया हो (देखा हो), जैसा उसे तर्कानुमान से जाना हो, अथवा जैसा आगम से सुना हो, उसी रूप में उस वस्तु के ज्ञान को मन में धारण करना तथा दूसरों को बतलाना सत्य है। स्वचित्तगत बोध के विपरीत बोध कराने वाली वाणी असत्य होती है। उदाहरणार्थ “अश्वत्थामा हतः” युधिष्ठिर का यह वाक्य द्रोणाचार्य के मन में अयथार्थ ज्ञानोत्पादन होने से असत्य है।<sup>३</sup> कारण युधिष्ठिर के चित्त में प्रत्यक्ष

१. “तत्रा हिंसा सर्वदा सर्वदा सर्वभूतानामनभिद्रोहः ।” (व्या० भा० २/३०)

२. “स खल्वयं ब्राह्मणो यथा यथा व्रतानि बहूनि समादिस्सते तथा तथा प्रमादकृतेभ्यो हिंसा निदानेभ्यो निर्वर्तमानस्तामेवावदातरूपांमहिंसां करोति” (पञ्चशिखाचार्य) । (द्र०—व्या० भा० सू० २/३०)

तथा

“सत्येन सर्वमाप्नोति सत्ये सर्वं प्रतिष्ठितम् ।” (यो० सा० सं० पृष्ठ ६१)

“यथार्थकथनाचार सत्यं प्रोक्तं द्विजातिभिः ॥” (कूर्म २/)

३. द्रोणपर्व, १९०/५५ ।

बोध हस्तिमृत्यु विषयक था और युधिष्ठिर के वाक्य से द्रोणाचार्य के चित्त में उत्पन्न हुआ बोध स्वप्न विषयक था और वह उस अर्थार्थ बोध को उत्पन्न कराना चाहते थे । अतः ऐसी वाणी वचनाजनक होने से असत्य कोटि में गण्य है । वचना, भ्रान्ति एवं प्रतिपत्तिशून्य बोधकारक वचन ही सत्य है, पर अपकार मूलक वचन भी सत्य नहीं सत्याभास है ।<sup>१</sup> दूसरे के चित्त में कष्ट पहुँचाने वाले सत्य कथन से भी दुःखात्मक नरक प्राप्त होता है । अतः दूसरे के लिये उपकारक एवं यथार्थ ज्ञानोत्पादक वचन ही सत्य है । भगवान् मनु भी कहते हैं—

“सत्यं ब्रूयात् प्रिय ब्रूयान्नब्रूयात्सत्यमप्रियं ।”

अप्रिय सत्य के विषय में मौनसाधन ही श्रेयस्कर है । अप्रिय सत्य-भाषण से योगियों की दृष्टि से वक्ता का ही अनिष्ट होता है ।

**अस्तेय—**

“मुष स्तेये” धातु से निष्पन्न “स्तेय” शब्द का अर्थ होता है—चोरी अथवा तस्करता । स्तेयाभाव को अस्तेय कहते हैं । अतः अस्तेय का अर्थ है चोरी अथवा बलात्कारपूर्वक किसी के द्रव्य को ग्रहण न करना ।<sup>२</sup> भगवान् व्यास ने अशास्त्रीय विधि से दूसरे के धन के स्वीकरण को स्तेय तथा उसके विरुद्ध स्तेय में स्पृहा के अभाव को अस्तेय कहा है । इन्द्रिय से परद्रव्यापहरण तो दूर की बात है, मन से भी अन्यायपूर्वक पर द्रव्य-स्वीकरण के इच्छाराहित्य को अस्तेय कहते हैं । अतः निजस्वरहित वस्तु के ग्रहण एवं उसको ग्रहण-स्पृहा के परित्याग की चेष्टा ही अस्तेय साधन है । इस विषय में श्रुति भी है—“मा गृधः कस्यस्विद्धिनम्” ।<sup>३</sup>

**ब्रह्मचर्य—**

मन, वाणी एवं कर्म द्वारा, सब अवस्थाओं में, सर्वत्र, समस्त प्राणियों में,

१. तुल०—यदिचैवमन्यभिधीयमाना भूतोपधातपरैवस्यान्न सत्य भवेत् पापमेवभवेत् । तेनगुण्या-

भासेन पुण्यप्रतिरूपकेण कष्ट तम प्राप्नुयात् ।

(व्या० भा० यो० सू० २/३०)

२. तुल०—“परद्रव्यापहरणं चौर्याद्वाऽथ बलेन वा ।

स्तेयं तस्यानाचरणादस्तेयं धर्मसाधनम् ॥”

(यो० सा० स० पृ० ६२)

३.

इ १”

मैथुन का परित्याग ब्रह्मचर्य कहलाता है।<sup>१</sup> व्यास ने सामान्यरूप से उपस्थसंयम को ब्रह्मचर्य कहा है, किन्तु उसका तात्पर्य चक्षु आदि समस्त इन्द्रियो की रक्षापूर्वक अर्थात् अब्रह्मचर्य के विषयो से समस्त इन्द्रियो का संयम करके उपस्थसंयम करना ब्रह्मचर्य है, ऐसा समझा जाना चाहिये। केवल उपस्थसंयम को पूर्ण ब्रह्मचर्य नहीं कहा जा सकता। इस प्रकार तो संयत गुह्येन्द्रिय युक्त पुरुष स्त्री रागयुक्त दृष्टिपात अंगस्पर्श, आसक्तिपूर्ण वार्तालापादि करते हुए भी ब्रह्मचारी कहा जायगा। वस्तुतः ये अब्रह्मचर्य के लक्षण हैं, क्योंकि इन क्रियाओ से भी चित्त एवं अंगो में काम विकार उत्पन्न होता है, जो सर्वथा हेय है। महर्षि दक्षमुनि ने अष्ट मैथुनराहित्य को ब्रह्मचर्य का लक्षण कहा है जो इस प्रकार है :—

“स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्यभाषणम् ।

संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रियोनिवृत्तिरेव च ॥

एतन्मैथुनमष्टाङ्गं प्रवदन्ति मनीषिणः ।

विपरीतं ब्रह्मचर्यमेतदेवाष्टलक्षणम् ॥”<sup>२</sup>

कहीं कहीं पर “विपरीतं ब्रह्मचर्यमनुष्ठेयं मुमुक्षुभिः” ऐसा पाठ है।

“योगसार संग्रह” में समस्त प्राणियो में सर्वथा मैथुन त्याग को ब्रह्मचर्य कहा है, जिसके अन्तर्गत मनुष्येतर प्राणी भी आते हैं। अतः मनुष्येतर प्राणियो में मैथुन-त्याग तभी सिद्ध हो सकता है, जब उपर्युक्त अष्ट अंग स्वीकार किये जायें। उपर्युक्त अष्टाङ्ग-मैथुन में “प्रेक्षण” का अर्थ रागपूर्वक दर्शन समझना चाहिये, क्योंकि दृष्टिपातमात्र से विकारोत्पत्ति नहीं हो जाती है। वस्तुतः वीर्यरक्षा ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य-पालन का यही उद्देश्य होता है—क्योंकि वीर्य-नाश को मरण एवं वीर्यरक्षा को जीवन कहा गया है। “मरण बिन्दुपातेन जीवन बिन्दुधारणम्।”<sup>३</sup> यहाँ बिन्दु का अर्थ वीर्य ही है।

**अपरिग्रह—**

किसी से कुछ लेने से हृदय अपवित्र हो जाता है। दान-ग्रहण करने वाला

१. कर्मणा मनसा वाचा सर्वभूतेषु सर्वदा ।

सर्वत्र मैथुनत्याग ब्रह्मचर्यं प्रश्नक्षते ॥ (योग सा० सं० ६२)

२. द्र०—यो० भा० विबु०, पृ० ४५० ।

३. पातञ्जलयोगप्रदीप—पृ० ३६७ ।

हीन हो जाता है, उसकी स्वतन्त्रता खो जाती है और वह बद्ध एवं आसक्त हो जाता है, क्योंकि वस्तुओं के ग्रहण से अर्जन, रक्षण, क्षय, सग एवं हिंसा आदि दोष उत्पन्न होते हैं। अतः प्राणधारण के लिये आवश्यक वस्तु से अधिक का अस्वीकरण अपरिग्रह है। भिक्षु के अनुसार संकटकाल में भी किसी से इच्छापूर्वक उपहार ग्रहण न करना अपरिग्रह है।<sup>१</sup> अपरिग्रह-साधना का उद्देश्य भी हृदयशुद्धि है (परम्पराक्रम से)।

वस्तुओं के ग्रहण और अधिक संग्रह की कामना बढ़ने के साथ-साथ, उसकी रक्षा तथा नष्ट न होने देने की चिन्ता बढ़ती है।

विषयो मे आसक्ति को सग कहते हैं। वह भी दोष है, क्योंकि इससे प्रबल भोगेच्छा जागृत होती है। भोगाभ्यास से विषयराग दृढतर होता है तथा इन्द्रियो मे भोगपाटव की वृद्धि होती है। प्राणिपीडन के बिना भोग सम्भव नहीं होता<sup>२</sup> और प्राणिपीडन हिंसा है। शास्त्रोक्त विधि विपरीत द्रव्य के ग्रहण मे तो स्पष्ट ही दोष है। वैध विषयो के ग्रहण में भी पूर्वोक्त दोष होते हैं, अतः योग-साधक के हेतु शास्त्रीय विषय भी यथासंभव परित्याज्य है। यही अपरिग्रह है। शका हो सकती है कि जब “अस्तेय” मे हो परद्रव्य के अस्वीकरण का विधान है, तो “अपरिग्रह” के अलग विधान का क्या प्रयोजन है? इसका समाधान यह है कि—“अस्तेय पद से चौर्य एवं तस्करता का निषेध किया गया है और अपरिग्रह से दान लेने का निषेध है। अस्तेय का अर्थ अशास्त्रीय ( शास्त्रानुसार जो अपना विषय नहीं है, वह ) द्रव्य का परित्याग है और अपरिग्रह का अर्थ शास्त्रोक्त द्रव्यो मे भी दोषदर्शनपूर्वक उनका यथाशक्ति परित्याग है। अतः दोनों ही पद सार्थक हैं।

×

×

×

अभी यमो के सामान्य स्वरूप का वर्णन किया गया है पहले योगी के लिये उक्त यमो का महाव्रतरूप मे अनुष्ठान बतलाता गया है। पूर्वोक्त पाँचो यम ही, जाति, देश, काल एवं समय (संकेत, नियम विशेष) की सीमा से रहित सार्वभौम रूप मे ( प्रत्येक अवस्था मे ) आचरित होने पर, महाव्रत कहलाते हैं।<sup>३</sup>

१. “द्रव्याणामप्यनादानपद्यपि यथेच्छया ।

अपरिग्रह इत्युक्तस्त प्रयत्नेन पालयेत् ॥

(योगसार संग्रह, पृ० ६२ )

२. “नानुपहत्यभूतान्युपभोग सम्भवति ।” (व्या० भा० सू० २/३०)

३. “जातिदेशकालसमयानवच्छिन्नाः सार्वभौमा महाव्रतम् ।” (यो० सू० २/३१)



जाति, देश, काल और समय से अनवच्छिन्न का अर्थ है—इन चारों से यमो को संकुचित न किया जाना । उदाहरणार्थ—

१. जति से अवच्छिन्न हिंसा—जैसे गौ आदि पशु अथवा ब्राह्मण की हिंसा न करूँगा ।
२. देश द्वारा संकुचित हिंसा—यथा काशी, प्रयाग आदि तीर्थों में हिंसा न करूँगा ।
३. काल द्वारा संकुचित—एकादशी, चतुर्दशी आदि पुण्य तिथियों को हिंसा नहीं करूँगा ।

४. समय द्वारा संकुचित—यहाँ समय का अर्थ है—कर्त्तव्य के लिये नियम । अर्जुन ने क्षत्रिय धर्म-वश महाभारत युद्ध किया था । युद्ध करना क्षत्रिय का कर्त्तव्य है ।<sup>१</sup> यही समय द्वारा संकुचित या समयावच्छिन्न हिंसा है । इसी प्रकार यज्ञादि में देव-ब्राह्मणार्थ हिंसा भी कर्त्तव्य होने से समयावच्छिन्न हिंसाएँ हैं ।

अन्य यमों के लिये भी इसी प्रकार समझ लेना चाहिये, अर्थात् समयावच्छिन्न सत्य-जैसे “प्राणसंकट आदि के अतिरिक्त कभी असत्य भाषण नहीं करूँगा” । समयावच्छिन्न अपरिग्रह, यथा “परिवारपालन की आवश्यकता से अधिक दान ग्रहण” न करूँगा इत्यादि ।

उपर्युक्त प्रकार से यमों का पालन अवच्छेद (सीमा) युक्त कहलाता है । इन जाति-देश-काल और समय के अवच्छेद के हटने पर, सब प्रकार से सभी जाति, देश, काल और समय पूर्णतः यमों का पालन किया जाने पर वे महाव्रत कहलाते हैं । योगियों के लिये यमों का सार्वभौम महाव्रत ही परिपालनीय होता है ।

×

×

×

शौच, सन्तोष, तप, स्वाध्याय एव ईश्वरप्रणिधान ये पाँच नियम होते हैं ।<sup>२</sup>

---

१. “स्वधर्ममपि चावेक्ष्य न विकम्पितुमर्हसि ।

धर्म्याद्धि युद्धाच्छ्रेयोऽन्यत्क्षत्रियस्य न विद्यते ॥”

(गीता २/३१)

२. “शौचसन्तोषतपः स्वाध्यायेश्वरप्रणिधानानि नियमाः ।”

(योग सू० २/३२)

ईश्वर-प्रणिधान को ईश्वरपूजन भी कहते हैं।<sup>१</sup> इनमें प्रथम, शौच, बाह्य एवं आभ्यन्तर के भेद से दो प्रकार का होता है। मृत्तिका, जल, गोमय आदि से पात्र, वस्त्र, स्थान एवं शरीर के अंगों को शुद्ध रखना तथा हित, मित, पवित्र आहार से शरीर को सात्विक, स्वस्थ एवं निरोग रखना बाह्य शौच है। मैत्री, आदि पवित्र भावनाओं से अभिमान, असूया, घृणा आदि चित्त के मलो का प्रक्षालन आभ्यान्तर शौच है।

जीवनधारण-हेतु प्राप्त आवश्यक भोगसाधन से अधिक सग्रेहेच्छा का अभाव सतोष है।<sup>२</sup> योगी के लिये प्रारब्धवश प्राप्त योगोपयोगी पदार्थों से इतर विषयों के सग्रह की कामना न होना सतोष है। सतोष के विषय में शास्त्रोक्ति है कि—जिस प्रकार कष्टों से बचने के लिये भूमि को सर्वत्र चर्माच्छादित नहीं किया जा सकता है, किन्तु जूते पहने जा सकते हैं। उसी प्रकार सुखप्राप्ति, अनन्त काम्य विषयों के अर्जन से नहीं हो सकती। सतोष से ही सुख प्राप्त हो सकता है। “सर्वत्र सम्पदस्तस्य सन्तुष्ट यस्य मानसम्। उपानद्गूढपादस्य ननु चर्मावृतैवभू (शान्ति० .. ....)

मनु जी ने भी कहा है—

“संतोषं परमास्थाय सुखार्थी संयतो भवेत्।

संतोषमूलं हि सुखं दुःखमूलं विपर्ययः ॥”<sup>३</sup>

क्षुधा-पिपासा, शीत-उष्ण, सुख-दुःख, स्थान (खड़ा ही रहना), आसन (बैठा ही रहना) आदि सम्पूर्ण द्वन्द्वों की अवस्थाओं में अविचलित रहना तप है। वाणी के समय के लिये काष्ठमौन, आकार-मौन, उक्त द्वन्द्व सहन के हेतु कृच्छ्र, चान्द्रायण, सान्तापन आदि व्रत भी तप के अन्तर्गत आते हैं। इनका प्रयोग अपनी सामर्थ्य एवं आवश्यकतानुसार ही आचरणीय है। यदि शरीर में इन व्रतों के पालन से व्याधि, पीडा एवं इन्द्रिय-विकार की सम्भावना हो तो ये त्याज्य हैं। चित्तप्रसाद में बाधक उग्र तप योग मार्ग में वर्जित है—

१. तुल०—“तप स्वाध्यायसन्तोषा शौचमीश्वरपूजनम्।

समासान्नियमा प्रोक्ता योगसिद्धिप्रदायिन ॥” (यो० सा० स० पृ० ६३)

२. “यदृच्छालाभनो नित्यमल पुंसो भवेदिति।

या धीस्तामृषय प्राहु सन्तोष सुखलक्षणम् ॥” (कूर्म २, विष्णु ६)

३. मनुस्मृति, ४/१२।

“युक्ताहार विहारस्य युक्त चेष्टस्य कर्मसु ।

युक्तास्वप्नावबोधस्य योगी भवति दुःखहा ॥” गीता, ६।१७

वाजिविद्या-प्रवीण सारथि की भांति, शरीर, प्राण एव इन्द्रियो को उचित रीति से स्ववश करना ही तप-द्वारा साध्य है ।

श्री भिक्षु ने योगसार सग्रह में उपवास परक कृच्छ्र, चान्द्रायणादि व्रतो द्वारा शरीरशोषण को ही उत्तम तप कहा है।<sup>१</sup> पर योगसाधक के हेतु उग्र तप वर्जित है । अतः उक्त व्रतो द्वारा शरीरशोषण यदि योगमार्ग में बाधक सिद्ध हो, तो उसे उत्तम तप नहीं कहा जा सकता है।<sup>२</sup> भिक्षु जी की तप की व्याख्या योगी की शारीरिक क्षमता पर निर्भर करती है। कृच्छ्रादि तप पापक्षय हेतु आवश्यक होने से पालनीय हाते हैं, द्वन्द्व-सहन में शक्तिवर्द्धक तप ही उत्तम तप कहा जा सकता है ।

उपनिषद्, गीता आदि मोक्ष प्रति-पादक आध्यात्मिक शास्त्रों का नियमित अध्ययन तथा प्रणव, गायत्री आदि का नियमित जप स्वाध्याय कहलाता है । स्वाध्याय से विषयचिन्तन दुर्बल होता है । परमार्थ में रुचि एव ज्ञान-वृद्धि होती है । इस प्रकार अन्तःकरण की शुद्धि होती है ।

स्वाध्याय के भी तीन भेद होते हैं । वाचिक, उपांशु एव मानस । वे क्रमशः एक दूसरे से स्ववैशिष्ट्य-युक्त एव श्रेष्ठ हैं । दूसरे को स्फुटतः शब्दबोध कराने वाला स्वाध्याय वाचिक कहलाता है । ओष्ठस्पन्दन की क्रिया स्पष्ट प्रतीत होने पर भी जिससे दूसरो को शब्दज्ञान न हो, उस स्वाध्याय को उपांशु कहते हैं । पद एवं वर्ण-संगति के अनुसार बाह्य स्पन्दनशून्य शब्द-चिन्तन को मानस जप कहते हैं।<sup>३</sup>

१. “उपवासपराकादिकृच्छ्रचान्द्रायणादिभि ।

शरीरशोषण प्राहुस्तापसास्तप उत्तमम् ॥” (कूर्म)

२. “शरीरं तु तपो घोरं साध्या प्राहुर्निरर्थक ।

(महाभारत अनुशासन पर्व, पृ० ६०१३, गीताप्रेस संस्करण) (यह दाक्षिणात्यपाठ है)

३. “स्वाध्यायस्य त्रयो भेदा वाचिकोपांशुमानसा ।

उत्तरोत्तरं वैशिष्ट्यं प्राहुर्वेदार्थवादिनः ॥

यः शब्दबोधजननं परेषां शृण्वता स्फुटम् ।

स्वाध्यायो वाचिकः प्रोक्तः उपांशोरथलक्षणम् ॥

ओष्ठर्योऽप्यस्पर्शमात्रेण परस्याशब्दबोधकः ।

ये तीनो उत्तरोत्तर एक दूसरे से श्रेष्ठ है। वस्तुतः ये तीन जपरूप स्वाध्याय के भेद मानना अधिक उचित प्रतीत होता है।

फलेच्छा परित्यागपूर्वक समस्त कर्मों का, परम गुरु ईश्वर को समर्पण करना ईश्वरप्रणिधान कहलाता है। योगसारसंग्रहकार ने इसी को ईश्वरपूजन कहा है तथा स्तुति, स्मरण एवं पूजन द्वारा, मन, वचन एवं कर्म से निश्चल भक्ति को उसका स्वरूप बतलाया है।<sup>१</sup> सम्पूर्ण क्रियाएँ ईश्वर को अर्पित करने के लिये हर समय भगवत् स्मरण करते रहना आवश्यक है। ईश्वर को विस्मृत करके किया हुआ कर्म पूर्णतः अपने व्यक्तित्व के अहंकार पूर्वक होता है। अपने आप में अकर्तृत्व की भावना तथा भगवत्स्मरणपूर्वक कर्म करने से तथा फल की कामना न करने से, कर्मशय निवृत्त होते हैं। यही ईश्वरप्रणिधान का वास्तविक स्वरूप एवं लक्ष्य है। भगवान् व्यास ने भी ईश्वर-प्रणिधान का स्वरूप-कथन करते हुए यह उद्धरण दिया है :—

“शय्यासनस्थोऽथ पथिव्रजन्वा स्वस्थः परिक्षीणवितर्कजालः।

संसारबीजक्षयमीक्षमाणः स्यान्नित्यमुक्तोऽमृतभोग भागी ॥”

स्पष्ट है कि उठते-बैठते, चलते-फिरते हर समय, स्वार्थान् अपने आत्म-स्वरूप में स्थित होकर सशयादि वितर्कों से रहित चित्त से संसार के बीजभूत अविद्यादि के क्षय का चिन्तन करता है, वही अमृतत्व को प्राप्त करता है। इस प्रकार ईश्वर प्रणिधान से आन्तरिक चैतन्य की उपलब्धि एवं समस्त विघ्नों का विनाश होता है।

×

×

×

कल्याण-पथ में अनेक विघ्न उपस्थित होते हैं। पूर्वोक्त यम-नियमों के अभ्यास में हिंसा, अमृतादि वितर्क-बाधा उपस्थित होने पर, उनके प्रतिपक्षों की

१. “स्तुतिस्मरणपूजाभिर्वाङ्मन कायकर्मभि ।

सुनिश्चला शिवे भक्तिरेतदीश्वर पूजनम् ॥” (योगसार संग्रह, पृ० ६४)

(गत पृष्ठ का शेषांश)

उपांशुरेष निर्दिष्ट सहस्रो वाचिकाजप ॥

यत्पदाक्षरसगत्या परिस्पन्दविवर्जितम् ।

चिन्तन सर्वशब्दानां मानस त जप विदु ॥” (योगसार स०, वि० भि०, पृ० ६३)

भावना करनी चाहिये।<sup>१</sup> वितर्क आदि शब्द से हिंसा, अनृत, स्तेय, स्त्रीगमन तथा परिग्रह पाँच प्रकार के वितर्क समझने चाहिये। ये क्रमशः अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह के विरोधी हैं। ये स्वयं किये गए, दूसरो से करवाए हुए तथा अनुमोदन किए गए, इस प्रकार तीन प्रकार के कर्मानुसार ये अल्प, मध्यम एवं अधिक परिणाम युक्त तथा दुःख एवं अज्ञान रूप अनन्त फल प्रदान करने वाले हैं। इनका कारण लोभ, क्रोध एवं मोह होता है। इस प्रकार का चिन्तन ही प्रतिपक्ष की भावना है।<sup>२</sup>

रोग एवं अस्वस्थ शरीर भी योग मार्ग में बाधक है, अतः शरीरशोधन, शरीर के विकार एवं रोगनिवृत्ति के साधनो का ज्ञान भी परमावश्यक है। हठयोग में शरीरशोधन के छः साधन बतलाए गए हैं। धौति, वस्ति, नेती, नौली त्राटक और कपाल-भाति।<sup>३</sup>

प्राकृतिक नियमो, द्वारा भी शरीर-शोधन एवं रोग-निवृत्ति होती है। उन सबके वर्णन से अनावश्यक विस्तार होगा।

×

×

×

पूर्वोक्त हिंसादि वितर्क जब तक बाधा पहुँचाएँ, तब तक बारम्बार प्रतिपक्ष-भावना द्वारा उनका निवारण करते रहना चाहिये। इन वितर्क-विघ्नाङ्कुरो के दग्धबीज तुल्य हो जाने पर, यमादि के सिद्धि-सूचक लक्षण प्रकट होते हैं। यथा अहिंसा में पूर्ण निष्ठा प्राप्त हो जाने पर उस योग साधक के सान्निध्य में आनेवाले सभी प्राणी वैरभावगून्य हो जाते हैं।<sup>४</sup> यम-नियमो की प्रतिष्ठा से तात्पर्य उनके अनुष्ठान में बाधक वितर्कसमूह की अपरोहसमर्थता से है। जब चित्त में हिंसादि वितर्क, उद्बोधक कारण उपस्थित होने पर भी, अनुत्पन्न रहे, तब अहिंसादि में निष्ठा प्राप्त हो चुकी है, ऐसा समझना चाहिए। सम्मोहन-विद्या (Mesmerism) द्वारा इच्छाशक्ति (Will-Power) के उत्कर्ष से मनुष्य एवं पशुओं को स्ववश किया

१. “वितर्कबाधने प्रतिपक्षभावनम्।” (यो० सू० २/३३)

२. “वितर्का हिंसादयः कृतकारितानुमोदिता लोभक्रोधमोहपूर्वका।  
मृदुमध्यादिमात्रा दुःखाज्ञानान्तफला इतिप्रतिपक्षभावनम्॥”

३. “धौतिर्वस्तिस्तथा नेतिर्नौलिकिस्त्राटकस्तथा।

कपालभातिश्चैतानि षट्कर्माणि समाचरेत्॥” (गौरक्षसहिता)

४. “अहिंसा प्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।” (योग सू० २/३५)

जा सकता है। जिस योगी का चित्त इच्छाशक्ति के अत्यधिक उत्कर्ष से स्वभावतः सर्वथा हिंसाशून्य हो चुका है, उसके मनोभाव से प्रभावित होकर, सामीप्यमात्र से, प्राणिवर्ग हिंसावृत्ति त्याग देते हैं। अहिंसा सम्बन्धी सिद्धि के विषय में यह जानना चाहिये कि जिस योगी में अहिंसा के पूर्वजन्म-संचित संस्कार होते हैं, उसी के समक्ष हिंसक पशु वैर-त्याग करते हैं। इसी प्रकार सत्यसम्भाषण में पूर्ण-निष्ठा प्राप्त होने पर वाक्सिद्धि होती है। सूत्रकार श्रीपतजलि ने इसे “क्रियाफलाश्रयत्व”<sup>१</sup> कह कर अभिव्यजित किया है। “क्रियाफलाश्रयत्व” का अर्थ है—शुभ-अशुभ क्रियाजन्य धर्माधर्म एवं उनके फलस्वरूप स्वर्ग, नरकादि का आधार बन जाना। अथवा अपनी इच्छा के द्वारा दूसरो को प्रभावित करके, उनसे अपने अनुकूल कार्य कराने में समर्थ हो जाना। सत्यनिष्ठ योगी की वाक्शक्ति अमोघ हो जाती है। सत्यनिष्ठा भी प्रकृष्ट संकल्प शक्ति के कारण ही होती है। कृत्रिम आदेश (Hypnotic Suggestion) द्वारा रोग, मिथ्यावादित्वादि का निवारण किया जाता है। यह भारतीय योगियों का भी अनुभव है।<sup>२</sup>

अस्तेय में प्रतिष्ठित होने पर उस योगी के समक्ष समस्त रत्न उपस्थित होते हैं।<sup>३</sup> अस्तेयनिष्ठ साधक के निस्पृहभाव के कारण वह सबका परम विश्वासपात्र बन जाता है। उसके प्रभाव से मुग्ध होकर, उसे परम आश्वास स्थल समझ कर, श्रद्धालुओं के द्वारा स्वयं रत्न उपस्थित किये जाते हैं। यहाँ रत्न से तात्पर्य केवल धन-रत्न ही नहीं, अपितु गुण से भी है। प्रत्येक जाति में जो श्रेष्ठ है, वह रत्न है—“जातौ जातौ यदुत्कृष्टं तदरत्नमिह प्रोच्यते”।

×

×

×

ब्रह्मचर्य की प्रतिष्ठा से वीर्यलाभ होता है।<sup>४</sup> वीर्य समस्त शक्तियों का मूल स्रोत है। अब्रह्मचारी को योग सिद्ध नहीं हो सकता है। वीर्यरक्षण से शारीरिक, मानसिक एवं आत्मिक शक्तियों का उत्कर्ष होता है। वीर्यलाभ से साधक को निर्विघ्न योग सिद्ध होता है तथा शिष्यों को भी मोक्षप्रद ज्ञान एवं योग सिद्ध कराने की शक्ति आती है। ब्रह्मचर्य-निष्ठा से सारहानि रुक कर वीर्यलाभ

१. “सत्यप्रतिष्ठायां क्रियाफलाश्रयत्वम् ।” (यो० सू० २-३६)

२. द्रष्टव्य—हिन्दी अनुवाद पातञ्जल-योग-दर्शन—(हरिहरानन्द आरण्य) पृ० १८६, सा० पा० सू० ३६ ।

३. “अस्तेयप्रतिष्ठायां सर्वरत्नोपस्थानम् ।” (यो० सू० २-३७)

४. “ब्रह्मचर्यप्रतिष्ठायां वीर्यलाभः ।” (यो० सू० २-३८)

होता है। अतः वीर्यलाभ से अप्रतिहत शक्ति संचित होने से साधक शीघ्र ही सिद्ध हो जाता है। साथ ही शिष्यो को भी ज्ञानी एवं सिद्ध बनाने में समर्थ हो जाता है।

अपरिग्रह में दृढ प्रतिष्ठ होने पर विविध जन्मोके स्वरूप एवं जन्म सम्बन्धी कार्यकारण परम्परा (जन्मकथन्ता) का ज्ञान होता है।<sup>१</sup> अर्थात् भूत, भविष्य एवं वर्तमान जन्मो में “मैं” क्या था, कैसा था, आगे क्या होऊँगा, मेरी वर्तमान स्थिति कैसी है ? इत्यादि आत्मसम्बन्धी स्वरूप विषयक एवं प्रकार विषयक जिज्ञासा उत्पन्न होने पर जन्मो के स्वरूपो एवं प्रकार का साक्षात्कार होता है। वस्तुतः किसी से कोई वस्तु लेने पर उस मनुष्य का प्रभाव पड़ता है। प्राण-धारण के उपयोगी द्रव्य के अतिरिक्त योगी किसी से कुछ भी नहीं लेते। अतः किसीके द्वारा अनुगृहीत न होने से, वे सर्वथा स्वाधीन एवं मुक्त स्वभाव हो जाते हैं। परिग्रह से दाता के पापभाजन बनने की सम्भावना रहती है। परिग्रह के पूर्ण परित्याग से चित्त शुद्ध होने पर, उसमें पूर्वापर का यथेष्ट ज्ञान स्फुरित होता है। वर्तमानावस्था में शरीर एवं विषयो के साथ घनिष्ठता-जन्य मोह भी पूर्वापर ज्ञान का अवरोधक है। अपरिग्रह स्थैर्य से शरीर के भोग्य-विषयो में तुच्छत्वबुद्धि होने पर शरीर में भी परिग्रहत्व की अनुभूति होती है। अतः शारीरिक मोह से परे हो जाने पर भी जन्मकथन्ता का सम्बोध होता है।

ये सब सिद्धियाँ यमो में स्थिरता प्राप्त होने पर उपलब्ध होती हैं। आगे नियम-निष्ठा-जन्य सिद्धियो का वर्णन किया जायेगा।

×

×

×

पूर्ण शौच के अनुष्ठान से अपने ही शरीराङ्गो के प्रति घृणा उत्पन्न होती है तथा दूसरो के संसर्ग की वृत्ति का अभाव होता है।<sup>२</sup> यह बाह्य शुद्धि का फल है। इतना ही नहीं आभ्यन्तर शौच से तो सत्त्व (बुद्धि)-शुद्धि, सौमनस्य (मन का प्रफुल्लभाव), एकाग्रता, इन्द्रियो पर विजय एवं आत्मदर्शन की योग्यताये सभी क्रमशः उत्तरोत्तर प्राप्त होती है।<sup>३</sup>

×

×

×

१. “अपरिग्रहस्थैर्ये जन्मकथन्तासम्बोधः ।” (यो० सू० २-३६)

२. “शौचात्स्वाङ्गजुगुप्सापरैरसर्गः ।” (यो० सू० २/४०)

३. “सत्त्वशुद्धिसौमनस्यैकाग्रोन्द्रियजयात्मदर्शनत्वानि च” । (यो० सू० २/४१)

संतोष से अनुत्तम या परम सुख का लाभ होता है ।<sup>१</sup> अनुत्तम सुख का अर्थ है, जिससे उत्कृष्ट अन्य कोई सुख न हो । इसलिये कहा गया है, “संतोष परम सुखं” । वस्तुतः विषय-तृष्णा ही दुःखमूल है । विषय-त्याग से तृष्णा-राहित्यजन्य सुख ही संतोष है । संतोष के समान अन्य कोई सुख नहीं, यही स्मृति आदि का भी कथन है ।<sup>२</sup>

×

×

×

×

बारम्बार तप के अनुष्ठान से अशुद्धि ( रज एवं तम ) का आवरण नष्ट होकर तपोनिष्ठा प्राप्त होने पर शरीर एवं इन्द्रियो की सिद्धियाँ प्रादुर्भूत होती है ।<sup>३</sup> अणिमा, गरिमा, आदि शरीर सम्बन्धी सिद्धियाँ<sup>४</sup> तथा दूर से शब्द श्रवण, दर्शन आदि इन्द्रियो की सिद्धियाँ कहलाती है ।

स्वाध्याय के दृढ़ अभ्यास से इष्टदेवता का साक्षात्कार होता है ।<sup>५</sup> प्रणव गायत्र्यादि मन्त्र जप अथवा गीतादि मोक्ष शास्त्राध्ययन को स्वाध्याय कहा गया है , जो शब्दा-त्मक है । भर्तृहरि के शब्दों में—

शब्देवेवाश्रिता शक्तिर्विश्वस्यास्य निबन्धिनी ।

यन्नेत्रः प्रतिभात्मायं भेदरूपः प्रतीयते ॥

( वाक्यपदीय ब्रह्मकाण्ड ) तथा

१. ‘सन्तोषादनुत्तमसुखलाभः’ । ( यो० सू० २/४२ )

२. “यच्चकामसुखलोके यच्चदिव्य महत्सुखं ।

तृष्णाक्षयसुखस्यैते नार्हते षोडशी कलाम् ॥”

( मनु० अ० २ ) ( वायु० ६३/१०१ ), ( शन्ति १७४/४६ ) ।

तथा

“यादुस्त्यजादुर्मतिभिर्या न जीर्यति जीर्यताम् ।

तां तृष्णां सत्यजन् प्राज्ञ सुखेनैवाभिपूर्यते” ( महा० आदि० ८५/१४ )

३. “कायेन्द्रियसिद्धिरशुक्षयात्तपसः” । ( यो० सू० २/४३ )

४. अणिमा, महिमा, लघिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशित्व, ईशिता एवं यत्रकामावसायिता ये अष्ट काम सिद्धियाँ हैं । प्राप्ति, श्रवण, वेदन, आदर्श, आस्वाद और वर्त्ता ये इन्द्रियो की सिद्धियाँ हैं । इनका वर्णन विभूतिपाद में है ।

५. “स्वाध्यादिष्टदेवतासम्प्रयोगः ।” ( यो० सू० २-४४ )



एकस्य सर्वबीजस्य यस्यचेयमनेकधा,  
भोक्तृभोक्तव्यरूपेण भोगरूपेण च स्थितिः ॥

( वाक्यपदीय १-४ )

अतः विश्व मे वर्तमान स्थूल, सूक्ष्म या सूक्ष्मतम शक्तियों शब्द की ही ( वैखरी, मध्यमा, पश्यन्ती अथवा परा वाक् रूप ) शक्तियों है ।

अतः मन्त्र जपादिपूर्वक चित्त को समाहित करने पर साधक की अभीष्ट सिद्धि के लक्ष्यभूत आराध्यदेव के संघटक परमाणु-जो विराट विश्व मे व्याप्त विकेन्द्रित समस्त शक्तिमान तत्त्वो मे विकिर्ण है, उनका स्वलक्ष्य मे संघटन प्रारम्भ हो जाता है और वह संघटन तत्त्व विशिष्ट आराध्य देव के रूप मे अभिव्यक्त होता है । स्वाध्याय की स्थिरता से इच्छा होने पर देवता, ऋषि एवं सिद्धादि साधक के समक्ष उपस्थित होते हैं तथा उसके अभीष्ट की सिद्धि भी करते हैं ।

ईश्वरप्रणिधान मे दृढ़प्रतिष्ठित होने से समाधि सिद्ध होती है ।<sup>१</sup> ईश्वर को सर्व-कर्मर्पण से समाधि सिद्ध होती है । ईश्वर प्रणिधान की परिपक्वतावस्था मे योगी अपने व्यक्तित्व को विस्मृत कर के सतत् ईश्वर के ध्यान मे निमग्न रहता है । ईश्वर सर्वज्ञ है तथा ध्याता के चित्त पर ध्येय का प्रकृष्ट प्रभाव पड़ता है । अतः ईश्वरप्रणिधान की पूर्ण-वस्था में समाधि सिद्ध होने पर ध्याता मे सर्वज्ञता का आविर्भाव होता है । इस अवस्था मे योगी इच्छामात्र से त्रैकालिक-पदार्थ-विषयक ज्ञान प्राप्त करने के सामर्थ्य से युक्त होता है । किसी भी देशान्तर, देहान्तर अथवा कालान्तर मे होनेवाले प्रत्येक पदार्थ का वह साक्षात्कार कर सकता है । ईश्वर-प्रणिधान से योग-मार्ग के विघ्नो का भी अभाव होता है । शेष यम-नियम अन्य प्रकार से समाधि के सहायक हैं, किन्तु ईश्वरप्रणिधान साक्षात् रूप से समाधि का साधक है, क्योंकि वह समाधि योग्य भावना-स्वरूप ही है । निरंतर ईश्वर के चिन्तन से ध्याता में ईश्वरता अभिव्यक्त होती है । निरंतर ध्यान करने से व्यक्ति समाधिस्थ हो जाता है, अतः ध्यान के प्रकर्ष से साधक मे ईश्वरता की अभिव्यक्ति होती है, ईश्वर क्लेशकर्मादि से “अपरामृष्ट” है । क्योंकि ईश्वर स्वयं सब से बड़ा योगी है । अतः ईश्वरप्रणिधान से समाधि-सिद्धि होनी ही चाहिये । गीता मे प्रकारान्तर से यही बात

---

१. “समाधिसिद्धिरीश्वरप्रणिधानात् ।

( यो० सू० २/४५ )

यहाँ पर समाधि शब्द सम्प्रज्ञात समाधि का स्रोतक है ।

कही कई है।<sup>१</sup> शंका हो सकती है कि जब केवल ईश्वरप्रणिधान से ही समाधि सिद्ध हो सकती है, तो अन्य योगाङ्ग व्यर्थ है, किन्तु ऐसी शंका निःसार है। अन्य यम-नियम तथा योगाङ्ग भी ईश्वरप्रणिधान में सहायक है। पांचो यम, ईश्वर-प्रणिधान के अतिरिक्त चारो नियम एवं अहिंसादि के आचरण से अशुद्धि का क्षय होता है। आसनादि से द्वन्द्व-निवृत्ति होती है। तदुपरान्त चित्त ईश्वरप्रणिधान में पूर्णनिष्ठा की प्राप्ति-योग्य बनता है। अतः समाधि के सात अंग ईश्वरप्रणिधान के भी उपयोगी साधन होने से व्यर्थ नहीं है। ईश्वरप्रणिधानरहित शेष योगाङ्ग-साधना से अनेक विघ्न उपस्थित होते रहते हैं। ईश्वरप्रणिधानयुक्त योग साधना से अल्पकाल में ही निर्विघ्न समाधि-सिद्धि होती है। अन्य ध्येय न बना कर ईश्वर-परायण होने से समाधि-सिद्धि सुकर है, यही अभिधेय है।

वस्तुतः “समाधिसिद्धि” इस कथन मात्र से ही सम्पूर्ण योगाङ्गो का कथन हो जाता है, क्योंकि समाधि के अन्तिम दो साधन हैं—धारणा एवं ध्यान। ध्यान की ही प्रगाढ अवस्था है, समाधि, ध्यान है—धारणागत प्रत्ययो की एकतानता। इनकी प्राप्ति यम, नियम, आसनादिपूर्वक ही होती है। प्रश्न केवल ध्येय विषय का है। जिसमें ईश्वर को ध्येय बनाकर साधना करने से शीघ्र निर्विघ्न योग सिद्ध होता है। ईश्वरप्रणिधान स्वयं एक नियम है जो योगाङ्ग है।

यम-नियमो मे से किसी भी एक के नष्ट होने पर सभी व्रत लुप्त हो जाते हैं। ऐसा शास्त्रो का कथन है।<sup>२</sup> अतः इस शास्त्रोक्ति से भी उक्त शंका का निराकरण होता है। समाधिसिद्धि होने पर, क्रमानुसार सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात योग तथा कैवल्य-प्राप्ति होती है।

तृतीय योगाङ्ग है आसन। स्थिरतापूर्वक सुखावह उपवेशन ही आसन है।<sup>३</sup> “आस्यते आसते वा अनेन इति आसनम्”—इस व्युत्पत्ति के अनुसार जिसके

---

१. अनन्याश्चिन्तयन्तो मा ये जना पर्युपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेम ब्रह्महम् ॥ (गीता ६/२२)

२. “ब्रह्मचर्यमहिंसा च क्षमा शौच तपो दम ।

सन्तोष सत्यमास्तिक्य व्रताङ्गनिविशेषत ॥

एकेनाप्यथ हीनेन व्रतमस्य तु लुप्यते” ॥

(मनु०) तथा कूर्मपुराण उत्तरार्ध, ११ अ० ६६-७०

३. “स्थिरसुखमासनम्” ॥ (यो० सू० २-४६)

द्वारा स्थिरता एवं सुख प्राप्त हो वही आसन है। आसन अनेक है। उदाहरणार्थ— पद्मासन, वीरासन, भद्रासन, स्वस्तिकासन, सिद्धासन, दण्डासन, सोपाश्रयासन, पर्यङ्कासन, क्रौञ्चनिषदनासन, हस्तिनिषदनासन, उष्ट्रनिषदनासन एवं समसस्थानसनादि। इन सब में जिस आसन को लगा कर साधक निश्चलता एवं सुखपूर्वक देर तक रह सके, वही उसके लिये उपयोगी है। भगवान् व्यास ने इन्हीं आसनों का नाम कथन किया है।

### बद्ध पद्मासन—

योग में पद्मासन अत्यन्त प्रसिद्ध है। वाम जङ्घा के ऊपर दक्षिण पैर तथा दाहिनी जङ्घा पर वाम पाद रख कर, दोनों हाथों को पीठ की ओर से लाकर, वाम पादाङ्गुष्ठ को दक्षिण हस्त से पकड़ कर तथा दक्षिण पादाङ्गुष्ठ को वाम हस्त से पकड़ने से बद्ध पद्मासन लगता है। साथ में रीढ़ को सीधा रखते हुए नासाग्र का निरीक्षण भी करना होता है। गीता में भी आसन के प्रसंग में कहा गया है—

‘समकाय शिरोग्रीव धारयन्नचल स्थिरः।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वं दिशश्चानवलोकयन् ॥

प्रशान्तात्मा विगतभीब्रह्मचारिव्रते स्थितः।

मनः संयम्यमच्चित्तो युक्त आसीत मत्परः ॥” (६/१२/१३)

### वीरासन—

अर्ध पद्मासन को कहते हैं। इसमें एक पाँव एक ऊरु के ऊपर रहता है तथा दूसरा दूसरी ऊरु के नीचे पृथ्वी पर स्थित रहता है।

### भद्रासन—

भद्रासन में युगल पदतलों को वृषभ के समीप एकत्रित करके उसके ऊपर दोनों हथेलियों को संपुटित करके रखा जाता है।

### स्वस्तिकासन—

वाम पाद को मोड़कर दक्षिण जघा एवं ऊरु के मध्य स्थापित करके तथा दक्षिण पैर को वाम जघा एवं ऊरु के मध्य में स्थापित करके सीधे बैठने से स्वस्तिकासन सिद्ध होता है।

## सिद्धासन—

सिद्ध का अर्थ है, “सिद्धिप्राप्त” । यह आसन सिद्ध योगियों का प्रिय आसन है । अतः सिद्धासन कहलाता है । सिद्धासन में वाम चरण की एडी को सीवनी ( गुदा एवं उपस्थेन्द्रिय का मध्य भाग ) में दृढतापूर्वक लगाया जाता है, जिससे कि पैर का तलवा दाहिने पैर की जंघा को स्पर्श करता रहे । इसी प्रकार दाहिने पैर की एडी को उपस्थमूल के ऊपरी भाग में दृढतापूर्वक लगाकर उस तलवे से वाम जंघा को स्पर्श किया जाता है । तत्पश्चात् दोनों पैरों के अगूठे एवं तर्जनी को जाँघ एवं पिंडली के मध्य में दबाया जाता है । सिद्धासन में समस्त शरीर का भार एडी एवं सीवनी के मध्य की नस पर सतुलित रहना चाहिये ।<sup>१</sup> सिद्धासन एवं पद्मासन मुख्यतया आत्मबलविकास ( Spiritual development ) में विशेष लाभकर होते हैं । योग्य गुरु के निर्देशन में किये जाने पर शरीर सवर्धन एवं रोगचिकित्सा में भी लाभकर है ।

हठयोग में आसनो का अत्यन्त विस्तृत एवं विशद वर्णन है, पर उनका स्वास्थ्य से अधिक सम्बन्ध है । यहाँ पर केवल योगोपयोगी आसनो का वर्णन किया गया है । वैसा सभी आसनो से स्वास्थ्यलाभ होता है । साथ ही योग-साधक का स्वस्थ होना भी आवश्यक है । पूर्वकथित पद्म, स्वस्तिकादि आसनो का योग से साक्षात् सम्बन्ध है । सुदृढ पेशियों से युक्त होना योगाभ्यासियों के लिये आवश्यक है । गेदरबी शरीर प्रायेण अनुपयुक्त ही है ।

भिक्षु जी ने अपने “योगसार संग्रह” में ईश्वरगीतादि में उक्त स्वस्तिक, पद्म तथा अर्धासन इस तीन को ही योग साधना में अधिक उपयोगी बतलाया है । तथा उनके लक्षण ईश्वर गीता के ही श्लोको में दिये हैं ।<sup>२</sup>

१. देर तक सिद्धासन की स्थिति में बैठने से नाडीसमूह में जलन सी होने लगती है, ऐसा योगियों का अनुभव है । ऐसी स्थिति में नितम्बों के नीचे आठ इंच मोटी गद्दी अथवा कपड़ा लगा देना चाहिए । सिद्धासन वीर्य-रक्षण में अत्यन्त उपयोगी है ।
२. “आसन स्वस्तिक प्रोक्त पद्ममर्धासन तथा  
आसनानां तु सर्वेषामेतदासनमुत्तमम् ॥  
ऊर्वोपरिविप्रेन्द्राः कृत्वा पादतलेऽभे ।  
समासीतात्मन पद्ममेतदासनमुत्तमम् ।

—आगामी पृष्ठ पर

आसन अपनी सुविधानुसार कोई भी अपनाया जाय, सभी आसनों में मेरुदण्ड को सीधा रखना चाहिये, जिससे वक्ष, ग्रीवा एवं शिर उन्नत एवं सम अवस्था में रहे। आसन के प्रकरण में गीता में कहा गया है—“सम काय शिरोग्रीव धारयन्नचल स्थिरः”। श्रुति भी कहती है—

‘त्रिरुन्नतं स्थाप्य समं शरीरम्’ ।<sup>१</sup>

योग-साधना में स्थान का भी प्रकृष्ट प्रभाव पड़ता है। अतः योगाभ्यास शुद्ध, शान्त एवं एकान्तस्थल में करना चाहिये।

आहार-शुद्धि भी अत्यन्त आवश्यक है। आसन पूर्वाभिमुख अथवा उत्तराभिमुख होना चाहिये। गीता में आसन-स्थापना की विधि बतलाते हुए पवित्र स्थान में नीचे कुशासन-उसपर क्रमशः मृगचर्म तथा वस्त्र बिछाकर बैठने को बतलाया गया है ।<sup>२</sup>

मूल जालन्धारादि बन्ध तथा खेचरी आदि मुद्राओं का अवलम्बन भी शीघ्र ही आसनज तथा कुण्डलिनी की जागृति में सहायक है। हठयोग में इन क्रियाओं का

१. श्वेता० उप० अ० २/८

२. “शुचौ देशे प्रतिष्ठाप्य स्थिरमासनमात्मन ।

नात्युच्छ्रित नातिनीच चैलाजिन कुशोत्तरम् ॥

तत्रैकाग्र मन कृत्वा यतचित्तोन्द्रिय क्रिय ।

उपविश्यासने युञ्ज्याद्योगमात्मविशुद्धये ॥

सम कायशिरोग्रीव धारयन्नचल स्थिर ।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्व दिशश्चानवलोकयन् ।

प्रशान्तात्मा विगतभीर्ब्रह्मचारिव्रते स्थित ।

मन सयम्य मच्चित्तो योगमासीतमत्परः ॥”

(गीता० ६/११-१२-१३-१४)

(गत पृष्ठ का शेषांश)

एकपादमथैकस्मिन्विन्यस्तोरुणि सत्तमा ।

आसीतार्धसनमिदं योगसाधनमुत्तमम् ॥

उभे कृत्वापादतले जानूर्वोरन्तरेण हि ।

समासीतात्मन प्रोक्तमासनं स्वस्तिकं परम् ॥” (यो० सा० स०—आसनप्रकरण)

विस्तृत वर्णन किया गया है। महर्षि पतञ्जलि एवं उनके व्याख्याकारों ने इन विषयों का स्वतंत्र वर्णन नहीं किया है।

×

×

×

शरीर की स्वाभाविक चेष्टा को शिथिल करने तथा अनन्त के चिन्तन से भी आसन सिद्ध होता है।<sup>१</sup> “प्रयत्नशैथिल्यानन्त समापत्तिभ्यां”। प्रकृत स्थल में प्रयत्न से तात्पर्य शरीर की स्वाभाविक चेष्टा से है और आसन स्थिर सुख का हेतु है। आसन का कारण प्रयत्न नहीं, प्रत्युत आसन शरीर की स्वाभाविक चेष्टा का नाशक होने से विरोधी है। साथ ही प्रयत्न को आसन का हेतु मानने पर, आसन स्वाभावसिद्ध हो जाने से, उसका (आसन का) उपदेश भी व्यर्थ होगा। अतः प्रयत्न की शिथिलता के लिये आसनजयेच्छु को सर्वदा अभ्यास करना चाहिये।

जब तक शरीर की स्वाभिक चेष्टा रहेगी, अङ्गमेजयत्वादि के कारण एकाग्रता एवं स्थिरता प्राप्त नहीं हो सकेगी। चित्तैकाग्र्य एवं स्यैर्य के बिना आसन-ध्यानादि, विशेषतः प्राणायाम, सिद्धि नहीं होता। अतः आसन लगाकर शरीर को शव के तुल्य निश्चेष्ट छोड़ देना चाहिये। आसन के समय हाथ-पैर कुछ भी न डुलाना चाहिये। इस प्रकार आसनभ्यास करने से उस पर विजय शीघ्रतर प्राप्त होती है तथा शरीर में पीड़ा का बोध भी कम होता है।<sup>२</sup> अनन्त में समापन्न चित्त भी आसनजयी होता है।

सूत्रगत “अनन्त” शब्द के विषय में, व्याख्याकारों में भेद है। भाष्यकार व्यास ने “अनन्त” पाठ मान कर ही सूत्र की व्याख्या की है। श्री भोज एवं हरिहरानन्द आरण्य ने “अनन्त” के स्थान पर “आनन्त्य” पाठ स्वीकार किया है। इस प्रकार सूत्र के दो अर्थ हो सकते हैं। एक तो अनन्त शब्द का अर्थ “शेषनाग” लिया जा सकता है। यह वाचस्पति, भिक्षु-सम्मत दृष्टि है। राघवानन्द, भावागणेश नागोजीभट्ट एवं सदाशिवेन्द्र सरस्वती ने भी इसका अनुसरण किया है। इस मत के

१. “प्रयत्नशैथिल्यानन्तसमापत्तिभ्याम्” (यो० सू० २/४७)

टि०—किसी किसी ने “प्रयत्नशैथिल्यानन्त्यसमापत्तिभ्यां च” (यो० सू० २/४७) ऐसा पाठ माना है।

२. आसन के आरम्भिक अभ्यास में कठिनाई प्रतीत होती है और शरीर के विविध अंगों में पीड़ा की अनुभूति होती है। अभ्यास की दृढ़ अवस्था में आसन-स्थिति सुकर हो जाती है।

अनुयायियों का कथन है कि स्वैर्यप्राप्ति हेतु, स्थिर वस्तु का चिन्तन ही अपेक्षित है। भगवान् शेषनाग से अधिक स्थिर ध्येय- आलम्बन और कोई नहीं हो सकता है। वे स्वयं स्थिर न हो, तो उनके सहस्र फणों पर स्थित ब्रह्मान्ड भी स्थिर नहीं रह सकता है। अनन्त नाग को विष्णु की तामसी शक्ति माना गया है।<sup>१</sup>

दूसरे मतानुसार, यहाँ अनन्त में समापत्ति का अर्थ आकाशादिगत आनन्त्य में चित्त की तादात्म्यावस्था है। “मेरा शरीर शून्यवत् होकर, सर्वदिक-व्यापी अनन्त आकाश में मिल गया, मैं सर्वव्यापी” अनन्त आकाश के तुल्य हूँ, एतादृशी भावना ही “आनन्त्य” में समापत्ति है। ऐसी भावना करने से स्वशरीर के अस्तित्व का भान नहीं रहता है और उसकी चेष्टाएँ भी अवरुद्ध होती हैं। अतः इस प्रकार भी आनन्त्य में समापत्ति से चित्त स्थिर होकर आसनजय प्राप्त होता है।<sup>२</sup>

चन्द्रिकाकार ने द्विविध पाठों के अनुसार व्याख्या की है। अभ्यास दृष्टि से आनन्त्य में समापत्ति श्रेयस्कर है, ऐसा अभ्यासियों का मत है।<sup>३</sup>

×

×

×

आसनसिद्धि से द्वन्द्वों का अनभिघात होता है।<sup>४</sup> अतः जब साधक में शीत-उष्ण, सुख-दुख, मान-अपमानादि को अविचलभाव से सहन करने की शक्ति आजाय तब उसे आसन सिद्ध हो चुका है, ऐसा समझना चाहिये। आसन मुख्यतः प्राणायाम का अनिवार्य साधन है।

×

×

×

आसनसिद्धि के पश्चात् श्वास एवं प्रश्वास की नैसर्गिक गति का नियमन प्राणायाम कहलाता है।<sup>५</sup> बाह्य वायु का नासिका-द्वारा अन्दर प्रविष्ट करना श्वास

१. पातालानामधश्वास्ते विष्णोर्या तामसी तामसी तनु (विष्णु २/ . )

२. द्रष्टव्य—पातञ्जल-योग-दर्शन—(हरि० आ०) पृ० १६३।

३. ...वही ..

४. “ततो द्वन्द्वानभिघात” । (यो० सू० २/४८)

५. “तस्मिन्सति श्वासप्रश्वासयोगतिविच्छेद प्राणायाम” । (यो० सू० २/४९)

श्वास-प्रश्वास शरीर-यन्त्र के गतिनियामक यन्त्र (Fly-Wheel) की भाँति है तथा प्राण का स्थूलतम रूप है। जिस प्रकार एक बड़े इजन में दूर से दिखाई देने वाले

—आगामी पृष्ठ पर

कहलाता है। कोष्ठस्थ वायु का नासिका से बाहर निकासन प्रश्वास कहलाता है। इन श्वास एव प्रश्वासो की स्वाभाविक गति का, रेचक, पूरक तथा कुम्भक द्वारा विच्छिन्न करना प्राण का आयाम अर्थात् प्राणायाम कहा जाता है।

पूरक प्राणायाम मे श्वास का विच्छेद नहीं, अपितु सद्भाव ही होता है। इसी भाँति रेचक मे प्रश्वास का सद्भाव होता है। केवल कुम्भक मे श्वास एवं प्रश्वास की गति विच्छिन्न होती है, फिर भी स्वाभाविकरूप से चलने वाले श्वास-प्रश्वासो की अनियमित गति का विच्छेद होने के कारण, प्रत्येक प्राणायाम मे उनका गति विच्छेद-ग्राह्य है।

×

×

×

प्राणायाम-बाह्यवृत्ति, आभ्यन्तरवृत्ति तथा स्तम्भवृत्ति के भेद से-तीन प्रकार का होता है। पुनः देश, काल एव सख्या द्वारा नियमित एवं परीक्षित होकर (वह) दीर्घ-सूक्ष्म हो जाता है।<sup>१</sup>

जब प्रश्वास-पूर्वक गति का अभाव किया जाता है, तब उसे रेचक प्राणायाम कहते हैं। जब श्वासपूर्वक गतिरोध किया जाता है, तब वह पूरक प्राणायाम कहलाता है। तृतीय प्राणायाम मे एक हो बार के विधारक प्रयत्न द्वारा, प्राण की बाह्य एवं अभ्यान्तर उभय वृत्तियो का रोध किया जाता है।<sup>१</sup> इसे स्तम्भवृत्ति-प्राणायाम

१. “बाह्याभ्यन्तरस्तम्भवृत्तिर्देशकालसख्याभिः परिदृष्टो दीर्घसूक्ष्मः ।” (यो० सू०, २/५०)

२. “निष्क्राम्य नासा विचाराद्गोणं प्राणं बहिःशून्यमिवानिलेन ।

निरुद्धय सन्तिष्ठति रुद्धवायुः स रेचको नाम महानिरोधः ॥

बाह्योस्थितं घ्राणपुटेन वायुमाकृष्य तेनैव शनैः समन्तात् ।

नाडीश्च सर्वा परिपूरयेद् यः स पूरको नाम महा निरोधः ॥

न पूरको नैव च रेचकोऽत्र नासापुटे सस्थितमेव वायुम् ।

सुनिश्चल धारयतेक्रमेण कुम्भाख्यमेतत्प्रवदन्ति तज्ज्ञा ॥”

(पात० यो० ६०—हरि० आ०, पृ० १६६, योगियाज्ञवल्क्य)

(गत पृष्ठ का शेषांश)

एक ही बड़े चक्र की गति से अन्दर के समस्त सूक्ष्म से सूक्ष्म यन्त्रो मे गति का संचार होता है, उसी भाँति, श्वास-प्रश्वास के द्वारा, शरीर के प्रत्येक अंग मे स्नायु-प्रवाहो से यथायोग्य शक्ति का नियमन होता है। चित्त भी इन स्नायविक शक्ति-प्रवाहो से गतिशील है। अतः श्वास-प्रश्वास के नियन्त्रण द्वारा, शरीर एव चित्त दोनों को स्ववश किया जा सकता है।



कहते हैं। स्तम्भवृत्ति के विषय में भगवान् व्यास ने बड़ा सुन्दर दृष्टान्त दिया है। तदनुसार जिस प्रकार तप्त प्रस्तर अथवा लौह खण्ड पर प्रक्षिप्त जल एकसाथ सब ओर से सकुचित हो जाता है, उसी भाँति स्तम्भवृत्तिक प्राणायाम की क्रिया में बाह्य एवं आभ्यन्तर उभय वृत्तियों का युगपत् अभाव हो जाता है। अपने शरीर में भरे हुए वायु का निग्रह करके, पूर्ण कुम्भवत् स्थिर रहने के कारण, इस प्राणायाम को कुम्भक भी कहते हैं।<sup>१</sup> उपर्युक्त तीनों प्राणायाम, पुनः देश-परिदृष्ट, काल-परिदृष्ट एवं सख्या-परिदृष्ट के भेद से तीन-तीन प्रकार के होते हैं।

देश-परिदृष्ट प्राणायाम का अर्थ है-शरीर के किसी स्थान विशेष में प्राण को आबद्ध रखना। जितनी दूर तक जिस प्राणायाम का विषय होता है, वह उसका देश कहलाता है। रेचक का देश बाहरी और नासाग्र से लेकर द्वादश अंगुल-पर्यन्त आदि है। पूरक का देश शरीर के भीतर मस्तक से लेकर पादतलपर्यन्त है।<sup>२</sup> कुम्भक का भी यही देश है।<sup>३</sup> भिक्षु ने रेचक पूरक दोनों के समुचित देशों को कुम्भक का देश बताया है।<sup>४</sup>

काल-परिदृष्ट प्राणायाम का अर्थ है-क्षणसमूह<sup>५</sup> के परिमाण-द्वारा प्राण का नियमन करना। यथा इतने क्षण तक पूरक, इतने क्षण तक रेचक तथा इतने क्षण तक कुम्भक इत्यादि। इतने समय तक रेचक, पूरक या कुम्भक करने हैं, यह ध्यान रखते हुए प्राणों का नियमन करना ही काल-परिदर्शन पूर्वक प्राणायाम है।

उद्धात-क्रम से या मात्राओं की गणना पूर्वक किया गया प्राणायाम संख्यापरिदृष्टि कहलाता है। हाथ को तीन बार जानु के चतुर्दिक् फिरा कर चुटकी बजाने में जितना समय लगता है, उसे मात्रा कहते हैं, अथवा स्वस्थ मनुष्य के स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास काल को मात्रा कहते हैं।<sup>६</sup> द्वादश मात्रा-पर्यन्त प्राण की

१. “स्वदेहेपूरित वायु निग्रह्य विमुञ्चति।

सम्पूर्णकुम्भवत्तिष्ठेत्कुम्भक स हि विश्रुत ॥” (द्र०-यो० सा० स० प्राणायाम प्रसंग)

२. द्रष्टव्य तत्त्व० (२/५०), यो० वा०, (२/५०) इत्यादि।

३. “कुम्भकस्य च पूरकदेश एव विषयः। त्रयाणां सहानुष्ठाने पूरकान्तरमेव विषयात्। स चोक्तलिङ्गानुपलब्ध्या निश्चेयः।”

४. द्रष्टव्य—यो० वा० (१/५०), यो० सा० स० (प्राणायाम प्रकरण)।

५. क्षण=निमेष-क्रिया का चतुर्थ भाग (तत्त्व० १/५०)।

६. “स्वजानुमडल पाणिना त्रि परामृश्य छोटिकाञ्चच्छिन्नकालोमात्रा।” (तत्त्व० १/५०)

“श्वासप्रश्वासावच्छिन्नकालोमात्रा”—(भास्वती, १/५०)

गति रुद्ध रखने पर एक उद्घात सिद्ध होता है। चौबीस मात्रापर्यन्त प्राण स्थिर रखने पर द्वितीय उद्घात तथा ३६ मात्रापर्यन्त प्राण स्थिर रखने पर तृतीय उद्घात कहा जाता है। १२ मात्रा-परिमित प्राणायाम मृदु, २४ मात्रा-परिमित प्राणायाम मध्य एव ३६ मात्रा परिमित तीव्र कहलाता है।<sup>१</sup> इतने श्वास-प्रश्वास में इतने उद्घात होते हैं, इस प्रकार श्वास प्रश्वास या उपर्युक्त मात्राओं की सख्या द्वारा प्राणायामकाल का निर्णय किये जाने से, इस प्राणायाम को सख्या-परिदृष्टि करते हैं। इस प्रकार धैर्यपूर्वक दीर्घकालीन अभ्यास द्वारा शनैः-शनैः प्राणायाम दीर्घ तथा सूक्ष्म होता है। इसके दीर्घत्व एव सूक्ष्मत्व की परीक्षा वायु-विहीन स्थान में की जाती है।

श्री वाचस्पति, भिक्षु प्रभृति विद्वानो ने प्राणायाम की दीर्घसूक्ष्मता की परीक्षाविधि इस प्रकार बतलाई है। रेचक प्राणायाम करते समय, नासिकाग्र से प्रादेशमात्र, वितस्ति तथा हस्तपरिमित देश आदि में रुई रख कर दीर्घ सूक्ष्मता की परीक्षा की जाती है।

पूरक प्राणायाम में श्वास की दीर्घता में-आभ्यन्तर प्रदेश में-वृद्धि होती है। अभ्यास हो जाने पर, पूरक करते समय अन्दर पिपीलिका के स्पर्श जैसा बोध होता है।<sup>२</sup> नाभि-चक्र-पर्यन्त प्राण-स्थैर्य होने पर पूरक प्राणायाम को दीर्घ-सूक्ष्म समझना चाहिये। इसी प्रकार कुम्भक की आभ्यन्तर देशों में उक्त पिपीलिकावत् स्पर्श की अनुपलब्धि से परीक्षा कर लेनी चाहिये। जितने अधिक समय तक स्तम्भवृत्ति सावी जा सके, उतना ही प्राणायाम दीर्घ-सूक्ष्म होगा। वक्ष्यमाण बाह्य कुम्भ की दीर्घ-सूक्ष्मता की परीक्षा करते समय बाह्यप्रदेश में नासिकाग्र में तूल रखने पर, उसकी स्पन्दन-

१ “द्वादशमात्र कनीयान् मध्यमो मात्रा चतुर्विंश ।

उत्तम षट्त्रिंशन्मात्रो मात्राभेदा स्मृतास्तज्ज्ञै ( यो० सा० सं० )

अपि च —

“नीचो द्वादशमात्रस्तु सक्कुटुद्घात ईरित ।

मध्यमस्तु द्विद्घातश्चतुर्विंशतिमात्रक ।

मुख्यस्तु यस्त्रिद्घात पट्त्रिंशन्मात्र उच्यते ।” ( पात० यो० द०—हरि० आ० पृ० २०० )

नोट — “योगवासिष्ठ” के अनुसार श्री भिक्षु ने “योगसारसंग्रह” में एव तदनुसार नागोजी भट्ट प्रभृति टीकाकारों ने पूर्वोक्त प्राणायाम की दीर्घसूक्ष्मता की परीक्षा के विषय में उपर्युक्त क्रम के साथ-साथ, पूरक में षोडशमात्रा, कुम्भक में चौसठ मात्रा तथा रेचक में बत्तीस मात्राओं का कथन किया है।

२. द्रष्टव्य—तत्त्व०, यो० वा० इत्यादि विविध व्याख्यान ।

शून्यता से कुम्भक की परीक्षा की जाती है। कुम्भक की दीर्घता-सूक्ष्मता का निश्चय-दीर्घकाल तक विधारण की निरायासता से होता है।

काल-द्वारा परीक्षा करते समय छत्तीस मात्रा पर्यन्त-जब तीनो प्राणायाम स्थिर हो जाये-तब उन्हें दीर्घसूक्ष्म समझना चाहिये।

उद्धातक्रम या सख्यापरिदृष्ट प्राणायाम के विषय में बतलाया जा चुका है। प्रथम उद्धात तक प्राण सयत रखने पर मृदु, द्वितीय उद्धात तक मध्य एव तृतीय उद्धातपर्यन्त प्राण स्थिर हो जाने पर तीव्र प्राणायाम कहलाता है। इसी भाँति उत्तरोत्तर अभ्यासवश प्राणायाम घडी, प्रहर, दिन, सप्ताह, पक्ष, मासादि पर्यन्त दीर्घसूक्ष्म होता जाता है। यहाँ सूक्ष्मता का तात्पर्य प्रवीणता (प्रवीणता जनित् निरायासता) से है। वायुसंचार प्रसृत न होकर उसकी सूक्ष्मता होना ही प्रवीणता है। प्राणायाम विषयक यह विवरण टीकाकारों के व्याख्यानानुसार प्रस्तुत किया गया है, वैसे प्राणायाम का विषय गुरुपरम्परागम्य ही है।

उपर्युक्त तीनो प्रकारों से प्राणायाम की दीर्घसूक्ष्मता की परीक्षा की जा सकती है। पर तीनो में से किसी भी एक विधि से परीक्षा कर लेना पर्याप्त है। तीनो प्रकारों से परीक्षा करने की आवश्यकता नहीं है।

विविध टीकाकारों ने प्राणायाम के प्रसंगगत उद्धात शब्द के भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं। वाचस्पति के अनुसार प्राण को ऊर्ध्वगामी एव स्ववश कर के, विजित वायु को रोक देना उद्धात है—“प्रथमोद्धातकर्मता नीत उद्धातो वशीकृतो विजितो निगृहीतः” (तत्त्व)।

विज्ञानभिक्षु के मतानुसार श्वास-प्रश्वास का रोधमात्र उद्धात है। “वायोऽरुद्धननं गतिनिरोध इति यावत्”।

भोज के अनुसार नाभिमूल से प्रेरित वायु का शिर में अभिहनन उद्धात है—“नाभिमूलात्प्रेरितस्यवायोः शिरसि अभिहननम्” (भोजवृत्ति)।

हरिहरानन्द आरण्य की दृष्टि से श्वास-प्रश्वास का गतिरोध करने से, उनके ग्रहण एवं त्याग हेतु जो उद्वेग होता है, वह उद्धात है। “श्वासाय प्रश्वासाय च य उद्वेगः स उद्धातः”। (भास्वती)

शेष टीकाकारों ने उद्धात की व्याख्या नहीं की है।

वस्तुतः श्री भिक्षु ने उद्धात की आंशिक व्याख्या की है। उन्होंने

सामान्य रूप से वायोरुद्धनन गतिनिरोधइति यावत्” कहकर, वायु का गतिरोधमात्र उद्घात बतलाया है, किन्तु वायु का गतिरोध तो प्राणायाममात्रसे भी होता है। अतः प्रारम्भिक प्राणायाम तथा उद्घात में कोई स्पष्ट अन्तर लक्षित नहीं होता। एतावता किस प्रकार का गतिरोध उद्घात है, यह स्पष्ट नहीं हो पाता। सम्भवतः यह उद्घात की आदिम अवस्था की व्याख्या है। वाचस्पति मिश्र की व्याख्या अस्पष्ट है।

स्वामी हरिहरानन्द आरण्य ने “भास्वती” में उद्घात का जो लक्षण दिया है, उसकी अपेक्षा उनके “पातजलयोगदर्शन” में की गई उद्घात की व्याख्या अधिक स्पष्ट और सुन्दर है।

वस्तुतः श्री भोजकृत लक्षण ही उद्घात का पूर्ण और अन्तिम लक्षण सिद्ध होता है, ऐसा विद्वानो का कथन है। साथ ही भोजकृत लक्षण का आधार प्राचीन योगाचार्य देवल की “प्राणापानव्यानोदानसमानानां सकदुद्गमन मूर्धनमाहृत्य निवृत्तिश्चोद्घातः”—यह व्याख्या प्रतीत होती है।<sup>१</sup> वाचस्पति मिश्र कृत व्याख्या भी, भोजकृत उद्घात के लक्षण में पर्यवसित होती है।

योगसाधना में प्रथम इडा द्वारा पूरित वायु ले जाकर, विपुलशक्ति के आश्रयभूत मूलाधार पद्म पर तीव्र आघात किया जाता है। इससे प्राण (वायु) ऊर्ध्वगमन हेतु उद्विग्न होता है। किन्तु साधक स्तम्भ-वृत्ति-द्वारा, उस उद्वेग को निगृहीत करके, विजित वायु को बलपूर्वक रोक देता है। यही उद्घात है, जो कम से कम १२ मात्रापर्यन्त प्राण स्थिर रखने पर होता है। तृतीय उद्घात पर्यन्त प्राण स्थिर रखने पर उत्तम (दीर्घसूक्ष्म) प्राणायाम कहा जाता है।

प्रसिद्ध योगी विवेकानन्द ने स्वरचित “राजयोग” नामक पुस्तक के प्राणायाम विषयक प्रकरण में, उद्घात का अर्थ कुण्डलिनी का जागरण बतलाया है। प्रकृतसूत्र (१/५०) की व्याख्या करते हुए वे कहते हैं—“इस प्राणायाम का फल है—उद्घात, अर्थात् कुण्डलिनी का जागरण।” स्वामीजी (विवेकानन्द) के अनुसार यही प्राणायाम का मुख्य उद्देश्य भी है।

श्री भोज ने “नाभिमूल” से प्रेरित वायु का उद्घात बताया है, “मूलाधार” से प्रेरित वायु का नहीं। इसका कारण यह है कि नीचे की ओर नाभिपर्यन्त प्राणायाम स्थिर हो जाने पर भी, उसकी दीर्घसूक्ष्म संज्ञा होती है।

साधक प्रारम्भिक अवस्था में पूरित वायु को नीचे की ओर मूलाधार तक

१. द्रष्टव्य-भूमिका “भोजवृत्ति”—( स० रामशंकर भट्टाचार्य ) पृ० १२-१३

ले भी नहीं जा सकता है। अभ्यास द्वारा शनैः-शनैः वहाँ तक पहुँच कर प्राण-निरोध करता है, प्रथम तो अपान वायु से टकराकर ही उद्घात होता है।

दीर्घसूक्ष्म पूरक में प्राणवायु का समान के अतिक्रमणपूर्वक, अपान वायु से संयोग होता है और रेचक में अपान वायु, समान का अतिक्रमण करके, प्राणवायु से संयुक्त होता है। अतः कई योगाचार्यों ने प्राण एवं अपानवायु का संयोग करना ही, प्राणायाम का लक्षण किया है।<sup>१</sup>

पूर्वोक्त तीनो प्राणायाम “सहित प्राणायाम” कहलाते हैं, अर्थात् इस प्रकार पूरक के पश्चात् कुम्भक फिर रेचक अथवा रेचक के बाद पूरक तत्पश्चात् कुम्भक किया जाता है।<sup>२</sup> इस प्रकार तीनो प्राणायामों का अभ्यास सम्मिलित रूप से किया जाता है।

उक्त प्राणायाम के विषय में श्री भिक्षु तथा नागोजी भट्ट में अगर्भ एवं सगर्भ के भेद से भी प्राणायाम की विशेषता प्रदर्शित की है। जप ध्यान से रहित प्राणायाम अगर्भ कहलाता है तथा जप-ध्यानादि पूर्वक किया गया प्राणायाम सगर्भ कहलाता है।<sup>३</sup> इनमें सगर्भ प्राणायाम अपेक्षाकृत उत्तम होता है। जप एवं ध्यान के स्वरूप की व्याख्या इस प्रकार की है। प्राण सयमपूर्वक व्याहृति, प्रणव एवं शिरोमन्त्र सहित गायत्री का तीन बार जप करे यही आयतप्राण प्राणायाम कहलाता है।<sup>४</sup> योगी याज्ञवल्क्य ने प्राणापान के निरोध पूर्वक मात्राओं के प्रमाण के अनुसार प्रणवोच्चारण पूर्वक प्राणायाम की विधि बतलाई है।<sup>५</sup>

१. “प्राणापानसमायोग प्राणायाम इतीरित ।

प्राणायाम इति प्रोक्तो रेचकपूरककुम्भकै” ॥ ( योगियाज्ञवल्क्य ६/२ )

२. द्रष्टव्य—यो० सा० स—पृ० ६७ ।

३. “अगर्भश्च सगर्भश्च द्वितीयस्तु तयोर्वर ।

जपध्यान विनाजगर्भसगर्भ तत्समन्वित ॥ (यो० सा० स० प्राणा० प्र० पृ० ७२)

४. “सव्याहृति सप्रणवां गायत्री शिरसा सह ।

त्रिजवेदायतप्राण प्राणायाम स उच्यते” ॥ (यो० सा० स० प्राण० प्र० पृ० ७२)

व्याहृति रहस्यात्मक उक्ति है। सप्त व्याहृतियों का स्मरण सध्या के समय प्राणायाम में किया जाता है। प्रणव के साथ ऊपर के सात लोको का क्रम से कथन ही, सात व्याहृतियों का स्मरण है।

५. “मात्राप्रमाणयोगेन प्राणापाननिरोधनात् ।

ऽङ्कारेण तु कर्तव्यः प्राणायामो यथोदित ॥” (यो० सा० स० प्रा० प्र० पृ० ७२)

केवल प्रणव-जप का विधान परम-हसो के हेतु है। स्मृतियों में पूरक, कुम्भक तथा रेचक करते समय क्रमशः, नाभि, हृदय तथा ललाट में ब्रह्मा, विष्णु और शिव के स्वरूप का ध्यान बनलाया गया है। साथ ही सयन-चित्त यतियों के लिये प्रणवजप के साथ परब्रह्म के ध्यान का आदेश दिया गया है।

उक्त तीनों प्राणायामों के अनिर्दिष्ट “पानजल-योगसूत्र” में बाह्य एवं अभ्यन्तर विषयों को आश्रित करने वाले चतुर्थ प्राणायाम का भी विधान है।<sup>१</sup> इस चतुर्थ प्राणायाम को केवल कुम्भक तथा सूक्ष्मक मन्त्रा भी है।<sup>२</sup> सूत्रस्थ “आक्षेपी” शब्द का अर्थ है—अश्लेष करने वाला अर्थात् अतिक्रमण करने वाला या अपेक्षा न रखने वाला।

जैसा पहले भी प्रदर्शित किया जा चुका है, रेचक तथा पूरक बाह्य तथा अभ्यन्तर विषय ( देश ) की अपेक्षा रखने वाले हैं। देश-कालादि से नियमित होने के कारण वे उनके ( देशादि के ) साथ अनिक्रान्त हो जाते हैं। उक्त दोनों प्राणायाम दीर्घकालीन अभ्यासवश अत्यन्त सूक्ष्म हो जाते हैं। दीर्घकालीन अभ्यासवश क्रमशः भूमिजय के पश्चात् अन्तर्गत सूक्ष्मता के कारण बाह्याभ्यन्तर उभयथा वृत्तियों की गति का अभाव होता है। वही सूक्ष्म स्तम्भवृत्ति, प्रकृत चतुर्थ प्राणायाम है। पूर्वोक्त स्तम्भवृत्तिरूप तृतीय प्राणायाम सकृत् प्रयत्न-साध्य तथा चतुर्थ प्राणायाम से अपेक्षाकृत अल्पकालस्थायी है। चतुर्थ प्राणायाम दीर्घकालीन प्रयत्न द्वारा साध्य तथा चिरकालस्थायी है। तृतीय, सहितकुम्भक, देश, काल, संख्या आदि से परिदृष्ट होकर दीर्घ सूक्ष्म होता है तथा रेचक पूरक की अपेक्षा रखने वाला है। केवल कुम्भक रेचक पूरक की अपेक्षा नहीं रखता। वह इन सबसे परे अवस्था का द्योतक है। श्री आई० के० टैमनी के अनुसार पूर्वोक्त तीनों प्राणायाम की सिद्धि के उपकरणमात्र है।<sup>३</sup>

१ “बाह्याभ्यन्तरविषयाक्षेपी चतुर्थ” (योग सू० २/५१)

२. “रेचक पूरक त्यक्त्वा मुख्यद्वायुधारणम् ।

प्राणायामोऽयमिदमुक्तं स वै केवल कुम्भक ।

रेचकः पूरकश्चैव कुम्भकः शून्यकस्तथा ।

एव चतुर्विधं प्रोक्तं प्राणायामो मनीषिभिः” ॥ (योगसार संग्रह पृष्ठ ७३)

The fourth kind of Pranayama referred to in the Sutra under discussion is the real Pranayama for which all the previous practices are merely a preparation ”

उद्धात के प्रकर्ष-हेतु तृतीय स्तम्भ वृत्ति अभ्यसनीय है। उक्त स्तम्भवृत्ति ही अत्यन्त विग्रह होकर अन्त में इच्छानुसार दीर्घकाल-व्यापी, चतुर्थ प्राणायाम का रूप धारण करती है।<sup>१</sup>

केवल कुम्भक सिद्ध जो जाने पर साधक के समक्ष आकाश-गमनादि समस्त सिद्धियाँ आविर्भूत होती है। इस अवस्था को प्राप्त योगी के लिये कुछ भी दुर्लभ नहीं रह जाता है।

वस्तुतः चतुर्थ प्राणायाम ही यथार्थ प्रणायाम है, क्योंकि इस अवस्था में ही योगी प्राण पर पूर्ण विजय या आधिपत्य प्राप्त करता है। केवल श्वास-प्रश्वास का नियमन ही प्राणायाम नहीं,<sup>२</sup> अपितु सम्पूर्ण प्राणशक्ति<sup>३</sup> का संयम प्राणायाम है। सूत्र-

१. एवमभ्याससक्रमेण यदा देशकालसख्याभि परिच्छेद्यौ रेचकपूरकौ विनैव मास-सवत्सरादि स्थायी बहुदेशस्थायी व्यापी वा कुम्भको भवति स केवलकुम्भकश्चतुर्थः प्राणायामः ।<sup>१</sup>  
(योगसार सग्रह प्राणा प्र० पृ० ७०)

२. द्रष्टव्य—“राजयोग” ( स्वामी विवेकानन्द ), पृष्ठ ३६ ।

३. प्राण—

स्वाभाविक श्वास-प्रश्वास ही प्राण नहीं है और न प्राण आत्मतत्त्व ही है, जैसा कि पाश्चात्य विद्वान् समझते हैं। प्राण वह जड़ तत्व है, जिससे श्वास-प्रश्वास आदि समस्त क्रियाएँ एक जीवित शरीर में होती हैं। लोकलोकान्तर और समस्त जड़-जंगम-स्थावर पदार्थ प्राणशक्ति से उत्पन्न होकर, उसी के आश्रय से जीवित रहते हैं और प्रलयकाल में उसी में लीन हो जाते हैं—“सर्वाणि ह वा इमानि भूतानि प्राणमेवा—भिसविशन्ति प्राणमभ्युज्जिहते” ( छान्दोग्य उपनिषद् १/११/५ )। समस्त इन्द्रियवर्ग का कार्य प्राणशक्ति से चल रहा है। अतः उपनिषदों में कहीं-कहीं पर, इन्द्रियों के लिये भी प्राण शब्द प्रयुक्त हुआ है।

मनुष्य के शरीर में वृत्ति के कार्य-भेद से, इस प्राण को दस भिन्न-भिन्न नामों से अभिहित किया गया है। प्राण, अपान, समान, उदान, व्यान नाग, कूर्म, कृकरो, देवदत्त और घनजय ये दस प्रकार के प्राण वायु हैं।

“प्राणोऽपानः समानश्चोदानव्यानौ च वायवः” ।

नागः कूर्मोऽथ कृकरो देवदत्तो घनजयः ।”

(गोरक्ष संहिता, गोरक्षकृत विवेकमार्तण्ड ३६)

—आगामी पृष्ठ पर

कार एवं भाष्यकार ने “श्वास-प्रश्वास” का गति-विच्छेद प्राणायाम इसलिये बतलाया है कि स्थूल से आरम्भ कर ही सूक्ष्म तत्त्व पर अधिकार किया जा सकता है। श्वास-प्रश्वास प्राण का स्थूलतम रूप है। अतः प्रथम उन्हीं का आयाम (सयम) करना पड़ेगा। किन्तु श्वास-प्रश्वास के नियमन मात्र को प्राणायाम मानना सूत्रकार एवं भाष्यकार को भी अभीष्ट नहीं है। इसीलिये उन्होंने प्राणायाम के चार भेद बतलाये हैं। चतुर्थ प्राणायाम में सम्पूर्ण बाह्याभ्यन्तर प्राणशक्ति पर अधिकार प्राप्त हो जाता है। प्राण पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेने पर कोई भी शक्ति अवशेष नहीं रह जाती, क्योंकि प्राण ही प्रत्येक शक्ति का मूल स्रोत है। महर्षि विवेकानन्द के शब्दों में “प्राण जगत्

( गत पृष्ठ का शेषांश )

### १. प्राण—

श्वास-प्रश्वास को अन्दर-बाहर ले जाना, मुख और नासिका द्वारा गति करना, भुक्त-पीत, अन्न-जल को पचाकर पृथक् करना, अन्न को पुरीष, जल को पसीना व मूत्र तथा रस आदि को वीर्य बनाना प्राणवायु का कार्य है। यह शरीर के ऊपरी भाग में, हृदय से नासिका पर्यन्त विद्यमान है। ऊपरी इन्द्रियो का कार्य इसी के अधीन है।

### २. अपान—

वायु का कार्य मल, मूत्र एवं गर्भ आदि को बाहर निकालना है। यह नीचे की ओर गतिशील तथा नाभि से पादतल पर्यन्त विद्यमान है। निचली इन्द्रियो का कार्य इस पर आश्रित है।

### ३. समान—

समान वायु का कार्य पचे हुए रसादि को, समस्त अंगों एवं नाडियो में अनुपातपूर्वक विभाजित करना है। यह शरीर के मध्य भाग अर्थात् नाभि से हृदय तक स्थित है।

### ४. व्यान—

इसका मुख्य स्थान उपस्थमूल से ऊपर है। यह समस्त स्थूल एवं सूक्ष्म नाडियो में गति-पूर्वक, शरीर के सब भागों में रुधिर-संचार करता है।

### ५. उदान—

यह कण्ठदेश में स्थित रह कर शिर पर्यन्त गति करता है। देह का उठाये रखना इसका कार्य है। इसी के द्वारा शरीर के व्यष्टि प्राण का समष्टि प्राण से सम्बन्ध है। उदान वायु से ही मृत्युकाल में, सूक्ष्म शरीर का स्थूल शरीर से बाहर निकलना तथा सूक्ष्म शरीर के कर्म, गुण और वासनाओं के अनुसार गर्भ में प्रवेश होता है। योगी इसी के द्वारा स्थूल शरीर से निकल कर विभिन्न लोको में घूम आते हैं।

—आगामी पृष्ठ पर



उत्पत्ति की कारणस्वरूपा, अनत सर्वव्यापी विक्षेपकरी शक्ति है।”<sup>१</sup> बाह्याभ्यन्तर समस्त शक्तियों की मूल अवस्था प्राण है।

प्रत्येक गति गुस्त्वाकर्षण या चुम्बक शक्ति, स्नायविक शक्तिप्रवाह ( Nerve Current ), विचारशक्ति, विविध शारीरिक-क्रियाशक्ति, सब कुछ प्राण का ही प्रकाश है। उच्चतम विचारशक्ति से लेकर सामान्यतम शारीरिक शक्तियाँ प्राण की ही विकसित अवस्थाएँ हैं। विविध शक्तियों में परिणत प्राण तत्त्व का यथार्थ ज्ञान और संयम ही प्रकृत प्राणायाम है। प्राणायाम-साधना का उद्देश्य सम्पूर्ण प्रकृति के वशीकरण की शक्ति का अर्जन है। समस्त आध्यात्मिक एवं आधिभौतिक शक्ति को प्राण की सामान्य शक्ति में पर्यवर्तित या सीमित किया जा

१. द्रष्टव्य—“राजयोग” ( स्वामी विवेकानन्द ) ।

( गत पृष्ठ का शेषांश )

शेष पाँच वायुओं में, नागवायु उद्गार, अर्थात् छीकने आदि, कूर्मवायु निमीलन सकोचन-कार्य, कृकर वायु क्षुधा, तृषा आदि और धनञ्जय पोषण इत्यादि तथा देवदत्त जृम्भण निद्राआदि का कार्य करता है। किन्तु इन दशों में पूर्वोक्त पञ्चप्राण ही मुख्य हैं। बाद में कहे गए नाग, कूर्मादि प्रथम पाँच के ही अन्तर्गत हैं। इनका वर्णन ग्रन्थों में इस प्रकार है—

“निश्वासोच्छ्वासकासाश्च प्राणकर्मैति कीर्तितम् ।

अपान वायो कर्मैतत् विष्णुवादिविसर्जनम् ॥

हानोपादानचेष्टादि व्यानकमेति चेत्यते ।

उदानकर्मैतत्प्रोक्त देहस्योन्नयनादि यत् ॥

पोषणादि समानस्य शरीरे कर्म कीर्तितम् ।

उद्गारादि गुणो यस्तु नागकर्मैति चोच्यते ॥

निमीलनादि कूर्मस्य क्षुत वै कृकरस्य च ।

देवदत्तस्य विप्रेन्द्र तन्द्रीकर्मैति कीर्तितम् ॥

धनञ्जयस्य शोफादिसर्वकर्मप्रकीर्तितम् ॥”

( योगियज्ञावल्क्य, ४/६६-६९ )

“हृदिप्राणोवसेन्नित्यमपानो गुह्यमण्डले ।

समानो नाभि देशे तु उदान कण्ठमध्यग ॥

व्यानो व्यापी शरीरे तु प्रधाना पञ्चवायव ॥”

( गोरक्षसंहिता, ३० )

सकता है। प्राणजित् योगी अपने मन पर ही नहीं, अपितु प्रत्येक व्यक्ति के मन पर विजय-प्राप्ति की क्षमता रखता है क्योंकि प्राण ही सम्पूर्ण शक्तियों का मूल है।

मनःशक्ति से आरोग्य (Mind Healing), विश्वास से आरोग्य (Faith-Healing), प्रेततत्त्व विद्या (Spiritualism), ईसाई विज्ञान (Christian Science)<sup>१</sup>, वशीकरण विद्या (Hypnotism) एवं (Telepathy) आदि के मूल में भी ज्ञात अथवा अज्ञात रूप से प्राणायामशक्ति ही कार्य कर रही है। भेद केवल इतना है कि उक्त विद्याओं के प्रयोगकर्ता इस प्राण-शक्ति के स्वरूप से अनभिज्ञ हैं, अतः उसे नवीन आविष्कार समझते हैं। योगी इस शक्ति का नियंत्रण एवं प्रयोग ज्ञानपूर्वक करते हैं। मनोवृत्ति प्राण की सूक्ष्मनम एवं उच्चतम अभिव्यक्ति है। तेज अथवा शक्ति के प्रत्येक विकास, प्राणसंयम-जन्य ही है। प्राण के विविध प्रकाशों को जीत कर उसे यथेच्छरूप में चलाना राजयोग का उद्देश्य है। योगविद्या का लक्ष्य अल्पकाल में आत्मोन्नति की गति तीव्र करके मुक्ति प्राप्त करना है। यह कार्य एकाग्रतापूर्वक साध्य है। एकाग्रता की शक्ति-प्राप्ति का विज्ञान ही राजयोग है।

मन को उत्तरोत्तर उच्च से उच्चतर स्पन्दन-विनिष्ट बनाना ही योगोक्त समाधि है। जब प्राणायाम से बह्य साधनों द्वारा प्राण के स्थूल रूपों पर विजय प्राप्त की जाती है, तब उसे भौतिक अथवा परार्थ-विज्ञान कहते हैं। जब प्राणायाम-क्रिया से, प्राण की मानसिक-शक्तियों का, मानसिक उपायो द्वारा सयत् किया जाता है, तब वह राजयोग कहलाता है। आई० के० टैमनीके अनुसार—प्राणों के माध्यम के अतिरिक्त, अन्य किसी प्रकार में द्रव्य एवं शक्ति का सम्बन्ध असम्भव है, प्राण जो व्यक्तीकरण के समस्त क्षेत्रों में विद्यमान है, एक ओर यदि द्रव्य एवं शक्ति का सम्बन्धसूत्र है, तो दूसरी ओर चैतन्य एवं बुद्धि का भी संयोजक है।<sup>२</sup>

१. विश्राम द्वारा आरोग्यादि ही ईसाई विज्ञान कहलाते हैं। इसके मतानुयायियों का कथन है कि वे ईसा का ठीक-ठीक अनुसरण करते हैं। इसी से इसका नाम ईसाई विज्ञान पड़ गया। (द्र०—राज०—विवेकानन्द, २५) प्रेततत्त्व विद्या आदि का विवरण “त्रिविध परिणाम का समय” जीर्णक में द्रष्टव्य है।

२ “Pran which exists on all the planes of manifestation is the connecting link between matter and energy on the one hand and consciousness and mind on the other. Matter in association with energy cannot effect consciousness except through the agency of pran.”

( Science of yoga ) P. 258

प्राण का आध्यात्मिक स्वरूप क्या है, इसे हम शरीर-विधान-शास्त्र (Physiology) की सहायता से बड़े सरल ढंग से समझ सकते हैं। योगशास्त्र में मेरुदण्ड के अन्दर बाईं ओर इडा और दाईं ओर पिण्डला तथा बीच में मेरुमज्जा के मध्य में सुषुम्ना नामक नाड़ी का वर्णन मिलता है। मेरुमज्जा कटिप्रदेशस्थ मेरुदण्ड के कुछ अस्थिसमूह के पश्चात् ही समाप्त हो जाती है, किन्तु धागे के समान एक सूक्ष्म पदार्थ लगातार नीचे की ओर गया है। सुषुम्ना यहाँ भी अत्यन्त सूक्ष्मरूप में स्थित है। इस नाड़ी का मुँह नीचे बन्द रहता है। पास ही में कटिप्रदेशस्थ नाड़ी-जाल (Sacral-Plexus) है। शरीर विज्ञानानुसार यह त्रिकोणाकार है। यही पर योगोक्त मूलाधार पद्म है। मेरुमज्जा के अन्दर विभिन्न नाड़ी-जालों के केन्द्र स्थित हैं। ये केन्द्र ही योगोक्त चक्रों या पद्मों के रूप में लिये जा सकते हैं।

शरीर-विज्ञान को चेतना के केन्द्र के रूप में वर्णित इन चक्रों की जानकारी नहीं है और न वह उन्हें, सूक्ष्म प्राणवायु या सूक्ष्म प्राण-शक्ति के केन्द्र के रूप में ही जानता है। यद्यपि स्थूल शरीर और तत्सम्बन्धी सारी विशेषताएँ शरीर-विज्ञान का ही विषय हैं। अतः जो केवल शरीर-विज्ञान का आश्रय लेते हैं, उन्हें प्रायः निराश रहने की ही सम्भावना है। इस विषय में सर आर्थर एवर्लॉन ने, एक सुविदित थियोसोफी मतानुयायी लेखक का उल्लेख किया है, जो इसे “चेतना-केन्द्र” और “कुण्डलिनी-ज्योति” कहता है। साथ ही इस विषय को उसने अपना व्यक्तिगत अनुभव भी बतलाया है।<sup>१</sup>

उपयुक्त पद्मों में से प्रथम मूलाधार, अन्तिम सहस्रार तथा नाभिचक्र (मणिपुर) ये तीन विशेष महत्वपूर्ण हैं।<sup>२</sup> स्नायुप्रवाह दो प्रकार के है। एक केन्द्र की ओर ले जाने वाले हैं, जिन्हें अन्तर्मुखी अथवा ज्ञानात्मक कहते हैं। दूसरे केन्द्र से दूर ले जाने वाले, जिन्हें बहिर्मुखी अथवा गत्यात्मक कह सकते हैं। इनमें से प्रथम, मस्तिष्क में सम्वाद पहुँचाते हैं, दूसरे मस्तिष्क से अगो में। किन्तु अन्त में सब मस्तिष्क में मिल जाते हैं। मस्तिष्क में पहुँच कर मेरुमज्जा एक “बल्ब” की तरह के अण्डाकार पदार्थ में समाप्त होती है। इसे मेडुला (Medulla) कहते हैं। यह मस्तिष्क से असंलग्न रहकर, वहाँ एक तरल पदार्थ में तैरा करता है। इससे

१. “सर्पेन्ट-पावर”, पृ० ६।

२. ये पद्म या चक्र सात हैं। मूलाधार, स्वाविष्ठान, मणिपुर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार। इनका विशेष विवरण विभूतिपाद के—“नाभिचक्रेकायव्यूहज्ञानम्”—सूत्र की व्याख्या में दिया गया है।

सिर पर चोट लगने पर भी उसकी शक्ति तरल पदार्थ में बिखर जाने से बलब को आघात नहीं पहुँचता है ।

श्वास-प्रवास को नियमित करनेवाला स्नायुकेन्द्र ठीक वक्षःस्थल की सीध में मेरुदण्ड में स्थित है । समस्त स्नायु-प्रवाहों पर इसका कुछ न कुछ अधिकार है । अतः यह समस्त स्नायुप्रवाह को प्रभावित करता है ।

भौतिक-विज्ञान का विद्युत्-तत्त्व भी महत्वपूर्ण है, जिसे सब केवल एक गति के रूप में ही जानते हैं । अन्यान्य जागतिक गतियों से वह किस प्रकार विशिष्ट है—यह ज्ञेय है । समस्त परमाणुओं की अनवरत एक दिशा में गतिशील अवस्था ही वैद्युत-गति है । यदि किसी स्थान में स्थित समस्त वायु-परमाणु अविच्छिन्न एक ही ओर प्रवर्तित किये जायँ तो वह स्थान महान् विद्युदाधारयन्त्र ( Battery ) बत बन जायगा ।

द्विविध स्नायु-समूह पर, विद्युत् का प्रयोग करने से, उन दोनों में घनात्मक तथा ऋणात्मक दो विपरीत शक्तियाँ उद्भूत होती हैं ।<sup>१</sup> अतः स्पष्ट है कि इच्छाशक्ति ( Will-Power ) स्नायुप्रवाह में प्रवर्तित ( परिणत ) होकर विद्युद्रूप बन जाती है । शरीर की समस्त गति एकाभिमुखी कर देने से, शरीर इच्छाशक्ति का महान् विद्युदाधार बन जाता है । योगी का उद्देश्य उक्त प्रबल इच्छाशक्ति की उपलब्धि ही है ।

प्राणायाम में भी श्वास-प्रश्वास को नियन्त्रित करके समस्त शरीर-परमाणुओं में एकाभिमुखी गति उत्पन्न की जाती है । जब सब ओर भागने वाला मन एकाग्र होकर सबल इच्छाशक्ति ( Strong Will-Power ) में परिवर्तित होता है, तब स्नायु-प्रवाह में भी विद्युत्-गति उत्पन्न होती है । इस प्रकार प्राणायाम-द्वारा श्वास-प्रश्वास-केन्द्र को अधिकृत करके उसकी सहायता से शेष केन्द्रों को भी नियन्त्रित किया जाता है । योगोक्त प्राणायाम-साधना का उद्देश्य मूलाधारस्थ कुण्डलिनी को जागृत करना है । मूलाधार समस्त शक्तियों का आगार है । इस शक्ति को कुण्डलिनी जागृत करके सहस्रार में पहुँचाना ही योग से साध्य है । यह ३॥ कुण्डल के आकार में, मूलाधार में स्थित है, अतः इसे कुण्डलिनी कहते हैं । जब कुण्डलिनी उद्बुद्ध होकर श्रेणीभूत षट्चक्रों को एक-एक कर भेदन करती हुई ऊर्ध्वगमन करती है, तो उत्तरोत्तर दिव्य ज्ञान का उद्घाटन तथा अद्भुत शक्तियों का स्फुरण होता है । अन्त में षट्चक्र-

१. द्रष्टव्य—विवेकानन्द कृत “राजयोग” में “प्राण का आध्यात्मिक स्वरूप” शीर्षक ।

भेदन के पश्चात् कुण्डलिनी सहस्रार मे प्रविष्ट हो जाती है, तब योगी अपने नित्य मुक्त स्वभाव की उपलब्धि करके आनन्द-विभोर हो जाता है ।<sup>१</sup>

इसके लिये सुषुम्ना को जीतना अनिवार्य है । पहले बतलाया जा चुका है कि इडा और पिंगला मेरुमज्जा मध्यस्थ ज्ञानात्मक एव कर्मात्मक स्नायु-समूह-स्तम्भ ही है । इन्ही दोनों नाडियो से मुख्यतः अन्तर्मुखी-बहिर्मुखी शक्तिप्रवाह प्रवाहित होते हैं और ये मस्तिष्क मे बिजली के तार की भाँति कार्य कर रहे हैं । इस शक्ति-प्रवाह को बिना स्नायु के ही सुषुम्ना के मध्य से, बेतार के तार की भाँति प्रवाहित करने पर इस समस्या की मीमांसा हो जाती है ।

जागृतावस्था मे बाह्य विषयाभिघात जन्य प्रवाह शरीर के किसी केन्द्र मे पहुँचने पर प्रतिक्रिया होती है, जिसका फल स्वैर-केन्द्रो (Automatic-centres) मे, सामान्य गतिमात्र है । किन्तु चेतन-केन्द्रो (Conseious-centres) मे यह गति अनुभव के बाद होती है । प्रत्येक प्रतिक्रिया से उत्पन्न सवेदनाएँ शरीर के अन्दर संचित हैं । उन्ही के अभिघात से स्मृति, स्वप्नादि, मृदु प्रक्रियाएँ हुआ करती हैं ।

जिस स्थान पर मूलाधार (Sacral Plexus) स्थित है, उसे दीर्घकालीन चिन्तनोपरान्त उष्ण होते देखा जाता है, ऐसा शरीर-विज्ञान-वेत्ताओ का अनुभव है । अतः गतिप्रवाहो की अवशिष्ट सस्कार समिष्ट के संचयस्थल को ही मूलाधार कहते हैं ।<sup>२</sup> “सर्पेन्ट पावर” मे सर आर्थर एवलॉन ने इसे ( मूलाधार को ) “चतुःपरिमाण ज्योतिष्केन्द्र के सदृश” बतलाया है तथा सस्कारो के सग्रहस्थल को “भौतिक परमाणुओ से निर्मित सघन जाल” कहा है, जब कि वे लिखते हैं—“अभ्रकेन्द्र ( आक्राश ) जड माध्यम को सचेत रखता है और कहा जाता है कि यह एक चतुःपरिमाण वाले ज्योतिष्केन्द्र से सादृश्य रखता है, परन्तु उनके मध्य मे भौतिक परमाणुओ से निर्मित, एकहरी पर्त का अत्यन्त घना बुना हुआ जाल है, जो स्तरो के बीच पारस्परिक व्यवहार को समय से पूर्व ही विकसित होने से रोकता है ।<sup>३</sup>

१. पतञ्जलि तथा उनके व्याख्याकारो ने कुण्डलिनी का नाम नहीं लिया है, क्योंकि यह विषय गुरु-परम्परागम्य ही है ।

२. द्रष्टव्य—“राजयोग” पृ० ६४ ।

३. The “etheric” centre which keeps alive the physical vehicle is said to correspond with an “astral” centre of four dimensions—आगामी पृष्ठ पर

मूलाधार मे स्थित पूर्वोक्त कुण्डलीकृत क्रियाशक्ति का अभिधान कुण्डलिनी है। इसका उत्थापन दीर्घकालीन धारणा, ध्यानादि की साधना के उपरान्त होता है। विपुल-शक्ति-आगार कुण्डलिनी प्रबुद्ध होकर जब क्रमशः एक-एक चक्र-भेदन करती हुई सुषुम्ना-मार्ग मे भ्रमण करती है, तो उत्तरोत्तर तीव्रातितीव्र प्रतिक्रिया होती है। विभिन्न केन्द्रो के अभिघात से उत्पन्न तत्कालीन प्रतिक्रिया जाग्रतावस्था से भी अनन्तगुनी प्रबल होती है। अन्ततः समस्त ज्ञान एवं अनुभवो के केन्द्रभूत सहस्रार मे इस शक्ति-पुंज के प्रवृष्ट होने पर, मस्तिष्क तथा उसकी अनुभूतियों के सम्बद्ध प्रत्येक अणु-परमाणु प्रतिक्रिया करने लगता है। इस समय मस्तिष्क से ज्ञान का पूर्ण आलोक एवं आत्मानुभूति का स्फुरण होता है। योगी को सूक्ष्म या कारण जगत् का भी सम्यक् ज्ञान हो जाता है। उसके लिये इस अवस्था मे कुछ भी अज्ञेय नहीं रह जाता। यही प्राणशक्ति का चमत्कार है। इस अवस्था की प्राप्ति ही प्राण का पूर्ण आयाम है।

×

×

×

प्राणायाम योगाङ्गो मे अत्यन्त महत्वपूर्ण स्थान रखता है। इसके अभ्यास से प्रकाश का आवरण<sup>१</sup> उत्तरोत्तर क्षीण होकर अन्त मे नष्ट हो जाता है<sup>२</sup> तथा धारणा की योग्यता प्राप्त होती है।<sup>३</sup> किसी सांख्याचार्य ने प्राणायाम को ही सर्वश्रेष्ठ तप बतलाया है। “तपो न पर प्राणायामात्ततो विशुद्धिर्मलानां दीप्तिश्च ज्ञानस्येति।”

### प्रत्याहार—

इन्द्रियो का अपने-अपने विषय से असम्बद्ध रहने पर चित्त के स्वरूप का

- 
१. पुनर्जन्म के हेतुभूत कर्म ही प्रकाश के आवरण है। द्रष्टव्य-पचक्लेश एव उनके निवारण के उपाय।
  २. “तत क्षीयते प्रकाशावरणम्” ॥ ( यो० सू० २-५२ )
  ३. “धारणासु च योग्यतामनस” ( यो० सू० २-५३ )

(गत पृष्ठ का शेषांश)

sions, but between them is a closely woven sheath or web composed of a single compressed layer of physical atoms, which prevents a premature opening up of communication between the planes.

(The Serpent power, P. 8)

अनुकरण जैसा करना प्रत्याहार कहलाता है।<sup>१</sup> वस्तुतः प्रत्याहार का अर्थ है, उल्टा लोठ लौटाना (प्रति+आहार, प्रति=प्रतिलोम=विपरीतभाव)। प्रत्याहार-साधना में स्वभावतः बहिर्मुखी इन्द्रियाँ अपने-अपने विषयो से विमुख करके अन्तर्मुखी बनाई जाती है, अतः उसे प्रत्याहार कहते हैं। भगवद्गीता में प्रत्याहार का वर्णन इन शब्दों में किया गया है—

“यदासंहरते चायं कूर्मोऽज्ञानीव सर्वशः  
इन्द्रियाणीन्द्रिार्थेभ्यस्तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता ॥” (२/५८)

तथा महाभारत के अश्वमेध पर्व (४२/४६) में—

“विद्वान् कूर्म इवाज्ञानि कामान् संहृत्य सर्वतः ।  
विरजा : सर्वतो मुक्तो यो नरः स सुखी सदा ॥”

उसी की इस प्रकार व्याख्या की गई है।

प्रत्याहार साधना के लिये यत्नविशेष की आवश्यकता नहीं पड़ती। इन्द्रिय-व्यापार चित्त की गति के अधीन है। यम, नियम, प्राणायामादि के अनुष्ठान से चित्त बाह्य विषयो से विरत हो चुकता है। अतः इन्द्रियाँ भी स्वतः विषयो से प्रत्याहृत हो जाती हैं। इस समय अर्थात् विषयो की असम्पृक्तावस्था में चित्त का जैसा स्वरूप होता है, उसका इन्द्रियाँ भी अनुकरण सा करती हैं। इसी से सूत्रकार ने “चित्तस्वरूपानुकार इव” ऐसा प्रयोग किया है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रियाँ अनुकरण जैसा करती हैं, पर वास्तव में अनुकरण नहीं करती, क्योंकि चित्त तो प्रथम बाह्य विषयो से विमुख होकर बाद में आत्मतत्त्वाभिमुखी होता है, किन्तु इन्द्रियाँ केवल बाह्य-विषयो से विमुख होती हैं, चित्तवत् आत्मतत्त्वाभिमुख नहीं होती। इस प्रकार प्रत्याहार इन्द्रियो का धर्म है, चित्त का नहीं। बिना प्रत्याहार के ध्यान-प्रक्रिया सम्भव नहीं होती। “चित्तस्वरूपानुकार इव” की व्याख्या में भगवान् व्यास ने बड़ी सुन्दर उपमा द्वारा भाव स्पष्ट किया है। वे कहते हैं कि जिस प्रकार मधुकरराज के उड़ जाने पर उसका अनुकरण करने वाली समस्त मक्खियाँ पीछे से उड़ जाती हैं, उसके बैठने पर वे भी बैठ जाती हैं, उसी भाँति चित्त का व्यापार जब तक प्रवर्तित रहता है, तब तक इन्द्रियाँ भी अपने व्यापार में सचेष्ट रहती हैं। (मधुकरराज=मक्षिकारानी—(Queen Bee) चित्तनिरोध होनेपर इन्द्रियगण भी निरुद्ध हो जाते हैं।

१. “स्वाविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणां” प्रत्याहार । (यो० सू० २/५४।

यहाँ यह स्मर्तव्य है कि स्वेच्छापूर्वक इन्द्रिय-निग्रह करना ही उक्त प्रत्याहार है। इन्द्रियो के स्व-विषय ग्रहण त्यागमात्र को प्रत्याहार नहीं कहा जा सकता है। यो तो उन्मादी, मृगी-रोगी ( Hysteria ) को भी एक प्रकार का प्रत्याहार होता है। कृत्रिम आदेश (Hypnotic Suggestion) के वशीभूत प्राणी को तो अच्छी तरह प्रत्याहार होता है, उन्हें लवणयुक्त पदार्थ को मधुर कहकर दिया जाय, तो वे मीठे का ही स्वाद पाते हैं। किन्तु उक्त अवस्थाएँ विवश अवस्थाएँ हैं। योगाङ्गीभूत प्रत्याहारपूर्ण स्ववश अवस्था है। योगी जब चित्त को अन्तर्मुख करता है, तो इन्द्रियाँ भी बाल-विषय का ग्रहण नहीं करती। इसी भौति शब्दादि किसी बाह्य विषय पर चित्त स्थिर करने पर इन्द्रियाँ केवल उसी विषय के व्यापार में संलग्न रहती हैं, अन्य विषय ग्रहण नहीं करती। इन्द्रियो को निग्रहीत करके उन्हें स्वेच्छानुवर्तिनी बना लेना ही प्रत्याहार-साधना है।

### धारणा :

आसन, प्राणायाम, प्रत्याहारादि से जब चित्त-चाञ्चल्य सम्यक् रूपेण निवृत्त हो जाय, तब उसे किसी देश-विशेष में बाँधना अर्थात् स्थिर करना धारणा कहलाता है।<sup>१</sup>

देश का अर्थ यहाँ बाह्य-आभ्यन्तर आध्यात्मिक देशों से है। ये देश नाभिचक्र (मणिपुर), हृदय-कमल ( अनाहत चक्र ), नासिकाग्र, जिह्वाग्र, भ्रूमध्य, बह्मरन्ध्र तथा चन्द्र, सूर्य, ध्रुव आदि हैं। इन देशों अर्थात् आध्यात्मिक स्थल-विशेषों में वृत्ति मात्र से चित्त को स्थिर कर देना धारणा है।

“योगसार-संग्रह” में पर्वत—शिखर भी धारणा का देश बतलाया गया है।<sup>२</sup> श्री भिक्षु ने यह शंका भी उठाई है कि मूर्ति आदि ध्येय के विषय में तो देश का कथन युक्तिसंगत प्रतीत होता है, किन्तु सत्त्व-पुरुषान्यताख्याति तथा शुद्ध ब्रह्मविषयिणी धारणा में, उक्त ध्येय असीम अपरिच्छिन्न होने से देश-बन्ध से क्या सम्बन्ध हो सकता है? साथ ही शंका-निवृत्त करते हुए यह बतलाया है कि जिस प्रकार

१. देशबन्धश्चित्तस्यधारणा—( यो० सू० ३-१ )

२. “हृत्पुण्डरीके नाभ्या वा मूर्ध्नि पर्वतमस्तके।

एवमादिप्रदेशेषु धारणाचित्तबन्धनम् ॥” ( कूर्म पु० )

पर्वमस्तके पाठ भ्रष्ट प्रतीत होता है। इस श्लोक में शरीर के आभ्यन्तर विषय वर्णित है। सम्भवतः यहाँ पर “पर्वणि” या पर्वसु पाठ शुद्ध होगा।



अग्नि सर्वव्यापी होने पर भी, अग्नि का इन्धनादि ही आश्रय स्थल है तथा उसके तीव्र घर्षण से अग्नि प्रज्ज्वलित हो उठता है, उसी भाँति ब्रह्म-प्रकृत्मादि सर्वव्याप्त होने पर भी हृदय आदि उपाधियों में उनका साक्षात्कार होने से वे ही उनके देश मान्य है ।<sup>१</sup>

आभ्यन्तर देश में साक्षात् अनुभव के द्वारा चित्त-बन्ध तथा बाह्य-विषयो में वृत्तिमात्र अर्थात् ज्ञानमात्र से चित्त का बन्ध धारणा कहलाता है ।<sup>२</sup>

योगसारसंग्रहकार ने धारणा का काल द्वादश आयाम बतलाया है “धारणा द्वादशायामा” अर्थात् जितनी देर में द्वादश आयाम (प्राणायाम) होते हैं, उतनी देर तक पूर्वोक्त देशों में जब चित्त-स्थिर रहे, तब उसे धारणा कहते हैं ।

### ध्यान—

उक्त (धारणा के हृत्पुण्डरीकादि) देश में ध्येयाकार चित्तवृत्ति (रूप ज्ञान=प्रत्यय) का निरन्तर एक-रस प्रवाह ध्यान कहलाता है ।<sup>३</sup> इसी को “ईश्वरगीता” में देश सम्बन्धिनी स्थिति का आश्रय लेकर अन्य वृत्तियों से असम्पृष्ट बुद्धि की वृत्तियों का प्रवाहरूप ध्यान कहा गया है ।<sup>४</sup> जिस वृत्तिमात्र से चित्त धारणाकाल में ध्येय से सम्बद्ध होता है, वह वृत्ति जब अविच्छिन्न गति से भासित होने लगे तब वही ध्यान कहलाती है । धारणा में इस वृत्तिका धारा-प्रवाह प्रत्ययान्तरो (अन्य वृत्तियों) की उत्पत्ति होने से खंडित भी होता रहता है । ध्यानावस्था में यह धाराप्रवाह अविरल गति से प्रवाहित होता है । “ईश्वर-गीता” में ध्यानकाल द्वादशधारणापर्यन्त अवधारित किया गया है—“ध्यान द्वादशधारणाः” ।

सूत्रकार एवं भाष्यकार ने सामान्यरूप से देश-विषयक धारणा एवं ध्यान कह दिया है । फिरभी उनका तात्पर्य देशमात्र के धारणा एवं ध्यान से नहीं, अपितु अधिकरणभूत उक्त देशों में चतुर्भुजादि भगवद्विग्रह के चिन्तन से ही है । तात्पर्य यह है कि उक्त देशों का चिन्तन नहीं, अपितु उनमें स्थित परमात्मा आदि का ध्यान

१. द्रष्टव्य—योगसार संग्रह ।

२. द्रष्टव्य—“भास्वती”—हरिहरानन्द आरण्य ।

३. “तत्रप्रत्ययै कतानताध्यानम्” ( योऽसु ३-२ )

४. “देशावस्थितिमालम्ब्य बुद्धेर्या वृत्तिसतति ।

वृत्त्यन्तरैरसम्पृष्टा तद्ध्यान सूरपो विदुः ॥”

(द्रष्टव्य—योगसार संग्रह का धारणा प्रसंग) कूर्म पु०

करना चाहिये। “गुरु-पुराण” में भी इस प्रसंग में ब्रह्मरूप परमेश्वर की धारणा एवं ध्यान बतलाए गए हैं।<sup>१</sup> भगवान् शंकराचार्य ने भी गीता के—

“समं कायशिरोग्रीवं धारयन्नचलं स्थिरः।

सम्प्रेक्ष्य नासिकाग्रं स्वदिशश्चानवलोकयन् ॥”

इस श्लोक का भाष्य करते हुए “आत्मसंस्थमनः कृत्वा” इस भगवत्-उक्ति को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है तथा आधारभूत नासिकाग्र देश में आत्म-संबन्धी ध्यान का उल्लेख किया है।

×

×

×

### समाधि—

वही ध्यान जब स्व-स्वरूपशून्यवत् होकर ध्येय के स्वरूपमात्र का प्रकाशक बनता है, तब समाधि कहलाता है।<sup>२</sup>

ध्यानावस्था में ध्याता (चित्त), ध्यान (चित्तवृत्ति) तथा ध्येय (चित्तवृत्ति का विषय), इन तीनों का आभास होता है। अभ्यास की दृढ़ता से ध्येय के स्वभावावेश-वश ध्यान का आकार लुप्त हो जाता है, केवल ध्येय के स्वरूप का भान होता है, किन्तु इसका अर्थ यह कदापि नहीं है कि इस अवस्था में ध्यान की सत्ता ही नहीं होती, क्योंकि ध्येय का प्रकाशक तो ध्यान ही होता है। ध्यान का अस्तित्व सर्वथा अस्वीकार कर देने पर ध्येय का निर्भासक कौन होगा? वस्तुतः समाधि, ध्यान एवं ध्येय की तन्मयावस्था है। जिस प्रकार जल में प्रक्षिप्त लवण (नमक) वर्तमान रहने पर भी जल-स्वरूप ही प्रतिभासित होता है, उसी भाँति समाधिकाल में ध्यान विद्यमान रहने पर भी अपने स्वरूप को त्याग कर ध्येय से अभिन्न रूप में भासता है। वस्तुतः ध्यान का अभाव नहीं हो जाता, फिर भी उसके स्वरूप के अभाव जैसी प्रतीति होती है। इसी भाव को सूत्रकार ने “इव” पद से अभिव्यजित किया है, अर्थात् स्वरूप शून्य के जैसा प्रतीत होता है, परन्तु वास्तव में स्वरूप शून्य नहीं होता है। ध्यान की ही चरम उत्कृष्ट सीमा समाधि है। यह

१. “प्राणायामैर्देशभिर्वावत्कालकृतो भवेत्।

स तावत्कालपर्यन्तं मनो ब्रह्मणि धारयेत् ॥”

( गुरु पुराण २१८/२२७/२२९ और ४९ )

२. “तदेवार्थमात्रनिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधिः।” ( यो० सू० ३-३ )

चित्तिस्थिति की सर्वोत्कृष्ट अवस्था है। इन्द्रियो से अत्युत्कृष्ट विषय-सम्पर्क होने पर भग्न भी हो सकता है, किन्तु समाधि इस तरह नहीं टूटती है।

उक्त अवस्था जब द्वादश ध्यान-पर्यन्त स्थिर रहने लगे, तब वही समाधि नाम से कही जाती है। “ध्यानद्वादशक यावत्समाधिरभिधीयते”<sup>१</sup> तथा—

“धारणापञ्चनाडीका ध्यानं स्यात्षष्टिनाडिकम् ।  
दिनद्वादशकेनैव समाधिरभिधीयते ॥”<sup>२</sup>

अर्थात् पाँच नाडिका ( घटिका या घड़ी ) पर्यन्त एकाग्र चित्तस्थिति धारणा, साठ घड़ी-पर्यन्त स्थिरवृत्ति ध्यान तथा बारह दिन तक एकाग्र चित्तस्थिति समाधि कही जाती है। इस विषय में स्वामी ब्रह्मलीनमुनि ने लिखा है कि वास्तव में ढाई घड़ी तक एकाग्र चित्तस्थिति भी समाधि ही है, अन्यथा उतने ही समय में होने वाला अनुभवसिद्ध समाधिसुख अनुपपन्न हो जायगा। कारण उस समय में समाधि के बिना समाधि-सुख मिलना ही असम्भव है, पर वह होता है।<sup>३</sup>

१. द्रष्टव्य—योगसार सग्रह ।

२. स्कन्दपुराण (काशी खण्ड ४१) ।

३. यो० भा० विवृ०—पृ० ५०६ ।

## ( ५ ) इन्द्रियनिग्रह की आवश्यकता ।

इन्द्रिय-निग्रह योग-साधन का प्रवेशद्वार है । इन्द्रिय-निग्रह से शरीर एवं मन दोनों पर विजय प्राप्त हो सकती है । जब तक इन्द्रियो को स्ववश नहीं किया जायगा योगी योग-साधना में कथमपि साफल्य नहीं प्राप्त कर सकता है । योग के अष्टाङ्गों में प्रत्याहार का स्वतंत्र अस्तित्व है । इसी से इन्द्रिय-निग्रह का महत्त्व स्पष्ट होता है । यम-नियम से प्रारम्भ कर प्राणायाम, प्रत्याहार-पर्यन्त पञ्च योगाङ्ग प्रधानतः देह, प्राण एवं इन्द्रिय-निग्रह स्वरूप ही है ।<sup>१</sup> अन्तिम तीन चित्तनिरोधस्वरूप है । शरीर का निग्रह इन्द्रियवशताधीन ही है । प्राण का स्वयं बाह्येन्द्रियो में अन्तर्भाव किया जाता है ।<sup>२</sup> प्राणायाम का योग-साधना में कितना उत्कृष्ट महत्त्व है, यह योग के अष्टाङ्ग-वर्णन में स्पष्ट ही हो चुका है । उस प्राणायाम-साधना से भी निग्रह-द्वारा इन्द्रिय-विकार ही नष्ट किये जाते हैं ।<sup>३</sup> प्राणायाम के पश्चात् प्रत्याहार के द्वारा प्रत्येक इन्द्रिय को स्व-विषयो से प्रत्याहृतकर के सम्यक्-रूपेण इन्द्रियाँ निगृहीत की जाती हैं । इसी अवस्था को “योगसूत्र” में इन्द्रियो की “परमवश्यता” कहा गया है । सूत्रस्य “ततः” शब्द का अर्थ प्रत्याहार से है, अर्थात् प्रत्याहार-द्वारा इन्द्रियो की उत्कृष्ट वश्यता प्राप्त होती है । इन्द्रियो को निगृहीत किये बिना ध्यान सिद्ध नहीं होता ।<sup>४</sup>

वस्तुतः इन्द्रियो को निगृहीत न करने से वे बारम्बार अपने विषयोपभोग में आसक्त रहेगी । यह आसक्ति ही राग है । राग स्वयं क्लेश है । रागात्मिका वृत्ति वर्तमान रहने पर इन्द्रियाँ भोग के हेतु चंचल होती हैं इस चाञ्चल्य से चित्त भी अस्थिर होगा । अतः इस प्रकार चित्त कभी भी समाहित नहीं हो सकता । भगवान्

१. द्रष्टव्य—योगसार सग्रह, पृ० ७३

२. द्रष्टव्य—“पञ्चक्लेश तथा उनके निवारण के उपाय शीर्षक” गत सू० २/१६ की व्याख्या ।

३. दह्यन्ते ध्मायमानानां धातूनां हि यथा मला ।

तथेन्द्रियाणां दह्यन्ते दोषा प्राणस्य निग्रहात् ॥ ( मनु )

४. “ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्” ( यो० सू० २-५५ )

५. “अनिर्जित्येन्द्रियाणाम् यस्तु ध्यानपरो भवेत् ।

मूढात्मानं तु तं विद्याद्धानं चास्य न सिध्यति ॥” ( यो० सा० स०, ७४ )

मनु ने भी कहा है कि विषय-संयुक्त इन्द्रियो से दोष प्राप्ति अवश्यम्भावी है, उन्हें निगृहीत करने पर ही सिद्धि संभव है।<sup>१</sup> जब इन्द्रियो को उनकी स्वतः प्रवृत्ति से निवृत्ति नहीं किया जायगा, तो भोगाभ्यास बढ़ने से वैराग्य भी नहीं उत्पन्न होगा। वैराग्य बिना योगाभ्यास में उन्नति नहीं हो सकती है। कारण स्पष्ट है। भोगाभ्यास से विषयोपभोग में विषयभोग की लालसा ही बढ़ती है। इससे बारम्बार चित्त विषयोपभोग में प्रवृत्त होता है। इस प्रवृत्ति से पुनः रागात्मक संस्कार बनते हैं। ये संस्कार क्लेश-मूल हैं। अतः क्लिष्ट कर्माशय ही उपचित करते हैं। क्लिष्ट कर्माशय का विपाक भी क्लेशदायक होता है। जैसा कि जाति, आयु और भोग के प्रकरण में हम देख चुके हैं। इस प्रकार अनिगृहीत इन्द्रियो से मनुष्य बारम्बार क्लेश, कर्म और विपाक के अनन्त भँवर में भ्रमित होता रहता है। अतः योगाभ्यासेच्छु की प्रथम आवश्यकता-इन्द्रिय-निग्रह है। भोग-ऐश्वर्य में आसक्तेन्द्रिय व्यक्ति का चित्त कदापि समाहित नहीं हो सकता है। गीता ( २/४४ ) में भी कहा गया है—

“भोगैश्वर्यप्रसक्तानां” तथापहतचेतसाम् ।

व्यवसायात्मिका बुद्धिः समाधौ न विधीयते ॥

अनिगृहीत इन्द्रियाँ विनाश-मार्ग की ओर ही अग्रसर करती हैं। बिना इन्द्रिय-जय के हम स्वयं अपने ही ऊपर अधिकार प्राप्त नहीं कर सकते हैं। विजितेन्द्रिय चित्त ही अपने ऊपर, दूसरों के ऊपर तथा समस्त लौकिक एवं दैविक शक्तियों के ऊपर राज्य करता है। महाभारत में निगृहीतेन्द्रिय तृष्णारहित व्यक्ति को सब प्राणियों का सुहृद और मित्र तथा ब्रह्म के समान बतलाया गया है :—

“कामानात्मनि संयम्य क्षीणतृष्णः समाहितः ।

सर्वभूतसुहृन्मित्रो ब्रह्मभूयायं कल्पते ॥”

( अश्वमेध ८२/४७ )

यदि दूसरों के चित्त पर अधिकार प्राप्त करना है, तो सर्वप्रथम अपने शरीर व चित्त पर विजय प्राप्त करना होगा। अपने शरीर पर विजय पाने के लिये पहले इन्द्रियो की स्वेच्छाचारिता को नष्ट करना होगा। इन्द्रियो को स्ववश करने के लिये इन्द्रिय-निग्रह करना पड़ेगा। प्रत्येक दिव्य शक्ति का प्रादुर्भाव इन्द्रिय

१. “इन्द्रियाणां प्रसगेन दोषमृच्छत्यसंशयम् ।

सनियम्य तुतान्येव ततः सिद्धिं नियच्छति ।” ( मनु० २/१३ )

निग्रह के पश्चात् ही हो सकता है। इन्द्रिय-निग्रह के लिये उन्हें अपने अपने विषयो से बलपूर्वक प्रत्याहृत करना पड़ेगा। यही प्रत्याहार की साधना से साध्य है।

अब प्रश्न उठता है कि इस इन्द्रिय-निग्रह का वास्तविक स्वरूप क्या है ? “ततः परमावश्यतेन्द्रियाणाम्” सूत्रकार की इस उक्ति की व्याख्या करते हुए भगवान् व्यास ने इस विषय में चार विकल्प उपस्थापित किये हैं।

प्रथम मतानुसार शब्दादि विषयो का व्यसन न होना ही इन्द्रियजय है। अर्थात् विषयो में इतनी अधिक आसक्ति नहीं होनी चाहिये कि उनके सेवन बिना रहा ही न जा सके। जो मनुष्य को कल्याणपथ से वंचित कर दे, ऐसी आसक्ति व्यसन कहलाती है। “व्यस्यति एन श्रेयसः इति व्यसनम् सक्तिः”। अतः उक्त मतानुयायियों के अनुसार शास्त्रोक्त विषय-सेवन उनकी दृष्टि में व्यसन नहीं है। श्री विज्ञानभिक्षु ने उक्त मत की व्याख्या करते समय, इसी मत को और अधिक स्पष्ट करते हुए कहा है कि जब और अधिक शास्त्र विरुद्ध विषयोपभोग में भी इन्द्रियाँ प्रवृत्ति होती हैं, ऐसी तीव्र आसक्ति व्यसन है। अतः शास्त्र अविरुद्ध विषयोपभोग ही इन्द्रियजय है।

द्वितीय मतानुसार स्वेच्छापूर्वक विषयो से सम्प्रयुक्त होना, अर्थात् इन्द्रियाधीन न होना ही इन्द्रियजय है। तात्पर्य यह है कि इन्द्रिय चांचल्य तो भोग्याधीन है। भोग्य-विषय समक्ष आते ही इन्द्रियाँ भोग हेतु आतुर हो उठती हैं। इस प्रकार इन्द्रियो में चांचल्य होते ही विषयोपभोग प्रारम्भ कर देना इन्द्रिय-परवशता है। उक्त रीति से इन्द्रिय-परवश न होकर, उनके वेग को रोक कर, जब अपनी इक्षा हो तभी विषयो से सयुक्त होना चाहिये। इस प्रकार का इन्द्रिय-अपारतन्त्र्य ही इन्द्रियजय है।

तृतीय मतानुसार राग-द्वेष निवृत्त होने से उन विषयो की सुख-दुःखादि से शून्य प्रतीति ही इन्द्रियजय है। यह अवस्था तटस्थता का द्योतक है। जब सम्पूर्ण जगत में दुःखद अनुभूति से अनुकूल प्रतिकूल विषयो के प्रति उदासीनता उत्पन्न होती है, तो उन विषयो में राग-द्वेष भी निवृत्त हो जाता है। राग-द्वेष की निवृत्ति से उन विषयो के प्रति सुखप्रद एवं दुःखप्रद अनुभूति भी नहीं रहती है। अतएव सम्पूर्ण विषयो का सुख-दुःखादि शून्य ज्ञान होता है। प्रकृत मत में इस अवस्था की प्राप्ति ही इन्द्रियजय की अवस्था है। अर्थात् विषय सम्प्रयोग की प्रवृत्ति तो बनी रहती है,

किन्तु उसमें सुख-दुःख का अनुभव नहीं होता है। स्वेच्छापूर्वक विषय सम्पर्क भी परमार्थ विषयक अज्ञान की सूचना देता है।

इन सबसे परे चतुर्थ मत है। भगवान् जैगीषव्य के अनुसार चित्त की एकाग्रता के कारण, चित्ताधीन इन्द्रियो की विषयो में सर्वथा प्रवृत्ति-शून्यता ही इन्द्रियजय है। यही प्रत्याहार से प्राप्य है तथा इसी को सूत्रकार ने “इन्द्रियो की परमावश्यता” कहा है। यह उक्त तीनों वश्यताओं से अत्यन्त श्रेष्ठ है, क्योंकि चित्त के निरुद्ध होने पर उसके आधीन इन्द्रियां भी निरुद्ध हो जाती है। अतः पुनः इन्द्रियजय के हेतु उपायान्तर को अपेक्षा नहीं रहती है। सच तो यह है कि उक्त तीन इन्द्रियजय नहीं, अपितु प्रच्छन्न इन्द्रिय-लौल्य ही है। पूर्वोक्त तीनों मतों में किसी न किसी प्रकार इन्द्रियाँ विषय-विषयर से सम्बद्ध बनी रहती है। अतः पथभ्रष्ट होने की आशंका बनी रहती है। विष-विद्या में प्रवीण व्यक्ति भी वशीकृत सर्प को गोद में लेकर निश्चिन्त नहीं हो सकता है। उसी भांति पूर्वोक्त तीन प्रकार से निगृहीतेन्द्रिय व्यक्ति भी, विषय भोगते हुए क्लेश-शका से विनिर्मुक्त नहीं हो सकता है। अतः अन्तिम प्रकार की इन्द्रियवश्यता ही इन्द्रिय-निग्रह का वास्तविक स्वरूप है।

इन्द्रियो की इस परमावश्यता द्वारा ही सम्पूर्ण प्रकृति पर अधिकार प्राप्त किया जा सकता है।

इन्द्रियाँ प्रत्येक प्रकार की सवेदना (अनुभूति) एवं क्रिया की केन्द्रस्वरूपा है। अतः इन्द्रियो पर पूर्ण विजय प्राप्त करते ही हर एक स्नायु, प्रत्येक मांसपेशी, वशीभूत हो जाती है। उसके हम संचालक बन जाते हैं और उससे मनचाहा कार्य करवा सकते हैं। जब जिस स्थान पर चाहे चित्त एकाग्र करके दिव्य प्रकाश की उपलब्धि कर सकते हैं। जिस प्रकार जिस कमरे में हम बिजली जलाना चाहते हैं, उसका स्वीच आन करते ही वहाँ विद्युत-प्रकाश फैल जाता है। इस प्रकाश को हम अपनी इच्छानुसार जितनी देर चाहते हैं, उतनी देर प्राप्त करते हैं और आवश्यकता पूर्ण हो जाने पर स्विच आफ कर देते हैं।

ऐसा ही श्री आई० के० टैमनी ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए लिखा है—

“ The successful practice of Pratyahara as we have Seen in the previous Sutra gives complete control over the

Indriyas in the sense that we no longer remain their slaves but become their master, switching them off and on as we switch off and on electric light in our room." (Science of yoga—Page 272)

इन्द्रियजय के पश्चात् ही चित्त धारणा, ध्यान और समाधि योग्य बनता है। अतः इन्द्रियनिग्रह की परम आवश्यकता है।

इन्द्रियजयके उपरान्त ही आध्यात्मग्नि प्रज्ज्वलित होती है। “महाभारत” में कहा गया है कि जिस प्रकार इन्धन के जलाये जाने पर, अग्नि की महान ज्योति का प्रकाश होता है, उसी प्रकार इन्द्रियो के निरोध द्वारा महान आत्मा का प्रकाश होता है—

“यथाग्निरिन्ध्रनैरिद्धो महाज्योतिः प्रकाशते ।

तथेन्द्रियनिरोधेन महानात्मा प्रकाशते ॥”

( अश्वमेध ४२/४६ )

यम, नियम से लेकर प्रत्याहार पर्यन्त, समस्त योगाङ्ग मुख्यरूप से शरीर एवं इन्द्रियनिग्रहात्मक ही है, यह पहले ही प्रतिपादित किया जा चुका है। पूर्व प्रकरण में वर्णित तज्जन्य सिद्धियों से भी यह सिद्ध होता है कि किस प्रकार इन्द्रिय-निग्रह द्वारा प्रकृति की विविध शक्तियों पर, अपने ऊपर तथा दूसरो के चित्त पर अधिकार प्राप्त होता है। प्रत्याहार रूप पूर्ण इन्द्रियनिग्रह के पश्चात् धारणादित्रय के माध्यम से, किस प्रकार सम्पूर्ण प्रकृति पर पूर्णतः आधिपत्य प्राप्त होता है, यह सयम के विविध स्वरूपों के वर्णन से स्पष्ट होगा।

---



# योग - दर्शन

( भाष्यार्थ-बोधनी )

व्यास तथा अन्य व्याख्याकारों के आधार पर  
'पातंजल-योग-सूत्र' का विवेचनात्मक  
एवं तुलनात्मक अध्ययन

## तृतीय अध्याय



- (१) संयम का स्वरूप और उसके अङ्ग ।
- (२) प्रज्ञालोक का उदय ।
- (३) चित्त का समाधिपरिणाम, एकाग्रता-परिणाम तथा निरोधपरिणाम ।
- (४) त्रिविध परिणाम का समय ।
- (५) त्रिविध समयो का ज्ञान ।
- (६) कैवल्य - प्राप्ति का साधन ।



## (१) संयम का स्वरूप और उसके अंग

योग के अष्ट-अङ्गो मे से अन्तिम तीन अर्थात् धारणा, ध्यान एवं समाधि का सामूहिक अभिधान संयम है।<sup>१</sup> संयम शब्द का उपर्युक्त अर्थ उसका वाच्यार्थ नहीं है, वरन् यह योगशास्त्र के विभूति-प्रकरण मे ही धारणादि-त्रय की तान्त्रिकी परिभाषा है। भाष्यकार कहते है—“तदस्य त्रयस्य तान्त्रिकी परिभाषा संयम इति”।<sup>२</sup> योगजन्य सिद्धियों की उपलब्धि मे प्रत्येक सिद्धि मे बारम्बार तद्विषयक धारणा, ध्यान एवं समाधि लगाने की आवश्यकता होती है। विभूति-प्रकरण मे बारम्बार इन तीनों के विविक्त व्यवहार से विस्तार होगा। अतः शब्दलाघव एवं भाषा-सौष्ठव के हेतु, योग के विभूतिप्रकरण मे धारणा, ध्यान एवं समाधि को संयम मात्र कहकर अभिहित किया गया है। किन्तु यह ध्यान रखना चाहिये कि जब धारणा, ध्यान एवं समाधि एक ही विषय से सम्बद्ध हो, तभी उनकी संयम संज्ञा होगी। यदि धारणा अन्य विषयिणी हो, ध्यान अन्य विषयक हो और समाधि किसी और विषय की लगाई जाए, तो ऐसी अवस्था मे इन तीनों के लिये संयम शब्द का व्यवहार नहीं किया जा सकता है। वैसे समाधि कहने से ही धारणा एवं ध्यान का समावेश हो ही जाता है। क्योंकि समाधि, धारणा एवं ध्यान पूर्वक ही होती है। धारणा की ही प्रकृष्टावस्था मे ध्यान तथा ध्यान की उत्कृष्टावस्था में समाधि का स्वतः आविर्भाव हो जाता है। अतः शंका हो सकती है कि जब समाधि मे धारणा एवं ध्यान ऊह्य रहते है, तो समाधि को ही संयम क्यों न कहा जाय ? साथ ही धारणा एवं ध्यान का पृथक् कथन भी व्यर्थ है। इसका उत्तर यह है कि संयम का कथन विभूतिपाद मे ध्येय विषय के सम्यक् ज्ञान एवं उसके वशीकरण के साधन रूप मे किया गया है। इसमे ध्येय-विषय की एक-देशीय समाधि अर्थात् उसके किसी एक स्वरूप को लक्ष्य करके समाहित होने से प्रयोजन सिद्ध नहीं होता है, वरन् ध्येय विषय की भिन्न-भिन्न दिशाओ, उसके विविध भावो की धारणा-पूर्वक समाहित होना पडता है। किसी एक विषय के संयम मे अनेक बार धारणा ध्यान एवं समाधि की आवश्यकता पड सकती है। अतः इस दृष्टि से ही उक्त तीनों साधन संयम संज्ञा

१. “त्रयमेकत्रसंयम” (यो० सू० ३-४)

२. व्या० भा० ३/४।

से परिभाषित हुए हैं। इसी अभिप्राय से “परिणाम-त्रय सयमादतीतानागतज्ञानं” ( विभूतिपाद के ) इस सूत्र के भाष्य में, भाष्यकार श्री व्यास ने, तेन ( संयमेन ) परिणामत्रयं साक्षात्क्रियमाणम्” इत्यादि ऐसा कहा है। भाष्यकार की इस उक्ति में “साक्षात्क्रियमाणम्” का अर्थ धारणा, ध्यान एवं समाधि का बारम्बार प्रयोग करके ध्येय विषय से सम्बद्ध प्रत्येक वस्तु का साक्षात्कार करना है। “सयम” की व्याख्या करते हुए भास्वतीकार श्री हरिहरानन्द आरण्य की—“ध्येयविषयस्य सर्वतः पुनः पुनः क्रियमाणानि धारणाऽऽदीनि संयम इति”—इस उक्ति से भी इसी बात की पुष्टि होती है। अतएव धारणा, ध्यान एवं समाधि का पृथक् कथन तथा संयम की भिन्न कल्पना निष्प्रयोजन नहीं कही जा सकती है। साथ ही समाधि को सयम नहीं कहा जा सकता है। सयम के तीन अंगों में से समाधि तो स्वयं ही एक अंग है। संयम अंगी है और धारणा, ध्यान तथा समाधि उसके अंग हैं। किसी ध्येय विषय के प्रत्येक स्वरूप पर सर्वथा अधिकार प्राप्त करना उसका सयम है। जबकि समाधि उसके किसी भी एक रूप को लेकर हो सकती है।

जैसा कि संयम के स्वरूप से स्वतः स्पष्ट है, धारणा, ध्यान एवं समाधि ही इसके अंग हैं। इसका वर्णन योग के अष्ट अंगों में हो चुका है। अतः पुनरुक्ति अनावश्यक है। इस विषय में केवल इतना विशेष और समझ लेना चाहिये कि ध्येय विषय के वैविध्यानुसार धारणा अनेक प्रकार की होने पर भी, मुख्यतः द्विविध ही होती है। तत्त्वज्ञानमय धारणा तथा वैषयिक धारणा। तत्त्वज्ञानमय धारणा सांख्यमतावलम्बी ज्ञानयोगियों की ही होती है। तत्त्वज्ञानमय धारणा में प्रथम समस्त विषयों की इन्द्रियों में प्रतिक्रिया को लक्ष्य कर भावना की जाती है। अर्थात् वैषयिक क्रिया द्वारा इन्द्रियों में अभिहनन होने पर इन्द्रियों की चञ्चलता को लक्ष्य करना ज्ञानयोग का प्रथम साधन है। तत्पश्चात् इन्द्रियगण अभिमानात्मक है, अभिमान की प्रतिसवेदना ‘मै पन’ अर्थात् व्यावहारिक पुरुष द्वारा होती है। इस प्रकार क्रमशः धारणा करते हुए ज्ञानस्वरूप आत्मा में प्रतिष्ठा की प्राप्ति का प्रयास किया जाता है। इस धारणा में मुख्य आश्रय तत्त्वज्ञान होने पर भी अन्यान्य धारणावत् इन्द्रियादि के आभ्यान्तरिक आभ्यात्मिक देशों का अवलम्ब ग्रहण करना पड़ता है।

वैषयिक धारणाओं में शब्द एवं ज्योति की धारणा मुख्य मानी जाती है। ज्योति की धारणाओं में हार्दज्योति के आश्रयपूर्वक बुद्धि-तत्त्व की धारणा प्रधान है। यही समाधिपाद में “ज्योतिष्मती प्रवृत्ति” के नाम से व्याख्यात हुई है। शाब्दिक

धारणाओ मे अनाहतनाद अत्यन्त प्रसिद्ध है। शास्त्रो मे इसके चिनाद, शंखनाद, घण्टनाद आदि कई भेद बतलाए गए है। इनकी साधना नीरव स्थल में चित्तस्थिर करके की जाती है। प्राणायाम पूर्वक अनाहत नाद की भावना करने से विशेष लाभ होता है। अभ्यास-क्रम से ये नाद प्रथम दक्षिण श्रोत्र मे, तत्पश्चात् समस्त शरीर, हृदय, सुषुम्ना-मध्य तथा मस्तक मे भी सुने जाते है, ऐसा शास्त्रज्ञो व योगियो का कथन है। उक्त रीति से आध्यात्मिक प्रदेशो मे अनाहत नाद-श्रवण करने के अभ्यासोपरान्त, क्रमशः बिन्दु में पहुँचा जाता है। यह बिन्दु क्या है ? विस्तारशून्य शब्द का मानसिक भावमात्र ही बिन्दु है। वस्तुतः क्रिया की धारा ही शब्द है। अतएव शब्द मे चित्तस्थैर्य से दैशिक विस्तारज्ञान का अभाव होना है। वही बिन्दु कहलाता है। इसी से मन मे पहुँच होती है। शास्त्रो मे नाद के अन्तर्गत बिन्दु और बिन्दु के भीतर मन बतलाया गया है। इस मन का विलय होने पर परम-पद की प्राप्ति बतलाई गई है।<sup>१</sup>

ज्योतिर्धारणाओ मे मार्गधारणा भी अन्यतम है। मूलाधार आदि सुषुम्ना मे ग्रथित षट्चक्र ही उक्त मार्ग है। शास्त्रो मे इनकी ब्रह्ममार्ग, पिण्डब्रह्माण्ड-मार्ग, अर्चीरादि-मार्ग इत्यादि अनेक संज्ञाये दृष्टिगोचर होती है। प्राणायाम के प्रसंग मे हम विपुलशक्ति-आगार, कुण्डलिनी से परिचित हो चुके है। मार्गधारणा मे इसी ऊर्ध्वगामिनी कुण्डलिनी की ज्योतिर्मयी धारणापूर्वक मूलाधार से, एक-एक करके, षट्चक्र भेदन-क्रम से सहस्रार मे पहुँचना होता है। इन चक्रो के साथ क्रमशः भूः, भुवः, स्वः आदि उत्तरोत्तर उच्च लोको का सम्बन्ध है। इन लोको मे ही जीव की आध्यात्मिक अवस्थानुसार गति होती है। आध्यात्मिक उत्कर्ष से क्रमशः शरीराभिमान का परित्याग होता है। अभिमान-त्याग के साथ-साथ उत्तरोत्तर उच्चतर लोको की प्राप्ति होती है। निरभिमानता की प्रत्येक अवस्थानुसार ही उच्च से उच्चतर लोको का सम्बन्ध है। मूलाधार आदि चक्र-भेदन के साथ-साथ पार्थिव, आप्य, तैजस आदि अभिमान के त्याग के साथ-साथ शरीरेन्द्रियादि के अभिमान का भी परित्याग करके, मनः स्थान आज्ञाचक्र मे प्रवेश होता है, फिर सहस्रार मे पहुँच होती है।<sup>२</sup> सहस्रार

१. पात० यो० द० ( आरण्य )—पृ० २१०

२. “मही मूलाधारे कमपि मणिपूरे हुतवह”

स्थित स्वाधिष्ठाने हृदिमरुतमाकाशमुपरि।

मनोऽपिभूमध्ये सकलमपि भित्वा कुलपथ

मे सत्यलोक या ब्रह्मलोक है, ऐसा शास्त्रो का कथन है। यहाँ पहुँच कर ज्ञान का प्रसाद प्राप्त होता है। परवैराग्य द्वारा पुरुष तत्त्व की उपलब्धि होती है तथा लोकातीत परमपद की प्राप्ति होती है।<sup>१</sup>

यह स्मर्तव्य है कि धारणामात्र से सम्यक्ज्ञान एवं परमपद की प्राप्ति नहीं हो सकती है। अतएव प्रथम पूर्वोक्त विधि से धारणा में स्थिति प्राप्त हो जाने पर उक्त विधि से ध्यान करना चाहिये। ध्यान परिपक्व हो जाने पर समाधिनिष्ठ होकर समय प्राप्त करने पर ही लक्ष्यसिद्धि सम्भाव्य है। धारणा की प्रकर्षावस्था ही ध्यान तथा ध्यान की अत्यन्त उत्कृष्टावस्था ही समाधि है। अतः धारणा के उक्त विवरण से ही समय के शेष दो अंगो-ध्यान एवं समाधि की व्याख्या अवगन्तव्य है।

ये तीनों धारणा, ध्यान एवं समाधि योग के पूर्वोक्त पाँच अंग यम-नियमादि की अपेक्षा अन्तरङ्ग साधन है।<sup>१</sup> प्रत्याहार के प्रकरण में भी बतलाया जा चुका है कि योगाङ्गो मे प्रत्याहार पर्यन्त पाँचो अंग विशेषकर शरीर एवं इन्द्रिय-निग्रह रूप ही है। अतः उन्हे योग का बहिरंग साधन कहा गया है। चित्त वृत्तियो का निरोध योग है। धारणा, ध्यान एवं समाधि का चित्तवृत्तिनिरोध से साक्षात् सम्बन्ध है। यद्यपि पूर्व-कथित पाँचो योगाङ्गो मे भी किसी न किसी सीमा तक वृत्तियाँ निरुद्ध होकर चित्त निग्रह होता ही है, तथापि अन्तिम तीन चित्त निरोधस्वरूप ही है। अतः उन्हे अन्तरंग साधन कहा गया है। समान विषययुक्त साधन ही अन्तरंग कहलाते हैं। सम्प्रज्ञात योग तथा धारणादि साधन-त्रय समान चित्तावस्था में उत्पन्न होते हैं। अतः उन्हे उसका अन्तरङ्ग साधन कहा गया है। धारणा, ध्यान एवं समाधि समान विषयक है, यह पहिले ही स्पष्ट हो चुका है। चित्त की एकाग्रतावस्था में सम्प्रज्ञात योग का आविर्भाव होता है। समाधि में तत्त्व समूहो का प्रस्फुट परिज्ञान होता है। एकाग्रस्वभाव चित्त द्वारा उक्त ज्ञान के रक्षित रहने से ही उसे सम्प्रज्ञान कहा

१. द्र० ( प्राणतत्त्व १३ )

२. “त्रयमन्तरंगं पूर्वैर्मय” ( यो० सू०, ३-७ )

(गत पृष्ठ का शेषांश)

— सहस्रारे पद्मे सह रहसि पत्या विहरसे ॥” ( सौन्दर्यलहरी—६ )

इस श्लोक में “कुलपथ” शब्द उपर्युक्त मुषून्नामार्ग का द्योतक है। इसका विशेष विवरण लक्ष्मीधर की टीका में द्रष्टव्य है।

जाता है। अतः धारणादि साधन त्रय इस सम्प्रज्ञात समाधि के ही अन्तरङ्ग साधन है।

×

×

×

सम्प्रज्ञात समाधि-सम्पन्न योगी सर्वज्ञ एव सर्वशक्तिमान हो सकता है, किन्तु उसे मुक्ति प्राप्त नहीं हो सकती है। क्योंकि इतर वृत्तियाँ निरुद्ध हो जाने पर भी चित्त सर्वथा परिणामशून्य नहीं हो पाता है। अतः शरीर धारण का बीज बना ही रहता है। इस देहबीज के मर्जित होने पर ही पुनर्जन्म से निवृत्ति होती है। निर्बीज समाधि में विवेकख्याति से भी वैराग्य होने पर बीज की दग्धावस्था आती है और फिर यह अप्ररोह-समर्थ बनता है। अतएव धारणादि तीनों साधन सम्प्रज्ञात समाधि के अन्तरंग साधन होने पर भी असम्प्रज्ञात समाधि के लिये बहिरंग ही है, जैसा कि सूत्रकार की इस उक्ति से भी सुस्पष्ट है—“तदपि बहिरंग निर्बीजस्य।”<sup>१</sup>

जिस प्रकार यम-नियमादि प्रथम पाँच योगाङ्ग परम्परया सम्प्रज्ञात योगोपयोगी होने पर भी असमान चित्तवृत्ति विषयक होने से उसके बहिरंग साधन है, उसी भाँति अन्तिम तीनों साधन परम्पराक्रम से असम्प्रज्ञात समाधि के उपकारक होने पर भी समान चित्त-वृत्ति राहित्यवश उसके बहिरङ्ग ही मान्य है। धारणादि साधन-त्रय सविषयक अर्थात् किसी न किसी साध्य विषय सहित ही साध्य है। असम्प्रज्ञात समाधि में इस त्रिपुटी (धारणा, ध्यान और समाधि) का अभाव होने से वह निर्विषयक है। अतः उसका इन तीनों से विषय साम्य नहीं है।

जिसके बिना साध्य सिद्ध न हो वह उसका साक्षात् साधन कहलाता है। इस त्रिपुटी जन्य सम्प्रज्ञात समाधि से भी वैराग्य होने पर निर्बीज समाधि का आविर्भाव इनकी अभावावस्था में होता है। जिसके अभाव में ही उस अवस्था का उदय हो उसे उसका अन्तरंग कैसे माना जाय ? उसका अन्तरंग तो पर-वैराग्य है। धारणादि त्रिपुटी को असम्प्रज्ञात का साधन मानने पर तो वह घट के प्रति रासभ के समान पञ्चम अन्यथा सिद्धवत् सिद्ध होगा।

वस्तुतः सयमलाभ से समाधि की उच्चतम अवस्था की उपलब्धि नहीं होती, वरन् योगी एक निम्नतर भूमि में अवस्थित रहता है। इस अवस्था में समस्त दृश्यमान ससार वर्तमान रहता है और सयम जन्य समस्त सिद्धि इसी जगत् के अन्तर्गत है।

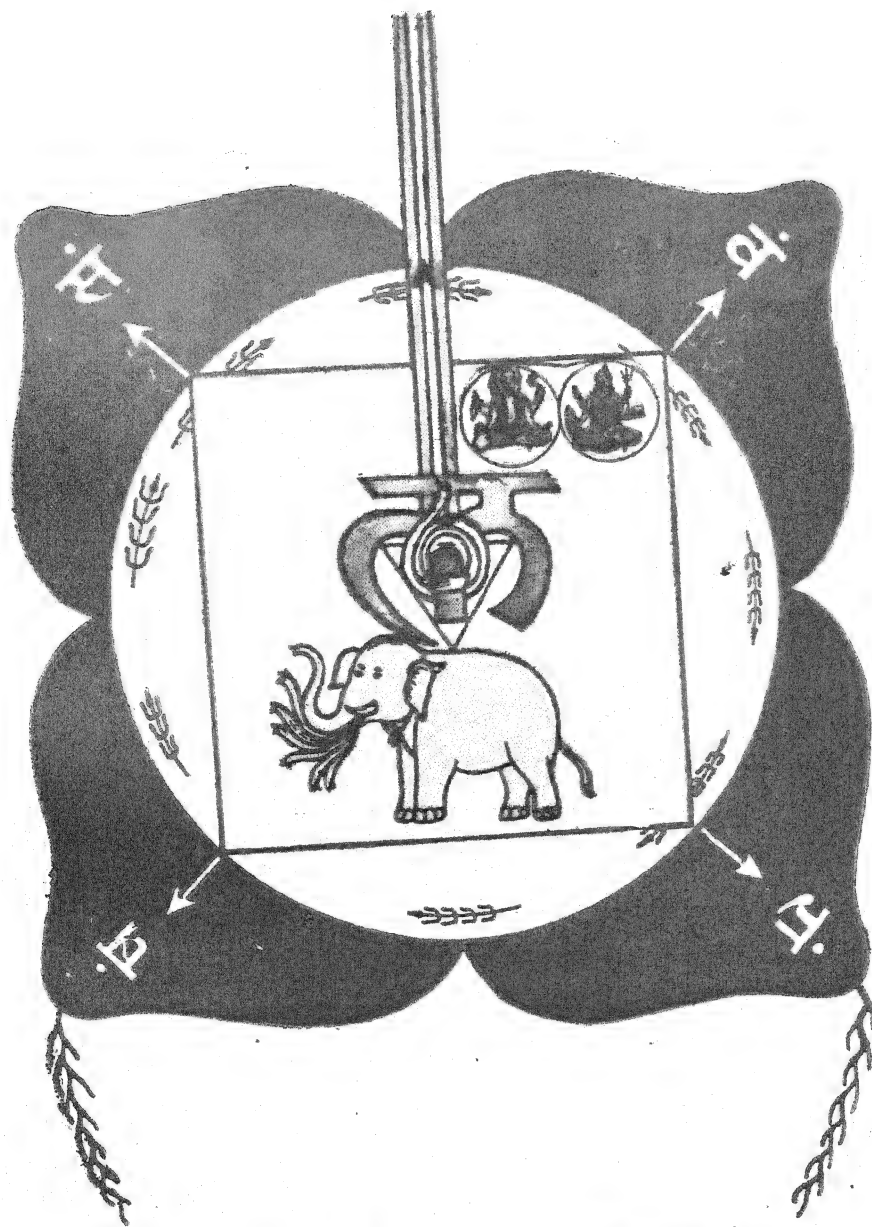
१. “तदपि बहिरंग निर्बीजस्य” (यो० सू० ३-८)

“Sabija Samadhi is concerned with knowledge and power exercised within the realm of Prakṛti on this side of the gate which leads to Kaivalya. Nirbija Samadhi, on the other hand, aims at transcending the realm of Prakṛti and living in the state of Enlightenment implied in Kaivalya”.

(The Science of Yoga, page 292)

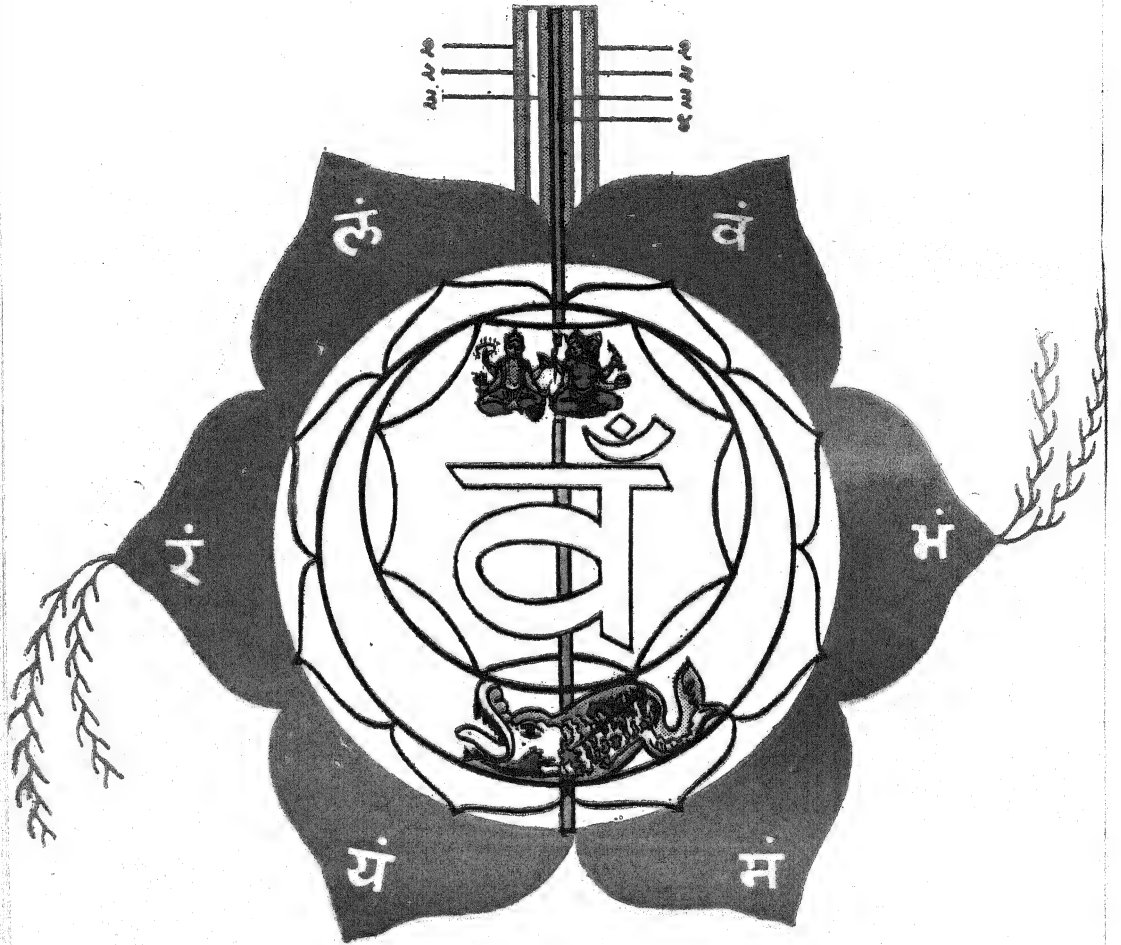
संयम द्वारा समस्त शक्तियों अधिकृत हो जाती है। संयम ही ज्ञानलाभ का मुख्य यन्त्रस्वरूप है। स्थूल, स्थूलतर, स्थूलतम और सूक्ष्म, सूक्ष्मतर एवं सूक्ष्मतम आदि विविध प्रकार के भेदोपभेद से ज्ञान एवं संयम के अनन्त विषय है। प्रथम स्थूल वस्तुओं से संयम प्रारम्भ करके क्रमशः सूक्ष्मतम वस्तु में संयम किया जाता है। संयम के विविध विषयों का वर्णन आगे “विविध संयमो का ज्ञान” शीर्षक में किया जायगा।

—



मूलाधार चक्र





स्वाधिष्ठानचक्र

## (२) प्रज्ञालोक का उदय ।

संयम-जय से प्रज्ञा के आलोक का उदय होता है।<sup>१</sup> प्रज्ञा से तात्पर्य समाधि-जन्य प्रज्ञा से है। संयम-जय का अर्थ है, अभ्यास की दृढतावश संयम की परिपक्वावस्था को प्राप्त करना। संयम की दृढता से साधक को जिस समाधि-जन्य बुद्धि की उपलब्धि होती है, उसे प्रज्ञा कहते हैं। इसके उत्कर्ष से ध्याता को ध्येय तत्त्व का यथार्थ साक्षात्कार होता है। श्री वाचस्पति कहते हैं—“वस्तुस्वरूप-साक्षात्कारिणी प्रज्ञा”। अतः तत्त्व साक्षात्कार की स्फुटतर प्रतीति ही प्रज्ञा का प्रकाश और उत्कर्ष है। संयम जितना अधिक स्थिर होता है, क्रमशः उसके साथ ही साथ, उक्त समाधिप्रज्ञा भी उत्तरोत्तर निर्मल होती जाती है। संयम की प्रारम्भिक अवस्था में योगी को वस्तु का अस्फुट ज्ञान होता है। अभ्यासवश इस अस्फुट ज्ञान की स्फुटतर प्रतीति होने लगती है। साथ ही प्रारम्भावस्था में योगी का चित्त स्थूल तत्त्वों का साक्षात्कार करने में ही समर्थ होता है। संयम-स्थैर्य के क्रमानुसार वह उत्तरोत्तर सूक्ष्मतर एवं व्यवहित पदार्थों की प्रत्यक्षानुभूति में समर्थ बनता है। यही समाधि-प्रज्ञा की निर्मलता या वैशारद्य है। चित्त जितना अधिक सूक्ष्म तत्त्वों में सयत किया जाता है, समाधिप्रज्ञा उतनी ही अधिक विशद होती जाती है। जैसे-जैसे संयम का अभ्यास दृढ होता है, ध्येय तत्त्व का उतना ही प्रकृष्ट-रूप से यथार्थ साक्षात्कार होता है। बुद्धि में विजातीय प्रत्यय से रहित ध्येय की निरन्तर शुद्ध, सात्विक, स्फूर्ति ही प्रज्ञालोक है। इस प्रज्ञालोक का स्फुरण स्थूल पदार्थों से प्रारम्भ कर विवेकख्याति पर्यन्त होता है।

स्थूल-सूक्ष्म के भेद से सम्प्रज्ञात समाधि की चार अवस्थाओं, सवितर्का, निर्वितर्का, सविचारा, निर्विचारा का वर्णन सूत्रकार ने समाधि पाद में किया है।<sup>२</sup> आनन्दानुगत एवं अस्मितानुगत समाधियों का भी सविचारा-निर्विचारा समापत्तियों में ही अन्तर्भाव होता है। प्रज्ञालोक का तात्पर्य है—सम्प्रज्ञात समाधि में प्राप्त होने वाली प्रज्ञा का प्रकाश। सूत्रकार ने इसका विभिन्न समापत्तियों के रूप में वर्णन

१. “तज्जयात्प्रज्ञालोक” (यो० सू० ३/५)

२. “वितर्कविचारानन्दाऽस्मिताऽनुगमात्सम्प्रज्ञात” (यो० सू० १/१७)

किया है। प्रज्ञा तथा समापत्ति में अविनाभाव सम्बन्ध है। निम्नोच्च क्रम से तद-तत् समाधि प्रज्ञा विशेष की सवितर्का, निर्वितर्का आदि सज्ञा होती है। इनका विशेष विवरण प्रथम अध्याय के पचम शीर्षक “सम्प्रज्ञात एव असम्प्रज्ञात समाधि” में दिया गया है। किस प्रकार उत्तरोत्तर सूक्ष्म तत्त्व विषयक प्रज्ञा का आलोक उदित होता है, यह वही पर द्रष्टव्य है।

उक्त वितर्कादि समाधि की अवस्थाओं को योग की भूमियाँ भी कहा जाता है। “तस्य भूमिषु विनियोगः” तस्य अर्थात् उस समय का भूमियो से सम्बन्ध है। इस सूत्र में जिन भूमियों की ओर सकेत किया गया है, वह समय के विषय के विविध स्तरों को लक्ष्य करता है। प्रथम निम्नभूमियाँ जीत कर अर्थात् पहले स्थूल तत्त्वों का साक्षात्कार करके, अनन्तर उसके बाद की भूमि में क्रमशः सूक्ष्मतर तत्त्वों में संयम करना चाहिये। स्मृति भी है—“स्थूले विनिर्जित ततः सूक्ष्मे शनैर्नयेत”।<sup>१</sup> पृथिव्यादि प्रत्येक तत्त्व की, स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय और अर्थवत्त्व, ये पाँच-पाँच अवस्थाएँ हैं।<sup>२</sup> ये भी योग की भूमियाँ कहलाती हैं, अतः पहले स्थूल, फिर स्वरूप—इस क्रम से स्थूल से सूक्ष्मभूमि में समय अवगन्तव्य है।<sup>३</sup> तात्पर्य यह है कि जिस भूमि के पश्चात्, जो अव्यवहित अग्रिम अजित भूमि है, उसी में संयम करते हुए क्रमानुसार तत्त्वसाक्षात्कार करना चाहिये। तभी प्रज्ञा का आलोक स्फुटरूपेण प्रतिभासित होगा। अतः मध्य की किसी बिना जीती हुई भूमि का उल्लंघन नहीं करना चाहिये। पूर्व भूमि को बिना जीते हुए, अग्रिम भूमियों में समय प्राप्त नहीं हो सकता है, क्योंकि जिसने स्थूल तत्त्व को ही नहीं समझा है, वह सूक्ष्म तत्त्व क्या समझेगा अतएव पूर्व भूमिका पर विजय प्राप्ति के उपरान्त ही अग्रिम भूमि में समय प्राप्त होगा, अन्यथा नहीं। फिर जब अग्रिम भूमि में समय ही नहीं प्राप्त होगा, तो उसके फलस्वरूप प्रज्ञालोक के प्रस्फुटन का तो प्रश्न ही नहीं उठता है। अतः सोपान क्रम से प्रथम ग्राह्य, फिर ग्रहण, तत्पश्चात् ग्रहीतृ विषय में संयम का विनियोग करना चाहिये। अन्तिम ग्रहीतृ विषयक समापत्ति की विशदावस्था में अध्यात्म-प्रसाद होता है। जैसा कि समाधि पाद के “निर्विचारवैशारद्ये, अध्यात्म प्रसादः”

१. यो० सा० स०, पृ० ७८ ।

२. यो० सू० ३/४४ ।

३. “पृथिव्यादीनां स्थूलस्वरूपसूक्ष्मान्वयार्थवत्त्वभूमिषु क्रमेण जेतव्यासु, स्थूलयां भूमौ समयं कृत्वा, तज्जयानन्तरं स्वरूप एवानन्तरे संयमो विनियोजनीयः” ।

( भाष्यविवरण, ३/६, पृ० २३६ )

इस सूत्र में वर्णित है।<sup>१</sup> योगी विवेकख्याति रूपी उत्कृष्टप्रज्ञा को स्फुट-आलोक से आपूर्ण हो जाता है। इसी को ऋतम्भरा प्रज्ञा भी कहा गया है।<sup>२</sup> यही वास्तविक प्रज्ञा का आलोक है।

तत्त्व-विषयिणी प्रज्ञा के विषय में समाधि पाद में विवरण दिया गया है। विभूतिपाद में मुख्यरूप से संयम के अन्यान्य विषय वर्णित है। इस पाद में “परचित्तज्ञान”, “भुवनज्ञानादि” संयम के अनेक विषयों में जिस रीति से अव्याहत शक्ति एवं ज्ञान का विकास होता है, मुख्यतः वही उक्त हुआ है। फिर भी प्रज्ञालोक से, प्रधानतः सम्प्रज्ञात समाधि की वितर्क, विचारादि समापत्तियों से प्राप्त तात्त्विक प्रज्ञालोक का अर्थ ग्रहण करना चाहिये, क्योंकि योगी का लक्ष्य कैवल्य-प्राप्ति है और तत्त्वविषयक प्रज्ञा उसकी सोपानस्वरूपा है। “भुवनज्ञानादि” के संयम में अन्यान्य विषय तो मुमुक्षु के लिये अन्तराय रूप ही हैं। अतः उनके चक्कर में नहीं फँसना चाहिये।

वस्तुतः संयम का विधान चित्त के वशीकरण एवं आत्मोन्नति के हेतु है, न कि इधर उधर के प्रलोभन-पूर्ण सांसारिक पदार्थों के प्रत्यक्ष हेतु। संयम-द्वारा सम्प्रज्ञात समाधि की समस्त भूमियों को जीत कर विवेकख्याति के पश्चात् असम्प्रज्ञात समाधि द्वारा कैवल्य प्राप्त करना ही योगी का लक्ष्य है, विभूतियों की प्राप्ति नहीं। विभूतियों के प्रलोभन से तो साधक के पथभ्रष्ट होने की ही आशंका हो सकती है। विभूतियों के साक्षात्कारोपरांत साधक पथभ्रष्ट न भी हो, तो भी उतना समय तो व्यर्थ नष्ट होता ही है। जितने समय में अनेक विभूतियों के प्रत्यक्ष में संयम का प्रयोग किया जाता है, उतने काल में अग्रिम भूमिका जीत कर, कैवल्य प्राप्ति में शीघ्रता हो ही सकती है। अतः उक्त विभूतियों में चिरकाल तक संयम का प्रयोग कर समय व्यर्थ नष्ट नहीं करना चाहिये।

वितर्क विचारादि अथवा स्थूल, स्वरूपादि के क्रमपूर्वक ही योग की भूमियों में संयम का विनियोग करना चाहिये, क्योंकि निम्न भूमियों को जीते बिना अन्तिम या प्रान्तभूमियों<sup>३</sup> में संयम प्राप्त नहीं होता है। इस बात का अभी प्रतिपादन किया गया है, किन्तु ईश्वर की कृपा से जिस साधक को प्रान्तभूमियों में संयमलाभ

१. द्रष्टव्य—“सम्प्रज्ञात एव असम्प्रज्ञात समाधि” (ग्रहीतृ समापत्ति)

२. “ऋतम्भरा तत्र प्रज्ञा” समाधिपाद सू० ४८

३. प्रान्तभूमियाँ—द्र० “प्रज्ञा तथा ज्ञानदीप्ति” सीर्षक।

की योग्यता प्राप्त हो गई हो उसके लिये निम्नभूमियों में समाहित होने की अपेक्षा नहीं होती है।

समाधिपाद में ईश्वरप्रणिधान के प्रकरण में यह बतलाया जा चुका है कि ईश्वरप्रणिधान से ईश्वर की प्रसन्नता या कृपा प्राप्त होती है। ईश्वर प्रसाद से समाधि लाभ तथा समाधि फल शीघ्रतर आसन्न होता है। भगवान की प्रतिज्ञा है कि अपने शरणागत अनन्य भक्तों के योग क्षेम का निर्वाह वे स्वयं करते हैं, जैसा कि गीता के नवम् अध्याय में कहा गया है—

“अनन्याश्चिन्तयन्तो मां मे जनाः पयुपासते।

तेषां नित्याभियुक्तानां योगक्षेमं वहाम्यहम्॥”

इस श्लोक का तात्पर्य यह नहीं है कि ईश्वर अनन्य भक्तों का योगक्षेम स्वयं करते हैं, अन्यो का नहीं, अपितु भगवान के अनन्य चिन्तक में ध्यान प्रकर्षवश स्वयं इतना सामर्थ्य हो जाता है कि निष्पक्ष एवं सर्वज्ञ साक्षी ईश्वर को, उस (अनन्य भक्त) के कर्मविपाक के रूप में, योग-क्षेम का निर्वाह करना हो पड़ता है। अतः तीव्र ईश्वर-प्रणिधान से साधक को निम्न भूमियाँ जीते बिना भी ईश्वरप्रसादवश सूक्ष्मतत्त्वों का ज्ञान हो सकता है। इसी दृष्टिकोण से वर्तमान सूत्र के भाष्य में, भाष्यकार ने कहा है कि—“ईश्वर प्रसादाज्जितोत्तरभूमिकस्य च नाधरभूमिषु परचित्तज्ञानादिषु संयमो युक्तः।” क्योंकि निम्न भूमियों पर विजय प्राप्ति से अग्रिम भूमि में संयमलाभ ही अभिप्रेत है। जब प्रथम एवं मध्यम भूमियों में संयम किये बिना ही उसके लक्ष्यभूत चरम भूमि में चित्तस्थिति प्राप्त है, तो पूर्व भूमियों में संयमानुष्ठान भी निरर्थक है। अतएव ईश्वर की कृपा से जिस साधक की प्रान्तभूमि में संयम की योग्यता स्वतः प्राप्त हो गई हो, उसे अवर भूमियों में संयम का प्रयोग युक्त नहीं है।

जिस साधक को अग्रिम भूमि में अनायास संयम लाभ हुआ हो, उसके विषय में शंका हो सकती है कि उसके पास इस बात का क्या प्रमाण है कि वह अन्तिम भूमि ही है, अर्थात् साधक को यह ज्ञान कैसे होगा कि ईश्वरप्रणिधान से उसमें योग की जिस भूमि का आविर्भाव हुआ है, वह प्रथम है या द्वितीय है या तृतीय है अथवा चतुर्थ है? इसके उत्तर में भाष्यकार की उक्ति है—कि अमुक पूर्व-भूमि के अनन्तर अमुक उत्तर भूमि होती है, इस विषय के ज्ञान में स्वयं योगाभ्यास ही उपाध्याय है, अर्थात् योगबल से स्वतः उत्तर-भूमि परिज्ञात हो जाती है। इस विषय में यह शास्त्रोक्ति प्रमाण है—

“योगेन योगो ज्ञातव्यो योगो योगात्प्रवर्तते ।

योऽप्रमत्तस्तु योगेन स योगे रमते चिरम् ॥” (व्या० भा०)

अर्थात् योग, योग से या योगाभ्यास द्वारा ही जाना जाने योग्य है। योगाभ्यासी को ही योग का यथार्थ ज्ञान होता है, क्योंकि योग, योग के द्वारा ही सिद्ध या प्रवर्तित होता है। जो (साधक) प्रमादरहित होकर या सावधानी पूर्वक योग साधना करता है, वह दीर्घकाल तक योग में रमण करता है, अर्थात् अप्रमत्त योगी ही दीर्घ काल-पर्यन्त समाधि-सुख का अनुभव करता है।

शास्त्र द्वारा किसके बाद, किस प्रकार, किस भूमि में सयमादि क्रिया नियोज्य है, यह सामान्य ज्ञान साधक को योग साधना से पूर्व ही प्राप्त होता है। योग-साधना के समय, योग के इस विशेष ज्ञान के विषय में स्वयं योग ही प्रमाण है, यह सिद्ध हुआ।

उपर्युक्त समस्त भूमियों के विजयोपरान्त योगी में विवेकख्याति रूप प्रज्ञा के आलोक का उदय होता है।

---

### (३) चित्त का समाधि-परिणाम, एकाग्रता-परिणाम तथा निरोध-परिणाम ।

सर्वार्थता, अर्थात् व्युत्थानावस्था का क्षय तथा एकाग्रता का उदय होना चित्त का समाधि-परिणाम कहलाता है ।<sup>१</sup> सर्वार्थता—अर्थात् सब प्रकार के विषयों का चिन्तन करने वाली वृत्ति । एकाग्रता—एक ही ध्येय विषय का चिन्तन करने वाली वृत्ति । इन दोनों का क्रमशः तिरोभाव एवं आविर्भाव समाधि-परिणाम कहा जाता है ।

“ता” ( तल्+आप् ) प्रत्यय स्वभाव ( असाधारण धर्म ) का द्योतक है । चित्त स्वाभावतः चञ्चल है । अतः शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध के ग्रहण में सलग्न रहता है । किसी विषय के एकाग्र चिन्तन का प्रयास करने पर चित्त बारम्बार शब्द स्पर्शादि विविध विषयों की ओर प्रवृत्त होता है । चित्त की सर्वग्राही वृत्त एकबार ही नष्ट नहीं हो जाती । इसके लिये अध्यवसायपूर्वक दीर्घकाल तक साधना करनी पड़ती है । काल-क्रमानुसार शनैः-शनैः व्युत्थान-कालिक वृत्तियों का तिरोभाव होता जाता है । समाधि के अभ्यास से व्युत्थान-वृत्तियों के लोप के साथ ही साथ एकाग्रता का अधिकाधिक आविर्भाव होता है । सर्वार्थता एवं एकाग्रता दोनों चित्त के ही धर्म हैं । अतः चित्त, व्युत्थानकाल तथा एकाग्रताकाल, दोनों में अनुगत रहता है । चित्त में बारम्बार व्युत्थान-संस्कार आविर्भूत होते हैं और साधक बलात् चित्त को बारम्बार एकाग्र करता है । इस प्रकार अभ्यास के परिपाकानुसार विक्षेपकारी व्युत्थान-संस्कार मन्द पड़ते जाते हैं और एकाग्रता की वृत्ति प्रबलतर होती जाती है । समाधि के अभ्यास से चित्त अपने व्युत्थान धर्म का परित्याग करता हुआ एकाग्रतारूप धर्म में परिणत होता है । व्युत्थान के नाश से उसका अत्यन्त नाश नहीं समझना चाहिये, क्योंकि सत् वस्तु का अत्यन्त अभाव नहीं होता है । एकाग्रता के अभ्यास से व्युत्थान धर्म केवल तिरोहित होता है अर्थात् अतीतावस्थापन्न हो जाता है । उसका अत्यन्त-भाव नहीं होता है । इसी प्रकार एकाग्रता के उदय से भी, किसी असत् वस्तु की उत्पत्ति नहीं समझनी चाहिये, क्योंकि असत् का अस्तित्व ही अशक्य है । इसीलिये पहले बतलाया जा चुका है कि सर्वार्थता एवं एकाग्रता दोनों एक ही धर्म चित्त के

---

१. “सर्वार्थैकाग्रतयो क्षयोदयौ चित्तस्य समाधि-परिणाम ।” (यो० सू० ३/११)

दो धर्म हैं। व्युत्थानावस्था में चित्त में एकाग्रता रूप धर्म अप्रकट रूप में अनुगत रहता है। व्युत्थानदशा के तिरोहित होने पर एकाग्रता धर्म प्रकट हो जाता है। अतः एकाग्रता के आविर्भाव से किसी सर्वथा नवीन वस्तु की उत्पत्ति नहीं हो जाती है। केवल अनागतावस्था में छिपा हुआ चित्त का एकाग्रता धर्म वर्तमानावस्थापन्न होता है। इस प्रकार उक्त दोनों धर्मों में अनुगत होता हुआ चित्त समाहित होता है। सर्वार्थता के तिरोभाव पूर्वक एकाग्रतारूप धर्म का विवर्धनशील परिणाम ही चित्त का समाधि-परिणाम है। एकाग्रता का संस्कार तथा तन्मूलक एकाग्रप्रत्यय का सकलन ही चित्त का समाधि-परिणाम है।

उपयुक्त समाधि-परिणाम सम्प्रज्ञात समाधि की अपरिपक्वावस्था का द्योतक है। समाधि की दृढ़ अवस्था में चित्त एकाग्रता रूप से परिणत होता है। किसी एक वस्तु के निरन्तर चिन्तन के प्रारम्भिक अभ्यास में प्रथम उसमें प्रत्ययान्तरोत्पत्ति से विक्षेप आते रहते हैं, जैसा कि प्रथम समाधि-परिणाम में बतलाया जा चुका है। चित्त के समाधि-परिणाम की दृढ़ता से क्रमशः विक्षेप कम होकर अन्ततः नष्ट हो जाते हैं, अर्थात् विघ्न उपस्थित नहीं होते हैं। इन विक्षेपों के कारण ही चित्त में ध्येय विषय से इतर वृत्तियों का उदय होता है। इससे प्रत्ययप्रवाह विसृष्ट हो जाता है। विक्षेपों का पूर्णतः अभाव हो जाने से प्रत्ययप्रवाह का असादृश्य दूर हो जाता है। इस प्रकार जब चित्त शान्त एवं उदित दोनों अवस्थाओं में तुल्य-प्रत्यय युक्त बनता है, तब उसे चित्त का एकाग्रता-परिणाम कहते हैं।<sup>१</sup> सूत्रस्थ शान्त शब्द का अर्थ है अतीत। उदित अर्थात् वर्तमान प्रत्यय। अतः जब शान्त प्रत्यय अर्थात् अतीत वृत्ति एवं उदित अर्थात् वर्तमान प्रत्यय दोनों एक समान उत्पन्न हो, मन उन्हें एक साथ ग्रहण कर सके, तब उसे चित्त का एकाग्रता-परिणाम कहते हैं। इस समय चित्त अतीत प्रत्यय एवं वर्तमान प्रत्यय दोनों को ही एक साथ ग्रहण कर सकता है। चित्त की एकाग्रता-वस्था में काल का भान नहीं रहता है। सारा समय वर्तमान में एकीभूत सा प्रतीत होता है। चित्त का यह परिणाम समाधि समाप्ति पर्यन्त एकरस रूप में प्रवाहित रहता है। समाधि से उत्थान होने पर पुनः विक्षेपप्रत्यय भी उदित हो जाते हैं।

समाधि-परिणाम एवं एकाग्रता-परिणाम के विवेक का स्पष्टीकरण इस प्रकार किया जा सकता है। सम्प्रज्ञात समाधि की प्रारम्भिक अवस्था में प्रथम क्षण में व्युत्थानप्रत्यय उत्पन्न होकर शान्त होता है। तदुपरान्त द्वितीय क्षण में एकाग्रता-प्रत्यय उदित होता है। इसमें शान्त होने वाला प्रत्यय विक्षेपरूप है और आविर्भूत होने वाला प्रत्यय उस विक्षेप का निरोधस्वरूप है। एतावता विक्षेप की उपशान्ति

१. “तत पुन शान्तोदितौ तुल्यप्रत्ययौ चित्तस्येकाग्रतापरिणामः।” (यो० सू० ३-१३)



एवं निरोधोपजननरूप चित्त का परिणाम समाधि-परिणाम नाम से अभिहित होता है। अभ्यास की दृढ़ता से सम्प्रज्ञातसमाधि की ही परिपक्वतावस्था में दिक्षेपकारी प्रत्यय का अत्यन्ताभाव हो जाता है। अतः प्रतिक्षण निरोधप्रत्यय का अविरल प्रवाह प्रवाहित रहता है। अर्थात् प्रत्येक विनष्ट एवं उत्पद्यमान प्रत्यय निरोधस्वरूप ही होता है और उनके विनाश एवं आविर्भाव का बोध नहीं होता। एकाग्रता-परिणाम को चलचित्र ( सिनेमा ) के दृष्टान्त से भलीभाँति समझा जा सकता है।

हमारे चित्त पर किसी वस्तु का चित्र १/१०<sup>१</sup> सेकेन्ड तक प्रतिबिम्बित रहता है। सिनेमा में हमारे नेत्रों के समक्ष प्रत्येक चित्र क्रमशः १/१० से० से पूर्व ही पर्दे पर आ जाता है। इससे चित्र के हटजाने का भान नहीं होता है, वरन् उसमें निरन्तरता की प्रतीति होती है। पर वस्तुस्थिति ऐसी नहीं होती। चित्त में हमें जितनी देर में एक ही अखण्ड दृश्य की अनुभूति होती है, उतनी देर में पर्दे पर सैकड़ों चित्र उपस्थित एवं तिरोहित हो जाते हैं। मस्तिष्क से एक चित्र हटने से पूर्व ही दूसरा चित्र उपस्थापित हो जाने से उनकी निरन्तर उपस्थिति का भ्रम होता है। उनकी पृथक्-पृथक् उपस्थिति का भान नहीं होता है। यदि सिनेमा रील का हर एक चित्र बिल्कुल एक ही प्रकार का खिचा हो तो पूरी सिनेमा-रील दिखलाई जाने पर भी हमें ऐसा प्रतीत होगा कि हम एक ही रूके हुए चित्र को निरन्तर देख रहे हैं। लेकिन वास्तव में यह भ्रम ही है। यदि फिल्म के चित्रों के आने-जाने की गति १/१० से० से अधिक कर दी जाय तो हमें यह ज्ञान हो सकेगा कि एक ही प्रकार के बने अनेक चित्रों की माला हमारे सामने से, क्रमशः नियमित क्षणों के अन्तर से, निकलती जा रही है। इसी प्रकार एकाग्रता-परिणाम में चित्त में एक ही प्रकार के अनेक प्रत्ययों की पक्षि द्रुतगति से प्रकटित एवं तिरोहित होती है। उनके आवा-गमन की गति इतनी तीव्र होती है कि हमें उसका विवेक नहीं होता है। अतः निरन्तर एक प्रत्यय की स्थिर प्रतीति होती है। सम्पूर्ण विश्व प्रत्येक क्षण क्रमशः प्रकट एवं अन्तर्हित होता है, किन्तु क्षण का अन्तर इतना सूक्ष्म होता है कि उसका अनुभव न हो पाने से दृश्य में निरन्तरता की प्रतीति होती है। इस बात को हम बल्ब के उदाहरण से भी भलीभाँति समझ सकते हैं। बिजली के बल्ब में हमें सर्वदा चमक ही दिखलाई देती है। पर वास्तव में उसकी यह दीप्ति सतत वर्तमान नहीं रहती है, वरन् अत्यन्त सूक्ष्म अन्तर के साथ क्रमशः प्रकाश एवं अन्वकार का अनुवर्तन होता रहता है। पूर्व प्रत्यय एवं पर प्रत्यय के ऐसे लय-उद्भव का पूर्वोक्त क्रम, केवल

१. द्रष्टव्य—“साइन्स ऑफ योग” (आई० के० टैमिनी) पृ० २६६।

समाधि सवेदना में ही नहीं, अपितु निम्नतम स्तर से लेकर आत्मा तक, अनुभूति एवं विचार के प्रत्येक क्षेत्र में विद्यमान है। जहाँ प्रकटीकरण है, वहाँ अनैरन्तर्य भी अवश्यम्भावी है, जिसे सूत्रकार पतञ्जलि ने (३/१५, ४/३३ में) क्रम कह कर समझाया है।<sup>१</sup>

सार यह है कि चित्त में सदैव नवीन-नवीन प्रत्ययों के लय एवं उत्पत्ति का क्रम प्रवर्तित रहता है, भले ही उनका आकार पूर्णतः एक समान होने से उनकी उत्पत्ति एवं विनाश का आभास न हो। निरन्तर एक प्रत्यय विद्यमान नहीं रह सकता है। पूर्ववर्णित परिणामद्वय सम्प्रज्ञात समाधिकालिक ही है। असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में ये परिणाम नहीं होते हैं, क्योंकि उस अवस्था में चित्त में किसी भी प्रत्यय की उत्पत्ति नहीं होती है। उनका संस्कारमात्र ही अवशेष रहता है। असम्प्रज्ञात की अवस्था में चित्त का निरोध-परिणाम होता है। निरोध-परिणाम समस्त चित्त वृत्तियों के निरुद्ध हो जाने पर समाधि-अवस्था में सबसे बाद की अवस्था है। फिर भी सूत्रकार ने चित्त के समाधिकालीन परिणामत्रय में सर्वप्रथम निरोध-परिणाम का ही वर्णन किया है, क्योंकि “योगश्चित्तवृत्तिनिरोधः” इस लक्षणानुसार योगासाधना के प्रारम्भ से ही किसी न किसी सीमा तक वृत्त निरोध आरम्भ हो जाता है, किन्तु वास्तविक निरोध-परिणाम का समाधि की अन्तिम अवस्था में आविर्भाव होता है। साथ ही निरोध-परिणाम के परिपाक हेतु प्रथम समाधि-परिणाम और एकाग्रता परिणाम का अभ्यास अनिवार्य है। भले ही अभ्यास एवं वैराग्य की तीव्रतावश उन अवस्थाओं में अल्पकाल तक अवस्थिति आवश्यक हों। वास्तविक निरोध “सर्ववृत्तिनिरोधस्वरूप” है। उसकी प्राप्ति के हेतु पूर्व-वर्णित विधानानुसार समाधि-परिणाम और एकाग्रता-परिणाम की अवस्थाओं को पार करना अवश्यम्भावी है। चित्त अनन्त वृत्तियों का आगार है। उनका अभाव अकस्मात् ही नहीं हो सकता है। दीर्घकाल में शनैः शनैः उनका लोप होता है। अन्त में सम्प्रज्ञात की चरमावस्था में विवेकख्यातिरूपी एक ही वृत्ति अवशिष्ट रहती है। उस सात्विक वृत्ति का भी अभाव हो जाने पर सर्ववृत्ति-निरोध-स्वरूप असम्प्रज्ञात समाधि का आविर्भाव होता है।

अब प्रश्न उठता है कि यह निरुद्ध अवस्था आती कैसे है ? चित्त स्वभावतः चंचल है। उसमें एक के बाद एक वृत्ति का उदय होता ही रहता है। उसके स्वाभाविक वृत्ति-प्रवाह को प्रत्यावर्तित करने पर चित्त कुछ समय अवरुद्ध अवश्य

१. द्रष्टव्य—“साइन्स ऑफ योग”—पृ० २६६।

होगा। विषयो के द्वारा अनुपरञ्जित रहना ही यह अवरुद्धावस्था है। जिस प्रकार तेजी से जा रही कार में बैक-गेयर लगा देने पर, वह एकदम पीछे की ओर नहीं हटने लगती, अपितु कुछ समय रुकती है, फिर पीछे लौटती है। फिर भी उसके रुकने का भान हमें नहीं होता है। इसी प्रकार स्वभावतः व्युत्थान की ओर प्रवर्तित चित्त को उन विषयो से प्रत्याकर्षित करने पर यह एक क्षण रुकता है, फिर निरोधोन्मुख होता है। इस प्रकार व्युत्थानोन्मुखता की दशा में आने के पूर्व बीच में जिस क्षण में चित्त रुकता है, वही निरोध-क्षण है। अभ्यास की आरम्भिक अवस्था में हमें इस निरुद्ध-क्षण का किंचितमात्र भी आभास नहीं होता है, किन्तु उसके अस्तित्व की स्वीकृति अपरिहार्य है, क्योंकि अभ्यास की दृढता से निरुद्धावस्था में वृद्धि होती है और उसका अनुमान होता है। योगी का लक्ष्य इसी निरुद्धावस्था का विस्तार तथा इच्छानुसार उस स्थिति की प्राप्ति ही है। निरोधक्षण के अभ्यास द्वारा बारम्बार इस निरुद्धावस्था के विस्तार को सूत्रकार ने “निरुद्धक्षणचित्तान्वयः” कह कर व्यक्त किया है, अर्थात् चित्त को निरुद्धक्षणों से अन्वित करना।

उक्त त्रिविध परिणामों के भेद को स्पष्ट करते हुए “साइन्स आफ योग” के रचयिता आई० के० टैमनी ने इसी बातों को इन शब्दों में समझाया है —

“The impression which holds the field of consciousness is called Vyutthana Samskara and the impression which opposes or tries to replace the Vyutthana Samskara is called Nirodha Samskara in this Sutra. Between two successive impressions there must be a momentary state in which the mind has no impression at all or is present in an—unmodified condition. The object of Nirodha Parinama is to produce at will this momentary state and gradually extend it, so that the mind can exist for a considerable duration in this unmodified state”.

(The Science of Yoga, Page 294)

शका हो सकती है कि व्युत्थान का अभिभव तो समाधि-परिणाम तथा एकाग्रता-परिणाम की दशा में ही हो चुकता है, फिर एकाग्रता-परिणाम के बाद की अवस्था में व्युत्थान कहाँ से आया? इसका समाधान यह है निरोध-समाधि की अपेक्षा सम्प्रज्ञात समाधि के संस्कार भी व्युत्थान संस्कार ही मान्य है। दूसरा यह विशेष भी ध्यान में रखना चाहिये कि “निरोध” शब्द के तीन अर्थ हैं। एक तो “निरुध्यतेऽनेनेति निरोधः परवैराग्यः” (तत्त्व०), वाचस्पति की इस उक्ति अनुसार निरोध शब्द का अर्थ परवैराग्य है। दूसरे निरोध शब्द का अर्थ है, अवरोध या

रूकावट (=संचारहीनता) । तीसरे निरोध पद का अर्थ निरोध या परवैराग्य का संस्कार समझना चाहिये । योग में निरोध शब्द इन तीनों ही अर्थों में प्रयुक्त हुआ है ।

निरोध-परिणाम क्या है, यह “निरोध” पद के तीनों अर्थों को ध्यान में रख कर ही समझा जा सकता है । निर्वीज समाधि के प्रथम में भाष्यकार श्री व्यास ने यह शका उठाई है कि गुणवृत्त चंचल है और समस्त वृत्तियों का निरोध हो जाने पर भी, असम्प्रज्ञात समाधि की अवस्था में, चित्त तो विद्यमान रहता ही है । अतः उस निहृद्धावस्था में त्रिगुणात्मक चित्त का परिणाम किस प्रकार का होता है ? पुनः भाष्यकार ने अपनी शका के समाधान में सूत्रकार की इस उक्ति को प्रस्तुत किया है — “व्युत्थाननिरोध-संस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोध परिणामः”<sup>१</sup> अर्थात् व्युत्थान संस्कारों का तिरस्करण तथा निरोधसंस्कारों का आविर्भाव, इस प्रकार इन दोनों क्रियाओं से अन्वित निरोधकालीन चित्तपरिणाम को उसका निरोध परिणाम कहते हैं । निरोधकाल में प्रथम परवैराग्य द्वारा व्युत्थान-संस्कारों को अभिभूत किया जाता है । अतः सूत्रस्थ प्रथम “निरोध” पद का अर्थ है—परवैराग्य । व्युत्थान-संस्कार दबा देने पर एक क्षण चित्त सर्वथा संस्कारशून्य (अन-मोडीफाइड) होता है । अतः प्रकृत सूत्रस्थ द्वितीय “निरोध” शब्द—इसी अप्रत्यक्ष संस्कारशून्य अवस्थावस्था का द्योतक है । तत्पश्चात् इस निहृद्धावस्था के संरक्षण हेतु, नवीन-नवीन निरोध संस्कारों या परवैराग्य के संस्कारों की उत्पत्ति की जाती है, क्योंकि परवैराग्य से ही व्युत्थान-संस्कार अतिक्रान्त रह सकते हैं । इस प्रकार सूत्रगत तृतीय “निरोध” पद का अर्थ परवैराग्य का संस्कार सिद्ध होता है । एकाग्रभूमिक चित्त में जितनी वृत्तियाँ उत्पन्न होती हैं, उनके समस्त संस्कार वृत्तिनाश के पश्चात् भी चित्त में संचित रहते हैं । निरोध (परवैराग्य) भी चित्त का ही धर्म है । अतः निरोधकालीन निखिल संस्कार भी चित्त में उपचित रहते हैं । इस प्रकार उक्त दोनों धर्मों अर्थात् व्युत्थान (एकाग्रभूमिक) संस्कार तथा निरोधसंस्कार का आश्रयभूत धर्म एक ही चित्त होता है । निरोध के अभ्यास से व्युत्थान तथा निरोध द्विविध संस्कारों में संघर्ष चलता है । एकाग्रता का अभ्यास परिपक्व होने से उसके संस्कार बारम्बार निरोध संस्कारों के बीच में उत्पन्न होते हैं और योगी बारम्बार प्रबल निरोध संस्कारों द्वारा उन्हें आक्रान्त करता है । निरोधाभ्यास की दृढ़ता

१. “व्युत्थान निरोधसंस्कारयोरभिभवप्रादुर्भावौ निरोधक्षणचित्तान्वयो निरोधपरिणामः ।”  
(यो० सू० ३-६)

के क्रमानुसार व्युत्थान सस्कार ( एकाग्रभूमिक सस्कार ) भी उत्तरोत्तर अदृश्य होते जाते हैं। उपर्युक्त विधि से द्विविध सस्कारों में अन्वित चित्त का परिणाम निरोध परिणाम कहा जाता है। इस अवस्था में केवल सस्कार ही अवशिष्ट रहते हैं और उन्हीं का सघर्षपूर्वक आविर्भाव एवं तिरोभाव होता है तथा कोई भी वृत्ति उत्पन्न नहीं होती है। इसीलिये निरोधकालीन चित्त को सस्कारमात्र शेष' कहा गया है। चित्त का यह निरोध परिणाम लक्षित नहीं होता है, केवल निरोध की अभिवृद्धि से इसका अनुमान किया जाता है। क्योंकि जब निरोध संस्कार बढ़ना है, तो अवश्य ही वह व्युत्थान सस्कारों को अभिभूत करके बढ़ना है। अतः यह अपरिदृष्ट परिणाम है।

स्वामी श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्य ने, इस विषय में बड़ा ही सुन्दर दृष्टान्त दिया है। उनके अनुसार निरोध परिणाम प्रत्यय स्वरूप न होने के कारण स्फुटरूपेण ज्ञानगोचर न होने पर भी परिणाम है। ठीक वैसे ही जैसे कि एक स्प्रिंग ऊपर एक गुरु भार रखने से स्प्रिंग नहीं उठता, परन्तु उसका अभिभव और भाव का प्रादुर्भावरूप जो सघर्ष चलता है वह जाना जाता है। उपरिस्थित स्प्रिंग तथा भार के दृष्टान्त में यदि स्प्रिंग को तपा कर उसके स्थितिस्थापकता-सस्कार (इलोस्टिसिटी) को नष्ट कर दिया जाय, तो जैसे अभिभव-प्रादुर्भाव सघर्ष समाप्त हो जाता है, वैसे ही निरोध सस्कार नष्ट हो जाने पर कैवल्य है।<sup>१</sup>

कारण की निवृत्ति के साथ कार्य भी निवृत्त हो जाता है, ऐसा विधान है। अविद्या नष्ट होने पर अविद्यामूलक समस्त रागादि क्लेश भी विनष्ट हो जाते हैं। अतः शंका हो सकती है कि व्युत्थानवृत्तिमूलक व्युत्थान सस्कार, व्युत्थानवृत्ति निवृत्ति होते ही विनष्ट हो जाने चाहिये। फिर समाधि परिणाम तथा एकाग्रता-परिणाम में वृत्ति निरुद्ध हो जाने पर भी, निरोध परिणाम के काल में व्युत्थान-संस्कार कहीं से आ गये तथा उनके अतिक्रमण के हेतु तीव्र निरोध सस्कारोत्पत्ति की क्या आवश्यकता है ?

कारण दो प्रकार के होते हैं—निमित्त कारण तथा उपादान कारण। निमित्त कारण :—यथा घटोत्पत्ति में कुलाल तथा उत्पादन कारण :—जैसे घट की ही उत्पत्ति में मृत्तिका कारण है। इनमें निमित्त कारण की निवृत्ति से कार्य का सर्वथा अभाव नहीं होता, केवल उसकी उत्पत्ति की गति अवरुद्ध हो जाती है।

१. द्रष्टव्य—“योग का अनुशासन एवं उसका स्वरूप” १/१

२. पात० यो० द०—पृ० २२०।

कुलाल की निवृत्ति से घट ( कार्य ) की निवृत्ति तो नहीं होती। केवल नवीन घटोत्पत्ति नहीं हो सकती है, किन्तु मिट्टी के अभाव में घटोत्पत्ति की सम्भावना ही नहीं है। इसी प्रकार उक्त संस्कारों का उपादान कारण वृत्तियाँ नहीं, अपितु चित्त है। वृत्तियाँ तो उनका निमित्त कारण हैं। अतः निमित्तभूत वृत्तियाँ निवृत्त होने पर भी, वृत्तियों के संस्कार वर्तमान रहते हैं, क्योंकि उनका उपादान चित्त उस समय भी विद्यमान है। चित्त निवृत्ति के लिये वृत्ति निरोध के पश्चात् निरोधसंस्कारों द्वारा व्युत्थान संस्कारों का नाश, तदुपरान्त निरोधसंस्कारों का विलय, इस क्रम को अपनाना अनिवार्य है।

पूर्ववर्णित निरोध परिणाम उसकी अपरिपक्व अवस्था का सूचक है। इसमें व्युत्थान संस्कारों के उदय की आशंका बनो रहती है। व्युत्थान-संस्कारों को पूर्णतः दबाने के लिये अविच्छिन्न निरोधपरिणाम अभ्यसनीय है। निरोध संस्कारों के अभ्यास से उस ( चित्त ) की प्रशान्तरूप से वहनशील गति होती है।<sup>१</sup> दीर्घकाल तक सतत अभ्यास से क्रमशः व्युत्थान संस्कारों का सर्वथा अभिभव हो जाता है। अतः चित्त में निरन्तर विरोध संस्कारों का भी उदय एवं विलय होते रहने से, शान्त समतल धारा की भाँति चित्त में एकरस निरोध प्रवाहित होता है। चित्त की निरोध परम्परामात्र-वहनशील स्थिति ही उसकी प्रशान्तवाहिता है। व्युत्थान-संस्कारों को पूर्णरूपेण तिरोभूत करने के लिये इसी प्रशान्तवाहिता की अपेक्षा होती है। चित्त का यह सतत निरोध-परिणाम, निरोध संस्कारों का एकाग्रता-परिणाम है। अतः इस प्रकार चित्त का एकाग्रता-परिणाम समाधिमात्र में, समाधि-परिणाम केवल सम्प्रज्ञात योग में तथा निरोध-परिणाम असम्प्रज्ञात मात्र में होता है। इन्हीं तीनों परिणामों के अन्तर्गत समाधि की प्रत्येक अवस्था आ जाती है।

---

१. “तस्य प्रशान्तवाहिता संस्कारात्” ( यो० सू० ३/१० )

## (४) त्रिविध परिणाम का संयम ।

पिछले शीर्षक में चित्त की समाधिकालीन अवस्थाओं के व्याज से जिन तीन, धर्म, लक्षण तथा अवस्था परिणामों का वर्णन किया गया है, उनसे भूत एवं इन्द्रियों में भी धर्म, लक्षण एवं अवस्था परिणाम व्याख्यात हो गये हैं, ऐसा समझ लेना चाहिये । यही सूत्रकार ने भी कहा है ।<sup>१</sup>

चित्त के समाधिकालीन परिणामों<sup>२</sup> के वर्णन में धर्म, लक्षण तथा अवस्था परिणामों का सूत्रकार तथा भाष्यकार किसी ने भी नाम निर्देश नहीं किया है । फिर भी इनकी व्याख्या किस प्रकार हो गई, यह आगे स्पष्ट होगा । पूर्ववर्णित समाधि, एकाग्रता एवं निरोधपरिणाम-त्रय ही प्रकृत धर्म, लक्षण एवं अवस्था परिणाम हैं, ऐसा भ्रम नहीं करना चाहिये । जिस प्रकार निरोध आदि चित्त के परिणाम हैं, भूत एवं इन्द्रियों में भी उसी प्रकार के परिणाम होते हैं, यही भाव सूत्रस्थ “एतेन” शब्द से सूचित होता है । निरोध आदि प्रत्येक परिणाम में धर्म, लक्षण एवं अवस्था परिणाम निहित हैं—यही भाष्यकार श्री व्यास ने उद्घाटित किया है ।

परिणाम का अर्थ है अन्यथा-भाव ।

किसी वस्तु में भिन्नत्व या परिणाम तीन प्रकार से ज्ञात होता है । धर्म सम्बन्धी भेद से, लक्षण-भेद से तथा अवस्थान्तर होने से । एक धर्म का क्षय तथा अन्य धर्म का उदय होने पर जो भेद लक्षित होता है, उसे धर्मपरिणाम कहते हैं । भोज के अनुसार—“धर्मों के अवस्थित रहते हुए, पूर्व धर्म की निवृत्ति होने पर, उसे अन्य धर्म की प्राप्ति होना धर्म परिणाम है” (भोजवृत्ति) । निरोध-परिणाम में चित्त के विद्यमान रहते हुए ही व्युत्थान संस्कारों का अभिभव तथा निरोध-संस्कारों का प्रादुर्भाव होता है । अतः इसमें चित्त की व्युत्थानत्यागपूर्वक, निरोध में स्थिति

१. “एतेन भूतेन्द्रियेषु धर्मलक्षणावस्थापरिणामा व्याख्याताः” (योग सू० ३-१३)

२. जहङ्धर्मान्तरं पूर्वमुपादत्ते यदा परम् ।

तत्त्वादप्रत्युता धर्मी परिणाम स उच्यते ॥ (युक्तिदीपिका में उद्धृत)

ही उसका धर्म-परिणाम है। इस प्रकार निरोध-परिणाम के कथन से धर्म-परिणाम व्याख्यात हुआ। अतीत, अनागत और वर्तमान के कालभेद से लक्षित होने वाला भेद, लक्षण-परिणाम कहलाता है। प्रत्येक धर्म इन तीनों लक्षणों से युक्त है। अर्थात् निरोध या व्युत्थान पहले था अब नहीं है, अथवा इस समय है या आगे होगा आदि। चित्त में जब तक निरोध-संस्कार रूप धर्म का उदय नहीं हुआ था, तब तक वह अनागत लक्षण वाला था। निरोध धर्म के उदित होने पर, वही निरोध वर्तमान लक्षणसम्पन्न तथा तिरोहित हो जाने पर अतीत लक्षण युक्त होता है। निरोध परिणाम में अनागत काल का परित्याग, पूर्व धर्म के तिरोभाव स्वरूप है और वर्तमान लक्षण का लाभ, उत्तर धर्म के आविर्भाव स्वरूप है। अतः उक्त रीति से निरोध परिणाम के द्वारा ही लक्षण परिणाम भी व्याख्यात हो गया।

इसी प्रकार समाधिकाल में व्युत्थान संस्कार वर्तमान लक्षण को त्याग कर अतीत लक्षणता को प्राप्त होता है और निरोध संस्कार अनागत भाव ( लक्षण ) को छोड़कर वर्तमान लक्षणापन्न होते हैं। पुनः व्युत्थान-संस्कारों के उदयकाल में उसके संस्कार वर्तमान लक्षण सम्पन्न होंगे, अतः निरोधकाल में वे अनागत लक्षण युक्त होते हैं इत्यादि क्रम से निरोधादि परिणामत्रय के व्याख्यान से, धर्म, लक्षणादि परिणाम कथित हुए, ऐसा विवेक कर लेना चाहिये।

लक्षण-परिणाम भी स्थूल तथा सूक्ष्म के भेद से दो प्रकार का होता है। व्युत्थान संस्कारों के वर्तमान काल में निरोध-संस्कारों की अनागतभाव से अवस्थिति निरोध-संस्कारों का सूक्ष्म लक्षण-परिणाम है तथा व्युत्थान संस्कारों का स्थूललक्षण परिणाम है। इसी प्रकार व्युत्थान-संस्कारों की अतीत दशा में निरोध-संस्कारों की वर्तमान दशा, उनका स्थूल लक्षण परिणाम है तथा व्युत्थान-संस्कारों का सूक्ष्म लक्षण परिणाम है।

धर्मों का परिणाम धर्म के अन्वयात् से अनुभूत होता है, इसीलिये एक ही चित्त रूप धर्मों के अवस्थित रहते हुए, व्युत्थानधर्म से निरोधरूप धर्म की प्राप्ति, धर्म परिणाम है—ऐसा कहा गया है। धर्मों का परिणाम लक्षण-भेद-द्वारा परिकल्पित होता है। इसी कारण भाष्यकार ने “धर्मत्वमनतिक्रान्तः” अर्थात् “धर्म को अतिक्रमण न करके”, ऐसा लक्षणपरिणाम की व्याख्या करते हुए कहा है। तात्पर्य

१. सांख्य-योग सत्कार्यवादी है अस्तु वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती है।



यह है कि उक्त तीनों लक्षण परिणाम एक ही धर्म की समयावस्थिति के भिन्नत्वरूप है। उनमें धर्म नहीं बदलता है। उदाहरणार्थ पूर्व वर्णित निरोधादि परिणामों में, निरोध अथवा व्युत्थानरूप धर्म का वर्तमानादि दशा रूप लक्षण-परिणाम होता है। जिस प्रकार धर्मों का धर्म परिणाम, धर्म का लक्षण परिणाम होता है। उसी प्रकार अतीत, वर्तमानादि लक्षणों का अवस्था-परिणाम होता है। अतः लक्षण का परिणाम अवस्था भेद द्वारा ही कल्पनीय है। इस अवस्था में लक्षण भेद की विवक्षा नहीं रहती है। अतीतादि तीनों को एकत्र कर, एक ही लक्षणयुक्त धर्म का, अवस्था भेद से, भिन्न-भिन्न रूपों में व्यवहार होता है। उदाहरणार्थ-निरोधकाल में निरोध-संस्कार तथा व्युत्थान-संस्कार दोनों ही विद्यमान रहते हैं। किन्तु व्युत्थान की अपेक्षा निरोध संस्कार प्रबल होने से, उनका व्युत्थान से भिन्न रूप में व्यवहार होता है। निरोध की वर्तमान-स्थिति में निरोध-संस्कारों की प्रबलता तथा व्युत्थान-संस्कारों की दुर्बलता ही उनका अवस्था-परिणाम है। इस स्थल में भी व्युत्थान-संस्कारों की क्षीणता तिरोभाव-स्वरूप है और निरोध-संस्कारों की प्रबलता अविर्भाव-स्वरूप है, यही क्रिया पूर्व-वर्णित निरोध-परिणाम है। अतः निरोध-परिणाम की व्याख्या से ही अवस्था-परिणाम का कथन भी सिद्ध होता है। इसी तात्पर्य से सूत्रकार ने कहा है कि चित्त के उक्त तीनों परिणामों से ही भूत एवं इन्द्रियों में भी धर्म, लक्षण और अवस्था परिणाम व्याख्यात हो गए। उदाहरणार्थ भूत एवं पृथ्वी आदि धर्मियों का प्राणी, घट आदि रूप धर्म-परिणाम। प्राणी, घट आदि धर्मों का अतीत, अनागत, वर्तमान रूप लक्षण-परिणाम। वर्तमान लक्षणापन्न मनुष्य, पशु घटपटादि का, बाल्य, कौमार, यौवन, नव, पुराणादि रूप अवस्था-परिणाम। इसी प्रकार इन्द्रियों में-यथा नेत्रेन्द्रिय का नील-हरितादि आलोचन-ज्ञानरूप धर्म-परिणाम, उक्त आलोचन-ज्ञान का अतीत, वर्तमानादि लक्षण-परिणाम तथा वर्तमान रत्न आदि के आलोचन-ज्ञान का स्फुटत्व एवं अस्फुटत्व रूप अवस्था-परिणाम समझना चाहिये।

इस प्रकार भूत एवं इन्द्रियादि समस्त जगतिक पदार्थों में प्रतिक्षण धर्म, लक्षण एवं अवस्थारूप परिणाम हुआ करते हैं।

उक्त विधानानुसार प्रत्येक धर्मों का धर्मों से, धर्मों का लक्षणों से तथा लक्षणों का अवस्था-भेद से परिणामक्रम का चक्र सतत प्रवर्तित रहता है। गुणों का स्वाभाविक चांचल्य ही प्रवृत्ति का मूल है। अतएव गुणवृत्त क्षण-मात्र भी धर्म, लक्षण एवं अवस्था परिणाम से शून्य नहीं रहता है। अतः त्रिगुणात्मक भूतेन्द्रियादि सम्पूर्ण पदार्थों का धर्म, लक्षण एवं अवस्था-परिणाम स्वतः सिद्ध है।

धर्मी एवं धर्म के उक्त परिणाम व्यावहारिक ही होते हैं, तात्त्विक नहीं। वास्तव में धर्मी एवं धर्म दोनों सर्वथा भिन्न नहीं होते हैं। धर्म, धर्मी का स्वरूपमात्र ही तो है। धर्मी की विक्रिया ही धर्म से विस्तारपूर्वक कथित हुई है, किन्तु तात्त्विक दृष्टि से व्यवहारिक दृष्टिकोण में भिन्नता है। इसी भेद के अवलम्बन से धर्मी एवं धर्म की भिन्न सत्ता स्वीकृत होती है। किन्तु इन दोनों की यह व्यावहारिक सत्ता भी अपरिहार्य है। व्यवहार में भी धर्मी और धर्म अभिन्न मानने से समस्त धर्म-समुदाय कारण-रहित या मूल-शून्य सिद्ध होगा। इससे दोष प्रसक्त होगा। कारण-सत् वस्तु को मूलतः असत् कहना सर्वथा अन्याय्य है। असत् की उत्पत्ति ही असिद्ध है। जब धर्म का अस्तित्व अनुभव-सिद्ध है, तो उसके कारण भूत धर्मी का अस्तित्व भी अस्वीकार नहीं किया जा सकता है, क्योंकि कारण के बिना कार्य की उत्पत्ति अशक्य है। उदाहरणार्थ यदि घटरूप धर्म को ही सर्वस्व या समष्टि मान कर, उससे भिन्न धर्मी की सत्ता सर्वथा अस्वीकृत की जाय, तो घट पूर्ण होने पर घटत्वधर्म मात्र का अभाव मानना चाहिये और उस घटाभाव से चूर्णत्व धर्म की उत्पत्ति स्वीकार की जानी चाहिये। इस प्रकार तो सत्कार्यवाद की उत्पत्ति ही असिद्ध हो जाएगी।<sup>१</sup> सत्कार्य-वाद के अनुसार तो मृत्तिका धर्मी है और घट धर्म है। घटत्व एवं चूर्णत्व दोनों एक ही मृत्तिका रूप धर्मी के धर्म हैं। घट के नष्ट होने से अभिप्राय है—घटत्वरूप धर्म का अभिभव एवं चूर्णत्व धर्म का आविर्भाव होना। घट, शराब, चूर्ण आदि एक मृत्तिका धर्मी के ही विविध धर्म हैं, क्योंकि घटादि सभी में मृत्तिका उपादान रूप से परि-व्याप्त है। अतः व्यवहार दृष्टि से घट एवं मृत्तिका में धर्म-धर्मी रूप से विवेक करना ही उपयुक्त है। साथ ही उन धर्म एवं धर्मी को सर्वथा भिन्न तत्त्व के रूप में भी स्वीकार नहीं किया जा सकता है। तात्त्विक दृष्टि से या सामान्य धर्म के क्रम से, धर्म एवं धर्मी में प्रभेद नहीं किया जा सकता और उस मौलिक दशा में अतीत, अना-गतादि प्रत्येक धर्म की समष्टि एकमात्र धर्मी के रूप से ही निर्णीत होती है। इसी दृष्टिकोण को लक्ष्य करके भाष्यकार श्री व्यास ने “धर्मिस्वरूपमात्रो हि धर्मः धर्मि-विक्रियैवैषा धर्मद्वारा प्रपच्यत” अर्थात् धर्मी का स्वरूपमात्र ही धर्म है। धर्म के माध्यम से धर्मी का विकार ही प्रपचित होता है, अर्थात् अतीत, अनागत एवं वर्तमान लक्षणादि सबकी धर्म प्रपच से प्रतीति होती है। वस्तुतः धर्मी का विकारमात्र ही धर्म, लक्षण एवं अवस्था परिणाम, इन विभिन्न सत्ताओं से व्यवहृत होता है। जिस प्रकार सुवर्ण पात्र को तुड़वा कर कटक-कुण्डल आभूषणादि बनवाने पर भावान्यथात्वही होता

१. इसी असत्कार्यवाद को स्वीकार कर बौद्धों ने अपने पृथक् मत की स्थापना की है।

है, द्रव्यान्तर नहीं होता। उन कटक, कुण्डलादि स्वर्ण-निर्मित प्रत्येक पदार्थों में (धर्मों में) एक सुवर्ण जाति (धर्म) से ही प्रत्यभिज्ञा होती है। इसी प्रकार चित्त आदि धर्मों में भी रहते हैं, केवल उनके व्युत्थान, निरोधादि धर्म तथा अतीत, अनागत, वर्तमान अवस्था (लक्षणों) में परस्पर परिवर्तन होते रहते हैं।

धर्म-परिणाम के प्रसंग में भाष्यकार श्री व्यास ने एकान्तवादी बौद्ध-सम्प्रदाय-सम्मत दोष का उद्भावन एवं निराकरण किया है। बौद्ध मतानुसार प्रत्येक धर्म क्षणिक है, अतः प्रतिक्षण नवीन धर्मोत्पत्ति होती रहती है। सांख्ययोग में परिणामवाद स्वीकार किया जाता है। अतः परिणाम होने पर भी तत्त्वान्तर नहीं होता—ऐसी सांख्ययोगियों की मान्यता है। इस विषय में प्रतिपक्षियों की आपत्ति है कि यदि धर्मान्तर की अवस्था में सर्वथा नवीन तत्त्व की उत्पत्ति स्वीकृत नहीं की जाती है, तो धर्म एवं धर्मों अभिन्न है। साथ ही सब अवस्थाओं में धर्मों अपरिवर्तित रहने से कूटस्थ नित्य सिद्ध होगा। अतः इस प्रकार मृत्तिकादि धर्मों को, घटादि समस्त परिणत धर्म एवं अवस्थाओं में अनुगत होने से, कूटस्थ नित्य मानना पड़ेगा। किन्तु योगमत में चितिशक्ति के अतिरिक्त अन्य कोई भी पदार्थ कूटस्थ नित्य नहीं माना जाता है। यह मृत्तिकादि समस्त धर्मों चित्ति शक्ति की भौति एकान्त नित्य न होने से, उक्त कौटस्थ्य दोषारोपण भ्रान्तिमात्र ही है। योगमत में अपरिणामी तत्त्व को अत्यन्त नित्य माना गया है। किन्तु घटादि तो क्या, लोकत्रय में स्थित समस्त पदार्थ परिणाम द्वारा अपगत (नष्ट) होते हैं। नष्ट होने पर अर्थ-क्रिया के अयोग्य हो जाने से उनकी अत्यन्त नित्यता असिद्ध है। समस्त जागतिक पदार्थों का अतीत लक्षण-परिणाम देखे जाने से उनमें नित्यत्व का निषेध प्रमाणसिद्ध है। साथ ही उक्त सकल पदार्थ शशविषाण अथवा आकाशकुसुम की भौति अलोक भी नहीं है। क्योंकि वर्तमान काल में उनका सद्भाव होता है। आकाश-कुसुमादि तो कभी भी नहीं देखे जाते हैं। मृत्तिकादि समस्त जागतिक पदार्थ वर्तमान अवस्था में अर्थ क्रिया करते देखे जाते हैं तथा अर्थ-क्रियाकारित्व नष्ट होने पर, अर्थात् वर्तमानावस्था को त्यागने पर भी अतीत अवस्था में सूक्ष्म रूप से विद्यमान रहते हैं। अतः अत्यन्त अनित्य भी नहीं है। उक्त वर्णन से मृत्तिकादि धर्मों शशविषाणादि की अपेक्षा नित्य तथा चितिशक्ति की अपेक्षा अनित्य सिद्ध होते हैं। एतावता मृत्तिकादि धर्मों एकान्त नित्य असिद्ध होने से उनके कौटस्थ्य नित्य की आशंका सारहीन है।

शंका हो सकती है कि यदि अतीतकाल में मृत्तिकादि धर्मों की सत्ता होती

है, तो उसका अनुभव क्यों नहीं होता ? स्पष्ट है कि अतीत काल में उक्त धर्म स्वकारण में विलीन हो जाने से अत्यन्त सूक्ष्मतावश उनकी सत्ता की प्रतीति लौकिक लोगो में नहीं होती है ।

प्रत्येक धर्मों के विविध धर्म उसमें प्रत्येक क्षण निहित रहते हैं । धर्मों के विकार-काल में विक्रिया का जो अंश अनुभवगम्य रहता है, वह वर्तमान धर्म कहलाता है । अवशिष्ट अंश की पूर्व-वर्णित रूप से अतीत एवं अनागत सज्ञा होती है । यह भी अवगम्य है कि वर्तमान अध्व-युक्त भाव पदार्थ ( अर्थात् वर्तमान धर्म ) अतीत एवं अनागत अध्वों से अवियुक्त ही है, क्योंकि जो पहले अनागत ( भावी ) था वही अब वर्तमान है और धर्मान्तर की प्राप्ति होने पर वही अतीत एवं अनागत होगा । भाष्यकार श्री व्यास ने वर्तमानादि लक्षणत्रय को तीनों अध्वों की सज्ञा दी है । उदाहरणार्थ व्युत्थानावस्था में जब निरोध भावी होने से अनागत है, तब वह प्रथम अध्व से युक्त है । पुनः निरोध का अभिव्यक्ति-काल उसका द्वितीय अध्व है । व्युत्थान-संस्कारो-द्वारा जब निरोध पुनः आक्रान्त होता है, तब निरोध की अतीत दशा उसका तृतीय अध्व है । इसी प्रकार व्युत्थान के विषय में भी तीनों अध्वों की कल्पना कर लेनी चाहिये । उक्त रीति से ये तीनों अध्व या तीनों लक्षण एक दूसरे से युक्त ही हैं, असम्बद्ध नहीं । अन्तर केवल सामान्य एवं विशेष-भाव से स्थिति का है । अतीत एवं अनागत अवस्था में धर्म सामान्य रूपेण अनुगत रहता है । वर्तमान काल में वही धर्म उसी धर्मों में अनुगत रहते हुए अर्थ-क्रिया-कारित्व की सामर्थ्य से सम्पन्न रहता है ।

इस विषय में भाष्यकार श्री व्यास ने, किसी प्रतिवादी के प्रतिवाद की चर्चा करते हुए लिखा है कि यदि तीनों अध्व तीनों से अवियुक्त होते हैं, तो अध्वसंकर प्राप्त होगा । यद्यपि कारण अतीत एवं अनागत काल कभी वर्तमान नहीं हो सकते हैं । वर्तमान धर्म की अभिव्यक्ति द्वारा ही यह अनुमान होता है कि इसकी अभिव्यञ्जना के पूर्व अवश्य ही भावी संस्कार के रूप में यह धर्म विद्यमान था, क्योंकि जो सत् है, उसी की अभिव्यक्ति हो सकती है । आकाश-कुसुम के तुल्य अलीक पदार्थ की उत्पत्ति असंभव है । इसी प्रकार पूर्वोक्त वर्तमान धर्म के स्थान पर धर्मान्तर की उत्पत्ति से पूर्व धर्म के अतीतत्व का अनुमान होता है । इस निवृत्ति धर्म के भी संस्कार चित्त पर विद्यमान रहते हैं, यह मानना ही पड़ेगा, क्योंकि उक्त पूर्व धर्म से अपर धर्म की उपशान्ति के पश्चात् पूर्व धर्म की पुनः उत्पत्ति देखी जाती है । अतः अनागत एवं अतीत धर्मद्वय काल्पनिक या अनुमानगम्य भाव पदार्थ

है। उनकी अभिव्यक्ति नहीं देखी जाती है। इस दृष्टि से वे अवर्तमान भाव पदार्थ है।

जो वर्तमान ही नहीं हो सकता है, उसका वर्तमान के साथ सांकर्य होने का तो प्रश्न ही नहीं है। शंका हो सकती है<sup>१</sup> कि जब अनागत एव अतीत अध्व की वर्तमानता ही असिद्ध है, तो वे वर्तमान से अवियुक्त कैसे कहे जा सकते हैं ? साथ ही अनागत एवं अतीत अध्वों की सत्ता की कल्पना ही क्यों की जाय ? वह भी तो व्यर्थ ही है। परन्तु ये शंकाएँ भी युक्तिसंगत नहीं हैं। अनागतादि लक्षण-त्रय को वियुक्त नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि अनागतादि तीनों एक धर्म के तीन अध्वा हैं, भिन्न धर्म के नहीं। अनागत विनष्ट होकर वर्तमान अथवा वर्तमान नष्ट हो कर अतीत उत्पन्न होता हो ऐसा नहीं है। वरन् अनागत धर्म ही वर्तमान होता हुआ, धर्मान्तरोत्पत्तिकाल में, अतीत होता है। वस्तुतः एक ही धर्म जब अन्य धर्मक अध्वों के व्यापार-द्वारा व्यवहित होने से स्व-व्यापार नहीं करता है, तब अनागत कहलाता है, जब व्यापार में प्रवृत्त रहता है, तब वर्तमान कहलाता और स्वव्यापार से निवृत्त हो जाने पर वही धर्म अतीत सत्ता से युक्त होता है।

पूर्वोक्त वर्णन से अनागत एवं अतीत लक्षणों की कल्पना भी सार्थक सिद्ध हो चुकी है। अन्तर केवल सामान्य एव विशेष का है। भले ही अनागत एवं अतीत की सत्ता अनुभवगम्य न हो, फिर भी अनुभव का अभाव प्रमाण सिद्ध वस्तु का अपलाप नहीं कर सकता है। किसी एक स्त्री में अनुरक्त चित्त अन्य स्त्रियों में विरक्त तो नहीं कहा जा सकता। यह अवश्य है कि अन्य स्त्रियों में से राग किसी में अतीत तथा किसी में अनागत लक्षक है, क्योंकि उन (अन्य) स्त्री रूप उद्बोधक के उपस्थित होने पर उनके प्रति राग की अभिव्यक्ति दृष्टिगत होती है। इसी प्रकार किसी धर्म के आविर्भूत एव निवृत्ति होने से, अभिव्यक्ति से पूर्व उसका संस्काररूप वे अनागत-काल एवं निवृत्त होने से उसका अतीत रूप से अवस्थान प्रमाण (अनुमान) सिद्ध है। जो वस्तु प्रमाणसिद्ध है, उसकी कल्पना निरर्थक कथमपि नहीं हो सकती है। इस प्रकार तीनों लक्षण अवियुक्त रह कर भी अध्व-सांकर्यदोष से शून्य है। क्योंकि वर्तमान दशा का अर्थ है—व्यापारसलग्न धर्म की प्रत्यक्षरूप से अभिव्यक्ति और अनागत तथा अतीत, जैसा कि पहले भी प्रदर्शित किया जा चुका है, सामान्य या संस्काररूप से अवस्थित रहते हैं। ये दोनों अर्थ-क्रियाकारित्व धर्म-शून्य होते हैं। वर्तमान धर्म अभिव्यक्त-स्वरूप होने से विशेष है। अतः विरुद्ध होने पर भी इन तीनों

---

१. यह शंका बौद्धों की है।

के एक साथ वर्तमान रहने में दोष नहीं है। विशेष के साथ ही विशेष का विरोध होता है। सामान्य का विशेष से विरोध नहीं देखा जाता। ऐसा ही भाष्यकार ने पंचशिखाचार्य का वचन उद्धृत करते हुए कहा है—“रूपातिशया वृत्त्यन्ति-शयाश्च परस्परेण विरुद्ध्यन्ते सामान्यानित्वतिशयैः सह प्रवर्तन्ते।” किन्तु व्यवहार में वर्तमान धर्म का सद्भाव ही माना जाता है—जैसे निरोधकाल में व्युत्थान संस्कार भी सूक्ष्मतः विद्यमान रहते हैं, फिर भी निरोध धर्म अभिव्यक्त होने से निरोध की ही वर्तमानावस्था कही जाती है। भाष्यकार कहते हैं—क्रोध के अभिव्यक्ति काल में राग का उदय न होने से चित्त को राग शून्य नहीं कहा जा सकता है, क्योंकि क्रोध शान्ति के अनन्तर राग धर्म की पुनः अभिव्यक्ति देखी जाती है। भविष्य में राग का उदय पूर्वकाल में उसकी संस्काररूप से अवस्थिति में ही प्रमाण है, क्योंकि जो सत् है, उसी की उत्पत्ति होती है। धर्मों का त्रिलक्षणत्व व्यावहारिक दृष्टि से है तथा अध्वत्रय में धर्म का एकत्व तात्त्विक या धर्मों की दृष्टि से है।

पूर्वोक्त अनागत वर्तमानादि अध्वत्रय घटादि धर्म के ही होते हैं। मृत्तिकादि धर्मों के नहीं। अतः धर्मों भी तीन अध्वो वाला होता है, ऐसी भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये। तात्पर्य यह है कि लक्षण परिणाम केवल धर्म का होता है, धर्मों का नहीं। क्योंकि घट-पदादि धर्म ही अवस्थांतर को प्राप्त होते हुए भिन्न अवस्था वाले से भेदपूर्वक ज्ञानगोचर होते हैं, मृत्तिकादि धर्मों से भिन्नरूप में नहीं, क्योंकि वह समस्त अवस्थाओं में अनुस्यूत है। धर्म-परिणाम धर्मों का होता और लक्षण-परिणाम धर्म का, धर्मों का नहीं, यही इन दोनों में भेद है।

जैसा कि पहले भी बतलाया जा चुका है, वे घट आदि धर्म व्यक्त एवं अव्यक्त अवस्था वाले हैं। व्यक्त अर्थात् वर्तमान तथा अव्यक्त अर्थात् अनागत एवं अतीत। उनमें से लक्षित या व्यक्त धर्म नवीन, पुराण, बाल्य, यौवन इत्यादि अवस्थाओं को प्राप्त कर भिन्न रूप से निर्दिष्ट होते हैं। इस भेद का आश्रय अवस्थान्तर ही होता है, द्रव्यान्तर नहीं, अर्थात् एक ही धर्मों में पूर्व अवस्था अतीत होने पर उत्तरावस्था की प्राप्ति होना अवस्था-परिणाम कहलाता है। प्रकृत प्रसंग में एक ही धर्मों चित्त में व्युत्थान-संस्कारों के व्यतीत होने पर निरोध-संस्कारों की अभिव्यक्ति अवस्था परिणाम है।

जिस प्रकार १ का एक दो शून्य से पूर्व स्थितिकाल में शत, एक शून्य से पूर्व दश, तथा शून्य रहित स्थिति में एक कहलाता है। अथवा जिस प्रकार एक ही स्त्री, सम्बन्ध भेद से, माता, पुत्री, बहिन तथा पत्नी कहलाती है, उसी प्रकार

चित्त या मृत्तिकादि धर्मी, एक रहने पर भी, अवस्था रूप निमित्त के भेद से भिन्नवत् प्रतीत होते हैं। वस्तुतः धर्मी में एकत्व ही होता है।

अवस्था-परिणाम के विषय में भी प्रतिपक्षियों द्वारा कौटस्थ्यदोष निर्दिष्ट किया गया है। तदनुसार अध्वो के व्यापार से व्यवहित होने के कारण, धर्मी, धर्म, लक्षण एवं अवस्था चारों ही कूटस्थ सिद्ध होंगे। क्योंकि जिस अवस्था में अध्वो के व्यापार से व्यवहित होने के कारण धर्म अपने व्यापार को नहीं करता है तब अनागत, व्यापार सलग्न होने पर वर्तमान तथा व्यापार से निवृत्त हो जाने पर अतीत, कहलाता है। अतः पुरातन अवस्था सूक्ष्म रूप से विद्यमान है और आगे भी रहेगी, उसी प्रकार नवीन भी वैसी थी और रहेगी। अतः धर्म एवं धर्मी त्रिकाल में वर्तमान है। त्रिकालस्थायी ही कूटस्थ नित्य है। इस प्रकार अवस्था भी कूटस्थ नित्य सिद्ध हुई। किन्तु उक्त तर्क भी युक्तिसंगत नहीं है।

नित्यत्वमात्र ही कौटस्थ्य नहीं होता। धर्म-परिणाम विषयक कौटस्थ्य-दोष के निरसन में यह बतलाया जा चुका है कि एकान्त नित्य को ही कूटस्थ कहते हैं, अर्थात् अपरिणामी नित्य ही कूटस्थ होता है। परिणामी का उपादान भी परिणामी ही होता है। प्रधान गुणी अर्थात् मूल प्रकृति, नित्य होने पर भी, गुणों की विमर्द-विचित्रतावश, विकारशील है। अतः योगमत में प्रकृति को भी कूटस्थ नित्य नहीं माना गया है। जब मूलधर्मी (प्रकृति) ही कूटस्थ नहीं है तो उसके विकारभूत बुद्धि चित्तादि धर्मी के कौटस्थ्य की कल्पना भी निरर्थक ही है, क्योंकि इन सभी का आविर्भाव एवं तिरोभावरूप परिणाम हुआ करता है।

पुरुष (चितिशक्ति) सर्वदा, सर्वथा अपरिणामी एकरस स्वरूप से स्थित है। अतः केवल पुरुष ही कूटस्थ नित्य है।

“विमर्द-वैचित्र्य” का अर्थ श्रीभिक्षु ने विनाश की कूटस्थ से विलक्षणता किया है। श्री वाचस्पति सम्मत मतानुसार, गुणों की न्यूनाधिकता के कारण पारस्परिक अभिभाव्य-अभिभावकता रूप विचित्रता है।

गुणों की उपर्युक्त पारस्परिक न्यूनाधिकता ही विकारों की विभिन्नता का हेतु है। विकारशील तत्वों में मूल प्रकृति ही पूर्णतः नित्य है। अन्य बुद्ध्यादि प्रकृतियों में अपनी-अपनी विकृति से, अपेक्षाकृत नित्यता होने से ही नित्यत्व का व्यवहार होता है। यथा घटत्व एवं पिंडत्व की अपेक्षा मृत्तिका नित्य है।

भाष्यकार श्री व्यास ने इस विषय में शब्दादि को उदाहृत करके निम्न

प्रकार से समझाया है। शब्द आदि तन्मात्र अविनाशी है तथा उनके धर्म रूप आकाश, पृथिवी आदि पंचभूत विनाशी है। वर्तमान स्थल में “विनाशी” से तात्पर्य तिरोभावी का है। “अविनाशी” पद से स्वकार्य की अपेक्षा अतिरोभावी का अर्थ ग्राह्य है। यह आपेक्षिक अविनाशी कहलाता है।

अतः सारांश यह है कि आविर्भाव-तिरोभावशील पृथिव्यादि भूत पञ्चक गन्धादि तन्मात्रों का कार्य होने से विनाशी कहे जाते हैं। शब्दादि तन्मात्र आकाशादि भूतों की अपेक्षा ही अविनाशी या नित्य माने जाते हैं, कूटस्थ नित्य होने से नहीं। इसी प्रकार महत्त्व की अपेक्षा अतिरोभावी होने से प्रधान नित्य है। कूटस्थता से नित्य नहीं है। इसी दृष्टि से उक्त भूत, महत्त्वादि में परिणाम शब्द का व्यवहार होता है। उक्त रीति से प्रत्येक कारण रूप धर्मों अपने कार्य की अपेक्षा से नित्य कहा जाता है। पुरुष किसी की अपेक्षा से नहीं, वरन् स्वभाव से ही नित्य है। अतः अवस्थादि में कूटस्थता का दोषारोपण सारहीन है।

धर्म, लक्षण एवं अवस्था परिणाम की विविधता का हेतु भी गुणविमर्द की विलक्षणता ही है। उदाहरणार्थ मृत्तिकारूप धर्मों, प्रथम पिण्डकार रूप धर्म से परिणत होकर, घटाकाररूप धर्म को प्राप्त होता है। यह धर्म-परिणाम है। घटाकार अभिव्यक्त होकर अनागत लक्षण को त्याग कर वर्तमान लक्षण प्राप्त करता है। यह उसका लक्षण परिणाम है। घट पुनः नवीनता पुराणता का अनुभव करता हुआ अवस्था परिणाम को प्राप्त होता है। केवल लक्षणों का ही अवस्था परिणाम हो, यह आवश्यक नहीं है। धर्मों का धर्मान्तर भी अवस्थान्तर है लक्षणान्तर भी एक अवस्था है। अतः एक अवस्थान्तर रूप द्रव्य परिणाम ही विभिन्नरूप से प्रदर्शित किया गया है।

पहले बतलाया जा चुका है कि यह धर्म, लक्षण तथा अवस्था परिणाम त्रिविध होने पर भी धर्मों के स्वरूप का अतिक्रमण न कर, नित्यप्रति धर्मों के स्वरूप में भी अनुगत रहते हैं। अतएव धर्म-धर्मों में अभेद होने से एक धर्मपरिणाम ही इन तीनों परिणामों में व्यक्त है।

अब प्रश्न उठता है कि यह परिणाम क्या है? वर्तमान धर्म के पूर्व धर्म की निवृत्ति होने पर उत्तर धर्म की अभिव्यक्ति ही परिणाम है। जैसे पूर्व-कथित मृत्तिकारूप धर्मों के पिण्डरूप धर्म की निवृत्ति होने पर घट की अभिव्यक्ति परिणाम है।



प्रश्न उठता है कि जिसके धर्म, लक्षण और अवस्थारूप तीनों परिणामों का व्याख्यान किया गया है, उस धर्म का स्वरूप क्या है ? सूत्रकार के अनुसार शान्त, उदित और अव्य-वदेश्य, तीनों धर्मों का अनुपाती द्रव्य ही धर्म है ।<sup>१</sup> तात्पर्य यह है कि भूत, भविष्य एवं वर्तमान अवस्थायुक्त समस्त धर्मों या कार्यों में जो सर्वदा कारण-रूप से अनुस्यूत है वही धर्म कहलाता है ।

“धर्मोऽस्यास्तीति धर्मी” इस विग्रह के अनुसार जिसका धर्म हो उसे धर्मी कहते हैं । अतः प्रथम धर्म क्या है, यह जान कर ही धर्मी शब्द का स्फुट अर्थज्ञान हो सकता है ।

धर्मी की योग्यता से अवच्छिन्न अर्थात् धर्मी की योग्यता से विशेषित शक्ति ही उसका धर्म है । इसकी सत्ता फलोत्पत्ति की भेद से अनुमित होती है । कारण में निहित कार्य-निर्माण की योग्यता ही उक्त शक्ति है । यद्यपि इसका प्रत्यक्ष नहीं होता है तथापि कार्य-लिंगक अनुमान से इसका अस्तित्व सिद्ध होता है । उदाहरणार्थ घट की उत्पत्ति मृत्तिका से ही होती है, तन्तु से नहीं और तन्तु से घट निर्माण होता है, मृत्तिका से नहीं । अतः अनुमान द्वारा यह सिद्ध होता है कि घटोत्पत्ति की योग्यता मृत्तिका में ही है, तन्तु में नहीं तथा पटोत्पत्ति की योग्यता तन्तु में ही है, मृत्तिका में नहीं । इस योग्यता से विशिष्ट शक्ति ही धर्म है, अर्थात् क्रिया आदि के द्वारा किसी पदार्थ का बुद्धभाव ही धर्म है । उदाहरणार्थ अग्नि में दहन की योग्यता है । दहन उसका धर्म है । अग्नि धर्मी है । इस दाहिका शक्ति का बोध दाह रूप क्रिया के अनुभव से होता है । दहन से विशेषित शक्ति ही अग्नि का एक धर्म है । इसी प्रकार सर्वत्र कारण में कार्य-निर्माण की योग्यता रूप शक्ति अवगम्य है । किसी एक धर्मी का एक ही धर्म नहीं होता है, अपितु एक धर्मी के अनेक धर्म होते हैं । जैसे मृत्तिका में घट, चूर्ण, पिण्ड, शराब, कुल्हड़, सुराही आदि अनेक धर्म निहित हैं ।

- शंका हो सकती है कि मृत्तिका आदि कारण को धर्मी तथा घटादि कार्य को धर्म कह देना ही पर्याप्त है, फिर मृत्तिकादि कारण में निहित घटादि-निर्माण की योग्यता रूप शक्ति धर्म है, इत्यादि शब्दाडम्बर की क्या आवश्यकता है ? स्पष्ट है कि जब एक ही धर्मी में अनेक धर्म निहित हैं, तो घटादि किसी एक धर्म के कथन से ही उसके समस्त धर्मों का व्यपदेश नहीं हो सकता है । यदि घटमात्र को मृत्तिका का धर्म मानो तब तो उपर्युक्त शंका युक्तिसंगत हो सकती है । तदनुसार घटकाल में

---

१. “शान्तोदितव्यवदेश्यधर्मानुपाती धर्मी ।” (यो० सु० ३/१४)

ही मृत्तिका को भी धर्मी कहा जा सकता है। किन्तु उक्त कार्य-निर्माण की योग्यता को धर्म मानने पर एक की उत्पन्नावस्था में अन्य कार्यों की उत्पत्ति की योग्यता धर्मी में है। अथवा उत्पन्न कार्य की ध्वसावस्था में भी उसके पुनरुत्पाद की सामर्थ्य धर्मी में रहने से भूत, भविष्य, वर्तमान काल-त्रय में उसका धर्मत्व सिद्ध होता है—यही धर्मी का लक्षण भी है।

उनमें से वर्तमान धर्म व्यापार में प्रवृत्त रहने से अनुभूत होकर धर्मान्तरो से भिन्न होता है। अनागत एवं अतीत काल में धर्म सामान्य (अभिव्यक्त) रूप से धर्मी में समन्वित रहता है। अतः धर्म-स्वरूप होने से उसका विवेक नहीं होता है। तीन प्रकार के शान्त, उदित एवं अव्यपदेश्य धर्मों में उदित अर्थात् वर्तमान की व्याख्या की जा चुकी है। व्यापार से निवृत्त धर्म शान्त या अतीत कहलाता है। व्यापारयुक्त वर्तमान तथा जिनके होने की सम्भावना है, या कभी वर्तमानावस्था प्राप्त न होने से अकथनीय है, वे ही अव्यपदेश्य या अनागत धर्म कहलाते हैं। किसी भी धर्मी का वर्तमान धर्म विशिष्ट रूप से प्रतीत होता है। किन्तु अतीत एवं अनागत धर्म धर्मी में सामान्यरूपेण अर्थात् अविशिष्टभाव से निहित रहते हैं, अतः उनकी भिन्न प्रतीति नहीं होती है। अतीत एवं अनागत धर्मों के सद्भाव का अनुमान-द्वारा निश्चय होता है।

वर्तमान धर्म अनागत धर्म के समनन्तर है अर्थात् अव्यवहित परवर्ती है। उसी प्रकार समस्त अतीत धर्म वर्तमान के समनन्तर है। वर्तमान धर्म-समूह अतीत के परवर्ती नहीं होते हैं, क्योंकि अनागत एवं अतीत की जैसी पूर्वपरता है, वैसी अतीत एवं वर्तमान की नहीं होती है। वर्तमान धर्म के अतीत हो जाने पर उसमें पुनः वर्तमानता की उत्पत्ति दृष्टिगत नहीं होती है।<sup>१</sup> यह स्मरणीय है कि सत्कार्यवाद के अनुसार भी पूर्व-अभिव्यक्त घट-पटादि की पुनः उत्पत्ति नहीं होती।

यदि अतीत धर्म की पुनः वर्तमानता स्वीकार की जायगी, तब तो अनिमोक्ष सिद्ध होगा। अविद्या आदि क्लेश एक बार नष्ट हो जाने पर भी पुनः वर्तमान होंगे तो मुक्तात्मा को पुनः ससारापत्ति होगी, किन्तु शास्त्र एवं योगियों के प्रत्यक्ष अनुभव से नित्य मुक्तत्व प्रमाण-सिद्ध है। उसी प्रकार यदि अतीत घट की

१. नोट—योगबल अथवा विज्ञान की शक्ति से अतीत वस्तु भी पुनः वर्तमान भावापन्न हो सकती है। इस प्रकार पुनः उत्थित वस्तु क्षणों के भेद से युक्त प्रतिरूपक मात्र होती है। (द्र०—भारतीय सस्कृति और साधना, पृ० १६६)

भी पुनः वर्तमानता मानी जाय, तो यह “यह वही घट है”, इस प्रकार अतीत घट की भी प्रत्यभिज्ञा होनी चाहिये, किन्तु वह नहीं होती। अतएव अतीत का अनुत्पाद प्रमाण सिद्ध है।

भूत एवं वर्तमान धर्मों के विषय में तो स्मरण एव अनुभव प्रमाण भूत है। अब अनागत धर्म के विषय में शंका होती है कि जिसका व्यपदेश ही अशक्य है, उसके अस्तित्व में क्या प्रमाण? कार्य-निर्माण के शक्तिभूत समस्त अनागत धर्मों को भगवान् व्यास ने सर्वशक्तिमान् बतलाया है, अर्थात् समस्त अव्यपदेश्य धर्म सर्वात्मक है। सारांश यह है कि समस्त परिणामी पदार्थों में निहित कार्योत्पत्ति की योग्यता रूप शक्ति ही अनागत धर्म है तथा उसमें समस्त विकार उत्पन्न करने का सामर्थ्य विद्यमान है। सब वस्तुओं में समस्त कार्यों की उत्पत्ति की योग्यता के विषय में पूर्वाचार्यों का वचन भी प्रमाण है।<sup>१</sup> उदाहरणार्थ—जल एव पृथ्वी के परिणामभूत रस, गन्धादि का सर्वात्मक वैश्वरूप्य ( असख्य भेदोपभेद ) स्यावरो में दृष्टिगोचर होता है। नित्यप्रति प्रत्यक्ष अनुभव के विषयीभूत वृक्ष, लता आदि वनस्पतियों के फल, मूल, पत्रादि, में मधुरता, अम्लता, तिक्तता, सुगन्धता, मुहुत्त्व, काठिन्य आदि के रूप में जो अनन्त वैचित्र्य लक्षित होता है, वह जल एव भूमि का ही परिणाम है। इसी भाँति उद्भिज्जभोजी प्राणियों में वृक्षादि स्यावरो के असख्य पारिणामिक भेद देखे जाते हैं तथा जंगमों के स्यावरो में परिणाम देखे जाते हैं। उदाहरणार्थ द्राक्षा, दाडिम-फल आदि के भक्षण से मनुष्यों में अपूर्व सौन्दर्य एव स्वास्थ्य-वृद्धि दृष्टिगोचर होती है। यह जंगमों में स्यावरो का परिणाम है। इसी प्रकार स्यावरो में जंगमों का परिणाम भी दृष्टिगोचर होता है।

शका होती है कि जब समस्त वस्तु सर्वात्मक है, तो प्रत्येक पदार्थ से प्रत्येक कार्य, प्रत्येक अवस्था में उत्पन्न होना चाहिये। किन्तु कार्योत्पत्ति के हेतु केवल कारण की ही उपस्थिति नहीं, अपितु उपयुक्त सहकारी निमित्तों की भी आवश्यकता होती है। यथायोग्य देश, काल, आकार तथा निमित्त रूप सहकारी कारण एकत्र होने पर ही कार्य अभिव्यक्त होता है। अन्यथा उदात्त कारण उपस्थित रह कर भी कार्योत्पत्ति में असमर्थ है। जिस प्रकार केसर की उत्पत्ति का कारण भूमि होने पर भी सर्वत्र उसकी उपलब्धि नहीं होती। उसके लिये काश्मीर देश रूप सहकारी कारण अपेक्षित है। वही पर केसर उत्पन्न होती है,

१. “जलभूम्यौ परिणामिक रसादि वैश्वरूप्य स्यावरेषू दृष्टं तथा स्यावराणां जङ्गमेषू जङ्गमानां स्थानेषू ।” —(व्या० भा० ३/१४)

सर्वत्र नहीं। नेत्र के अत्यन्त समीपस्थ देश में दृष्टि अच्छी नहीं होती। कालकी अपेक्षा धान्य की उत्पत्ति भी भूमि से ही होती है तथापि वह वर्षकाल रूप सहकारी कारण सापेक्ष है। अतः धान्योत्पत्ति वर्षाऋतु में ही होती है, ग्रीष्म, शीतादि में नहीं। अथवा बालिका सहसा ही तरुणी नहीं हो जाती है, कालक्रम के अनुसार ही तरुणावस्था का आगम होता है। आकार की अपेक्षा—जैसे गोल साँचे में वर्गाकार मुद्रा नहीं ढल सकती है। गाय से गौ की ही आकृति का वच्चा उत्पन्न होता है, मनुष्याकार का नहीं, क्योंकि मनुष्याकृति के प्रसवहेतु सस्थान-विशेष अर्थात् आकृति-विशेष रूप सहकारी निमित्त अपेक्षित है। जीव सुख-दुःखादि का कारण है तथापि सुख-दुःखादि की प्राप्ति भी पुण्य-पापरूप निमित्त से ही होती है। पुण्यात्मा को ही सुख तथा पापात्मा को ही दुःख प्राप्त होता है। अतः यद्यपि समस्त अनागत धर्म सर्वात्मक है, तथापि उपयुक्त देण-कालादि सहकारी के अभाव-वश सब वस्तुओं से समस्त देश एवं समस्त काल में समस्त कार्यों की अभिव्यक्ति नहीं होती है। पूर्वोक्त अभिव्यक्त (वर्तमान) एवं अनभिव्यक्त (अनागत एवं अतीत) धर्मों में अनुगत सामान्य-विशेषात्मक अन्वयी द्रव्य की ही धर्मी सज्ञा है। वर्तमान धर्म अभिव्यक्त होने से विशेष कहलाता है। अतीत एवं अनागत अनभिव्यक्त रहने से सामान्यरूप से स्थित है। अनागत, अतीत एवं वर्तमान घटादि धर्मों में, मृत्तिकादि धर्मी सर्वत्र अनुगत रहने से सामान्य-विशेष उभयात्मक होते हैं। अतः धर्मी अनुभव-सिद्ध एवं धर्मों में सर्वव्याप्त होने से स्थायी है।

बौद्ध मत में यह प्रपञ्च धर्ममात्र एवं निरन्वय है। वे धर्मी की सत्ता स्वीकार नहीं करते। अतः उनके मत में प्रत्येक क्षण नवीन चित्त की उत्पत्ति होती है, क्योंकि वे अनेक धर्मों में अनुगत एक ही चित्त रूप द्रव्य-सामान्य का अन्वय अस्वीकार करते हैं। उक्त मत के अनुसार चित्तका धर्मीत्व अस्वीकार कर, उसे धर्ममात्र एवं निरन्वय मानने पर भोग की सिद्धि नहीं होती है। क्योंकि जब चित्त क्षणिक है, तो अन्य क्षण में उत्पन्न होने वाला चित्त पूर्ववर्ती कृत-कर्म फल का भोक्ता कैसे होगा ? कर्म कोई और करे तथा फल कोई और भोगे ऐसा तो होता नहीं। अतः अपने समस्त धर्मों में अनुगत एक स्थायी व्यक्ति ही धर्मी होता है। वही प्रथम कर्म करता है, उत्तरकाल में फल का उपभोग करता है। अन्यथा चित्तवृत्तियों का निरोध एवं क्लेशनिवृत्ति-हेतु योग-साधना भी व्यर्थ सिद्ध होगी। इस प्रकार यह मत अकृत-अभ्यागम तथा कृत-विप्रणाश दोषों से दुष्ट है।

इसके अतिरिक्त उक्त क्षणिक विज्ञानवाद में पूर्व-अनुभूत पदार्थ की स्मृति का

भी अभाव होगा, क्योंकि अनुभवकर्त्ता तो क्षणिक होने से अनुभवनाश के साथ ही नष्ट हो गया। फिर अन्य क्षण में समुत्पन्न नवीन चित्त उस पूर्वानुभव से शून्य है। अतः उसे अन्य व्यक्ति-कृत अनुभव की स्मृति कैसे हो सकती है ? अन्य के द्वारा अनुभूत विषय का अन्य किसी को स्मरण नहीं हो सकता—यह निर्विवाद है।

इतना ही नहीं क्षणिक-विज्ञानवाद में अभिज्ञानाभाव रूप दोष भी प्रसक्त होगा। वह भी अनिष्ट ही है। एक स्थायी आत्मा न मानने पर किसी वस्तु की उसी रूप में प्रत्यभिज्ञा नहीं हो सकती है, क्योंकि जिसने प्रथम वस्तुसाक्षात्कार किया था वह विनष्ट हो गया। अतः पुनः उसी वस्तु का सन्निकर्ष होने पर, “यह वही पदार्थ है, जिसे मैंने पहले देखा था”, इस प्रकार की प्रत्यभिज्ञा नहीं होनी चाहिये, क्योंकि दूसरी बार वस्तु का प्रत्यक्षकर्त्ता प्रथम बार के द्रष्टा से भिन्न है। जिसने प्रथम अनुभव किया हो उसी को प्रत्यभिज्ञा भी होती है, किसी अन्य की नहीं। अथवा धर्म का अन्यथात्व होने पर भी विविध धर्मों में अनुगत एक ही द्रव्य रूप धर्मों की प्रत्यभिज्ञा होती है, वह नहीं होनी चाहिये, किन्तु ऐसा होता है। उदाहरणार्थ सुवर्ण-निर्मित कटक, कुण्डलादि समस्त धर्मान्तरत्व-प्राप्त पदार्थों में एक ही सुवर्ण द्रव्य रूप धर्मों की प्रत्यभिज्ञा होती है। अतः उसे धर्ममात्र, निरन्वय कह कर प्रत्यक्ष अनुभव से सिद्ध वस्तु का अपलाप नहीं किया जा सकता है। इन सब प्रमाणों के आधार पर सर्व-धर्मानुगत एक स्थायी धर्म मानना ही युक्तिसंगत है।

स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा में भेद समझ लेना चाहिये। स्मृति केवल संस्कार-जन्य होती है। प्रत्यभिज्ञा, इन्द्रिय-सन्निकर्ष एवं संस्कार, उभयजन्य है। स्मृति अनुभव से भिन्न है और प्रत्यभिज्ञा अनुभव-स्वरूप ही है। उदाहरणार्थ—“बहिन की मृत्यु के बाद या बहिन से असन्निकष्ट अवस्था में वह मेरी बहिन थी”—इत्याकारक ज्ञान ही स्मृति है तथा “यह वही बालक है, जिसे मैंने प्रयाग में पढ़ाया था” एतद्रूपक प्रत्यक्ष अनुभव प्रत्यभिज्ञा है। उक्त स्मृति एवं प्रत्यभिज्ञा उभयात्मक ज्ञान पूर्वापर-स्थायी धर्मों में ही होते हैं, क्षणिक में नहीं। अतः समस्त जागतिक प्रपञ्च धर्म-मात्र एवं धर्मशून्य नहीं है।

×

×

×

धर्म एवं धर्मों की भिन्न सत्ता सिद्ध हो जाने पर भी, एक धर्मों के अनेक धर्म मानने पर आकस्मिकत्वपत्ति अर्थात् बिना करण के कार्योत्पत्ति की आपत्ति होती है। एक धर्मों का एक ही परिणाम होता है, यह नियम है। अतः एक ही धर्मों से अनेक धर्मोत्पत्ति के विषय में आपत्ति होती है। भाष्यकार श्री व्यास ने भी इस

विषय में शंकापूर्वक उसका समाधान किया है। “एकस्य धर्मिण एक एव परिणाम इति प्रसक्ते क्रमान्यत्वं परिणामान्यत्वे हेतुर्भवतीति” तात्पर्य यह है कि यद्यपि एक धर्मी का एक ही परिणाम होता है, तथापि क्रम के भेद से परिणामो (धर्मों) में भी भेद हो जाता है। अतः परिणामान्यत्व का कारण क्रमान्यत्व है। यही सूत्रकार ने भी कहा है।<sup>१</sup> यद्यपि सहकारी कारण का क्रिया में भेद होने पर ही परिणामो में भेद होता है, अतः आकस्मिकत्वपत्ति दोष का प्रसंग नहीं उठता है, तथापि विभिन्न क्रिया (क्रम) रूप कारण की उपस्थिति से ही परिणाम (कार्य या धर्म) में भेद देखा जाता है, आकस्मिकरूप से नहीं। उदाहरणार्थ मृत्तिका से घट के सर्जन एव भर्जन में, चूर्ण-मृत्तिका, पिण्ड मृत्तिका, घट-मृत्तिका, कपाल मृत्तिका तथा कण-मृत्तिका, इस क्रम से मृत्तिकारूप धर्मी का परिणाम होता है। चूर्णादि प्रत्येक धर्म में एक मृत्तिकारूप धर्मी अनुगत है। फिर भी विभिन्न क्रमों के अनुरोध से चूर्णाकार, पिण्डाकार, घटाकार आदि, अनेक परिणाम होते हैं। उक्त परिणाम-परपरा सर्वानुभूत है। स्पष्ट है कि चूर्ण एवं पिण्ड का आनन्तर्यक्रम भिन्न है, पिण्ड एव घट की अन्तरता का क्रम अन्य है तथा घट से कपाल एव कपाल से कण की अनन्तरता का क्रम भी परस्पर भिन्न है। क्रमों के उक्त भेद ही परिणामो की विभिन्नता का हेतु है। अतः दोष नहीं है। अब देखना है कि यह क्रम क्या है? जिस धर्म का जो परवर्ती धर्म होता है, वही उसका क्रम कहलाता है। दृष्टान्त स्वरूप, पिण्ड के प्रच्युत होने पर घट की उत्पत्ति उसका धर्म-रूप परिणामक्रम है। अर्थात् पिण्डरूप धर्म अन्तर्हित होने पर घट-रूप धर्मान्तर की अभिव्यक्ति होती है। अतः पिण्ड का अव्यवहित परवर्ती धर्म होने से पिण्डाकार से घटाकार की अभिव्यक्ति धर्म-परिणामरूप क्रम है। मृत्तिका के चूर्णादि पूर्व वर्णित समस्त क्रम भी धर्मपरिणामक्रम के अन्तर्गत ही गण्य है। इसी प्रकार सर्वत्र धर्म-परिणामक्रम योजनीय है।

धर्म-परिणाम-क्रम की भाँति लक्षण एवं अवस्था-परिणामो का भी क्रम होता है। घट की अनागतभाव से वर्तमान में स्थिति उसका लक्षण-परिणामक्रम है। इसी प्रकार पिण्ड का वर्तमान भाव को त्याग कर अतीतभावापन्न होना भी उसका लक्षण परिणामक्रम है। अनागत का क्रम वर्तमान है और वर्तमान का क्रम अतीत है। अतीत लक्षण का कोई क्रम नहीं होता है, क्योंकि उसका समनन्तर कुछ भी नहीं है। पूर्वापरीभाव ही क्रम कहलाता है। अतीत के पश्चात् कुछ भी न होने से, न तो वह किसी का पूर्ववर्ती है, न उसका कोई परवर्ती है। अनागत के

१. “क्रमान्यत्व परिणामान्यत्वे हेतुः ।” (यो० सू० ३/१५)

बाद वर्तमान होता है, अतः वह वर्तमान का पूर्व-वर्ती है और वर्तमान उसका परवर्ती है। इसी प्रकार वर्तमान अतीत का पूर्ववर्ती है तथा अतीत उसका परवर्ती है। इस प्रकार अनागत एवं वर्तमान की पूर्वपरता युक्त होने से उनका क्रम होता है। अतीत के पश्चाद्भावी का अभाव होने से अतीत का कोई क्रम नहीं होता है। अतः अनागत एवं अतीत इन दो लक्षणों का ही क्रम होता है।

इसी प्रकार अवस्था परिणाम का भी क्रम होता है। नवीन घट की अन्त में पुराणता दृष्टिगत होती है। अभिनव घट अकस्मात् ही पुराण नहीं हो जाता है। पुराणता की यह अवस्था क्षण-परम्परा के क्रमानुसार ही प्राप्त होती है। अवस्थान्तर की यह क्रिया प्रतिक्षण होती रहती है, किन्तु क्षण-परम्परा से अवच्छिन्न परिवर्तन का प्रकृत क्रम सूक्ष्मता के कारण ज्ञात नहीं होता है। घट की पुराणता का सूक्ष्म क्रम जब एकत्र होकर स्थूल रूप धारण करके चरम अवस्था को प्राप्त करता है, तब उसका स्फुट ज्ञान होता है। अतः प्रतिक्षण परिवर्तमान परिणामक्रम का प्रत्यक्ष न होने पर भी घट की अति पुराणता देखकर उसके प्रतिक्षण अवस्थान्तरत्व का अनुमान होता है। उदाहरणार्थ प्रभात में प्रफुल्लित नवीन पुष्प के प्रतिक्षण कुम्हलाने की क्रिया का अनुभव नहीं होता है, किन्तु संध्याकाल में उसे बिल्कुल मुरझाया देखकर प्रतिक्षण इस परिवर्तन का अनुमान होता है। अथवा बाल्य, कौमार, यौवन आदि स्थूल परिवर्तनों को देखकर किसी व्यक्ति के प्रतिक्षण होने वाले अवस्थान्तर का अनुमान होता है, क्योंकि अवस्थाओं का विकास क्रमशः ही होता है, अकस्मात् नहीं।

उपरिवर्णित धर्म, लक्षण तथा अवस्था परिणामक्रमों में से अवस्था-परिणाम-क्रम स्थूलभाव को प्राप्त होने पर ही स्पष्ट प्रतीत होता है। फिर भी अवस्थापरिणाम का क्रम प्रतिक्षण-प्रवर्तित रहता है। धर्म-परिणाम तथा लक्षण-परिणाम सदैव नहीं होते हैं। वे कभी-कभी ही प्रवृत्त होते हैं। अतः धर्म तथा लक्षण-परिणामों से यह अवस्था-परिणाम विशिष्ट होता है।

सारांश यह है कि धर्मों के विविध धर्मों का परिवर्तन अनियमित रूप से अकस्मात् ही नहीं हो जाता है, वरन् प्रकृति के पूर्ण निश्चित नियमों के सूक्ष्म गणितानुसारी ढंग से, क्रमपूर्वक ही परिवर्तन होता है।

आधुनिक युग में विज्ञान की प्रगति ने भी यह अन्तिम रूप से सिद्ध कर दिखाया है कि जीवन के विभिन्न क्षेत्रों में गोचरीभूत विविध दृश्यों के पीछे

आधारभूत प्राकृतिक नियम कार्यशील है, जिनके द्वारा प्रत्येक धर्म का ( दृश्यका ) गणित के सूक्ष्मतम नियमों का क्रमबद्ध रीति से संचालन एवं नियमन होता है।'

अतः प्रत्येक धर्म, लक्षण तथा अवस्था एक निश्चित क्रम के अनुरोध से ही होता है। भले ही उस क्रम का अनुभव सर्व सामान्य को न हो। यह भी स्मर्तव्य है कि उक्त क्रम धर्म एवं धर्मों की भिन्न सत्ता की स्थिति में ही होते हैं, अन्यथा नहीं। कारण को धर्मों एवं कार्य को धर्म मानने पर ही इस क्रम की उपलब्धि होती है। यह नियम नहीं है कि किसी वस्तु के धर्मों को प्रत्येक अवस्था में धर्मों ही कहा जाय, क्योंकि कार्य की अपेक्षा ही कारण को धर्मों कहा जाता है। अपने कारण की अपेक्षा से वह भी धर्म ही है। इसी प्रकार कारण की अपेक्षा से ही कार्य की धर्म संज्ञा होती है। अपने कार्य की अपेक्षा वह धर्म भी धर्मों कहलाता है। उदाहरणार्थ मृत्तिकाघट रूप कार्य की अपेक्षा से धर्मों कहलाती है, किन्तु अपने कारणभूत पृथिवीभूत की अपेक्षा से वह भी कार्य (धर्म) ही है। महत्तत्त्व-पर्यन्त समस्त धर्म-धर्मों-भाव, कार्य कारण सापेक्ष ही है, एकान्त नियत नहीं। निरपेक्ष धर्मों तो केवल अव्यक्त प्रधान ही है। वह किसी की विकृति नहीं है, अतः वही मूल धर्मों है। महत्तत्त्व से प्रारंभ कर स्थूलभूत पर्यन्त समस्त विकार उसी के विभिन्न परिणाम हैं।

प्रश्न उठता है कि महत्तत्त्व से लेकर स्थूल घट-पटादि पर्यन्त समस्त विकार ही जब अपने कार्य की अपेक्षा धर्मों है, फिर मूल-प्रकृति को ही सम्पूर्ण विकारों का धर्मों कहने से क्या तात्पर्य है ?

इसका उत्तर यह है कि प्रकृति से भिन्न पदार्थों में धर्मित्व का व्यवहार कार्य की अपेक्षा से औपचारिक रूप में होता है। अतः स्वप्रकृति की अपेक्षा अन्य धर्मियों में धर्मित्व सिद्ध होने से, उनका धर्मित्व काल्पनिक है। प्रकृति किसी का भी धर्म न होने से तथा महत्तत्त्वादि से घटादि पर्यन्त समस्त पदार्थ प्रधान प्रकृति की विकार-परम्परा-मात्र होने से, प्रकृति ही मुख्य धर्मों है। अतः दोष नहीं है। जगत् में ऐसा कोई धर्म या विकार नहीं है, जिसमें प्रकृति तत्त्व पूर्णतः व्याप्त न हो। अन्य धर्मों स्वकारण में लय हो जाने से अनित्य भी है। प्रधान ही एकमात्र नित्य परिणामी है।

पहले यह बतलाया जा चुका है कि धर्मों एवं धर्म में भेद रहने पर ही



उक्त परिणाम-क्रम की उपलब्धि होती है। साथ ही उस अवस्था में धर्म एवं धर्मी का एकत्व भी अवास्तविक ही होता है, क्योंकि धर्मान्तरत्ववश धर्मी एवं धर्म में किञ्चित् भिन्नता तो अवश्य ही होती है। जिस अवस्था में वस्तुतः धर्मी में धर्म का अभेद-उपचार होता है, उस अवस्था में वह धर्मी ही धर्म भी कहा जाता है और उस समय उक्त परिणामक्रम भी एक (अभिन्न) रूप से ही भासित होता है। ऐसा ही भाष्यकार की “यदा तु परमार्थतो धर्मिणोऽभेदोपचारद्वारेण स एवाभिधीयते धर्मस्तदायमेकत्वेनैव क्रमः प्रत्यवभासते”, (व्या० भा० ३/१५) इस उक्ति से भी स्पष्ट होता है। परमार्थ दृष्टि से अलिङ्ग प्रकृति में पहुँच कर ही, धर्म एवं धर्मी में अभेद होता है, उस समय धर्म एवं धर्मी में भेद की स्थापना नहीं हो सकती है। उस समय केवल यही कहा जा सकता है कि तीनों गुण परस्पर अभिभाव्य अभिभावकता रूप विक्रिया की शक्ति रूप से स्थित है। “शक्तिरूप में स्थित” कहने का तात्पर्य है—अव्यक्त रूप में स्थित यह अनुमेयमात्र है। किन्तु कौन किसकी विकारशक्ति के रूप से स्थित है, यह नहीं बतलाया जा सकता है। क्योंकि गुणों की विषम अवस्था में ही विकार भेद का विवेचन होता है। अव्यक्त अवस्था में त्रिगुण में साम्य होता है। अतः परिणामक्रम दृष्टिगोचर नहीं होता है।

पूर्वोक्त विविध परिणाम केवल बाह्य पदार्थों के ही नहीं, अपितु, आन्तरिक पदार्थों में भी होते हैं। अतएव परिणामक्रम के प्रकरण में प्रसंगतः भाष्यकार श्री व्यास ने, चित्त के धर्म-भेदों का भी प्रतिपादन किया है। चित्त के धर्म दो प्रकार के हैं। प्रत्यक्ष एवं परोक्ष। उनमें प्रत्ययस्वरूप अर्थात् प्रमाण, विपर्यय, विकल्प, निद्रा एवं स्मृत्यात्मक धर्म प्रत्यक्ष है। निरोध आदि सस्कारमात्र (वस्तुमात्र) स्वरूप अलक्ष्य धर्म है। निरोध आदि वस्तुमात्र (अलक्ष्य धर्म) सात प्रकार के होते हैं—

निरोध, धर्म, सस्कार, परिणाम, जीवन, चेष्टा तथा शक्ति।<sup>१</sup> इन सातों का अनुमान एव आगम-द्वारा ही ज्ञान होता है, प्रत्यक्ष रूप से नहीं।

१. निरोध से असम्प्रज्ञात समाधि कालीन चित्तवृत्तिनिरोध का तात्पर्य है। यह चित्त का धर्म होता है और सस्कारशेष रूप कार्यलिङ्गक अनुमान तथा योग-विज्ञान के शास्त्र-द्वारा ज्ञात होता है।

---

१. “निरोध धर्म सस्कारा परिणामोऽयं जीवनम्।

चेष्टाशक्तिश्च चित्तस्य धर्मा दर्शनवर्जिता ॥इति॥” (व्या० भा० सू० ३-१५)

२. धर्म शब्द त्रिविपाक संस्कारभूत पुण्य एवं पाप का द्योतक है। चित्त का पुण्य-अपुण्य रूप धर्म भी सुख-दुःखादि कार्यलिङ्गक एवं आगम द्वारा ही विदित होता है, इसका प्रत्यक्ष नहीं होता।
३. चित्त का संस्काररूप धर्म स्मृति रूप कार्य के द्वारा अनुमित होता है। वासनारूप स्मृति-फल से संस्कार का अर्थ ग्रहण करना चाहिये। इसका भी साक्षात्कार नहीं होता है और अनुमान एवं आगम-द्वारा ही इसकी भी सिद्धि होती है।
४. जिस अलक्ष्यक्रम से चित्त प्रतिक्षण परिणत होता है, वही उसका परिणाम है। चित्त त्रिगुणात्मक है तथा त्रिगुण सर्वदा चञ्चल-स्वभाव रहते हैं। अतः गुणों के स्वभाव से विवश चित्त भी सर्वदा परिणामशील ही है। किन्तु इसका यह परिणाम-क्रम अति सूक्ष्म होने से अनुभूत नहीं होता। अतः इस परिणाम का भी अनुमान एवं आगम से ही सत्त्व ( सत्ता ) सिद्ध होता है।
५. प्राणवृत्ति को जीवन कहते हैं। यह भी अज्ञातरूप से होने वाला प्रयत्न विशेष है। चित्त के प्राणधारणरूप धर्म का श्वास-प्रश्वास की क्रिया से अनुमान होता है।
६. चेष्टा-शब्द से इन्द्रिय-संचालिका चित्त की क्रियारूप चेष्टा ग्राह्य है। चित्त की चेष्टा के बिना इन्द्रिय-सन्निकर्ष नहीं होता और इन्द्रिय-सन्निकर्ष के बिना ज्ञान नहीं होता है। चित्त को इच्छारूप चेष्टा ज्ञात होती है। किन्तु इच्छा उत्पन्न होकर बाद में किस प्रकार वह शक्ति कर्मेन्द्रिय में आती है, इस बात का प्रत्यक्ष अनुभव नहीं होता है। अतः ज्ञान प्राप्ति के हेतु तद् तत् इन्द्रियों के संयोग से चित्त की चेष्टा अनुमित होती है तथा शास्त्र से भी ज्ञात होती है।
७. शक्ति-सत्कार्यवाद के अनुसार प्रत्येक कार्य अभिव्यक्ति से पूर्व भी सूक्ष्म रूप से कारण में विद्यमान रहता है। प्रत्येक क्रिया की यह योग्यता रूप सूक्ष्म अवस्था शक्ति नाम से कही गई है। स्थूल राग-द्वेषादि के दर्शन से चित्त में उनकी सूक्ष्मरूपेण स्थिति सिद्ध होती है। सूक्ष्म राग-द्वेषादि का भी प्रत्यक्ष नहीं होता है, किन्तु उन क

स्थूल अवस्था को देखकर उनकी शक्ति रूप से स्थिति अनुमित होती है। शास्त्रो-द्वारा भी उनकी सूक्ष्म वर्तमानता प्रमाणसिद्ध है।

यम-नियमादि समस्त योगांगो पर अधिकार-प्राप्त योगी को अभीप्सित वस्तु में सयम करने से, उस वस्तु का सम्यक् साक्षात्कार होता है। प्रकृत प्रसंग में पूर्व वर्णित धर्म, लक्षण तथा अवस्था-परिणामभय में संयम ( धारणा, ध्यान एवं समाधि ) करने से समस्त अतीत एवं अनागत पदार्थों का साक्षात्कार होता है।<sup>१</sup>

समाधि-प्रज्ञा में चित्त अत्यन्त निर्मल होता है। अतः उस काल में भावित प्रत्येक वस्तु स्फुटतः प्रकाशित होती है। त्रिपरिणामक्रम में सयम-शक्ति का प्रयोग करने से त्रिकालवर्ती समस्त सूक्ष्म-व्यवहित वस्तुओं का स्फुट साक्षात्कार होता है। अतः सयम का विषयीभूत तत्त्व जिस क्रम से जिस-जिस अवस्था को प्राप्त करता हुआ वर्तमान स्थिति को पहुँचा है और भविष्य में जिन अवस्थान्तरो को, जितने काल में पहुँचेगा, उन सबका भेद-प्रभेद पूर्वक यथार्थ साक्षात्कार होता है।

सामान्य प्रज्ञा से भी हेतु-द्वारा अनुमान कर किसी सीमा तक अतीत एवं अनागत विषयों का ज्ञान होता है। किन्तु सामान्य प्रज्ञा से प्राप्त ज्ञान भी सामान्य ही होता है। सयम-शक्ति से उसके हेतु-द्वारा गम्य विषय एवं उसकी परम्परा का भी विशिष्ट परिज्ञान होता है।

योग की इन प्राप्ति (सिद्धियों) के विषय में जन-सामान्य की पहुँच न होने से इनका उन्हें विश्वास नहीं होता है। फिर भी योगी के प्रत्यक्ष अनुभव से प्रमाण-सिद्ध वस्तु का अपलाप नहीं किया जा सकता। इस विषय में शास्त्र आदि भी प्रमाण है। वर्तमान युग के दिव्यदृष्टि (Clair Voyance), मानसिक सक्रमण (टेलीपैथी) ब्रह्म-वाद (स्प्रिचुवलिज्म)<sup>२</sup> इत्यादि सामान्य प्रयोगों द्वारा भी यह प्रमाणित हो चुका है कि

---

१. “परिणामत्रयसयमादतीतानागतज्ञानम् ।” (योग सू० ३/१६)

२. Clair Voyance (दिव्यदृष्टि)—पाश्चात्य विज्ञानियों की सम्मोहन शक्ति के बल से पात्र को प्रयोगकर्ता अपनी इच्छा-शक्ति से सम्मोहन-निद्रा में साकार “तुम दिव्य दृष्टि सम्पन्न हो गए हो, तुम प्रत्येक वस्तु का साक्षात्कार कर सकते हो, प्रत्येक गुप्त बात को बतला सकते हो” इत्यादि प्रकार के आदेश देता है। तत्पश्चात् वह पात्र प्रत्येक पूछी हुई गुप्त बात का उत्तर देता है और उत्तर ठीक भी होते हैं। प्रारम्भ में दिव्य-दृष्टि को क्रमशः बढ़ाया जाता है। पहले कमरे की वस्तुओं के विषय में, फिर अन्य

स्थूल नेत्र, कर्ण, नासिका आदि ही ज्ञानप्राप्ति के एकमात्र माध्यम नहीं है। इनके परे भी ज्ञानशक्ति का कोई आधार है, जिसके द्वारा उच्चतर एवं सूक्ष्मतर ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। कभी-कभी यथार्थ स्वप्नो-द्वारा भावी घटनाओं की पूर्वपूचना मिल जाती है। इससे चित्त में भविष्य-ज्ञान की योग्यता की सत्ता (सत्ता) सिद्ध होती है। जब चित्त में भूत-भविष्य के ज्ञान की शक्ति विद्यमान है, तो अवश्य ही साधन-बल से उसे अधिकृत किया जा सकता है। न्यूटन ने सेव के पतन को देख कर गुह्यवाकर्षण-शक्ति का अविष्कार किया था। इसी प्रकार यदि जीवन के किसी सफल स्वप्न का तत्त्वानुमधान किया जाय, तो सम्भव है कि यौगिक नियम एवं युक्तियाँ जन-सामान्य को ज्ञानगम्य हो सकें। अतीत एवं अनागत का ज्ञान एक स्वाभाविक सत्य है। जिस प्रणाली-द्वारा उनका स्फुट ज्ञान हो सकता है, वही परिणाम-त्रय का संयम है।

(गत पृष्ठ का शेषांग)

स्थानो तथा समाचारो और अन्त मे दूर देशो की गुप्त बातो को मालूम किया जाता है। पहले इसका प्रयोग छोटे बालको पर तथा अन्त मे प्रत्येक बड़े मनुष्य पर किया जा सकता है।

**Telepathy (मानसिक सन्क्रमण)**—इस प्रयोग मे दो प्रयोगकर्त्ता भिन्न-भिन्न स्थानो मे बैठकर एक ही निश्चित समय पर ताल-युक्त प्राणायाम आदि करके, एक समाचार (मैसेज) भेजता है और दूसरा उसे ग्रहण करता है। तालयुक्त प्राणायाम हाथ की कलाई मे अंगूठे की ओर नब्ज देखने वाली नाडी की घडकन की गति पहिचानने मे अम्यस्त होने पर किया जा सकता है। इसमे सुखासन से बैठ कर उस नाडी की गति को १ से ६ तक गणना-पूर्वक पूरक, १ से ३ तक आम्यन्तर कुम्भक तथा पुन १ से ६ तक गिन कर रेचक, फिर १ से ३ तक गिनकर बाह्यकुम्भक किया जाता है। इस प्रकार यह एक प्राणायाम कहा जाता है। मात्राओं को क्रमशः यथाशक्ति बढ़ाकर इसी प्रकार के प्राणायाम करने चाहिये। यह प्राणायाम अनुलोम-विलोमरीति से भी किया जा सकता है। इसके अभ्यास से मन एकाग्र करके बेतार के तार वाले यन्त्र (वायरलेस टेलीग्राम) अथवा रेडियो (रेडियो) की भाँति दूर देश मे स्थित दो मनुष्य पूर्वोक्त रीति से तालयुक्त होकर, अपनी विचार तरङ्गों को एक दूसरे तक पहुँचा सकते हैं।

**स्प्रिचुलिज्म (ब्रह्मवाद)**—पान के आकार का लकड़ी का पतला तख्ता जिसके दोनों ओर धातु के दो पहिये तथा किनारे पर पेंसिल लगी होती है—प्लानचेट कहलाता है। प्लानचेट पर अंगुली रखने से उनकी मैग्नेट-पावर से वह घूमने —आगामी पृष्ठ पर

शका हो सकती है कि सयम के विषय का ही साक्षात्कार होता है, अन्य विषय का नहीं। प्रकृत स्थल में सयम का विषय तो परिणामत्रय है, फिर उससे अतीत एवं अनागत का किस प्रकार ज्ञान हो सकता है ? जैसे घट-सयुक्त नेत्रों से घट का ही ज्ञान होता है, किसी अन्य वस्तु का नहीं। इसका समाधान यह है कि परिणामत्रय के संयम से, उन परिणामों में विद्यमान रहने से अतीत, अनागत आदि समस्त धर्मों का भी साक्षात्कार होता है। जिस प्रकार घट-सयुक्त चक्षु से घटज्ञान के साथ-साथ, घट के रूप, रंग आदि का प्रज्ञान होता है, उसी प्रकार धर्म, लक्षणादि परिणाम-त्रय के सयम से, उन परिणामों के साक्षात्कार के साथ ही—उन परिणामों में वर्तमान सूक्ष्म-व्यवहित अतीत, अनागत, आदि का भी प्रत्यक्ष होता है। अतः कोई दोष नहीं है।

(गतपृष्ठ का शेषांश)

लगती है। प्लानचेट द्वारा मृत आत्माओं को बुलाकर समाचार मालूम किये जाते हैं। प्रयोगकर्ता के चित्त की एकाग्रता एवं हृदय की शुद्धता को अपेक्षानुसार, उसमें पूछे हुये प्रश्नों के ठीक-ठीक उत्तर प्राप्त होते हैं। इसी प्रकार हाथ की अंगुलियों में पेंसिल पकड़ कर कागज पर रखने से सम्बद्ध पेंसिल जब अंगुलियों की मैग्नेट पावर से चलती है, तब भी चित्त शुद्धि के क्रमानुसार बहुधा ठीक उत्तर मिलते हैं। इसी तरह छोटी टेबिल पर कइ प्रयोगकर्ता एकाग्रतापूर्वक विशिष्ट विचारों के साथ-हाथ की अंगुलियाँ रखते हैं। अंगुलियों की विद्युत-शक्ति (परसनल मैग्नेटिज्म) के द्वारा, उस मेज का एक एक पाव उठता है और इस तरह प्रयोगकर्ताओं की शित्तशुद्धि के अनुसार उनके प्रश्नों के उचित उत्तर मिलते हैं।

प्लानचेट अथवा किसी मीडियम (पात्र)—द्वारा मृत आत्माओं (स्प्रिट्स) को बुलाकर, इस प्रकार मालूम किये जाने वाले समाचारों में अधिकांश, प्रयोगकर्ता के स्वयं के ही विचार होते हैं। प्लानचेट-विद्युत (मैग्नेट)—शक्ति से उन्हीं की विचारधारा आवर्तित होती है और मीडियम अपने ही विचार व्यक्त करता है। आकाश (ईथर) में प्रत्येक विचार तरङ्गित रहते हैं। अतः कभी-कभी उच्च दिव्यदृष्टि सम्पन्न व्यक्ति-जिस मृत व्यक्ति की आत्मा बुलाई जाती है—उसके विचार भी ग्रहण करने लगता है। कभी-कभी कोई व्यक्ति मृत्यु के समय अपने किसी दूरस्थ सम्बन्धी से कुछ बातें कहना चाहता है, पर बिना कहे मृत्यु हो जाती है। ऐसी अवस्था में उसके वे विशेष विचार उसकी प्रबल शक्ति-वश किसी न किसी में उस व्यक्ति तक पहुँच जाते हैं।

## (५) विविध संयमों का ज्ञान ।

सूत्रकार ने जिस क्रम से संयम के विविध विषयों का उपस्थापन किया है, उसमें सर्वप्रथम परिणामत्रय के संयम का पिछले शीर्षक में वर्णन हो चुका है। तदनुसार संयम का दूसरा विषय शब्द, अर्थ एवं ज्ञान के विभागों का संयम है। शब्द अर्थ एवं ज्ञान में पारस्परिक अभ्यास होने से उनकी अभिन्न प्रतीति होती है, इन तीनों के विभागों में संयम करने से पशु-पक्षी आदि समस्त प्राणियों की भाषा का ज्ञान हो जाता है।<sup>१</sup> प्रकृत स्थल में शब्द से अभिप्राय अर्थयुक्त वर्णसमूह का है, जिसका जिह्वा द्वारा उच्चारण एवं श्रोत्रेन्द्रिय से श्रवण होता है। जैसे वक्ता के वागिन्द्रिय में वर्तमान “गो” शब्द।

इसका दूसरा विभाग है अर्थ। अर्थ अर्थात् वाच्य या उच्चरित शब्द का विषय, जैसे “गो” का अर्थ है, सास्नादि युक्त पशुविशेष, जो गोचर गौशाला आदि में रहता है।

तीसरा विभाग है प्रत्यय या ज्ञान, जिसका अर्थ शब्द एवं अर्थ की वक्ता एवं श्रोता के मनोभाव स्वरूप, विषयाकार चित्तवृत्ति है। जैसे गौ शब्द एवं अर्थ का ज्ञान कराने वाली वक्ता एवं श्रोता की मनोगत चित्तवृत्ति।

इस प्रकार शब्द, अर्थ एवं ज्ञान ये तीनों परस्पर अत्यन्त भिन्न सत्तावान् हैं। क्योंकि गो शब्द वक्ता के वागिन्द्रिय में रहता है, “गो” अर्थ गोचर, गोशाला आदि में रहता है और “गो” का ज्ञान वक्ता एवं श्रोता के मन में रहता है। इस प्रकार इन तीनों के सर्वथा भिन्न होने पर भी अभिधान साम्यवश एवं सतत् अभ्यास-वश अभ्यास के कारण उनमें व्यवहार सांकर्य की प्राप्ति होती है। अर्थात् परस्पर एक में दूसरे का आरोप होता है और उनकी अभिन्न प्रतीति होती है। इन तीनों को अभिन्न न समझ कर शब्दार्थप्रत्यय के विवेकज्ञानपूर्वक, उनके विभागों अर्थात् केवल शब्द, केवल अर्थ और केवल ज्ञान में अलग-अलग संयम करने से समस्त प्राणियों की वाणी (भाषा) का ज्ञान हो जाता है।

१. “शब्दार्थप्रत्ययानामितरेतराभ्यासात्संकरस्तत्प्रविभागसंयमात्सर्वभूतज्ञानम्” ।

( यो० सू० ३-१५ )

इस विषय के स्पष्टीकरण-हेतु शब्द के विविध प्रकारों का ज्ञान आवश्यक है। शब्दों के तीन प्रकार हैं—वर्णात्मक, ध्वन्यात्मक तथा स्फोटात्मक।

१. क, ख, ग, घ इत्यादि वर्णों से निर्मित वाणीजन्य शब्द वर्णात्मक कहलाते हैं।
२. ध्वनि ही जिनकी आत्मा है, ऐसे शंख आदि के शब्द, ध्वन्यात्मक कहलाते हैं। इन्हीं का दूसरा नाम नादात्मक शब्द भी है। ये यत्नपूर्वक प्रेरणा की गई उदान वायु के एक प्रकार के विशिष्ट परिणाम हैं। ये ही एक के बाद एक शब्द के तरंग-क्रम को उत्पन्न करते हुए श्रोता के कर्णेन्द्रिय तक पहुँचते हैं।
३. अर्थस्फुरण का हेतुभूत बुद्धिमात्र से ग्राह्य शब्द स्फोटात्मक कहलाता है। “स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति स्फोटः”, इस व्युत्पत्ति के अनुसार इस शब्द के द्वारा अर्थ स्फुटित से, यह स्फोट कहलाता है। यह नित्य, निरवयव एवं अक्रम होता है।

भाष्यकार श्री व्यास ने इस प्रसंग में, सांख्य-सम्मत शब्दार्थ-तत्त्व को अत्यन्त सारयुक्त एवं युक्तिसंगत रीति से विभागपूर्वक समझाया है।

वाक् इन्द्रिय क, ख, ग इत्यादि वर्णों का उच्चारण मात्र करती है। मानवीय भाषा सामान्य तौर पर इन्हीं वर्णों में एक से अधिक प्रत्येक के संयोग से निष्पादित होती है। अतः ये वर्ण ही शब्द एवं वाक्य के मौलिक विभाग हैं। इन आकारादि समस्त वर्णों के शरीर में आठ उत्पत्ति-स्थान बतलाए गए हैं—उर, कण्ठ, शिर, जिह्वामूल, दन्त, (दन्तमूल), नासिका, ओष्ठ एवं तालु।<sup>१</sup>

इनसे वागिन्द्रिय के व्यापार की शरीर के अन्दर ही सिद्धि होती है, बाह्य देश में नहीं। अतः शब्दोत्पत्ति के अनन्तर श्रोता के श्रोत्र एवं बुद्धि से ग्राह्य शब्द वाक् इन्द्रिय के व्यापार नहीं होते, क्योंकि वक्ता का वाक्यत्र श्रोता के श्रोत्रादि देश से असम्बद्ध है। इसी दृष्टि से भाष्यकार ने कहा है कि वाणी वर्णों में प्रयोजवती है, अर्थात् केवल वर्णोत्पत्ति ही वाणी का विषय है। वाणी का विषयभूत शब्द ही वर्णात्मक कहलाता है।

---

१. “अष्टौ स्थानानि वर्णानामुर’ कण्ठ शिरस्तथा।

जिह्वामूलं च दन्ताश्च नासिकोष्ठौ च तालु च ॥” ( पाणिनीय शिक्षा ) .

शब्दों के अकारादि वर्णात्मक विभाग के अतिरिक्त क्रन्दन आदि शब्दों का भी युक्तिपूर्वक वर्णविभाग किया जा सकता है। बैलगाड़ी, घोड़ागाड़ी के संचालन में उनके भगाने, रोकने और पुचकारने आदि के हेतु प्रयुक्त होने वाले वर्णात्मक शब्द इसी कोटि के अन्तर्गत आते हैं। बैल एवं घोड़े के संचालन आदि के लिये सभी संचालक कुछ निश्चित शब्द-सकेतो का ही प्रयोग करते हैं। उक्त अक्षर-सकेत को लेखबद्ध देख कर विज्ञ-व्यक्ति उसके ह्रस्व, दीर्घ उच्चारण-द्वारा कुशलतापूर्वक, उक्त पशु-संचालन कर सकता है। पशु आदि के लिए सकेतित वर्णोच्चारण प्रायः सामान्य क, ख आदि वर्णों से भिन्न होता है। गो-वत्स आदि के वार्तालाप में ह्रस्व, दीर्घ इत्यादि शब्दों का उच्चारण एवं तदनुसार उनके व्यवहार को देख कर भी उनकी भाषा का अनुमान होता है। गो, वत्स आदि के उक्त शब्द भी वर्णों के इस विभाग में गणनीय हैं। प्राणी-द्वारा उच्चारित शब्द इसी प्रकार के वर्णस्वरूप हैं। जिस प्रकार रूप के सात मौलिक वर्णों के विविध संयोग से समस्त रंग बनते हैं, उसी प्रकार मौलिक वर्णों के विभिन्न क्रम-संयोग से समस्त प्रकार के शब्द एवं वाक्य निर्मित होते हैं। ये सभी वागिन्द्रिय के ही विषय हैं। वक्ता-द्वारा उच्चारित शब्द किसी बाह्य विषया-भिधातजन्य वृत्ति अथवा स्मृति की अभिव्यक्ति-स्वरूप होते हैं।

कान केवल ध्वनि के परिणाम को विषय करते हैं। ध्वनि का परिणाम भी अन्य ध्वनि ही है। अतः वर्ण का उच्चारण वाक् इन्द्रिय करती है और उससे उत्पन्न ध्वनि को कान ग्रहण करते हैं। वर्णसमूह का उच्चारण एक साथ नहीं हो सकता है। एक-एक कर जिस क्रम से वाणी-द्वारा वर्ण उच्चारित होते हैं, उसी क्रम से तज्जन्य ध्वनि-परिणाम का श्रोत्रेन्द्रिय से ग्रहण होता है। वाणी-द्वारा कोई भी शब्द उच्चारित होने पर उससे ध्वनि की तरंग उत्पन्न होती है, उस तरंग से दूसरी ध्वनि-तरंग उत्पन्न होती है। शब्द अथवा ध्वनि क्रम की यह धारा उदानवायु का परिणाम-स्वरूप होती है—श्रोत्रेन्द्रिय और शब्द का ग्राह्य-ग्राहक सम्बन्ध है। अतः शब्द की तरंगों का यह प्रवाह कर्णेन्द्रिय से गृहीत होता है। श्रोत्रग्राह्य शब्द भी शब्दार्थ का बोधक नहीं है, क्योंकि कर्णेन्द्रिय भी वर्णध्वनि को क्रमशः असम्बद्धरूप में ग्रहण करती है। अर्थ का स्फुटीकरण बुद्धि का कार्य है, श्रोत का नहीं। कर्ण-ग्राह्य शब्द ही ध्वन्यात्मक या नादात्मक शब्द कहलाता है।

पद वर्णों का समष्टि रूप होता है। यह बुद्धि का विषय है। कई वर्णों को मिला कर एक पद बनता है। पद के उच्चारण के समय पदान्तर्गत समस्त वर्ण क्रमशः ही उच्चरित होते हैं। अतः उच्चारण के समय प्रत्येक वर्ण क्रमशः उत्पन्न एवं



विलीन होते हैं। इस प्रकार पद का एकत्व, न तो वागिन्द्रिय का विषय है, न श्रोत्रेन्द्रिय का, वरन् यह एकत्व मानसिक ही होता है। पदान्तर्गत समस्त वर्णों के उच्चारण एवं श्रवणोपरान्त तत्संस्कारजन्य मानसिक प्रतिक्रियारूप ऐसी बुद्धि उत्पन्न होती है, जो प्रत्येक वर्ण को विषय करके उसे एकसाथ ग्रहण करती है। पद से उत्पन्न इस एकीभूत बुद्धि के द्वारा ही अर्थ, स्फुट होता है। अतः इस बुद्धि के उस अवर्ण और अर्थज्ञान में सहायक तत्व को पदस्फोट कहते हैं। यही पूर्वोक्त स्फोटात्मक शब्द है, जिस स्फोटात्मकता के कारण, इस विचारधारा को स्फोटवाद कहते हैं।

वर्णों में पद की भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये, क्योंकि जैसा पहले भी बतलाया जा चुका है, समस्त वर्णोच्चारण एकसाथ असंभव है। उनमें पूर्वापरी भूत क्रम अवश्यम्भावी है। एकसाथ न रह सकने से वे परस्पर असह्योगी हैं। अतः वर्ण आदिभूत होकर पदत्व-प्राप्ति के पूर्व अर्थ को स्पष्ट किये बिना ही तिरोहित हो जाते हैं। इन वर्णों के संयोग से ही पद बनता है, अतः ये पद के उपादान हैं। किन्तु व्यक्ति रूप से प्रत्येक वर्ण अपदस्वरूप है। वर्णों के संयोग बहुत प्रकार के हो सकते हैं। अतः तज्जन्य पद भी असंख्य हैं।

शंका हो सकती है कि जब प्रत्येक वर्ण ही अपदस्वरूप है तो क्रम विशेष में आबद्ध वर्णसमूह का किसी अर्थ के वाचकरूप में संकेत क्यों किया जाता है? इसका उत्तर यह है कि यद्यपि वर्ण पद से भिन्न हैं, फिर भी अवस्था एवं अवस्थावान् में किञ्चित् अभेद भी होता है। अतः वृक्ष के बीज एवं अँकुर की भाँति वर्ण एवं पद में अभेद-सत्ता भी कल्पनीय है। बतलाया जा चुका है कि वर्ण पद के उपादानभूत हैं। कोई भी पदार्थ अपने उपादान से सर्वथा भिन्न नहीं होता। जैसे घट मृत्तिका-भिन्न होने पर भी मृत्तिका उपादान होने से घट को मृत्तिका से सर्वथा भिन्न नहीं कहा जा सकता। साथ ही घटाकार में अपरिणत मृत्तिका को घट भी नहीं कहा जा सकता है। इसी प्रकार मौलिक रूप में वर्ण पदस्वरूप नहीं हैं, किन्तु अनेक वर्णों को किसी क्रम विशेष में स्थापित कर किसी अर्थ विशेष का बोधक वर्णों (संकेत के बल पर) बनाया जाता है। अतः उक्त रीति से समस्त वर्ण क्रमविशेष में स्थित होकर, समस्त पदार्थों के वाचक बन सकते हैं।

बाह्य दृष्टि से प्रत्येक स्थूल वर्ण भिन्न होने पर भी, उनमें अन्तरंग ऐक्य है। जिस उपादान के द्वारा प्रत्येक वर्ण की अभिव्यक्ति होती है, वह एक ही मूलप्रकृति है। प्रत्येक वर्ण की सर्ववर्णात्मकता तथा सर्वाभिधान-सामर्थ्य के मूल में भी यही रहस्य है। स्थूलरूप में कार्य की अभिव्यक्ति-हेतु, एक वर्ण का दूसरे वर्ण के साथ

सघटन किया जाता है। किन्तु योगी जब किसी वर्ण की ओर अन्तर्मुखी दृष्टिपात करता है, तो वह समस्त वर्णों की उक्त मूलप्रकृति का ही साक्षात्कार करता है।<sup>१</sup> इस प्रकार वर्णों में सर्वाभिधान की योग्यता है।

प्रत्येक वर्ण अपने अन्यान्य वर्णों के साथ, भिन्न-भिन्न क्रम से सम्बद्ध होकर मानो असंख्यरूप धारण करता है। विभिन्न पदों में पूर्व वर्ण उत्तर वर्ण के साथ तथा उत्तर-वर्ण पूर्व वर्ण के साथ क्रम विशेष से सम्बद्ध होकर अखण्ड पदस्फोट विशेष में तादात्म्य प्राप्त करता है। उक्त रीति से आनुपूर्वी विशेष-सापेक्ष बहुत से वर्ण, अर्थ सकेत से नियमित होकर दो, तीन, चार, पाँच इत्यादि किसी भी संख्या में सर्वाभिधान शक्ति-सम्पन्न होते हैं। उदाहरणार्थ—“गोः” इस पद में गकार, औकार तथा विसर्ग इस क्रम से व्यस्यपित तीनो वर्ण मिलकर सास्ना आदि-सम्पन्न “गोः” प्राणी रूप अर्थ का सकेत करते हैं। एकवर्णिक पद में इस क्रम का कोई प्रयोजन नहीं होता है।

भाव यह है कि गकारादि प्रत्येक वर्ण भिन्न रूप से पद नहीं है। अतः वे “गोः” प्राणी के अर्थबोध की शक्ति से विहीन हैं। फिर भी एक निश्चित आनुपूर्वी से संयुक्त वर्णत्रय पदत्वलाभ करते हैं। इस प्रकार वे “गो” प्राणी रूप अर्थ के बोधन में समर्थ लगते हैं। अतः वर्णों-द्वारा अर्थसकेत के विषय में आपत्ति नहीं होनी चाहिये।

वर्णों के सयोग-क्रम के भेदानुसार पद भी असंख्य होते हैं। पद प्रायः अनेक वर्णों के सयोग से ही निर्मित होते हैं, यह पहले बतलाया जा चुका है। अतः अनेक वर्ण एक साथ नहीं, वरन् क्रमशः ही उच्चरित होते हैं। विलीयमान, एव प्रकट हुए द्रव्यो का वास्तविक समाहार नहीं होता है। साथ ही पद में उच्चरित एव श्रुत समस्त ध्वनिक्रम को एकत्र किया जाता है। अतः प्रकृत पद, उस एकीभूत बुद्धि से निर्भास्य, मनोभावमात्र सिद्ध होता है। यह पद वर्ण ध्वनि के पूर्वापराक्रम से रहित-समूहस्वरूप होता है। बुद्धि-द्वारा वर्ण समूह को, ध्वनिसंस्कारों द्वारा पद के रूप में क्रमबद्ध करके एकत्र करना, नादानुसंहार कहलाता है। इस प्रकार नादानुसंहार-पूर्वक, बुद्धि-द्वारा प्रकाश्य पद ही, अर्थ-सकेत रूप वाचक कहलाता है।

बुद्धि-ग्राह्य मानस-पद, वाणी के द्वारा अभिव्यक्त वर्णावयवसमूह स्वरूप पद के समान क्रमिक एवं विभाजनीय नहीं होता है, क्योंकि उच्चारित पद में प्रत्येक वर्ण क्रमानुसार लय एव उदय होता है, किन्तु मानस पद एक ही प्रयत्न से निष्पन्न तथा एक ही बुद्धि का विषय होता है। बौद्ध पद के एक बुद्धि-विषयत्व में अनुभव

१. द्र०—“भा० सस्कृति और साधना”—प० गोपीनाथ कविराज, पृष्ठ १६५।

प्रमाणभूत है। उच्चार्यमाण वर्णव्यव-समूहस्वरूप पद वर्णों के लयोट्पत्तिशीलत्व के कारण अनेक बुद्धि का विषय है। मानसपद बुद्धि से एक साथ अनुभूत होता है। बुद्धि से अनुभवगम्य विषय वर्तमान ही होता है, लीन नहीं। अव्यक्त रहने के कारण किसी वस्तु का ज्ञात न होना ही उसकी लीन अवस्था है। मानस पद एक प्रयत्न से साध्य है, ऐसा नित्य प्रति अनुभव होता है। अतएव यह पद एक प्रयत्नाक्षिप्त, अविभाज्य, अक्रम, वर्णभिन्न तथा बुद्धि मात्र से ग्राह्य है। इसकी अभिव्यक्ति उच्चारित पदस्थ अन्तिम वर्ण के प्रत्ययरूप व्यापार से होती है। वर्णक्रम सुनते समय प्रत्येक वर्ण के विविक्त ज्ञान के साथ-साथ क्रमशः चित्त पर उसके सस्कार भी पड़ते जाते हैं। इन सस्कारों से स्मृति होती है। इस प्रकार इन समस्त सस्कारों को स्मृति-द्वारा एकत्र करके उपस्थापित करने से बौद्ध पद का निर्माण होता है।

अर्थबोधक बुद्धि-निर्मित पद स्वयं अवर्ण होने पर भी दूसरे को उसका बोध कराने पर वर्णों का आश्रय ही ग्राह्य है। अपने श्रवणाज्ञान के क्रमिक सस्कारों से वर्णों द्वारा ही उस ज्ञान का भाषण होता है।

इस बौद्धिक पद का व्यवहार शब्दार्थ-प्रत्यय के संकर-स्वरूप से ही होता है, क्योंकि सकेत अध्यासस्वरूप ही है। “यह प्राणी गौ है”, “गौ सास्ना आदि से युक्त प्राणी होता है”, इत्याकारक इतरेता-अध्यास या आरोप स्वरूप स्मृति ही सकेत कहलाती है। तु० गौरिति शब्दो गौरित्यर्थो गौरितिज्ञानम् (महाभाष्य, पस्पशा)।

मानव प्रकृति अनादि वाग्व्यवहार की वासना से वासित है। अतः उपयुक्त सस्कार उपस्थित होने पर मानव-शिशु सहज ही वाक्-व्यवहार सीख जाता है। यह शिक्षा मूलतः श्रवण द्वारा ही होती है। बालक को जिस रूप में पद का ज्ञान होता है, उसी रूप में पद के अर्थसकेत का भी। शब्द, अर्थ एवं प्रत्यय के पारस्परिक अध्यासात्मक, लोक-व्यवहार की वासना चित्त में अनादिकाल से विद्यमान रहती है। अतः शिशु शब्दार्थप्रत्यय को सहज ही अभेदज्ञानपूर्वक सिद्धवत् ग्रहण करता है। यह शिक्षा सर्वप्रथम वयोवृद्ध व्यक्तियों द्वारा ही प्राप्त होती है। शिशु गुरुजनो को इसी प्रकार की अध्यासात्मक भाषा का प्रयोग करते देखता है, पुनः स्वयं भी इन तीनों का सकीर्ण रूप से प्रयोग करता है।

शब्द-व्यवहार सकेतमूलक होता है। अतः अर्थ-भेद की व्यवस्था सकेत-द्वारा ही सिद्ध होती है। जन-सामान्यगम्य भाषा के प्रयोग के हेतु स्थूल रूप से वर्णों के सकेत-द्वारा पद-समूह का विभाग किया जाता है। अर्थात् “इतने वर्ण-समूह-विशेष

से यह पद निर्मित हुआ” एवं “इस पद के द्वारा इस अर्थ का संकेत किया, इस शब्द का यह अर्थ वाचक है” इत्यादि रूप से किसी न किसी व्यक्ति-द्वारा पद एवं अर्थ का संकेत किया जाता है।

इस प्रकार पद (शब्द), पदार्थ एवं स्मृत्यात्मक प्रत्यय तीनों में पारस्परिक अध्यारोपवश सकर होता है। संकर-प्राबल्यवश उनका विवेचन नहीं किया जा सकता है। इस तीनों के प्रविभागों का ज्ञाता ही इस विषय का सर्ववित् कहा जाता है। योगी समाधि-द्वारा विभागपूर्वक इनका असंकीर्ण साक्षात्कार करते हैं। इस प्रकार निर्वितर्क प्रज्ञा-द्वारा उन्हें समस्त प्रकार के पदों का अर्थज्ञान हो जाता है। बतलाया जा चुका है कि केवल शब्द में समाधि लगाने पर शब्द मात्र निर्भासित होता है। इसी प्रकार केवल अर्थ या केवल प्रत्यय में ध्यान लगाकर समाहित होने पर अर्थमात्र अथवा प्रत्ययमात्र का निर्भास होता है। इसी भाँति भावना-प्रवीण योगी किसी से भी अज्ञात-अर्थयुक्त शब्द का श्रवण करके, उस शब्द मात्र में संयम-द्वारा उच्चारणकर्त्ता के वाग्यंत्र में प्रवेश करता है। वहाँ से पुनः वाक्यत्र के प्रयोजकस्वरूप वक्ता के अन्तःकरण (मन) में प्रविष्ट होता है। इस प्रकार वक्ता का मन जिस प्रयोजन से वाक्यो-च्चारण के हेतु प्रेरित होता है, उसका अर्थज्ञान योगी को हो जाता है।

वाक्य से क्रियापदयुक्त पद समूह विशेष का तात्पर्य समझना चाहिए। वाक्यशक्ति—अर्थात् वाक्य के द्वारा गम्य अर्थ को समझाने की शक्ति। उक्त वाक्य-शक्ति सभी पदों में रहती है। किसी भी एक पद का उच्चारण करने पर किसी न किसी रूप में उससे अभिहित पदार्थ की “सत्ता” (“है”, “था” आदि) का बोध होता है। “है”, “था” इत्यादि प्रकार की क्रियायुक्त वाक्यवृत्ति ही ज्ञाति (वाक्यशक्ति) कहलाती है। उदाहरणार्थ “वृक्ष” ऐसा कहने से “है” “था” अथवा भविष्य में “होगा”, एतद्रूपा सत्तासूचक क्रिया का स्वतः अध्याहार होता है क्योंकि पदार्थ कभी भी सत्ता के नियम को भंग नहीं करता। अतः कारक के साथ उसके सत्ता-बोधक क्रिया-पद का अध्याहार करना ही पड़ता है। इसी प्रकार साधन (कारक) के बिना क्रिया भी निष्पन्न नहीं हो सकती है। अतः केवल क्रियापद सुनने पर उसके साथ साधन-बोधक कारक सूचक पद का अध्याहार करना ही पड़ता है। भाष्यकार श्री व्यासने इस प्रसंग में अनेक उदाहरणों-द्वारा विषय स्पष्ट किया है। जैसे “पचति” इस पद के कहने पर “चैत्र”, इस कारक पद का अध्याहार करना पड़ता है। तात्पर्य यह है कि एक पद का प्रयोग किये जाने पर आकांक्षित पद अध्याहृत करके उसके अन्वयपूर्वक ही अर्थ समझा जाता है।

सारांश यह है कि समस्त पद वाक्यार्थ-पूरक ही होते हैं। अतः वाक्य ही सर्वत्र वाचक माना जाता है, पद नहीं। पूर्वोक्त रीति से जिस प्रकार वर्ण, पद का विभाग होने से, सर्व-अभिधान-शक्ति-सम्पन्न है, उसी प्रकार वाक्य का अंश होने से सभी पद वाक्यार्थद्योतन शक्ति से सम्पन्न हैं। यही भाषकार श्री व्यास ने भी कहा है—“सर्वपदेषु चास्ति वाक्यार्थशक्तिः”। अतः प्रत्येक वर्ण में अन्य सहकारी वर्णों के साथ मिलकर पदत्वलाभ की शक्ति निहित है। इसी प्रकार प्रत्येक पद में भी क्रिया-कारकादि सूचक पदों से अन्वित होकर वाक्य बनाने की शक्ति विद्यमान रहती है।

इसकी पुष्टि वाक्य के अर्थ में पद-रचना देखने से भी होती है। जैसे “जवेति” अर्थात् “प्राणान्धारयति”, “जीता है” अर्थात् “प्राण धारण करता है।” इसी प्रकार “श्रोत्रिय” अर्थात् वेद का अध्ययन करने वाला-इन दोनों उदाहरणों में पद एवं वाक्य दोनों के अर्थों में पूर्ण ऐक्य भी पद की वाक्यार्थशक्तिमत्ता में प्रमाणस्वरूप है।

शंका हो सकती है कि जब पद में ही वाक्यार्थ-शक्ति निहित है, तो वाक्य का व्यवहार ही व्यर्थ है, क्योंकि वाक्यार्थ-बोधक रूप प्रयोजन की सिद्धि पद के प्रयोग-मात्र से सिद्ध हो जावेगी। इस विषय में यह स्मरणीय है कि पद में वाक्यार्थ-शक्ति वर्तमान रहने पर भी उसकी अभिव्यक्ति पद में नहीं, वाक्य में ही होती है। फिर अनेकार्थ-पद के अर्थ के विषय में भी कभी शंका उत्पन्न होती है। ऐसी स्थिति में प्रकृतपदगत प्रकृति-प्रत्यय का विभाग करके ही उसका निश्चय होता है कि वह क्रिया पद है या कारकपद। उदाहरणार्थ “भवति”, “अश्वः”, “अजापयः” इत्यादि सदिग्ध पदों में नाम एवं आख्यात (सुबन्त एवं तिङ्गन्त) एकरूप होने से उनके ठीक अर्थ का निश्चय नहीं हो सकेगा।

“भू सत्तायाम्” धातु से निष्पन्न, लट् लकार, प्रथमपुरुष, एकवचन में “भवति” शब्द क्रियापद का अर्थ होता है “होना”। स्त्रीलिङ्ग “भवति” शब्द के सम्बोधन में “भवति” कारकपद का अर्थ “आप” होता है। इसी प्रकार नाम और आख्यातभेद से “अश्वः” पद के क्रमशः “घोड़ा” व “गत्यर्थक” “स्वि” धातु से “तुम गए थे” में दो अर्थ होते हैं। “अजापयः” नाम का अर्थ बकरी का दूध और “अजापयः” आख्यात का अर्थ तुमने जय प्राप्त कराया था, इस प्रकार दो अर्थ इस पद से निकलते हैं। अतः इस प्रकार के श्लिष्ट पद प्रयुक्त होने पर उनके अर्थ के विषय में शंका होती है। इस शंका का निवारण व्याकरण की रीति से प्रकृति-प्रत्यय के पृथक्करण-द्वारा ही हो सकता है। इस क्रिया से पद का स्वरूप वाक्यार्थ परक हो जायगा। अतः पद में वाक्यार्थ-शक्ति वर्तमान रहने पर भी वाक्य-रचना व्यर्थ नहीं है।

शिल्प पदो की व्याख्या का विषय व्याकरण का क्षेत्र है। इसे भाष्यकार ने प्रसंगवश ही प्रस्तुत किया है। मुख्य विषय शब्दार्थज्ञान के सांकर्य एव विभागो का स्फुट प्रदर्शन किया जा चुका है।

×

×

×

संयम-द्वारा संस्कारो का साक्षात्कार करने से पूर्व जन्मो का ज्ञान होता है।<sup>१</sup> संस्कार दो प्रकार के होते हैं। एक तो स्मृति रूपक फलनाश को उत्पन्न करने वाला, राग-द्वेषादि क्लेशो के हेतु भूत, जो वासना स्वरूप है। दूसरे त्रिविधा अर्थात् जाति, आयु एव भोग के हेतुभूत धर्म-अधर्मरूप, जो शुभ-अशुभ कर्मों से उत्पन्न होते हैं। यह कर्माशय कहलाता है पिछले शीर्षक में वर्णित परिणाम चेष्टा, निरोध, शक्ति, जीवन आदि के समान ये संस्कार भी चित्त के अलक्ष्य धर्म हैं। इनका निष्पादन इह जन्म तथा पूर्व जन्म कृत कर्मों द्वारा होता है और ये ग्रामोफोन-प्लेट के रिकार्ड की भाँति चित्त में असंस्कृतरूप में अंकित रहते हैं।

जीवन में प्राणी-द्वारा किया गया प्रत्येक अनुभव अतीत हो जाने पर भी सर्वथा नष्ट नहीं हो जाता है, वरन् हर एक अनुभव चित्त पर अपना संस्कार छोड़ता जाता है। अतः यह चित्त जन्म-जन्मान्तरो में कृत कर्म-संस्कार का एक रेकार्ड है। जिस प्रकार ग्रामोफोन बजाने पर ग्रामोफोन-प्लेट में अंकित प्रत्येक ध्वनि संस्कार अभिव्यक्त हो उठते हैं, उसी प्रकार चित्त में अभिव्यक्त रूप से स्थित संस्कारों को भी उचित प्रणाली का अनुसरण करके, जागृत किया जा सकता है। इस प्रकार उन जन्म-जन्मान्तरो में संचित संस्कारो का देश-काल-निमितादि-पूर्वक स्फुट परिज्ञान हो सकता है। ये संस्कार चित्त में अज्ञातरूप से रहते हैं, फिर भी अनुमान एवं शास्त्रो के पठन, श्रवण आदि से इनको सत्ता सिद्ध होती है, तथा शास्त्रानुमान-द्वारा अपरोक्ष रूप में ज्ञात संस्कारो का अवलम्ब ग्रहण करके ही उनमें संयम करके सम्यक् साक्षात्कार किया जाता है। सर्वथा अज्ञात विषय का संयम नहीं किया जा सकता है। साथ ही जो ज्ञात हो उसमें संयम भी -व्यर्थ है। अतः शास्त्रानुमान से ज्ञात विषय का ही संयम-द्वारा प्रत्यक्ष किया जाता है।

पूर्व जन्म-कृत कर्मों के संस्कार, चित्त पर अङ्कित हैं और उनकी स्फुटतः अभिव्यक्ति हो सकती है। इस विषय में श्रद्धालु व्यक्ति के हेतु शास्त्र एवं अनुमान तो प्रमाण हैं ही, भौतिकवादी जनसमुदाय के विश्वास-हेतु वर्तमानकालीन हिप्नो-

१. “संस्कारसाक्षात्करणात्पूर्वजातिज्ञानम्” ( योग सू० ३-१५ )

टिज्म के प्रयोग इस बात की और भी निश्चितरूप से पुष्टि करते हैं। मोहनिद्रा (हिप्नोटिज्म) की अनेक घटनाएँ इस विषय में प्रमाणभूत हैं। उदाहरणार्थ—एक ऐसा व्यक्ति, जिसे किसी भाषा-विशेष का मौलिक ज्ञान भी न था, मोहनिद्रित (हिप्नाटिक) अवस्था में, उसी भाषा को स्वलनशून्य गति से बोलता हुआ एवं सर्वथा नवीन व्यक्तित्व में पाया गया।<sup>१</sup>

पूर्व-जन्मों के ये संस्कार अवश्य ही किसी ऐसे वाहक (शुद्ध अन्तःकरण) में संचित रहते हैं, जिसका विविध जन्मों में स्थूल शरीर बदल जाने पर भी पुनर्निर्माण नहीं होता है। इन संस्कारों का एक से दूसरे शरीर में वाहक कारण शरीर है। इसी को दूसरे शब्दों में “कर्मशय” कहते हैं। जाति, आयु एवं भोग का मूल कारण<sup>२</sup> होने से कर्मशय की कारण शरीर संज्ञा है। उच्च कोटि के योगी जो इन सुप्त संस्कारों को चेतन कर उनसे प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्थापित करने की क्षमता रखते हैं, संयम के द्वारा पूर्व जन्मों का प्रस्फुट ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।<sup>३</sup>

देश, काल और निमित्त के अनुभव के बिना इन संस्कारों का साक्षात्कार नहीं हो सकता है। साथ ही पूर्व जन्म के ज्ञान की प्राप्ति के हेतु, पूर्व-जन्म की संयम का विषय नहीं बनाया जा सकता है, क्योंकि वह अतीत हो चुका है। अतीत वस्तु का अवलम्ब अग्राह्य है। फिर पहले कितने, कब और कहाँ जन्म हुआ, यह भी अज्ञात है। समस्त पूर्व जन्मों के संस्कार चित्त में संचित हैं और शास्त्रानुमान-द्वारा परोक्षतया ज्ञात भी हैं। अतः उनमें ही संयम संभव है। यह भी बतलाया जा चुका है कि देश, काल एवं माता-पिता आदि निमित्त के बिना संस्कारों का प्रत्यक्ष नहीं हो सकता है। अतः संस्कारों में संयम करने से संस्कारों के ज्ञान के साथ-साथ उनके कारणभूत पूर्वजन्मों का ज्ञान होता है। अपने संस्कारों में संयम करने से, जिस प्रकार अपने पूर्व जन्मों का प्रत्यक्ष होता है, उसी प्रकार किसी दूसरे व्यक्ति के संस्कारों में संयम करने से, उस व्यक्ति के भी पूर्व-जन्म परिज्ञात होते हैं।

इस विषय के पुष्टीकरण के हेतु भगवान् व्यास ने योगीश्वर आबट्य एवं योगिराज जैगीषव्य का संवाद उद्धृत किया है। उसे प्रकृत सूत्र के भाष्य में ही

१. द्रष्टव्य—“खाइन्स आफ योग” (आई० के० टैमनी) पृ० ३१६

२. द्र०-१ चक्लेश एवं उनके निवारण के उपाय।

३. द्रष्टव्य—“साइन्स ऑफ योग” (आई० के० टैमनी) पृष्ठ ३१६

देखना चाहिये । भगवान् जैगीषव्य विवेक-ज्ञान-सम्पन्न थे और उन्होंने दश महाकल्पो में व्यतीत हुए अपने समस्त पूर्व जन्मों का साक्षात्कार किया था, ऐसी प्रसिद्धि है । भगवान् आवट्य के विषय में भी अनुश्रुति है कि वे योगबल से स्वेच्छामय दिव्य लोलाविग्रह धारण करके विचरण करते थे ।

“संस्कारसाक्षात्कारणात्पूर्वजातिज्ञानम्” इस प्रकृत सूत्र के उपक्रम में व्यास भाष्यगत “परत्राप्येवमेव संस्कारसाक्षात्कारणात्परजातिसंवेदनम्”, इस पंक्ति का अर्थ श्री वाचस्पति मिश्र ने यह किया है कि—संस्कारों का साक्षात् करने से योगी को जैसे अपने पूर्व जन्म का ज्ञान होता है, वैसे ही दूसरे के पूर्वजन्म का भी ज्ञान होता है । किन्तु श्री विज्ञानभिक्षु इस अर्थ को नहीं मानते हैं । उन्होंने सूत्रगत “पूर्वजातिज्ञानम्” तथा भाष्यगत “परजातिसंवेदनम्” को एक साथ मिलाने का यत्न करते हुए दूसरे के पूर्व जन्म के ज्ञान को अपने ही अनागत जन्मके ज्ञान के अर्थ में खींचा है, जो सूत्र में वर्णित न होने से, प्रसंगगत नहीं ज्ञात होता । क्योंकि अन्य जन्म के कारणभूत रागादि नष्ट हो चुकने से पूर्ण योगी का अनागत जन्म होता ही नहीं है ।

भगवान् व्यास भी—“सोपक्रम निरूपक्रमं च कर्म तत्सयमात् अपरान्तज्ञानम-रिष्टेभ्या वा”—इस सूत्र के उपक्रम में उक्त दोनों प्रकार के कर्मों को अर्थात् शीघ्र फलप्रद तथा विलम्ब से फल देने वाले कर्मों को “एकभविक” बतलाते हैं । यहाँ श्री वाचस्पति मिश्र ने, इस सूत्र के भाष्यगत “एकभविकत्व” की व्याख्या में कहा कि पूर्वोक्त द्विविध कर्मों को योगी एक ही काल में अनेक शरीर धारण करके, भोग कर समाप्त कर देता है, जिससे उसका भावी जन्म असिद्ध है ।

इसके अतिरिक्त योगी अवशिष्ट प्रारब्ध कर्मों को ज्ञानाग्नि द्वारा भी भस्म कर सकता है ।

उपर्युक्त प्रमाणों के आधार पर, भिक्षु जी ने, “परजातिसंवेदनम्” के द्वारा जिस अनागत जन्म का प्रतिपादन किया है, वह तो यहाँ सिद्ध होने की क्षमता ही नहीं रखता ।

विवरणकार शंकर, भोज, रामानन्द यति, नागोजी भट्ट इत्यादि अन्य सब विद्वानों का भी यही मत है कि संस्कार के साक्षात्कार से अपने और दूसरे के पूर्वजन्मों का ज्ञान होता है, अनागत जन्म का नहीं । हाँ, किसी अयोगी के अनागत जन्म का पता सिद्ध यागो अवश्य लगा सकता है, पर स्वयं उस योगी का अनागत जन्म असिद्ध है ।



किसी अन्य व्यक्ति के चित्त विषयक संयम करने से उसके चित्त का ज्ञान होता है ।<sup>१</sup>

भोज आदि विद्वानों के अनुसार प्रथम मुखरागादि लिङ्ग के द्वारा परिचित अनुमित होता है । इस प्रकार परोक्षरूपेण ज्ञात चित्त में संयम करने से, उस चित्त का रागादि धर्म सहित अथवा तद्धर्म रहित रूप से चित्त का साक्षात्कार होता है ।

श्री विवेकानन्द ने प्रत्यय का अर्थ “चिह्न विशेष” लिया है । तदनुसार प्रत्येक व्यक्ति के शरीर में कुछ विशिष्ट चिह्न रहते हैं, जिनके द्वारा उसको दूसरे व्यक्तियों से पृथक् करके पहचाना जाता है । जब योगी किसी मनुष्य के इन विशेष चिह्नों में संयम करते हैं, तब वे उस मनुष्य के मन का स्वभाव जान लेते हैं । वैसे प्रत्यय का अर्थ चित्तवृत्ति है, जो चित्त नहीं उसका धर्म है, किन्तु धर्मों में अनेक-विवक्षा से प्रत्यय का अर्थ चित्त किया गया है ।

श्री भिक्षु जी ने सूत्रगत “प्रत्यय” शब्द का अर्थ स्वचित्त किया है । विवरणकार आदि अन्य विद्वानों के मत में उक्त “प्रत्यय” शब्द परचित्तार्थक है ; क्योंकि अपने चित्त में संयम करने से दूसरे के चित्त का ज्ञान नहीं हो सकता है, जिसका सूत्र में कथन किया गया है ।

श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्य ने “स्व” एवं पर दोनों ही चित्तों की वृत्ति का अर्थ प्रत्यय शब्द से ग्रहण किया है । पुनः परचित्तज्ञान में अपने चित्त के संयम का उपयोग इस प्रकार बतलाया है ।

“वस्तुतः प्रत्यय यहाँ पर दोनों प्रकार का प्रत्यय है । अपने किसी एक प्रत्यय को विविक्त कर साक्षात्कार न कर सकने से पराया प्रत्यय कैसे साक्षात् किया जायगा ? पहले अपना प्रत्यय जान कर पर-प्रत्यय के ग्रहण के लिये स्वचित्त को शून्यवत् करना और उसे पर प्रत्यय के ग्रहणार्थ उपयोगी कर, पराया प्रत्यय जानना चाहिये । ..... जिसका चित्त जानना है उसकी ओर लक्ष्य रख कर अपने चित्त को शून्यवत् करने पर उसमें जो भाव उठते हैं वे ही परचित्त के भाव होते हैं ।”<sup>२</sup>

इस प्रकार दूसरे के चित्त-विषयक संयम से उस व्यक्ति के चित्त का धर्म

१. “प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्” ( यो० सू० ३-१६ )

२. द्रष्टव्य-पातञ्जल योग दर्शन-स्वामी हरिहरानन्द आरण्य, ( पृष्ठ २५३-५४ )

विशिष्ट रूप से ज्ञात हो जाता है। परन्तु उसके चित्तगत राग-द्वेषादि के आलम्बन का ज्ञान नहीं होता है, क्योंकि उक्त चित्तगत राग-द्वेषादि का आलम्बन योगी के संयम का विषय नहीं होता है।<sup>१</sup> तात्पर्य यह है कि योगी जिस व्यक्ति के चित्त में संयम करता है, उसके विषय में यह तो ज्ञात हो जाता है कि वह राग-द्वेषादि विषय-वासनाओं से सकुल है, अथवा वैराग्य सम्पन्न है इत्यादि, किन्तु उसके चित्तगत राग-द्वेषादि किस व्यक्ति के प्रति है, यह परिज्ञात नहीं होता है; क्योंकि उन राग-द्वेषादि का विषयभूत व्यक्ति योगी के संयम का विषय नहीं है।

तत्कालीन रागद्वेषादि के आलम्बनज्ञान को लक्ष्य करके पुनः संयम करने से अवश्य ही उसके आलम्बन का भी ज्ञान होना चाहिये।

वार्तिककार श्री भिक्षु ने “न च तत् सालम्बन” इस सूत्र को सूत्र नहीं, वरन् इससे पूर्ववर्ती “प्रत्ययस्य परचित्तज्ञानम्” इस सूत्र का भाष्य माना है, भाष्यकार श्री व्यास ने इसका पृथक् सूत्र के रूप में, सूत्र की भाषाशैली के अनुरूप भाष्य किया है। श्रीभोज, वाचस्पति प्रभृति विद्वानों ने भी इसकी एक पृथक् सूत्र के रूप में ही व्याख्या की है। अतः उसे पृथक् सूत्र मानना ही अधिक समीचीन प्रतीत होता है।

×

×

×

अपने शरीर के रूप में संयम करने से उसकी (रूपकी) ग्राह्य-शक्ति रुक जाने पर, दूसरे के नेत्रों के प्रकाश का संयोग न हो सकने से योगी को अन्तर्धान सिद्ध होता है।<sup>२</sup>

रूप में ग्राह्य (दूसरो से देखे जाने की) शक्ति है तथा नेत्र में रूप को ग्रहण करने की शक्ति है। इन दोनों शक्तियों के संयोग से दर्शन-क्रिया सम्पन्न होती है।

आधुनिक विज्ञान के अनुसार भी शरीर से निकलने वाली प्रकाश-रश्मियों के नेत्र की प्रकाशकिरणों से टकराने पर ही शरीर दृष्टिगोचर होता है। यदि नेत्र एवं शरीर से इस प्रकाश का सम्पर्क अवरुद्ध कर दिया जाए, तो शरीर अदृश्य हो जायेगा। शरीरस्थ रूप में संयम करने से, उपर्युक्त नेत्र एवं शरीर के मध्य, उक्त प्रकाश की गति स्तम्भित हो जाती है। अतः रूप का संयम करने वाले योगी का शरीर सबके मध्य वर्तमान रहने पर भी अदृश्य हो जाता है, क्योंकि चक्षु से स्फुटित

१. “न च तत् सालम्बन तस्याविषयीभूतत्वात्” (यो० सू० ३-२०)

२. “कार्यरूपसयमात्तद्ग्राह्यशक्तिस्तम्भे चक्षुःप्रकाशासम्प्रयोगेऽन्तर्धानम्”। (यो० सू० ३-२१)

होने वाली तेजस किरणों से शारीरिक रश्मियों का संयोग नहीं हो पाता है।<sup>१</sup> इस प्रकार रूप विषयक समय से रूप के तिरोधान-कथन से ही शब्दादि शेष चारों का अन्तर्धान भी अवगम्य है।

स्थूल शरीर पञ्चभूतों का कार्य है। पञ्चभूतों का पञ्चतन्मात्रों से अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है, क्योंकि पञ्चभूत स्वयं तन्मात्रों के कार्य हैं। पञ्च स्थूल भूतों का कार्य होने से भूतों के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध—पाँचों गुण शरीर में क्रमशः श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना एवं घ्राण के विषय के रूप में रहते हैं। अतः पञ्चतत्त्व, उनके गुण-स्वरूप पञ्चतन्मात्र एवं ज्ञानेन्द्रियों में अत्यन्त घनिष्ठ आन्तरिक सम्बन्ध है। इन तीनों के पारस्परिक सादृश्य का आन्तरिक सम्बन्ध, उस मनोविज्ञान का अभिन्न अंग है, जो कि योग-विज्ञान का आधार है।

सम्पूर्ण चाक्षुष दृश्य, रूप तन्मात्र, तेजस् तत्त्व एवं नेत्रेन्द्रिय की पारस्परिक क्रियाओं पर निर्भर है। रूप में संयम करने पर तत्त्व, तन्मात्र एवं ज्ञानेन्द्रिय की संयोजिका शक्ति का ज्ञान योगी को हो जाता है और वह इन शक्तियों का इच्छानुसार प्रयोग कर सकता है। इस प्रकार योगी को रूपवान् के विवेचन की शक्ति प्राप्त होती है, जिससे वह आपातदृष्टि से सबके समक्ष अन्तर्हित हो सकता है, क्योंकि रूप एवं रूप-विशिष्ट वस्तु के परस्पर सम्बद्ध होने पर ही उसका ज्ञान होता है। इसी प्रकार शब्द, स्पर्श आदि भूतों में संयम करने से, उनकी भी ग्राह्य-शक्ति स्तम्भित हो जाती है, जिसके ज्ञान से योगी के शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध किसी भी गुण का अन्य किसी की इन्द्रियों से, सन्निकर्ष नहीं हो सकता है। यही अन्तर्धान का सामर्थ्य है। इसके प्रभाव से योगी को न कोई देख सकता है, न छू सकता है, नहीं उसके शरीर-जन्य शब्द को कोई सुन सकता है, न उसके शरीर के रस का आस्वाद कर सकता है और न उसके शरीर के गन्ध को सूँघ सकता है। प्रस्तुत सूत्र की व्याख्या के अन्त में भाष्यकार श्री व्यास ने, “एतेन शब्दाद्यन्तर्धानमुक्तम् वेदितव्यम्” ऐसा कहा है, अनन्त पंडित ने इस वाक्य को पृथक् सूत्र के रूप में स्वीकार किया है, किन्तु वाचस्पति, भोज, श्री भिक्षु प्रभृति अधिकांश प्रामाणिक विद्वानों की व्याख्या से इसकी एक स्वतन्त्र सूत्र के रूप में सत्ता सिद्ध नहीं होती है।

×

×

×

पूर्वकृत कर्मों में से वर्तमान आयु के विपाकप्रद कर्म दो प्रकार के होते हैं,

१. द्रष्टव्य—साइन्स ऑफ़ योग, पृष्ठ ३१६।

सोपक्रम अर्थात् शीघ्र फलप्रदान करने वाले तथा निरूपक्रम अर्थात् विलम्ब से फल-प्रदान करने वाले। इन सोपक्रम तथा निरूपक्रम कर्मों में समय करने से, अपरान्त अर्थात् मृत्यु का ज्ञान होता है, अथवा अरिष्टों से भी मरणज्ञान हो जाता है।<sup>१</sup> इनमें जो कर्म तीव्र वेग से अपना फल अर्थात् आयु को नष्ट करने में संलग्न है, वे सोपक्रम कहलाते हैं, क्योंकि वे उपक्रम सहित अर्थात् अपने फलप्रदान रूप व्यापार से युक्त हैं। जो कर्म तत्काल फलप्रदान करके, कालान्तर में फल देने वाले हैं, वे निरूपक्रम कर्म कहलाते हैं, क्योंकि वे उपक्रमशून्य, अर्थात् तत्काल फलप्रसवरूप व्यापार से रहित हैं। इनमें समय करने से योगी को अपरान्त अर्थात् मृत्यु का ज्ञान हो जाता है इस शरीर का वियोग, किस काल में एवं किस अवस्था में होगा ? सोपक्रम एवं निरूपक्रम कर्म-भेद एकभक्तिक कर्माशय के ही होते हैं, क्योंकि इह जन्म में भोक्तव्य कर्म ही सोपक्रम एवं निरूपक्रम हो सकते हैं। आगामी जन्म, जिनका प्रारब्ध भी अनिश्चित है, उनके उपक्रम का तो कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

सोपक्रम एवं निरूपक्रम कर्म-विषयक संयम के अतिरिक्त अरिष्टों के द्वारा भी मरण-ज्ञान होता है। अरिष्ट का अर्थ है विपरीत चिह्न। “अरिखि त्रासयति इति अरिष्टम् सन्निहितमरण चिह्नम्” इस व्युत्पत्ति के अनुसार शत्रु के समान त्रास-दायक, सन्निहित मरण-सूचक चिह्न अरिष्ट कहलाते हैं। इन अरिष्टों के तीन भेद होते हैं :—आध्यात्मिक, आधिभौतिक और आधिदैविक।

### आध्यात्मिक—

“आत्मनि,<sup>२</sup> इति अध्यात्मम्, अध्यात्मम् भवम् इति आध्यात्मिकम्” इस व्युत्पत्ति के अनुसार शरीर रूप आत्मा के भीतर होने वाले अरिष्ट आध्यात्मिक कहे जाते हैं। उदाहरणार्थ अंगुली आदि से कान बंद करने पर भी अपने शरीर के अन्दर का घोष (शब्द) न सुनाई देना अथवा नेत्र मुद्रित करने पर ज्योतिकण न दिखाई देना आदि आध्यात्मिक अरिष्ट हैं।

### आधिभौतिक—

“भूते इति अधिभूतम् अधिभूतम् भवम् इति आधिभौतिकम्”, इस व्युत्पत्ति के अनुसार प्राणीरूप भूत में होनेवाला अरिष्ट आधिभौतिक कहलाता है। जैसे मरणा-

१. “सोपक्रम निरूपक्रम च कर्म तत्संयमात् अपरान्तज्ञानमारिष्टेभ्योवा”। (यो० सू० ३-२२)

२. कुछ व्याख्याकार आत्मनिअधि इति अध्यात्मम् कहते हैं। जो व्याकरण द्वारा असमीचीन है। भूते अधि भी भूतो होगा।

सन्न व्यक्ति अकस्मात् यमदूतो अथवा अतीत पितरो आदि को देखता है। यमदूत तथा मृत पिता, पितामह इत्यादि प्राणीरूप भूत है। अतः तन्सम्बद्ध अरिष्ट आधि-भौतिक कहलाते हैं।

### आधिदैविक—

व्युत्पत्तिभ्य अर्थानुसार देवसम्बन्धी अरिष्ट आधिदैविक कहलाता है—“देवे अधि इति अधिदेवम्, अधिदेवम् भवम् इति आधिदैविकम्”। सहसा स्वर्ग या सिद्ध आदि का दर्शन होना आधिदैविक अरिष्ट है अथवा सब कुछ विपरीत दिखाई देने लगना भी अरिष्ट है। जैसे धर्म में अधर्मबुद्धि हो जाना। मानवलोका में स्वर्लोक की बुद्धि हो जाना इत्यादि। इसी प्रकार प्राणी की मृत्यु के सान्निध्यकाल में उसकी प्रकृति भी बदलती देखी जाती है। जैसे उदार-वृत्ति व्यक्ति का कृपण हो जाना। अधार्मिक का धार्मिक हो जाना इत्यादि।

इस प्रकार अरिष्टोद्धार आसन्न-मृत्यु का भाव जन-सामान्य को भी हो जाता है, किन्तु अयोगी का यह ज्ञान परोक्ष एवं संदिग्ध होता है। योगी को निश्चित रूप से तथा देश, काल एवं अवस्था पूर्वक मृत्यु का अपरोक्ष ज्ञान होता है।

भारतीय समाज में मृत्यु का पूर्व-ज्ञान अत्यन्त आवश्यक एवं महत्वपूर्ण समझा जाता है। इसमें जीवन के अन्तिम दिनों में भजन-पूजन में एकाग्रता का उद्देश्य निहित है। गीता में मृत्युकालीन जीवन एवं विचारों को सयत् एवं नियमित रखने का विशेष उपदेश दिया गया है, क्योंकि जीव की मृत्युकालीन भावना पर ही मरणोपरान्त गति-निर्भर है। मृत्यु-विज्ञान के द्वारा परम पद तक प्राप्त हो सकता है, इससे अधिक और क्या कहा जाय ? श्रीमद्गीता (८/६) में भगवान् ने स्पष्ट घोषणा की है :—

“यं यं वापि स्मरन् भावं त्यजत्यन्ते कलेवरम् ।

तम् तमेवेति कौन्तेय सदा तद्भावभावितः ॥”

सोपक्रम तथा निरूपक्रम कर्मों में संयम करके योगी अनन्त शरीर धारण कर अल्प काल में अपना समस्त भोग समाप्त कर लेता है (तत्त्व०)। इस प्रकार मृत्युकालीन देश, काल एवं परिस्थिति का ज्ञान प्राप्त कर शीघ्र ही शरीर के बन्धन से मुक्त हो सकता है।

मैत्री आदि में संयम करने से मैत्री आदि का प्रकृष्ट बल प्राप्त होता

है।<sup>१</sup> प्रथम पाद सूत्र ६३ में चित्त-प्रसाद हेतु मैत्री, करुणा आदि भावनाओं का विधान है,<sup>२</sup> उन्हीं भावनाओं के निरन्तर प्रवाहरूप सयमात्मक दृढ अभ्यास से योगी को अत्यन्त प्रकृष्टरूप से मैत्री-बल, करुणा-बल, मुदिता बल प्राप्त होता है। इसके प्रभाव से योगी संसार के प्रत्येक व्यक्ति को मित्र बना कर सुखी कर सकता है। करुणा-बल से उनके दुःखों का साधन सहित निवारण कर सकता है तथा खिन्न-चित्तों को मुदिताबल से पूर्णतः आनन्दित कर सकता है और इस प्रकार स्वयं भी परम प्रसन्न रहता है। उसके हृदय से ईर्ष्या-द्वेष सम्यक् विनष्ट हो जाते हैं, तथा वह सर्वप्रिय एवं सबका परम विश्वासपात्र बन जाता है। जिसका जन्तु एव शत्रु भी उसके साथ वैर त्याग कर परम शान्ति का अनुभव करते हैं।

मनोविज्ञान का यह तथ्य सर्व विदित है कि—यदि हम गुण-विशेष या भावविशेष का आग्रहपूर्वक निरन्तर ध्यान करें, तो उस गुणविशेष की क्रमशः चरित्र में अधिकाधिक अभिवृद्धि होती जाती है। यहाँ तक कि वह हमारे चरित्र का अभिन्न अंग ही बन जाता है। सयम की अवस्था में यह प्रवृत्ति और भी प्रकृष्टरूप से एव शीघ्र गति से बढ़ती है, क्योंकि समाहित अवस्था में मस्तिष्क का चित्त का (चित्राधिष्ठानभूत) उस गुण विशेष से तादात्म्य हो जाता है। अतः योगी में ये गुण अत्यन्त उत्कृष्ट एवं सबलरूप से आविर्भूत होते हैं।

श्री आई० के० टैमनी का कथन है कि उत्साह (साहस) एवं दया जैसे स्पष्ट गुण अनिश्चित एवं धूमिल वस्तुएँ नहीं हैं जैसी कि वे अविकसित (निम्न-लोअर) मस्तिष्क को अवभासित होती हैं, वरन् उस असीम शक्ति के वास्तविक सजीव एवं क्रियाशील सिद्धान्त है, जिसका पूर्ण दिग्दर्शन निम्नस्तरीय जगत् में अपर्याप्त साधन-वश नहीं हो सकता है। जब हम किसी सिद्धान्त अथवा गुण का चिन्तन-मात्र करते हैं, तो उसकी कान्ति मन्द गति से ही स्फुटित होती (जैसी कि वह थी)। हमारे गम्भीर एव साग्रह चिन्तन की अभिवृद्धि के अनुरोध से यह कान्ति क्रमशः उज्ज्वलतर होती जाती है। यहाँ तक कि मस्तिष्क उसी में तालबद्ध हो जाता है, किन्तु किसी गुण विशेष में सयम किये जाने पर, मस्तिष्क जब उसी (गुण) में तन्मय हो जाता है, तब इसकी अभिव्यक्ति की कोई सीमा नहीं रहती है।<sup>३</sup>

१. “मैत्रयादिषु बलानि” ( यो० सू० ३/३४ )

२. “मैत्रीकरुणामुदितापेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादानम्”  
( यो० सू० १/३३ )

३. साइन्स ऑफ योग, पृ० ३२३।

चित्त-प्रसाद के हेतु भूत साधन-चतुष्टय मैत्री, कृष्णा, मुदिता एवं उपेक्षा मे से व्याख्याकारो ने उपेक्षा में संयम का कथन नहीं किया है, क्योंकि चित्त की उपेक्षा-वृत्ति भावनास्वरूप नहीं, अपितु परित्यागरूप है। उपेक्षा पापीजनों के प्रति कर्त्तव्य है। अतः उपेक्षा की भावना का अर्थ हुआ पापी पुरुषो का भी चिन्तन करना। चिन्तनीय विषय ही भावना-योग्य है। अतः उपेक्षा-वृत्ति को भावनापक्ष मे न्यस्त नहीं किया गया है। इसी से उसमे संयम का भी विधान नहीं है। संयम का विषय न होने से उपेक्षा से कोई बल प्राप्त नहीं होता है।

श्री भोज ने अपनी “राजमार्तण्डवृत्ति” में उपेक्षा में संयम का विधान करके, उसके फलस्वरूप उपेक्षाबल की प्राप्ति बतलाई है।

बल मे संयम करने से हस्ती आदि के समान बल प्राप्त होता है।<sup>१</sup>

हाथी, सिंह, वायु, वैनलेय आदि के बल एवं वेग मे संयम करने से, उनके समान बल एवं अव्याहत गति प्राप्त होती है। तात्पर्य यह है कि हाथी आदि जिस किसी का बलविषयक संयम किया जाता है, योगी को उसी के समान प्रकृष्ट बल प्राप्त होता है।

×

×

×

ज्योतिष्मती प्रवृत्ति के प्रकाशन्यास से सूक्ष्म, व्यवहित एवं विप्रकृष्ट अर्थात् दूर-देशस्थ वस्तुओं का ज्ञान होता है<sup>२</sup>। सम्प्रज्ञात एवं असम्प्रज्ञात समाधि के प्रसंग में चित्तस्थिति के प्रकरण में “विशोका ज्योतिष्मती प्रवृत्ति” का वर्णन किया गया है। उस ज्योतिष्मती प्रवृत्ति का संयम-द्वारा ज्ञेय विषय पर न्यास करने से उसका सम्यक् ज्ञान लब्ध होता है। चाहे वह विषय परमाणु की भौति अत्यन्त सूक्ष्म हो, भूमि अथवा पर्वत आदि व्यवधानों से व्यवहित हो, अथवा अत्यधिक दूर-देशस्थ हो। सूर्यादि के आलोक से घटपटादि प्रत्येक वस्तु का स्थूल नेत्र-ज्योति के क्षेत्रानुसार ज्ञान होता है। ज्योतिष्मती प्रवृत्ति मे विभु बुद्धिसत्त्व के साथ ज्ञातव्य वस्तु का संयोग होने पर उसका ज्ञान होता है। सामान्य इन्द्रियप्रणालीजन्य-ज्ञान से इसका क्षेत्र अत्यन्त विस्तृत है। ज्योतिष्मती की विषद भावना से हृदय में विश्वव्यापी आलोकभाव का विस्तार होता है।<sup>३</sup> अतः सूक्ष्म, व्यवहित एवं दूर-

१. “बलेषु हस्तिबलादीनि” ( यो० सू० ३-२४ )

२. “प्रवृत्त्यालोकन्यासात्, सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ।” ( यो० सू० २-३५ )

३. “विशोका वा ज्योतिष्मती” ( यो० सू० १-३६ )

४. पातञ्जल-योग-दर्शन—हरिहरानन्द आरण्य । पृष्ठ २५८ ।

देशस्थ प्रत्येक वस्तु का पूर्ण ज्ञान प्राप्त होता है। दिव्य-दृष्टि नामक क्षुद्र सिद्धि की की यह अन्तिम दिशा है।<sup>१</sup>

सूक्ष्मता, गूढ़ता एवं दूरस्थता, ये सब ज्ञानेन्द्रियों के क्षेत्र की सीमाओं के कारण ही हैं, वर्तमान युग में भी उच्च कोटि के विशुद्ध भौतिक जड़ साधनों के प्रयोग से, विज्ञानशास्त्र द्वारा इन सीमाओं का अतिक्रमण कर ज्ञानेन्द्रियों के क्षेत्र को बढ़ाया जा रहा है। दूरदेशस्थ वस्तु के निरीक्षण में दूरदर्शनयन्त्र ( टेलिस्कोप ), सूक्ष्म तत्त्व के अन्वेषण में सूक्ष्मदर्शनयन्त्र ( माइक्रोस्कोप ) तथा व्यवहित वस्तु के ज्ञान में एकसरे के उपकरण से नेत्रों को असाधारण सहायता मिलती है। कुछ दृष्टियों से ये प्रयोग आश्चर्यजनक होने पर भी जड़ साधनों की यह सहायता अन्ततः स्थूल-ज्ञानेन्द्रियों तक ही सीमित है। अतः स्थूल पञ्चभौतिक जगत् के परे तन्मात्र आदि के सूक्ष्म तथ्यों का उद्घाटन इनके द्वारा नहीं हो सकता है और वह यौगिक रीति से सयम करने पर ही प्राप्य है। फिर भी उपयुक्त आधुनिक प्रयोगों से इन तथ्यों का अनुमान तो हो ही सकता है। यह भी स्मरणीय है कि इन जड़ उपकरणों के प्रयोग भी विद्युत् पर आधारित हैं, जो कि स्थूल जगत् में प्रकाश एवं शक्ति का एक मुख्य प्रतीक है।

× × ×

सूर्य में संयम करने से समस्त भुवनो ( भुवनविन्यास ) का ज्ञान होता है।<sup>२</sup> इन भुवनो का विस्तार सप्त लोकसमूह है, अर्थात् अवीचि आदि सप्त महानरक, भूः, भुवः इत्यादि सात लोक एवं महातल, रसातल आदि सातो पाताल-समूह, सब भुवन कहलाते हैं। उनमें अवीचि नामक महानरक से प्रारम्भ कर मेरु-पृष्ठ पर्यन्त भूमि-लोक है ( भूलोक है )। सुमेरु पर्वत की पीठ से लेकर ध्रुव तारक पर्यन्त ग्रह, नक्षत्र एवं ताराओं से विचित्र अन्तरिक्ष लोक है। इसी को भुवः लोक भी कहते हैं। तत्पश्चात् पाँच प्रकार के स्वर्लोक है। जिनमें प्रथम तथा द्वितीय के नाम क्रमशः महेन्द्र एव प्राजापत्य है। इन स्वर्लोकों में दूसरे प्राजापत्य लोक को ही महर्लोक कहा जाता है, तदुपरान्त तीन प्रकार के ब्राह्मस्वर्लोक है, जो क्रमशः जनलोक, तपोलोक एवं सत्यलोक कहलाते हैं। “व्यासभाष्य” में इन लोकों के प्रमाण में सग्रह श्लोक दिया गया है।<sup>३</sup> इनका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है। प्रथम भूलोक, सबसे नीचे स्थित

१. पातञ्जल-योग-दर्शन—हरिहरानन्द आरण्य । पृष्ठ २५८ ।

२. “भुवनज्ञान सूर्यसयमात्” ( यो० सू० ३-२६ )

३. “ब्राह्मस्त्रिभूमिको लोक प्राजापत्यस्ततो महान् ।

माहेन्द्रश्च स्वरित्युक्तो दिविताराभुविप्रजा ॥” (द्रष्टव्य-व्या० भा० सू० ३-२६)।



है, तत्पश्चात् क्रमशः ऊपर की ओर भुवर्लोक, स्वर्लोक, महर्लोक, जनलोक, तपोलोक तथा अन्त मे सप्तम सत्यलोक स्थित है। पाँचो प्रकार के स्वर्लोक दुःख सम्बन्धशून्य तथा सुखप्रद होने से स्वर्गलोक कहलाते हैं।

भूर्लोक के अशभूत सप्त नरको एव पातालो का विवरण इस प्रकार है— भूमि के निम्नभाग मे स्थित लोको मे सब से नीचे अवीचि नामक महानरक है। उससे उत्तरोत्तर ऊपर की ओर, क्रमशः घन, सलिल, अनल, अनिल एवं आकाशलोक है। इन्ही के दूसरे नाम क्रमशः महाकाल, अम्बरीष, रौरव, महारौरव, कालसूत्र, एवं अन्धतामिस्र है। ये सातो महानरक भूमियाँ हैं। अन्य कुम्भीपाक आदि छोटे-छोटे नरक भी इन्ही के अन्तर्गत हैं। इन नरको में प्राणी स्वकृत अनन्त पापकर्मों को, दीर्घ-स्थायी आयु को ग्रहण करके, भोगते हैं। अतः इन नरको मे पापी जन-वर्ग का ही निवास है। पृथिवी के ही निम्नभाग मे इन सप्त महानरको के ऊपर महातल, रसातल, अतल, सुतल, वितल, तलातल तथा पाताल नामक सप्त पताल लोक हैं।<sup>१</sup>

“व्यासभाष्य” में भुवनो का अत्यन्त विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। यह स्मर्तव्य है कि सूत्रस्थ “सूर्य” का अर्थ स्थूल सूर्य नहीं, अपितु सूर्यद्वार है, जैसा कि “एतद्योगिना साक्षात्करणीयं सूर्यद्वारे सयमं कृत्वा ततोऽन्यत्रापि”, इस उक्ति से भी निर्विवाद सिद्ध है। मुण्डक उपनिषद् में, “सूर्यद्वारेण ते विरजा” आदि उक्तियों से, सूर्यद्वार का वर्णन किया गया है। अनेक टीकाकारो ने सूर्य-नाडी होने से प्रकृत सूत्रस्थ सूर्य का अर्थ ‘पिगला नाडी’ किया है, यह ऊपर भी प्रदर्शित किया जा चुका है। “विवरण” टीका मे “व्यासभाष्य” को सुगम बता कर इस सूत्र की व्याख्या नहीं की गई है।

श्री भोज तथा अनन्त पंडित ने सूत्रस्थ “सूर्य” का अर्थ सामान्य सूर्य लिया है, जिससे यही प्रकट होता है कि वे सूर्य शब्द से भौतिक सूर्य का अर्थ ग्रहण करते हैं। श्री नागोजी भट्ट एवं भावा गणेश ने सूर्यमण्डल का अर्थ ग्रहण किया है, किन्तु यह “व्यासभाष्य” से प्रमाणित किया जा चुका है कि सूर्य का अर्थ स्थूल भौतिक सूर्य नहीं सूर्यद्वार है। योगियों का अनुभव भी इस विषय में प्रमाण है। सूर्य अथवा सूर्यमण्डल में संयम करने से केवल सूर्य अथवा सूर्यमण्डल का ही ज्ञान होता है, चतुर्दश

१. पातालो का उक्त विन्यासक्रम व्यासभाष्य के अनुसार है। ग्रन्थान्तरो मे विशेष कर पुराणो में अतल, वितल, सुतल, तलातल, रसातल, महातल तथा पाताल यह क्रम ग्रहण किया गया है।

२. पातञ्जल योग प्रदीप—स्वामी ओमानन्द, पृष्ठ ५१७।

भुवनज्ञान नहीं होता—ऐसा संयम मर्मज्ञो का कथन है<sup>१</sup>। भुवन स्थूल तथा सूक्ष्म दोनो प्रकार के हैं, जिनमें अवीचि आदि नितान्त ज्योति-विहीन लोक भी सम्मिलित हैं। अतएव स्थूल भौतिक प्रकाश से उनका दर्शन अशक्य है। जहाँ तक स्थूल सूर्यालोक का विषय है, संयम से वही तक उसके द्वारा वस्तु का प्रकाश भी सम्भव है। स्पष्ट है कि सामान्य सूर्यालोक से समस्त भुवनज्ञान असम्भव है। जिस ऐन्द्रियिक प्रकाश में द्योतक आलोक अपेक्षित नहीं होता है, जिसमें अपने ही प्रकाश से अपनी अभिव्यक्ति होती है, ऐसी इन्द्रिय-शक्ति के द्वारा ही भुवनज्ञान हाता है<sup>२</sup>।

“संयम का स्वरूप तथा उसके अंग” शीर्षक में धारणा के प्रसंग में पिंड तथा ब्रह्माण्ड ( Microcosm & Macrocosm ) मार्ग की चर्चा के विषय में बतलाया जा चुका है। उनके सामञ्जस्यानुसार सुषुम्ना-गत चक्रों एवं भूः भुवः आदि लोको की एकता उक्त हुई है। समस्त लोकातीत आत्मा प्राणिवर्ग में गण्य है। विभु बुद्धि-सत्त्व इन्द्रियादि की वृत्ति तथा अशुद्ध्यावरण के कारण ही संकीर्णवत् रहता है। बुद्धि के प्रकाशावरण-क्षय की एक एक अवस्था के अनुसार प्राणी की क्रमशः उच्चतर लोको में गति होती है। विशुद्धि बुद्धि-सत्त्व की गति अव्याहत है। उसके लिये कुछ भी दूर अथवा समीप नहीं है। बुद्धि वृत्ति की शुद्धिमात्र से ब्रह्मादि लोको में पहुँचने की शक्ति प्राप्त हो सकती है। ( द्रष्टव्य-तत्त्व० )।

अतः स्पष्ट है कि सुषुम्ना में प्रवेश पाने से इन लोको का साक्षात्कार हो सकता है। सुषुम्ना में उक्त सूर्यद्वार है। श्री वाचस्पति मिश्र, श्री विज्ञान भिक्षु, हरिहरानन्द एवं राघवानन्द सरस्वती सदृश विद्वानों ने भी सुषुम्नाद्वार को ही सूर्य-द्वार बतलाया है और उसी में संयम का विधान कहा है। सुषुम्ना के विषय में “प्राणायाम” तथा “धारणा” के प्रसंग में बतलाया जा चुका है। सुषुम्ना शरीर का सर्वाधिक सूक्ष्म एवं प्रकाशशील अंग है। सूर्य से सम्बद्ध होने के कारण ही इसे सूर्यद्वार कहा गया है। इस विषय में योगवातिकार श्री विज्ञानभिक्षु ने मैत्रायणी उपनिषद् की—

“अनन्ता रश्मयस्तस्य दीपवद्यः स्थितो हृदि ।”

१. पत० यो० द० — ( स्वामी हरि० आ० ) पृ० २६२ ।

२. इस विषय में “Nightside of Nature” नामक ग्रन्थ में लिखा है—“The seeing of a clear seer,” says Dr. Passavant, “may be called a solar seeing, for he lights and interpenetrates his object with his own organic light. Chapter XIV.

ऊर्ध्वमेकः स्थितस्तेषां यो भित्त्वा सूर्यमण्डलम् ॥  
ब्रह्मलोकमतिक्रम्य तेन यान्ति परां गतिम् ।”

इस उक्ति को प्रमाणरूप में उद्धृत किया है। अर्थात् “हृदय में दीपवत् स्थित उस (द्रव्य) के अनन्त रश्मिसमूह है। उनमें से एक जो कि सूर्यमण्डल का भेदन करता हुआ ऊर्ध्व में स्थित है, उसी के द्वारा ब्रह्मलोक का उल्लघन करके परम गति प्राप्त होती है।” स्पष्ट है कि पूर्व वर्णित ज्योतिष्मती प्रवृत्ति की एक धारा विशेष ही सुषुम्नाद्वारा या सूर्यद्वार है। इस धारा-विशेष में संयम करने से ही सम्पूर्ण भुवनों का सम्यक् ज्ञान होता है। ब्रह्मयान पथगामी इसी सूर्यमण्डल में प्रवेश कर पुनः वहाँ से ब्रह्मलोक को जाते हैं। श्रुति भी कहलाती है—

“स आदित्यमागच्छति तस्मै स तत्र विजिहीते ।  
यथा लम्बरस्य (भास्करस्य) रवं तेन ऊर्ध्वआक्रमेत” ॥<sup>१</sup>

—(वृह० उपनिषद्)

इस सब प्रमाणों के आधार पर सूत्रोक्त “सूर्य” पद का अर्थ सूर्यद्वार ही सिद्ध होता है। केवल सूर्यद्वार में ही संयम करने से समग्र भुवन-ज्ञान नहीं होता है। अन्यत्र भी संयम करने से भुवन-ज्ञान सम्पन्न होता है। अतः योग के उपाध्याय द्वारा उपदिष्ट सूर्यद्वार से अन्यत्र भी सयम-द्वारा सम्पूर्ण भुवनो का ज्ञान प्राप्तव्य है। जब तक पूर्णरूप से समस्त भुवनो का साक्षात् न हो जाए, तब तक सयम का निरन्तर धैर्यपूर्वक अभ्यास करना चाहिये।

समस्त भुवनो का ज्ञान सूर्यद्वार में, अथवा योगोपाध्यायोपदिष्ट अन्य विषय में संयम करके प्राप्तव्य है, जैसा कि भाष्यकार की ‘ततोऽन्यत्रापि’ उक्ति में स्पष्ट है।

श्री स्वामी ओमानन्द सरस्वती ने अपने “पातञ्जल-योगप्रदीप” में प्रथम भौतिक सूर्य में ही सयम का उल्लेख किया है, तत्पश्चात् सूर्य के सूक्ष्म या आध्यात्म स्वरूप में संयम का विधान किया है। तदनुसार प्रथम सूर्य के भौतिक स्वरूप में संयम करने पर योगी को भूलोक एवं भुवलोक अर्थात् पृथ्वी एवं अन्तरिक्ष लोको का सामान्य साक्षात्कर होता है, जिसे इन दोनों के स्थूल लोको का अविशिष्ट ज्ञान होता है। इसी संयम में केवल पृथिवी को आश्रय करके दुबारा सयम करने से तद्गत् द्वीप, सागर, पर्वत एवं भूमि के अधोभाग में स्थित लोको का विशिष्ट परिज्ञान होता है।

इसी प्रकार केवल भुवःलोक को अवलम्ब कर सयम करने से अन्तरिक्ष के लोको का विशेष ज्ञान लभ्य है।

ध्यान की अधिकतर सूक्ष्म अवस्था में, उक्त सयम के अत्यधिक सूक्ष्म हो जाने पर, सूर्य के अध्यात्म स्वरूप विषयक सयम-द्वारा क्रमशः सूक्ष्मतर एव सूक्ष्मतर लोको, स्वः, महः, जन, तपः एवं सत्यलोक का भी ज्ञान प्राप्त होता है। साथ ही स्वामी जी वाचस्पति सम्मत मत से भी सहमत है। जिसके विषय में उन्होंने लिखा है कि—

“वास्तव में कुण्डलिनी जागृत हो जाने पर, सुषुम्ना नाडी में जब सारे स्थूल प्राणादि प्रवेश कर जाते हैं, तभी इस प्रकार के अनुभव होते हैं”। (पृष्ठ ५२३)

“साइन्स ऑफ योग” के लेखक श्री आई० के० टैमनी का भी मत ओमानन्द जी से मिलता-जुलता प्रतीत होता है। उन्होंने प्रथम जन-सामान्य के दृष्टिगम्य स्थूल भौतिक सूर्य में ही सयम बतलाया है और उसके फलस्वरूप भुवन-ज्ञान में भुवन पद का अर्थ सूर्य-मण्डल या सौर-जगत् (सोलर सिस्टम) किया है। इस सौर-मण्डल की रचना-विधि स्वयं निखिल सृष्टि की मौलिक इकाई है। सौर-मण्डल के रचनात्मक विधान विषयक ज्ञान में उसका भौतिक पक्ष मात्र निहित नहीं है, जिसका कि आधुनिक गणित-ज्योतिषविदों ने गम्भीर अध्ययन किया है। इसके अन्तर्गत सौरजगत् का सूक्ष्म पक्ष भी सम्मिलित है, जो हमारी दृष्टि के क्षेत्र से अन्तर्हित होने पर भी अत्यधिक रोचक एवं महत्वपूर्ण है। आधुनिक विज्ञान के दृष्टिकोण से, सूर्य सामान्यतः सम्पूर्ण सौर-मण्डल का हृत्केन्द्र या आत्मभूत तत्त्व है। यौगिक विधान पर आश्रित रहस्यात्मक अन्वेषणों ने यह सिद्ध कर दिया है कि सम्पूर्ण सौरजगत् में जितनी भी प्राणशक्ति की अभिव्यक्ति है, वह वस्तुतः सूर्य में ही केन्द्रित है। यहाँ सूर्य-सम्बन्धी गहन भावना का उद्घाटन इस तथ्य से होता है कि सौर-मण्डल वास्तव में परम-तत्त्व के प्राण और चेतनता की व्यजना का माध्यम मात्र है, जिसे हम ईश्वर या सौर-पुरुष कह सकते हैं।

सौर-मण्डल के विभिन्न स्तरों से जीवन एवं चैतन्य विभिन्न स्तरों में स्वयं आविर्भूत होता है, जो परस्पर एक-दूसरे में प्रविष्ट होकर एक सम्पूर्ण अखण्ड सत्ता का निर्माण करते हैं। सूर्य को श्रुतियों में प्राण कहा गया है।

क्योंकि सौरमण्डल के विभिन्न स्तर परस्पर सम्बद्ध हैं और इस समिश्रित रचना का केन्द्र भौतिक सूर्य है, अतः स्पष्ट है कि सूर्य के सयम से योगी के प्रति

सौरमण्डल के सम्पूर्ण आकार या रचना-विधान का उद्घाटन हो जायेगा। इतना ही नहीं हमारे भौतिक सौरमण्डल की रचना के साथ-साथ उन समस्त सौर-मंडलों का भी आपाततः ज्ञान प्राप्त होगा, जो समग्र नियति का निर्माण करते हैं।

ये सौरमण्डल, एक-दूसरे से भिन्न तथा अत्यधिक दूरी पर स्थित होने पर भी, वस्तुतः एक-दूसरे से सर्वथा स्वतंत्र नहीं हैं। वे सब एक ही सँचे में ढले हैं। एक ही चरम सत्य उन सबका मूल आधार है और वे सब के सब एक ही शक्ति-सामान्य (कॉमन) से जीवन प्राप्त करते हैं<sup>१</sup>। सूर्य-विज्ञानवित् जानते हैं कि सूर्य ही जगत् का प्रसविता है। तु०—सूर्य आत्मा जगतः तस्मुषश्च, (ऋग्वेद) इसी से सूर्य का एक नाम “सविता” भी है—

“सविता सर्वभावानां सर्वभावांश्चसृजते ।

सवनात् प्रेरणाच्चैव सविता तेन चोच्यते<sup>२</sup> ॥”

सूर्य से ही जगत् की सृष्टि, स्थिति और प्रलय सब कुछ होता है —

“सूर्याद् भवन्ति भूतानि सूर्येण पालितानि तु ।

सूर्येलयं प्राप्तुवन्ति यः सूर्यः सेऽहमेव च<sup>३</sup> ॥”

अनागत तत्त्व के विषय में—“सर्वं सर्वात्मकम्” भगवान् व्यास की इस उक्तिरूप सिद्धान्त के मूल में भी यही सूर्य विज्ञान है। सूर्य-विज्ञान का ज्ञाता सब कुछ कर सकता है। सूर्य की रश्मियों के संयोग और वियोग से प्रत्येक पदार्थ का, न केवल भावपरिवर्तन, अपितु संहार एवं निर्माण भी होता है। सक्षेप में सूर्य की रश्मियों के शुद्ध स्वरूप को पहचान कर, उनकी योजना कर सकना ही “सूर्यविज्ञान” का प्रतिपाद्य विषय है<sup>४</sup>।

कुछ भी हो, ब्रह्माण्ड-ज्ञान-प्राप्ति हेतु, सूर्य के सूक्ष्म अथवा आध्यात्मिक स्वरूप में संयम अनिवार्य है। इस विषय में ननुनच के लिये कोई स्थान नहीं। भले

१. साइन्स ऑफ योग, आई० के० टैमिनी, पृ० ३२७।

२. बृहत्-योगि याज्ञवल्क्य ( ६/५५-५६ )

३. सूर्योपनिषद्

४. सूर्य विज्ञान क्या है, इस विषय में श्री गोपीनाथ कविराज की “भारतीय संस्कृति और साधना” के “सूर्य विज्ञान-रहस्य”—शीर्षक में पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। स्वामी विशुद्धानन्द जो सूर्य विज्ञान के परम ज्ञाता थे, उनकी अनेक अलौकिक घटनाओं का भी इस पुस्तक में उल्लेख है। ( पृष्ठ ४१६-४४२ )

ही प्रारम्भिक अवस्था में भौतिक सूर्य को संयम का विषय बनाया जाय, अन्ततः सूक्ष्म पक्ष में निवेश अनिवार्य है। सूर्य में संयम से क्यों और कैसे सम्पूर्ण भुवनज्ञान होता है, इसका स्पष्टीकरण भलीप्रकार, अत्यन्त वैज्ञानिक ढंग से किया जा चुका है। संयम के ये विविध विषय योगशास्त्र की वैज्ञानिकता के ज्वलन्त उदाहरण हैं, यह आगे भी स्पष्ट होगा।

×

×

×

चन्द्र में संयम करने से तारा-व्यूह का परिज्ञान होता है।<sup>१</sup> ताराव्यूह अर्थात् ताराओं की स्थिति। कौन सा ताराव्यूह (तारासमूह) किस स्थान पर स्थित रहता है, इत्याकारक ज्ञान चन्द्रमा में संयम करने पर प्राप्त होता है। चन्द्र में संयम से ताराओं के विविध समूहों के प्रकार, जैसे आकाश-गंगा (Galaxies) इत्यादि का ज्ञान होता है। यह सूत्र इस वैज्ञानिक (सिद्धान्त) तथ्य का ज्वलन्त उदाहरण है कि किसी बाह्य-दृग्विषय (दृश्य) में संयम के प्रयोग से उसके मौलिक आधारभूत नियम का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।

गणित-ज्योतिष की विधि से आकाश सम्बन्धी अध्ययन ने, न केवल हमारे क्षितिज को विस्तृत किया और मानवीय दृग्विषय के परे, विविध तारापुञ्ज एवं विश्वों का ज्ञान प्रदान किया, वरन् इसने विभिन्न तारा-समूहों के माध्यमिक सम्बन्ध विषयक भल्लक प्राप्त करनेकी प्रेरणा भी दी है। दूरदर्शनयन्त्र की शक्ति-वृद्धि की प्रत्येक गति-विधि के साथ नवीन आकाशगंगा और नवीन विश्व हमारे अनुभव-क्षेत्र के विषयी-भूत होते हैं और रचनात्मक अनन्त प्रकृति को प्रमाणित करते हैं। समस्त दिव्य ज्योतिषिण्ड, जो आकाश में अनियमित रूप से बिखरे हुए प्रतीत होते हैं, एक निश्चित ढंग से विभिन्न समूहों में विभक्त हैं और एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। इस प्रकार उपग्रह सामूहिक रूप में एक-एक ग्रह के चारों ओर घूमते हैं, ग्रहसमूह केन्द्रीय सूर्य की परिक्रमा करते हैं और सूर्यगण, जो हमें ताराओं के विशालसमूह के रूप में दिखलाई देते हैं, आकाशगंगा कहलाते हैं तथा अनेक ग्रहसमूहों के योग से एक विश्व (यूनिवर्स) का निर्माण होता है।<sup>२</sup> अन्तरिक्ष जगत् के इन सूर्य-चन्द्र, नक्षत्रादि का दृश्य, सामान्यतः भूलोकवासियों को क्रमहीन तथा असम्बद्ध सा दिखलाई देता है, पर जिसने भी ज्योतिष-विज्ञान का गहन अध्ययन किया है, वह जानता है कि ज्योतिष-विज्ञान के तथ्यों के आधार में एक बहुत बड़ा विधान है।

१. “चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम्”—यो० सू०—३-२७।

२. साइन्स ऑफ योग—आई० के० टैमिनी—पृ० ३२८।

ज्योतिष का प्रत्यक्ष निदर्शन, जो विविध वर्गीकरणों एवं गतिविधियों से विचित्र है, उसका समग्र ज्ञान समय-द्वारा हो सकता है। चन्द्र द्वारा पृथ्वी का परिक्रमण एक ऐसा ही जीता-जागता छोटा-सा दृष्टान्त है। यह समस्त वर्गीकरणों एवं गतिविधियों की आवश्यक विशेषताओं का प्रतीक है। अतः योगी के मस्तिष्क में चन्द्र-विषयक समय से नक्षत्रों के रचना-विधान की सारभूत प्रकृति का उद्घाटन होता है।

इसका विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—ज्योतिष के सिद्धान्तानुसार प्रत्येक ग्रह प्रत्येक राशि पर एक निश्चित समय तक स्थिर रहता है। पृथ्वी एक-एक राशि पर एक-एक मास तक ठहरती हुई एक वर्ष में बारहों राशियों का परिक्रमण करती है। चन्द्र एक ही चन्द्रमास में बारह राशियों पर घूम कर पृथ्वी की परिक्रमा कर लेता है। अतः चन्द्र के समय से योगी को राशि-चक्र का ज्ञान शीघ्रता एवं सुगमतापूर्वक हो जाता है। क्योंकि ज्योतिष का यह तथ्य है, सब ग्रहों की अपेक्षा चन्द्र प्रत्येक राशि पर सब से कम समय तक स्थिर रहता है। अतः ताराव्यूह-राशि की आकर्षण एवं विकर्षण-शक्ति से चन्द्र निकटतम सम्बद्ध है।<sup>१</sup>

अनेक टीकाकारों ने चन्द्र का अर्थ इडा नाडी किया है, जो कि सुषुम्ना के बाई ओर स्थित है,<sup>२</sup> किन्तु व्यास, वाचस्पति, भिक्षु सट्ठ विद्वानों ने इसका संकेत नहीं किया है।

श्री वाचस्पति मिश्र एवं श्री विज्ञानभिक्षु ने इस सूत्र को ही यथावत् दोहराते हुए “भाष्यं सुगम” लिख कर छोड़ दिया है। विवरणकार शंकर ने सामान्य रूप से चन्द्र शब्द का व्यवहार किया है।

श्री राघवानन्द सरस्वती ने “व्यासभाष्य” का ही संक्षेप में अनुकरण किया है। श्री भावागणेश एवं नागोजीभट्ट ने चन्द्र का अर्थ चन्द्रमण्डल किया है। श्री भोज, रामानन्द यति, अनन्त पंडित एवं सदाशिवेन्द्र सरस्वती ने सामान्य चन्द्र का अर्थ ग्रहण किया है। साथ ही यह भी उल्लेख किया है, कि सूर्य, तारा, नक्षत्रादि का अभिभावक है, अतः सूर्य-विषयक समय से ताराव्यूह विज्ञात नहीं होता है।

श्री हरिहरानन्द आरण्य ने अपनी भास्वती में सूत्रस्थ चन्द्र का अर्थ सूर्यद्वार की भाँति चन्द्रद्वार किया है। चन्द्रद्वार कहाँ है ? इस विषय में उनका मत

१. “पातञ्जल योग-प्रदीप”—स्वामी ओमानन्द—पृ० ५२२-५२३।

२. “पातञ्जल योग-प्रदीप”—स्वामी ओमानन्द—पृ० ५२२-५२३।

है कि चन्द्र ठीक द्वार नहीं होता है। योग के ग्रन्थान्तरो मे नासाग्र आदि में चन्द्र के भिन्न-भिन्न स्थान बतलाए गये हैं। यथा चक्षुसम्बन्धी चन्द्र के विषय मे “तालुमूले च चन्द्रमा” यह उक्ति है और भी “नासाग्रे शशधृग्विम्बम्” आदि अनेक वचन इस विषय मे प्रमाण हैं। स्वामीजी के “पातञ्जल-योगदर्शन” मे चन्द्रद्वार के सम्बन्ध मे लिखा है कि “सुषुम्ना द्वारा उत्क्रान्ति होने पर जैसे सूर्य के साथ सम्पर्क रहता है, अतः उसका नाम सूर्यद्वार है, वैसे ही चक्षु इत्यादि इन्द्रियो-द्वारा उत्क्रान्ति होने पर चन्द्र सम्बन्धी लोक की प्राप्ति होती है, अतः इसका नाम चन्द्र या चन्द्रद्वार है।”

यह स्वामी जी को भी स्वीकार है कि सूर्यद्वार की भौति यहाँ सौषुम्न प्रज्ञा का कोई प्रयोजन नहीं है। चन्द्र मे सूर्यालोक प्रतिफलित है। सामान्य इन्द्रियसाध्य ज्ञान के ही अत्युत्कर्ष से ताराव्यूह ज्ञेय है, जैसा भास्वती के “चक्षुरादिबाह्येन्द्रियानिष्ठानेषु सयमादिन्द्रियोत्कर्षस्तत आलोकित वस्तुज्ञान न च सूर्यद्वारवत् स्वालोकेन विज्ञानम्”— इस कथन से स्पष्ट है।

चन्द्र विषयक सयम के प्रसंग मे श्री व्यास, वाचस्पति, विवरणकार गकर प्रभृति विद्वानो ने चन्द्रद्वार का कथन नहीं किया है। यहाँ चन्द्र शब्द का विवक्षित अर्थ क्या है, यह स्पष्ट नहीं होता।

×

×

×

सूर्य, चन्द्र, ध्रुव आदि मे सयम, का अर्थ एक प्रकार से चाटकयाग है जिसके द्वारा योगी सूर्य मे तथा चन्द्र और ध्रुव मे स्थित होकर उक्त आलोक से अवबोधन प्राप्त कर लेता है। ध्रुव-तारा मे संयम करने से ताराओ की गति का ज्ञान होता है।<sup>१</sup> सूत्र मे “तत्” शब्द अन्य ताराओ का परामर्शक है, ध्रुव का नहीं। ध्रुव तो निश्चल है। प्रथम चन्द्र मे सयम करके ताराव्यूह का ज्ञान प्राप्त करके पुनः ध्रुव-विषयक सयम से उन ताराओ की गति का ज्ञान प्राप्त होता है, ताराओ के स्वरूप ज्ञान-बिना ही ध्रुव मे सयम करने से उनकी गति का ज्ञान नहीं हो सकता है। इसीलिये पहले चन्द्रमा मे सयम प्रयुक्त करके उनकी स्थिति का ज्ञान आवश्यक है। अतः पहले चन्द्र मे सयम कहा गया है।

ध्रुव की निश्चलता प्रसिद्ध है। शेष सभी तारा चल है। भले ही उनकी गतियाँ, शीघ्र अथवा मन्द होने से, विभिन्न हो। गति एक आपेक्षिक वस्तु है, यह

१. भास्वती—३-२७ ।

२. “ध्रुवे तद्गतिज्ञानम्”—यो० सू० ३-२८ ।



एक नितान्त वैज्ञानिक तथ्य है कि विशुद्ध गति का लक्षण नहीं किया जा सकता है। किसी अचल विषय के सम्बन्ध से ही गतिविधियों को नापा जा सकता है। समस्त गतिविधियों का यही आधारभूत नियम है। ध्रुव-तारा ( पोल-स्टार ) अन्य सब ताराओं से सम्बद्ध है और यह निश्चलता का प्रतीक माना जाता है। अतः इसमें संयम करने से नियत देश एवं काल सहित प्रत्येक तारा की गति का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है। नियत देश-काल अर्थात् इतने समय में कोई विशिष्ट तारा या ग्रह आदि अमुक राशि अथवा अमुक नक्षत्र में जाएगा इत्यादि।

श्री टैमनी का मत है कि ध्रुव में संयम करने से ध्रुव-तारा के स्थूल स्वरूप का संयम नहीं समझना चाहिये, जो कि उस नाम को धारण करता है, वरन् गतिविधि के उस नियम में संयम मानना चाहिये, जिसका कि वह ( ध्रुवतारा ) प्रतीक है। इस मूल एवं मुख्य प्रतीक में संयम करने से गतिविधियों के अन्य भी समस्त उपनियम ज्ञात हो जायेंगे।<sup>१</sup> किन्तु यह मत अनुभव और शास्त्र सम्मत न होकर केवल काल्पनिक ही होता है।

इस सूत्र की व्याख्या करते हुए भाष्यकार व्यास ने ऊर्ध्वविमान-विषयक संयम भी कहा है। भाष्योक्त “ऊर्ध्वविमानेषु” शब्द की शंकर आदि ने व्याख्या नहीं की है, ऊर्ध्व-विमान शब्द का ही प्रयोग किया है। वाचस्पति ने सूत्र २७ से ३१ तक की “निगदव्याख्यातम्” कह कर व्याख्या नहीं की है। अन्य व्याख्याकारों ने भी इस सूत्र की अत्यन्त सूक्ष्म व्याख्या की है। श्री भिक्षु ने “ऊर्ध्वविमान” का अर्थ “आदित्यादिरथ” किया है, वह किस प्रकार है, यह स्फुट नहीं हो पाता। किन्तु यह पुराण में प्रतिपादित सूर्य चक्र-भ्रमण अध्याय में उपलब्ध होता है। स्वामी हरिहरानन्द ने ज्योतिष्कनिलय अर्थ किया है। ठीक अर्थ क्या है, यह साधना परायण ही समझ सकते हैं।

×

×

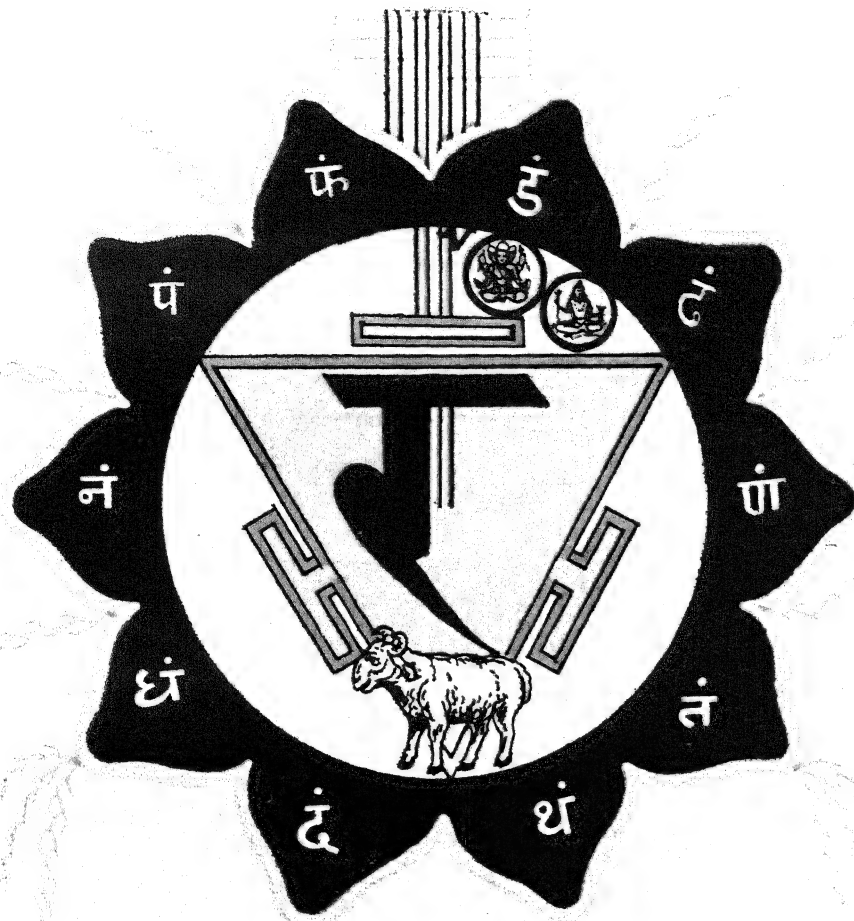
×

नाभिचक्र में संयम करने से काय-व्यूह अर्थात् शरीर की बनावट का ज्ञान हो जाता है।<sup>२</sup>

१. “साइन्स ऑफ योग”—पृ० ३२६-३०।

२. “नाभिचक्रे कायव्यूहज्ञानम्”—यो० सू० ३/२६।

टि०—पतञ्जलि तथा उनके व्याख्याकारों ने चक्रों का विवरण नहीं दिया है, पर  
—आगामी पृष्ठ पर



**मरिगोल चक्र**



**अनाहत चक्र**

शरीर की बनावट के ज्ञान से तात्पर्य है—शरीर-निर्माण करने वाली सप्त धातुओं के विन्यासक्रम दोष-त्रय का ज्ञान। शरीर में तीन दोष सदैव विद्यमान रहते हैं। वात, पित्त और श्लेष्मा (कफ)। सुश्रुत में इन्हें सत्व, रज तथा तम रूप

(गत पृष्ठ का शेषांश)

इसका तात्पर्य यह नहीं कि वे इन्हें अस्वीकार करते हैं। यहाँ पर स्पष्ट ही “चक्र” शब्द का उल्लेख हुआ है। ये पद्म (चक्र) सात हैं। मूलाधार, स्वाधिष्ठान, मणिपूर, अनाहत, विशुद्ध, आज्ञा और सहस्रार। इन सातों चक्रों के अतिरिक्त भी मानस-चक्र, ललाट-चक्र, सोम-चक्र (गुरुचक्र) तथा ललना-चक्रादि का भी वर्णन कही-कही पाया जाता है, परन्तु मूलाधारादि, उपर्युक्त सात ही प्रधान हैं। योग-प्रक्रिया में ये ही अधिक उपयोगी हैं तथा अन्य चक्र भी इन्हीं से सम्बद्ध एवं इन्हीं के अन्तर्गत हैं। षट्चक्र भेदनोपरान्त सहस्रार में अवस्थिति ही पूर्वोक्त (धारणा के प्रसंग में) मार्ग-धारणा या ज्योतिर्धारणा है।

( १ ) मूलाधार—इसमें चार दल हैं। रक्त वर्ण तथा यह गुदामूल से दो अंगुल ऊपर एवं उपस्थमूल से दो अंगुल नीचे स्थित है। चारों दलों पर क्रमशः व, श, ष, और स, ये चार वर्ण अंकित हैं। इसका पृथिवी तत्व है तथा अधिपति देवता चतुर्भुजी डाकिनी शक्ति के साथ चतुर्भुज ब्रह्मा है। इस चक्र के नीचे, त्रिकोणयन्त्र जैसा सूक्ष्म योनिमण्डल का वर्णन तान्त्रिक ग्रंथों में पाया जाता है, जिसके बीच सुषुम्णा (सरस्वती) नाडी, दक्षिण कोण से पिण्डला (यमुना) नाडी और वाम कोण से इडा (गंगा) नाडी निकलती है। अतः इसे मुक्त-त्रिवेणी भी कहते हैं। सुषुम्णा में ब्रह्मनाडी है, जिसके मुख में स्वयम्भू लिंग है। इस स्वयम्भू-लिंग को आवेष्टित करके, कुण्डलिनी साढ़े तीन कुण्डल से लिपटी हुई, शख के आवर्तन के समान स्थित है। मूल शक्ति अर्थात् कुण्डलिनी शक्ति का आधार होने से इसे मूलाधार चक्र कहते हैं। Pelvic Plexus के स्थूल स्वरूप से इसके सूक्ष्म स्वरूप का संकेत किया जा सकता है। इसका भूर्लोक से सम्बन्ध है। यह अपान वायु का मुख्य स्थान है।

( २ ) स्वाधिष्ठान चक्र—(हाइपोगेस्ट्रिक प्लेक्सस) इसका स्थान मूलाधार पद्म से दो अंगुल ऊपर पेंडू के पास है। वर्ण सिन्दूरी रंग के प्रकाश से युक्त है। इस पद्म में ६ पखुड़ी हैं। जिसपर, व, भ, म, य, र और ल, ये छ अक्षर अंकित हैं। जल तत्व है। अधिपति देवता चतुर्भुजी राकिनी शक्ति के साथ विष्णु है। भुव लोक है। व्यान वायु का मुख्य स्थान है।

( ३ ) मणिपूर चक्र—(एपिगेस्ट्रिक प्लेक्सस) या (सोलर प्लेक्सस) इसका स्थान नाभिमूल है।

—आगामी पृष्ठ पर

त्रिगुणभूलक विभाग बतलाया गया है। सप्त धातुएँ त्वचा, रक्त, मांस, स्नायु, अस्थि, मज्जा तथा शुक्र है। इन्हीं से शरीर बना है। शरीर में शुक्र सबसे भीतर स्थित है। तत्पश्चात् क्रमशः मज्जा, अस्थि ( हड्डी ), स्नायु ( नाडीजाल ), मांस रक्त और त्वचा बाहर की ओर स्थित है।

१. पात यो० द० ( हरि० आ० )—पृ० २६६।

टिप्पणी—सांख्ययोग के सत्व, रज, तम पर आधारित वात, पित्त और श्लेष्मा (कफ), ये विकारत्रय वैद्यकशास्त्र के मूल आधार हैं। यह सूत्र व इसका व्यासभाष्य दोनों इस बात की स्पष्ट सूचना देते हैं। शरीर-विज्ञान के सम्यक् तत्व भी इसमें निहित हैं।

(गत पृष्ठ का शेषांश)

आकृति नीले रंग के प्रकाश से युक्त, दस-दल-कमल के सदृश है। दसो पखुड़ियों पर दलो के अक्षर—ड, ढ, ण, त, थ, द, ध, न, प, फ हैं। इन दसो वर्णों की ध्वनियाँ भी निकलती हैं। अग्नि तत्व है। अधिपति देवता अपनी चतुर्भुजी शक्ति लाकिनी के साथ रुद्र है। स्व लोक। समान वायु का मुख्य स्थान है।

( ४ ) अनाहत चक्र—(Cardiac Plexus) स्थान हृदय के पास। आकृति सिद्धीरग के प्रकाश से उज्ज्वल बारह पखुड़ी के कमल जैसी है। पखुड़ियों के वर्ण—क, ख, ग, घ, ङ, च, छ, ज, झ, ञ, ट, और ठ, हैं। तत्व वायु है। अधिष्ठातृ देवता ईशान रुद्र अपनी त्रिनेत्रा चतुर्भुजी शक्ति कामिनी के साथ। महर्लोक है। प्राण वायु का मुख्य स्थान है।

शिव-सार तंत्र के अनुसार अनाहत ध्वनि का यही स्थान है। यह ध्वनि-साक्षात् परमशिवरूप शब्दब्रह्म है। त्रिगुणमय ओकार यही व्यक्त होता है—

“शब्द ब्रह्मेति त प्राह साक्षाद्देव सदाशिव।

अनाहतेषु चक्रेषु स शब्द परिकीर्त्यते ॥” ( परापरिभिल्लोल्लास )

( ५ ) विशुद्ध चक्र—(कैरोटिड प्लेक्सस)—स्थान कण्ठदेश। आकृति धूम्र-रंग के प्रकाश से उज्ज्वलित १६ पखुड़ी के कमल-तुल्य है। १६ दलो के अक्षर अ, आं, इ, ई, उ, ऊ, ऋ, ॠ, ल, ए, ऐ, ओ, औ, अ, अ हैं। तत्व आकाश। अधिष्ठातृ देव, पञ्चमुख सदाशिव चतुर्भुजी शक्ति शाकिनी के साथ है। इस स्थान पर मन की स्थिति होने पर मन आकाशतुल्य स्वच्छ हो जाता है। जन लोक है। उदान वायु का मुख्य स्थान।

( ६ ) आज्ञाचक्र (मेडुला प्लेक्सस)—इसका स्थान दोनों भ्रुवों के मध्य भृकुटी में है। आकृति श्वेत प्रकाश वाले द्विदल कमल के तुल्य है। दलो के वर्ण ह और क्ष हैं। तत्व महत् है।

—आगामी पृष्ठ पर

बोधाधिष्ठानो का विकार वायु ( वात ), सचारक अश का विकार पित्त और स्थितिगोल अश का विकार श्लेष्मा ( कफ ) है। चरक एव सुश्रुत प्रभृति वैद्यक शास्त्र के ग्रन्थो मे इन सबका विशेष विवरण है। स्वामी हरिहरानन्द आरण्य ने इस विषय का स्पष्टीकरण किया है।<sup>१</sup>

१. पात० यो० द०—( हरि० आ० )—पृ० २६६।

टिप्पणी—सांख्ययोग के सत्व, रज, तम पर आधारित वात, पित्त, और श्लेष्मा (कफ), ये विकारकृत्य वैद्यक शास्त्र के मूल आधार हैं। यह सूत्र व इसका व्यासभाष्य दोनों इस बात की स्पष्ट सूचना देते हैं। शरीर-विज्ञान के सम्यक तत्व भी इसमें निहित हैं।

(गत पृष्ठ का शेषार्थ)

अविपति देवता, ज्ञान-दाना शिव अपनी षडानना चतुर्हस्ता शक्ति हाकिमी के साथ। इडा, पिंगला और सुषुम्णा का मिलन-स्थान होने से इसे “युक्त त्रिवेणी” भी कहते हैं। आज्ञा चक्र शिवनेत्र, दिव्यदृष्टि का मन्त्र (Organ of Clairvoyance) कहलाता है। पाश्चात्यो के Pineal gland और pituitary Body आज्ञा-चक्र की दोनों पंखुडियों के सकेतक हैं। इसके विकसित होने पर ये दोनों मांस-पिंड दिव्यशक्ति सम्पन्न बनते हैं। इस चक्र से सम्बद्ध लोक तप है। यहाँ पर प्राण एव मन स्थिर होने पर सम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है।

( ७ ) सहस्रार (Cerebral Plexus) स्थान तालु के ऊपर मस्तिष्क ब्रह्म-रन्ध्र के ऊपर सर्व शक्तियों का केन्द्र है। आकृति विविध रंग के प्रकाश से युक्त सहस्रदल कमल जैसी है। दलो पर अ से क्ष तक समस्त वर्णों की २० बार पुनरावृत्ति हुई है। तत्त्व तत्त्वातीत है। अधिष्ठातृ देवता, पराशक्ति सहित परब्रह्म है। सत्य लोक है। कतिपय विद्वानों के अनुसार, अगुष्ठमात्र हृदय पुरुष का यही स्थान है। यही पर आत्मा के ज्ञान के प्रकाश से प्रतिविम्बित चित्त है। (इस विषय में मतभेद है, जिनका विवरण ३/३४ की व्याख्या में द्रष्टव्य है)। सहस्रार में चित्तस्थिति होने पर असम्प्रज्ञात समाधि सिद्ध होती है। चक्रों का यह वर्णन “पातञ्जल-योगप्रदीप” के आधार पर किया गया है। आर्थर एवलान ने “सर्पेन्ट पावर” में एक थियोसोफी मतानुयायी लेखक के अनुभव का उल्लेख करके बतलाया है कि सहस्रार में सहस्र पंखुडियाँ नहीं हैं। इसमें ठीक ९६० पंखुडियाँ हैं वे लिखते हैं—“And corrects the number of petals of the lotus in the head, which he says is not a thousand, as the books of this Yoga say, “but exactly 960.” लेखक का मत है कि यहाँ पर सहस्र शब्द केवल विशालता का प्रतीक है। “Thousand” is, here, only symbolic of magnitude. (The Serpent Power, page—7)

विज्ञानभिक्षु, श्री भोज, भावागणेश, नागोजी भट्ट, अनन्त पंडित एवं स्वामी ओमानन्द ने नाभिचक्र की जो व्याख्या की है, उसके अनुसार, शरीर के मध्यभाग में स्थित षोडश अरो से युक्त नाभिचक्र, शरीर में सर्वत्र विस्तृत नाडी-जाल आदि का मूल एवं विशिष्ट सस्थान तथा नियामक है। अतः इसमें संयम करने से शरीर की रचना का विज्ञान होता है।<sup>१</sup> स्वामीजी द्वारा उक्त नाभिचक्र “मणिपूर चक्र” नहीं है, क्योंकि उसमें १० ही पखुडी है।

श्री आई० के० टैमनी ने भी लिखा है—यह नाभिचक्र और नाडी-जाल ( सोलर-प्लेक्सस ) या मणिपूर चक्र नहीं है, वरन् उसी से सम्बद्ध एक चक्र है, जो प्राणमयकोष के अन्तर्गत है।

योगसुधाकरकार श्री सदाशिवेन्द्र सरस्वती ने नाभिचक्र मणिपूर-चक्र ही बतलाया है। मणिप्रभाकार ने भी उक्त नाभिचक्र मणिपूर ही माना है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि सदाशिवेन्द्र सरस्वती योगी थे—ऐसी प्रसिद्धि है। भाष्यकार व्यास, वाचस्पति मिश्र, विवरणकार शंकर, राघवानन्द एवं हरिहरानन्द सरस्वती ने इस विषय का स्पष्टीकरण नहीं किया है। अतः यह नहीं कहा जा सकता है कि उक्त नाभिचक्र मणिपूर नहीं ही है।

×

×

×

कण्ठ-कूप में संयम करने से क्षुधा एवं पिपासा की निवृत्ति होती है।<sup>२</sup>

जिह्वा के नीचे मूल में सूत के समान एक नस है। इस तन्तु<sup>३</sup> ( नस ) के अधोभाग में कण्ठ ( Larynx ), कण्ठ के निम्नभाग में स्थित गर्ताकार प्रदेश कण्ठकूप ( Trachea ) कहलाता है। इसी में प्राण का स्पर्श होने पर प्राणी को भूख एवं प्यास सताती है। अतः कण्ठकूप में संयम करने से प्राण-स्पर्श की निवृत्ति हो जाने से योगी को क्षुधा-पिपासा बाधा नहीं पहुँचाती है।<sup>४</sup>

१. द्र० योगवार्त्तिक, भोजवृत्ति, नागोजी भट्ट वृत्ति, योगचन्द्रिका ( यो० सू० ३।२६ ) तथा “पातञ्जल-योगप्रदीप”—पृ० ५२४।

२. “कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा निवृत्ति ” ( ३/३० )

३. तन्तु वाक्यत्र का अंश विशेष है, इसे वोकल कार्ड भी कहते हैं।

४. डाक्टर औषधि के प्रयोग से शरीर में जिस प्रतिक्रिया को उत्पन्न करने का प्रयत्न करता है, योगी उसे प्राणों के गति-प्रवाह के वशीकरण एवं नियमन-द्वारा ही कर सकता है।

—आगामी पृष्ठ पर

श्री भिक्षु तथा भावागणेश ने कण्ठकूप का स्थान हृदय पर्यन्त बतलाया है ।

कूर्म-नाडी मे संयम करने से स्थिरता प्राप्त होती है ।<sup>१</sup> उपर्युक्त कण्ठकूप के निम्नभाग मे हृदय मे कच्छप (कछुआ) के आकार की एक नाडी है । इसे कूर्म-नाडी कहते हैं । इस नाडी मे संयम करने से अङ्गि स्थिरता प्राप्त होती है । जैसे कुण्डलिनसर्प तथा गोघ (गोह ) के स्थिर बैठ जाने पर उनकी इच्छा के विरुद्ध उन्हें कोई हिला भी नहीं सकता है । सूत्रोक्तस्थैर्य में चित्तस्थैर्य भी समाविष्ट है ।

मूर्ध-ज्योति मे संयम करने से सिद्ध-पुरुषो का दर्शन प्राप्त होता है ।<sup>२</sup> मस्तक के कपालप्रदेश के मध्यस्थ भास्वर छिद्र है । इसे मूर्ध-ज्योति कहते हैं । इस मूर्ध-ज्योति मे संयम करने से आकाश एव पृथिवी के मध्य मे विचरण करने वाले सिद्ध पुरुषो का दर्शन एव सम्भाषण प्राप्त होता है ।

श्री वाचस्पति मिश्र ने “मूर्धज्योति” से सुषुम्ना नाडी का अर्थ ग्रहण किया है ।<sup>३</sup> श्री भिक्षु ने “अन्तः प्रभास्वर स्वप्रकाशक ज्योति” कह कर इसकी व्याख्या की है । श्री भोज ने इस छिद्र को ब्रह्मरन्ध्र कहा है और उक्त ज्योति को सम्पिण्डित हृदयस्थ सात्त्विक प्रकाश बतलाया है । भावागणेश ने इसे शिरःकपालान्तर्वर्ती भौतिक ज्योति कहा है । नागोजी भट्ट ने, शिरःकपालान्तर्वर्ती सुषुम्नानाडीस्थ

१. “कूर्मनाड्या स्थैर्यम्” ( यो० सू० ३/३१ )

टि० हरिहरानन्द आरण्य ने कूर्मनाडी का विवरण देते हुए बतलाया है कि ब्रौञ्चिकन ट्यूब ही कूर्मनाडी है ।

२. “मूर्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम्” ( यो० सू० ३-३२ )

३. “मूर्धशब्देन सुषुम्ना नामा नाडी लक्ष्यते” । ( त० वै० )

मूर्धज्योति सम्बन्धी विशिष्ट विवरण के लिये द्रष्टव्य श्री रामशंकर भट्टाचार्य का लेख “A wrong Interpretation of the word Jyotish in the Vyas bhasya. 3-1. ( Journal of the yoga Institute—XV (9).

(गत पृष्ठ का शेषांश)

यह बात सुप्रसिद्ध है कि भूख, प्यास आदि की अनुभूति, शरीर के विभिन्न भागो मे स्थित ग्रन्थियो के उद्रेचन ( रसस्राव ) पर निर्भर है । अतः इन कार्यशील ग्रन्थियो की कार्यशक्ति अवरुद्ध करके, तज्जन्य अनुभूतियो को भी रोका जा सकता है । महर्षि पतञ्जलि ने शरीर-विज्ञान सम्बन्धी इन क्रियाओ का सविस्तार प्रतिपादन नहीं किया है, क्योंकि अज्ञान इन विषयो मे उलझ कर अपने आपको हानि पहुँचा सकते हैं ।



भौतिक ज्योति कहा है। अनन्त पण्डित तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती ने इसे सुषुम्ना के योग से भास्वर ब्रह्मरन्ध्र बतलाया है। प्रसिद्ध विद्वान श्री गोपीनाथ कविराज ने “मृत्युविज्ञान और परमपद” के प्रसंग में मूर्धस्य भास्वर छिद्र की चर्चा करते-हुए उसे ब्रह्मरन्ध्र कहा है और उसे सुषुम्ना से साक्षात् सम्बद्ध बतलाया है। सारांश यह है कि यह ब्रह्मरन्ध्र सुषुम्ना-द्वारा चित्त के सात्विक प्रकाश से भास्वर है।<sup>१</sup>

स्यूल दृष्टि से इस छिद्र का कार्य शरीर की श्लेष्मा का निष्कासन है। अंग्रेजी में इसे Pituitary Body कहते हैं। औषधि-विज्ञान में प्रचलित शरीर विज्ञान सम्बन्धी अन्य कार्यों के अतिरिक्त आत्मिक स्तर से सम्बन्ध-स्थापना भी इसका एक महत्वपूर्ण व्यापार है, जिस पर कि सिद्धों की चेतनता क्रियाशील है। ध्यान के द्वारा जब इस (ब्रह्मरन्ध्र) को कार्यशील बनाया जाता है तब यह निम्नस्तरीय एवं उच्चस्तरीय चैतन्य के मध्य सेतु का प्रयोजन सिद्ध करता है और मस्तिष्क को उच्चस्तरीय जगत् के प्रकाश के सन्निवेश-योग्य बनाता है। योगी के लिये सिद्ध तभी सुलभ हो सकते हैं जब वह उनके स्तर तक उठ कर सिद्धों के साथ सम्पर्क स्थापित कर सके, किन्तु भौतिक शरीर के उक्त विभाग में ध्यानमात्र से इस प्रकार के सम्पर्क की क्षमता नहीं प्राप्त हो सकती है। यह तो उस प्रकाश में सयम किये जाने पर भी संभव है, जिसकी यह इन्द्रिय एक माध्यममात्र है।<sup>२</sup>

संयम के पूर्ववर्णित समस्त विषयों का साक्षात्कार प्रातिभ ज्ञान के द्वारा भी होता है। अर्थात् तद्, तत् विषयों के सयम द्वारा उन सबका भिन्न-क्रम पूर्वक ज्ञान होता है, अथवा केवल प्रातिभ ज्ञान-द्वारा उन सब का यूगपद् ज्ञान हो जाता है।<sup>३</sup>

श्री वाचस्पति मिश्र प्रभृति के अनुसार ऊह ( तर्कना ) को प्रतिभा कहते हैं। तद्विषयक सयम से उत्पन्न-ज्ञान प्रातिभ कहलाता है। यह ज्ञान पुरुष को ससार-सागर से तारने वाला है। अतः इसी को तारकज्ञान भी कहा गया है।<sup>४</sup> इस प्रातिभ-ज्ञान के उत्पन्न होने पर योगी को सयम के समस्त विषयों का, बिना सयम के, इच्छामात्र से ज्ञान हो जाता है। यह प्रतिभ-ज्ञान विवेकज्ञान का ही पूर्व लिङ्ग है, जिसके आलोक से प्रथम पुरुष से विविक्त समस्त अनात्म पदार्थ स्वतः आलोकित हो उठते हैं। तदुपरान्त पुरुष का वास्तविक स्वरूप प्रकट होता है।

१. भा० स० और सा० प्र० ख०, पृ० ४७२।

२. साइन्स ऑफ योग—आई० के० टैमिनी-पृष्ठ ३३३-३३४।

३. “प्रतिभाद्वा सर्वम्” ( यो० सू० ३-३३ )

४. योग सू० ३/५४, व्या० भा० ३/३३।

विभूतिपाद के ही अन्तर्गत आगे इसे (प्रातिभ ज्ञान को) अक्रम सार्वज्ञसिद्धि कहकर समझाया गया है। अनात्म-विषयक ज्ञानकी यह चरम सीमा है। जिस प्रकार सूर्योदय से पूर्व, उसी (सूर्य) की प्रभा के प्रकाश से सम्पूर्ण जगत् आलोकित हो उठता है, उसी प्रकार उपर्युक्त प्रातिभ-ज्ञान के उदित होने पर योगी भूत, भविष्य तथा वर्तमानगत प्रत्येक पदार्थ को यथार्थ रूप में जान सकता है। अर्थात् सर्वज्ञ हो जाता है।

प्रातिभ ज्ञान (इन्ट्यूशनल इन-साइट) के लिये किसी बाह्य निमित्त की आवश्यकता नहीं होती है। वह अन्दर से अकस्मात् स्वतः प्राप्त होता है और अनौपदेशिक होता है।

“जैसे दर्पण में अपना प्रतिबिम्ब दिखलाई देता है, उसी प्रकार प्रातिभ ज्ञान के आलोक से एक साथ भीतर बाहर सर्वत्र परमेश्वर की सत्ता प्रत्यक्ष प्रतीत होने लगती है। सारा विश्व ही उनका घनीभूत रूप-सा भासने लगता है। इस अवस्था में हेयोपादेय-बोध न रहने के कारण साधक के, तुच्छ एवं परिछिन्न सिद्धियों के आश्रयभूत तत्प्रकार के निर्दिष्ट ध्यान छूट जाते हैं और सदा के लिए एकमात्र परम-वस्तु की भावना ही जागरूक रहती है। इस भावना की दृढ़ता से ही जीवन्मुक्ति प्राप्त होती है”<sup>१</sup>। वस्तुतः दुर्बल-चित्त साधक में विश्वासोत्पत्ति ही सिद्धियों का उद्देश्य है। सिद्धियों के आविर्भाव से साधन-कर्त्ता को यह विश्वास हो जाता है कि देहपात के अनन्तर मुक्ति अवश्यम्भावी है, किन्तु ज्ञान की तीव्रता एवं विश्वास की पूर्णवस्था में सिद्धियों के प्रति उदासीनता हो जाती है और एकमात्र परमतत्त्व की भावना दृढ़ होती है। उस अवस्था में जीवन्मुक्ति निश्चित है। प्रातिभ ज्ञान के विषय में महामहोपाध्याय श्रीयुत् डा० गोपीनाथ कविराज ने “भारतीय संस्कृति और साधना में” लिखा है कि “शिव, शक्ति तथा जीव ही वस्तुतः प्रातिभ-विज्ञान के रूप में प्रादुर्भूत होते हैं”<sup>२</sup>।

पूर्व वर्णित संयमजन्य समस्त सिद्धियों संसारविषयक होने से क्षुद्र कोटि की बतलाई गई है। इसके आगे विवेकज्ञान रूप संयम की मुख्य सिद्धि का प्रतिपादन किया गया है, जिसके उपक्रम में सर्वप्रथम संयम के हेतुभूत चित्त के साक्षात्कार का कथन हुआ है। चित्त का निवासस्थान हृदय-कमल में है। अतः हृदय में संयम करने से चित्त का साक्षात्कार होता है।<sup>३</sup>

१. “भारतीय संस्कृति और साधना” (गोपीनाथ कविराज, पृष्ठ २३४) शक्तिपात रहस्य)

२. पृष्ठ २३५।

३. “हृदये चित्तसवित्” (यो० सू० ३-६४)

हृदय शरीर का एक अत्यन्त विशिष्ट-स्थल है। प्राण का भी यही मुख्य केन्द्र है। भगवान् व्यास ने इसे ब्रह्म का पुर तथा विज्ञान-आगार बतलाया है। (तुल०—हृदि ब्रह्मपुरे ह्येष व्योम्नि आत्मा प्रतिष्ठितः)। अतः यही चित्त निवास-स्थान है। जिस प्रकार भौतिक एवं सूक्ष्म पक्षद्वय की दृष्टि से, सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड, या सौर जगत् का प्राणभूत सूर्य उसका हृत्केन्द्र है और सम्पूर्ण सौर जगत् में आवश्यक शक्ति प्रस्फुरित करता है, उसी प्रकार जीवात्मा के वाहक माध्यमों का सामान्य केन्द्र—जो उन्हें प्रेरित करता है—तन्त्रशास्त्र में हृदय ही बतलाया गया है।<sup>१</sup>

वैसे शरीर में जीवात्मा का कौन सा स्थान है, इस विषय में कोई एक निश्चित उत्तर नहीं दिया जा सकता है। जीवात्मा शरीर में सर्वव्याप्त है और अवस्था भेद से उसके अनेक स्थान निर्दिष्ट किये गए हैं, जिनका विवरण यहाँ अनावश्यक है।

स्वामी ओमानन्द के अनुसार चित्त ही कारण शरीर है। इस चित्त पर ही आत्मा के ज्ञान का प्रकाश पड़ता है। कारण शरीर के सम्बन्ध से ही आत्मा की जीवात्मा संज्ञा होती है। यह कारण शरीर सूक्ष्म शरीर में और सूक्ष्म शरीर स्थूल शरीर में व्याप्त है। इस प्रकार कार्य-भेद से इसके अनेक स्थान हैं।<sup>२</sup> कुछ भी हो उन सब स्थानों से हृदय-स्थल ही विशिष्ट है, क्योंकि अन्ततः हृदयाकाश में ही जीव विश्राम पाता है। श्रुति भी है—“य एष विज्ञानय पुरुषस्तदेषां प्राणानां विज्ञानेन विज्ञानमादय य एषोऽन्तर्हृदय, आकाशस्तस्मिन्-च्छेते”।<sup>३</sup>

विक्षिप्त चित्तशक्ति चांचल्य परित्याग कर, हृदयदेश में सो जाती है। स्थिर चित्त नाडी मार्ग में नहीं रुकता, क्योंकि नाडी-जाल चित्त संचार के मार्गमात्र है। चित्त-स्थैर्य के क्रमानुसार नाडीचक्रस्थ-वायुमण्डल भी संकुचित हो जाता है और अन्ततः हृदयाकाश में प्रविष्ट होकर, चापल्य-शून्य, शान्त एवं पूर्ण स्थिर हो जाता है। तत्कालीन मन को निरुद्धवृत्तिक स्थिति होती है। इस अवस्था को लक्ष करके ही हृदयविषयक संयम से चित्त-संवित् प्राप्त होती है। इसी दृष्टि से भगवान् व्यास ने दहर आकाश में अर्थात् हृदय में विज्ञान-वेश्म अर्थात् चित्त का निवास-स्थान बतलाया है :—

१. साईन्स-ऑफ योग, पृ० ३३६।

२. पात० यो० प्र०, पृ० २३६।

३. बृहदारण्यक उपनिषद् ( २/१/१७ )

“यतो निर्याति विषयः यस्मिंश्चैव प्रलीयते ।  
हृदयं तद्विजानीयान्मनसः स्थितिकारणम् ॥”

हृदयाकाश मे विश्रान्त चित्त की उक्त स्थिति का विशेष विवरण “भारतीय सस्कृति और साधना” में दिया गया है। उसे विस्तार भय से प्रस्तुत नहीं किया जा रहा है।<sup>१</sup> दैहिक अस्मिता का केन्द्र हृदय ही है—यही शरीर का सर्वाधिक प्रकाशशील अंश है। आत्म एव शरीर का सधिस्थान भी हृदय ही है। मस्तिष्क विज्ञान का यन्त्र अवश्य है, किन्तु अस्मिता मे पहुँचने के लिये हृदय का ध्यान प्रशस्त है। विज्ञान (चित्त) का मूल केन्द्र अहंकारत्मिका (अस्मिता) बुद्धि है। जो हृदय के ध्यान-द्वारा ही साक्षात्कारणीय है। अस्मिता की समाधि मे हृदयाकाश का ही ध्यान किया जाता है। मस्तिष्क चैत्तिक केन्द्र है। हृदय-प्रदेश मे ध्यान से सूक्ष्म अस्मिता प्राप्त की जाती है। पुनः सूक्ष्म धारावाहिक क्रम से मस्तिष्क के अन्तरंग देश में पहुँचने पर अस्मिता का सूक्ष्मतम केन्द्र उपलब्ध होता है। इस अवस्था में हृदय एव मस्तिष्क एक हो जाते हैं। इस प्रकार हृदय मे संयम करने से चित्त का ज्ञान होता है।

यहाँ पर हृदय शब्द से रक्त संचार नाडी-जालादि के केन्द्रभूत यन्त्र से नहीं वरन् हृदयकमल अर्थात् अनाहत चक्र का अर्थ ग्रहण करना चाहिये। वस्तुतः यह आध्यात्मिक देश है। उसी को भगवान् व्यास ने ब्रह्मपुर बतलाया है। ब्रह्म शब्द आत्मा का द्योतक है।<sup>१</sup> इस हृदय-पुण्डरीक मे ही विज्ञान का घर है, अर्थात् चित्त का निवास स्थान है। तद्विषयक संयम से वह अघोमुख कमल ऊर्ध्व एवं विकासोन्मुख होकर, तद्गत् चित्त का विशिष्ट ज्ञान होता है। यह वक्ष्यमाण पुरुषज्ञान का सोपान-स्वरूप है।

×

×

×

अत्यन्त भिन्न, बुद्धि एवं पुरुष का पारस्परिक अभेदज्ञान ही भोग है। जो परार्थ (पुरुष के लिये) है, उससे भिन्न स्वार्थ-प्रत्यय (पौरुषेय ज्ञान) में संयम करने से पुरुष का साक्षात्कार होता है।<sup>१</sup>

१. भ० स० और सा० ( प्रथमखण्ड )-पृ० ४६६-४७० ।

२. तत्त्व० ( ३/३४ )

३. “सत्त्वपुरुषयोरत्यन्तासङ्कर्णयोः प्रत्यया विशेषो भोग परार्थात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्” ।  
( यो० सू० ३-३५ )

सत्त्वप्रधान प्रकृति का प्रकाशात्मक एवं सुखात्मक परिणामस्वरूप बुद्धि ही सत्त्व कहलाती है। चेतन आत्मा पुरुष कहलाता है। ये सत्त्व एव पुरुष दोनो सर्वथा भिन्न हैं, क्योंकि बुद्धि-सत्त्व या चित्त परिणामी, जड़, अद्रष्टा, सान्त एव भोग्य है तथा पुरुष शुद्ध, चैतन्यस्वरूप, अपरिणामी, समस्त विषयो का द्रष्टा और अनन्त एवं भोक्ता है। ये दोनो अत्यन्त विपरीत स्वभाव होने पर भी बुद्धि में प्रतिबिम्बित होकर पुरुष उससे अभिन्न प्रतीत होता है। यह पुरुष एव बुद्धि की अभेद-प्रतीति ही सूत्रगत (प्रत्यय-अविशेष) अविशेष प्रत्यय है, जिसके कारण जड़ चित्त के सुख-दुःख, मोहादि प्रत्ययो का चेतन पुरुष में अध्यारोप होता है। अतः पुरुष में सत्त्व से कुछ भी विशेषता नहीं ज्ञात होती बुद्धि एव पुरुष का अविशेष-प्रत्यय ही भोग है। इसी दृष्टि से बुद्धि-पुरुष को भोग्य तथा पुरुष भोक्ता कहलाता है। बुद्धि की यह भोगा-वस्था पुरुष के भोग-हेतु होने से परार्थ कहलाती है। इस परार्थ-प्रत्यय से अन्य, चेतनमात्र को आश्रय करने वाली पुरुष-विषयक प्रज्ञा स्वार्थ-प्रत्यय कहलाती है, क्योंकि वह किसी अन्य के लिये नहीं, वरन् स्वयं पुरुष के आत्म-स्वरूप में ही प्रयोजनवती है।

यह भी सर्वदा स्मरणीय है कि वस्तुतः पुरुष शुद्ध चैतन्य स्वरूप मात्र होने से प्रत्येक पदार्थ से सर्वथा असम्बन्धित है। वस्तुतः भोगादि-चित्त के धर्म होने से-चित्त में ही होते हैं। भोग रूप चित्त-क्रिया का पुरुष निर्विकार द्रष्टा है। जिस भाषा को हम सोचते हैं, वह व्यवहार दृष्टि से प्रयुक्त हुई है। अतः यह व्यवहारातीत वस्तु के लिये उपयुक्त नहीं है, ऐसा समझ कर ही शब्द प्रयोग होता है। ज्ञान जितना सूक्ष्म होता है, व्यवहार उतना सूक्ष्म नहीं हो सकता। अन्तःकरण के तीन धर्म हैं प्रख्या (ज्ञान), प्रवृत्ति एव धृति (संस्कार), तदनुसार ही पुरुष को अधिष्ठाता, भोक्ता आदि कहा जाता है। सांख्य-योग के सिद्धान्तानुसार पुरुष के द्रष्टृभाव और भोक्तृभाव की सिद्धि का विवरण इस प्रकार है—अन्तः ज्ञान का द्रष्टा=द्रष्टा, प्रवृत्तिद्रष्टा=भोक्ता, संस्कार या धृति-द्रष्टा=अधिष्ठाता। अतः इस दृष्टि से पुरुष भोक्ता होने पर भी अपरिणामी है। द्रष्टा पुरुष अन्तःकरण न रहने पर शान्त चित्त का द्रष्टा होगा। सुख-दुःखादि के भोक्तृभाव का पुरुष में औपचारिक आरोप होता है, जो बुद्धिवृत्ति से साथ तादात्म्यप्रतीतिवश ही होता है। रज एव तम के मालावरण नष्ट हो जाने पर, रूप बुद्धि सत्त्वप्रधान होकर अत्यन्त निर्मल हो जाती है, उस अवस्था में पुरुष रूप चैतन्य उसमें विशेष रूप से प्रतिबिम्बित होता है। उस समय बुद्धि-सत्त्व में पुरुष प्रत्ययमात्र प्रतिभासित होता है अर्थात् उस काल में पुरुष का चैतन्य बुद्धि में स्वस्वरूप मात्र अर्थ को प्रकाशित करता है। यही बुद्धिगत पुरुष का “स्वार्थप्रत्यय” कहलाता है।

इसी स्वार्थ-प्रत्यय में संयम करने से पुरुष के वास्तविक स्वरूप का ज्ञान होता है। विवेकख्याति के उदय-पर्यन्त योगी पुरुषोत्तर सम्पूर्ण प्रकृति के तत्वों का साक्षात्कार करके यह जान लेता है कि पुरुष इससे भिन्न है। तत्पश्चात् पुरुष-प्रत्यय में संयम-द्वारा शुद्ध चैतन्य तत्व का साक्षात्कार करता है।

शका हो सकती है कि जब पौरुषेय-प्रत्यय (स्वार्थ-प्रत्यय) में संयम करने से पुरुष-साक्षात्कार विषयिणी प्रज्ञा उत्पन्न होती है, तो उस प्रज्ञा-द्वारा ज्ञेय होने से पुरुष उक्त प्रज्ञा का विषय हुआ, जिससे उसकी स्वयं प्रकाशता असिद्ध होगी। सरल शब्दों में क्या पुरुष बुद्धि का ज्ञेय विषय है, यही इस शका का स्वरूप है, किन्तु उक्त शका निर्मूल है। चेतन पुरुष ही स्वयं सब विषयों का द्रष्टा एव ज्ञाता है, अतः जब बुद्धि के द्वारा वह ज्ञेय कथमपि नहीं हो सकता है। वस्तुतः शुद्ध चेतन पुरुष ही स्वयं बुद्धि-सत्त्व में प्रतिविम्बित होकर स्वात्मावलम्बनरूप-प्रत्यय अर्थात् अपने स्वरूप को प्रकाशित करने वाली वृत्ति को देखता है। अतः पुरुष बुद्धि-वृत्ति का विषय नहीं प्रत्युत स्वयं प्रकाश है। इस विषय में भाष्यकार श्री व्यास ने बृहदारण्यक उपनिषद् की—“विज्ञातारमरे केन विज्ञानीयात्” (२/४/१४), इस उक्ति को भी प्रमाणरूप में उद्धृत किया है। सबके विज्ञाता नित्यज्ञानस्वरूप पुरुष को भला किस (साधन) के द्वारा जाना जा सकता है। स्पष्ट है कि पुरुष किसी भी प्रमाणजन्य बुद्धि-वृत्ति का विषय नहीं, वरन् स्व-प्रकाश है। जिस समय पुरुष चैतन्य बुद्धिगत प्रतिविम्ब के रूप में प्रकाशित होता है—तब उस पुरुष-प्रतिविम्बित बुद्धि-वृत्ति में ही पुरुष विषयिणी प्रज्ञा का आरोप किया जाता है। अतः तत्कालीन बुद्धिवृत्ति अज्ञानवश ही पुरुषविषया प्रज्ञा कही जाती है। यही कारण है कि स्वार्थ-प्रत्यय ही पुरुष विषयक संयम का भी विषय बनता है, क्योंकि शुद्ध पुरुष संयम का विषय नहीं बन सकता है। प्रकृत संयम-विषयक प्राप्त प्रज्ञा ही पुरुष विषयिणी अन्तिम प्रज्ञा है। इसके उपरान्त बुद्धि का विलय होने पर स्वस्वरूपावस्थिति अथवा कैवल्य प्राप्त होता है।

“सत्त्वपुरुषयोरत्यन्ता सङ्कीर्णयोः प्रत्ययाविशेषो भोगः परार्थात्स्वार्थसंयमात्पुरुषज्ञानम्” (३/३५)। इस सूत्र के भाष्य में भगवान् व्यास ने कहा है कि स्वार्थ-प्रत्यय में संयम करने से उत्पन्न होने वाली पुरुष-विषयिणी प्रज्ञा-द्वारा अविवेक की निवृत्ति होने पर पुरुष स्वयं प्रकाशरूप से भासित होता है। किन्तु श्री विज्ञानभिक्षु ने इस प्रकार पुरुष के ही ज्ञेय एव ज्ञाता होने से आत्माश्रय दोषारोपण करके, “पुरुष स्वयं प्रकाश रूप से भासता है” इसका खण्डन करके, वृत्तियुक्त पुरुष को ज्ञाता और वृत्ति रहित पुरुष को ज्ञेय मान कर उक्त दोष का परिहार करके कहा है कि—

“पुरुष अपने स्वरूप को स्वयं विषय बनाता है—किन्तु इसी सूत्र के भाष्यान्त के “विज्ञातारमेरे केन विजानीयात्”, इस श्रुति की व्याख्या में कहा है—“मोक्षकाले बुद्ध्यादिविलमात् केन करणेन तदानीं विज्ञातारमात्मानं पुरुषो विजानीयात्” अर्थात् मोक्षकाल में बुद्धि आदि समस्त साधनों के लीन हो जाने पर, उस समय किस साधन से विज्ञातारूप आत्मा को पुरुष जानेगा ? क्योंकि जब मोक्षकाल में वृत्ति ही नहीं है, तो “वृत्यवच्छिन्न पुरुष के “ज्ञाता” और तदनवच्छिन्न पुरुष के ज्ञेय होने का प्रश्न ही नहीं उठता है।” किन्तु भिक्षुजी की उक्त व्याख्या साधना के साथ पूर्वावस्था की है। श्री वाचस्पति मिश्र, श्री भोज, राघवानन्द सरस्वती, हरिहरानन्द आरण्य नागोजी भट्ट, प्रभृति सभी प्रसिद्ध विद्वानों ने पुरुष के स्वप्रकाशकत्व की प्रकारान्तर से पुष्टि की है।

×

×

×

पूर्ववर्णित “स्वार्थप्रत्यय” में समय से, उसका मुख्य फल “पुरुष का साक्षात्कार” प्राप्त होता है। साथ ही उक्त समय के द्वारा पुरुषज्ञान से पूर्व अन्य गौण सिद्धियाँ भी उत्पन्न होती हैं, जिसके नाम प्रातिभ, श्रावण वेदन, आदर्श, आस्वाद तथा वार्त्ता हैं।<sup>१</sup>

ज्ञान प्राप्ति के छः साधन हैं, मन तथा पंच ज्ञानेन्द्रियाँ अर्थात् श्रोत्र, त्वक्, चक्षु, रसना और घ्राण। सामान्य जन इन छहों साधनों के द्वारा लौकिक अर्थात् अदिव्य ज्ञान प्राप्त करते हैं। “स्वार्थ-प्रत्यय” में समय करने से योगी के इन षट् करणों में दिव्य सामर्थ्य प्रादुर्भूत होता है, जिनके योगान्तर्गत शास्त्रीय अभिधान क्रमशः प्रातिभ, श्रावण वेदन, आदर्श आस्वाद एवं वार्त्ता हैं।

उनमें प्रातिभ के द्वारा सूक्ष्म, व्यवहित, दूरदेशस्थ तथा भूत एवं भविष्य-कालीन पदार्थों का ज्ञान होता है।

श्रावण से दिव्य श्रवण, वेदन से दिव्य स्पर्श, आदर्श से आलौकिक प्रत्यक्ष या दिव्य दर्शन, आस्वाद से आलौकिक रस तथा वार्त्ता से दिव्य गन्ध का विशिष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। ये षट् सिद्धियाँ समय के बिना, इच्छा न रहने पर, नित्य प्राप्त होती हैं।

“ततः प्रातिश्रावणवेदनादर्शस्वादवार्त्ता जायन्ते”, इस सूत्र के “ततः” पद

---

१. “ततः प्रातिभश्रावणवेदनाऽऽदर्शस्वादवार्त्ता जायन्ते” । ( यो० सू० ३-३६ )

का अर्थ भिक्षु जी ने “पुरुषसाक्षात्कार” किया है। इस प्रकार पुरुषसाक्षात्कार से प्रातिभ, श्रावण आदि सिद्धियाँ इन्द्रियो को प्राप्त होती है, ऐसा सूत्रार्थ किया है; किन्तु ये सिद्धियाँ पुरुष-साक्षात्कार से पूर्व की उपलब्धियाँ हैं और तभी इनके प्रयोग का लाभ भी है। अन्यथा पुरुषसाक्षात्कारोपरान्त इन सिद्धियों का महत्व ही क्या है, जो कि पुरुष-साक्षात्कार की अपेक्षा अत्यन्त गौण एवं नगण्य है। वस्तुतः पुरुष साक्षात्कार से पूर्व ही ये सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं। यही मत श्री वाचस्पति, भोज प्रभृति योगाचार्य को भी मान्य है।

भोज ने समययुक्त इन्द्रियो की इन योग्यताओं को बतलाते हुए “वेद्यतेऽनया इति वेदना” अर्थात् स्पर्शेन्द्रिय का ज्ञान। ‘आसमन्तात् दृश्यतेऽनुभूयते रूपमनेन इति आदर्शः’ अर्थात् नेत्रेन्द्रिय के ज्ञान से योग्यता एवं “वर्तते गन्धविषये इति वृत्तिः, वृत्तेर्गन्धेन्द्रियाज्ज्ञाता वार्त्ता गन्धसवित्” इस प्रकार इन तीनों की व्युत्पत्ति प्रदर्शित की है। प्रातिभ, श्रावण और आस्वाद अपने नाम से ही स्पष्ट है। ये सब व्युत्थान दशा की तो सिद्धियाँ हैं, किन्तु समाधावस्था व्यवधानस्वरूप होकर पुरुष के साक्षात्कार में बाधक है। ऐसा ही अग्रिम सूत्र—“ते समाधावुपसर्गा व्युत्थानेसिद्धयः”<sup>१</sup> से भी सुस्पष्ट है। “योगसारसंग्रह” में श्री भिक्षु जी ने भी, “सिद्धयःपुरुषज्ञानस्य लिङ्गभूता आदौ जायन्ते प्रातिभश्रावणवेदनादर्शास्वादवात (वार्त्ता) सज्ञका” कह कर, इसी तथ्य को स्वीकार किया है।<sup>२</sup>

श्री भावागणेश ने भी इस विषय की अच्छी व्याख्या की है। श्री नागोजीभट्ट, रामानन्द यति, एवं अनन्त पंडित आदि सब विद्वानों ने, स्पष्टरूप से अथवा कुछ शब्दों के हेर-फेर के साथ, श्री भोज का ही अनुकरण किया है।

श्री हरिहरानन्द अरण्य एवं राघवानन्द सरस्वती ने इस विषय में श्री वाचस्पति का अनुकरण किया है।

“योग-सुधाकर” के रचयिता श्री सदाशिवेन्द्र सरस्वती तथा राघवानन्द सरस्वती प्रभृति विद्वानों ने दिव्य शक्ति से सम्पन्न श्रोतादि इन्द्रियो की ही “श्रावण” आदि तान्त्रिकी सज्ञा स्वीकार की है, वह युक्ति-सगत नहीं प्रतीत होती है, क्योंकि श्रावण आदि का अर्थ दिव्य-शक्ति से सम्पन्न श्रोतादि न होकर श्रोतादि की अपूर्व

१. यो० सू० ३/३० ।

२. यो० सा० स०, पृ० ६२ ।



सामर्थ्य ही है। यही अन्य विद्वानों का भी अभिमत है और यही “श्रावण” आदि शब्दों की व्युत्पत्ति से भी प्रकट होता है।

पूर्वोक्त छहों प्राप्तियाँ व्युत्थानावस्था की दृष्टि से तो सिद्धियाँ हैं, किन्तु (पुरुष विषयक) समाधि की अवस्था में विघ्नस्वरूप है<sup>१</sup>, यही सूत्रकार ने भी स्पष्ट कहा है। अतः मोक्ष-जिज्ञासु को इनकी प्राप्ति से ही कृतार्थ होकर उनमें नहीं रमना चाहिये, प्रत्युत स्वार्थ-प्रत्यय के समय से जन्य मुख्य फल पुरुष-प्रत्यक्ष-हेतु सतत प्रयत्नशील रहना चाहिये।

×

×

×

सूत्रकार ने पुरुषदर्शन-पर्यन्त दिव्यज्ञान रूप सिद्धियों का प्रतिपादन करके आगे क्रियात्मक ऐश्वर्यरूप, समयजन्य-सिद्धियों का निरूपण किया है। उनमें सर्व प्रथम पर-काय-प्रवेश का वर्णन है।

बन्धन का कारण शिथिल हो जाने पर तथा चित्त के प्रचार स्थानों (नाडी-समूह) का ज्ञान हो जाने पर, योगी का चित्त दूसरे के शरीर में प्रवेश का सामर्थ्य प्राप्त करता है।<sup>२</sup>

आत्मा विभु और चित्त विभु तथा चंचल है। अतः ये दोनों ही सर्वव्याप्त हैं। फिर भी ये शुभाशुभ कर्म-जन्य कर्माशय से एक ही शरीर में आवद्ध रहते हैं। धर्माधर्मरूप कर्माशय ही उनका प्रतिबन्धक है। इन्हीं के बल से वे भोक्ता एवं भोग्यरूप से ही शरीर में सीमित हैं। समाधि के बल से इस कर्म-बन्धन के क्षीण हो जाने पर तथा चित्त के विषयपर्यन्त धावन के पथस्वरूप नाड़ियों (चित्तवहा नाड़ियों) का ज्ञान हो जाने पर, सूक्ष्म शरीर (आत्मा एवं चित्त) की ये सीमाएँ भी समाप्त हो जाती हैं। फिर योगी चित्त को, अपने स्थूल शरीर से निकाल कर, किसी भी शरीर में प्रवेश एवं निर्गम कराने में समर्थ हो जाता है। इतना ही नहीं वह मृतकाय में प्रविष्ट हो कर, उसे जीवित कर सकता है, अथवा जीवित काया में निविष्ट होकर उस व्यक्ति के मन एवं इन्द्रियों को निरुद्ध कर के, अपने ही चित्त एवं इन्द्रियों को वहाँ क्रियाशील रख सकता है। इस प्रकार वह भोगों के संकोच का कारणभूत कर्म हट जाने पर सर्वत्र भोग-सम्पादन कर सकता है। चित्त को छोड़ कर इन्द्रियाँ नहीं रह सकती। अतः चित्त के परकाय में प्रविष्ट होने पर, मधुकरराज की अनुगामनी

१. “ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः” (यो० सू० ३-३७)

२. बन्धकारशैथिल्यात्प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेश (यो० सू० ३/३८)।

मक्षिकाओं की भाँति इन्द्रियाँ भी उसके साथ परशरीर में आविष्ट हो जाती हैं। क्योंकि इन्द्रिय समष्टि मन की ही बहिर्मुख धारावाहिक आभासमात्र है।<sup>१</sup> किन्तु यह ध्यान रखना चाहिए कि परकायप्रवेश के हेतु अदृष्ट-सयम ( जिसके द्वारा समाधिबल से कर्मबन्धन श्लथ होते हैं ) तथा ( चित्तवाहिनी ) नाडी-सयम दोनों अनिवार्य हैं, किसी एक विषयक सयम से यह कार्य साध्य नहीं है।

योगबल से कर्म-बन्धन को उपर्युक्त ढङ्ग से शिथिल करना ही शास्त्रों में ग्रन्थि मोचन<sup>२</sup> कहा गया है। शरीर में चित्त के सचरण-मार्गों का नाम ही “मनोवहा या चित्तवहा” नाडी है। शरीर में ये नाडियाँ असंख्य हैं और प्रायः क्लेद एव मल से आवद्ध हैं। योग-क्रिया-द्वारा ये नाडियाँ शुद्ध हो जाने पर चित्त का सचरण सुगम हो जाता है। इसीलिये योगी को नाडी-शुद्धि भी आवश्यक है। उक्त मनोवहा नाडियाँ केवल शरीर में ही नहीं, वरन् सम्पूर्ण विराट् विश्व में ही व्याप्त हैं। इस विस्तृत नाडीजाल के माध्यम से न केवल प्राणिजगत्, अपितु सम्पूर्ण जगत् की प्रत्येक वस्तु परस्पर सन्निविष्ट है। इस चित्तवाहक नाडी जाल का ज्ञान न रहने से ही चित्त इच्छानुसार विचरण करने में असमर्थ है। सुख-दुःखादि अन्यान्य भावों के अनुभवकर्त्ता एवं भोक्ता के रूप में परकाय में प्रविष्ट होने पर, योगी को उस नाडी का विशेष कर ध्यान भी आवश्यक है, जिसके माध्यम से वह उस व्यक्ति की देह से संयुक्त है, क्योंकि उसी नाडी के द्वारा उसे स्वशरीर में लौटना पड़ेगा। इसके लिये विदेहधारणा का अभ्यास उपादेय होता है। विदेह-धारण में अभ्यास योगी के हेतु यह कोई कठिन कार्य नहीं होता।<sup>३</sup> विदेह-धारणा के बाद ही योगी महाविदेह-धारणा का अधिकारी बनता है। सयम के विषयों में इनका आगे वर्णन होगा। यह भी ध्यान रखने योग्य है कि अत्यन्त प्रबल शक्ति अर्जित हो जाने पर ही प्रत्येक काय में प्रवेश सम्भव है, अन्यथा दुर्बल-शक्ति-सम्पन्न चित्त प्रबल चित्त से संयुक्त हो जाने पर, सबल चित्त में विलय की ही अधिक आशंका रहती है।<sup>४</sup>

परकाय प्रवेश के समय योगी आंशिकरूप से ही बाहर निकलता है। परकाय में प्रविष्ट होकर योगी अभिन्न होकर उसके साथ सुख-दुःखादि की साक्षात् अनुभूति करता है, फिर भी योगी का मन, वहाँ चेतन द्रष्टा के रूप में दृढतापूर्वक

१. भा० सं० सा०—पृ० २६—द्वितीय खण्ड।

२. भार० सं० सा०—पृ०—२८—द्वितीय खण्ड।

३. भारतीय सस्कृति और साधना, द्वितीय खंड, पृ० २८।

४. भारतीय सस्कृति और साधना, द्वितीय खंड, पृ० २९।

स्थिर रहता है। तभी वह पुनः स्वशरीर में प्रत्यावर्तन करने में समर्थ होता है। अन्यथा यदि चेतन रूप से परकाय के साथ चित्त के संयोग की रक्षा न की जाय, तो प्रविष्ट चित्त का लय अनिवार्य है।<sup>१</sup> परकाय में प्रविष्ट होकर योगी यदि चाहे, तो उस शरीर तथा उसके अभिमानी जीव की उन्नति तथा अपने तपोबल से उसका कल्याण भी कर सकता है।<sup>२</sup> साथ ही उसके कर्मफल के भार में न्यूनता भी कर सकता है, पर यह आवश्यक नहीं है, वह योगी की इच्छा पर ही निर्भर है।

×

×

×

×

संयम-द्वारा उदान-वायु पर विजय प्राप्त कर लेने पर जल, पक (कीचड़) एवं कण्टको से असंयोग तथा (मृत्युकाल में) स्वतः उत्क्रान्ति सिद्ध होती है।<sup>३</sup>

सम्पूर्ण शरीर में समस्त इन्द्रियो में प्रवर्तमान जीवन का मुख्य आधार प्राणवृत्ति है। क्रियाभेद से उसके दस विभाग एवं नाम होने पर भी उनमें पाँच ही मुख्य हैं। प्राण, अपान, समान, व्यान और उदान।<sup>४</sup>

इनमें कण्ठ, मुख, नासिकादि से प्रारम्भ कर शिरपर्यन्त प्रवाहित होने वाली जीवनीवृत्तिविशेष उदान कहलाती है। ऊपर की ओर गति का वही हेतु है। रस आदि के ऊर्ध्वमुख उन्नयन करने से ही इसकी उदान सज्ञा है। व्यष्टि एवं समष्टि प्राण का संयोजक यही उदान वायु है। शरीर को ऊपर की ओर उठाए रखना भी इसका एक मुख्यकार्य है। मृत्युकाल में सूक्ष्म शरीर उदान-द्वारा ही स्थूल-शरीर से बहिर्गमन करता है। उदान शरीरन्तर्वर्ती धातुगत बोध के अधिष्ठान-स्वरूप स्नायु को धारण करने वाली प्राणशक्ति है। उक्त बोध इन्द्रियो के द्वार से ऊर्ध्व मस्तिष्क पर्यन्त उठते हैं। अतः इस ऊर्ध्व-प्रवाह में संयम करने पर तथा देहवर्ती समस्त धातुओं में प्रकाशशील सत्व के ध्यानपूर्वक उदान जीतने पर, शरीर में लघुत्व प्रादुर्भूत होता है। यही कारण है कि उदानजयी का शरीर रुई की भाँति हल्का हो जाने के कारण जल में डूब नहीं सकता, कीचड़ में सन नहीं सकता तथा

१. भारतीय सस्कृति और साधना, ( द्वितीय खण्ड, पृ० २६ )

२. भारतीय सस्कृति और साधना, ( द्वितीय खण्ड, पृ० २६ )

३. “उदानजयाज्जलपङ्ककशृङ्गादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च” ( यो० सू० ३-३६ )

४. इनका वर्णन “सम्प्रज्ञात तथा असम्प्रज्ञातसमाधि” शीर्षक में किया गया है। अतः विशेष विवरण वही द्रष्टव्य है।

काँटो अथवा तलवार की भी धार पर सुखपूर्वक चल सकता है। वे उसे छेद नहीं सकते। जिस प्रकार वह सामान्य रीति से रम्य भूतल पर विचरण करता है, उसी प्रकार जल, पक, कण्टकादि के ऊपर भी सुखपूर्वक विचर सकता है। यह (उदान) ऊर्ध्वगामिनी प्राणशक्ति है। अतः सुपुम्नागत उदान को सयम-द्वारा स्ववश कर लेने पर देवयान या अचिरादि मार्गों—द्वारा इच्छानुसार ब्रह्मलोक आदि लोको में ऊर्ध्वगति होती है। इससे उसका ससार में पुनरावर्तन नहीं होता है। पुनरावर्तन-शून्य गति ही उत्क्रान्ति कहलाती है।<sup>१</sup>

१. पुण्यात्माओं के सूक्ष्म शरीर सकाम तथा निष्काम कर्मों के अनुसार पितृयाण तथा देवयान मार्गों द्वारा चन्द्रलोक या सूर्यलोक को प्राप्त करते हैं। जिनका उपनिषदों एवं गीता में सविस्तार वर्णन किया गया है। जैसे—

“द्वे सृती अवृणव पितृणामह देवानामुत मर्त्यानाम् ।

ताभ्यामिम विश्वमेजत् समेति यदनन्तरा पितरमातर च ॥”

( यजुर्वेद १६/४७, ऋग्वेद १०/८८/१५ )

तथा

“यत्रकालेत्वनवृत्तिमावृत्ति चैव योगिन ।

प्रयाता यान्ति त काल वक्ष्यामि भरतर्षभ ॥

शुक्ल कृष्णे गतीह्येते जगत् शाश्वते मते ।

एकया यात्यनावृत्तिमन्ययावर्तते पुन ।

धूमोरात्रिस्तथा कृष्ण षण्मासा दक्षिणायनम् ।

तत्र चान्द्रमस ज्योतिर्योगी प्राप्य निवर्तते ॥”

“अग्निज्योतिरह शुक्ल षण्मासा उत्तरायणम् ।

तत्र प्रयाता गच्छन्ति ब्रह्म ब्रह्मविदोजन्ता ॥” ( गीता ८/२३-२६-२५-२४ )

इनमें सकाम कर्मयोगी की चन्द्रलोक में गति होती है। वे स्वर्गादि में दिव्य भोग भोगकर अवधि समाप्त होने पर पुन मर्त्यलोक में आते हैं और निष्काम कर्मयोगी उत्तरायण सूर्य-काल में देह-त्यागकर के सूर्यलोक को उत्क्रमण करते हैं। उनका पुनरावर्तन नहीं होता है। यही देवयान है। इसी की ब्रह्ममार्ग, पिण्ड ब्रह्माण्डमार्ग, अचिरादि मार्ग आदि सञ्चार्य हैं।

२. मानव शरीर नवद्वार युक्त है, जिनके द्वारा मृत्युकाल में उसके प्राण निकलते हैं। स्वकृत कर्मों की प्रेरणा से परवश प्राणी के प्राण तदनुकूल द्वार से बाहर निकलते हैं, किन्तु कोई भी सामान्य पुण्यात्मा व पापात्मा दशम द्वार ब्रह्मरन्ध्र-पथ से नहीं जाता है। नवद्वारों से प्राण निकलने पर पुन ससारापत्ति होती है। ब्रह्मरन्ध्र उत्क्रमण का मार्ग है। समानजयी के प्राण निश्चितरूप से इसी पथ से बहिर्गमन करते हैं।

संयम-द्वारा समान ( प्राणशक्ति ) जीत लेने पर योगी में ज्वलन अर्थात् दीप्तिमत्ता प्रकट होती है ।<sup>१</sup>

समान नामक प्राणशक्ति शरीर में जठराग्नि को आवृत्त करके स्थित है । इसी के द्वारा सम्पूर्ण शरीर में यथोचित पोषण सम्पन्न होता है । अतः सम्पूर्ण शरीर में अन्नरस का समनयन करने के कारण इसकी समान सज्ञा है । समान-द्वारा आवृत्त रहने से जठराग्नि मन्द पड़ जाती है, अतः शरीर में तेजोवृद्धि नहीं हो पाती है । पोषण की रसायनिक क्रिया-द्वारा शारीरिक धातुओं में दीप्ति बढ़ती है । संयम द्वारा समान-प्राप्त को जीत लेने पर वह स्ववश हो जाता है और इच्छानुसार जठराग्नि भी निरावृत्ति हो जाती है । अतः समान से निरावृत्त होकर, उत्तेजित-जठराग्नि पोषणोत्कर्ष के साथ-साथ और अधिक उद्दीप्त होती हुई, योगी के शरीर को तेजस्वी बनाती है । योगी के शरीरान्तर्बती इस तेज ( Odyle or Aura )<sup>२</sup> की सम्यक् अभिव्यक्ति होने पर यह शरीर के बाहर भी फूट निकलता है, जिससे योगी की देह अपूर्व कान्ति एवं दीप्ति से सम्पन्न दृष्टिगोचर होने लगती है । समान की तेजोवृद्धि से ही हृदयादि की सब ग्रन्थियाँ या कमल पूर्णतः विकसित एवं ऊर्ध्वमुख होते हैं ।<sup>३</sup>

“समानजयाज्ज्वलनम्”, इस सूत्र का श्री विज्ञान भिक्षु ने-“समान वायु जीत कर, सती स्त्री की भाँति योगी अपने शरीर का दाह कर डालता है” अर्थात्

१. “समानजयाज्ज्वलनम्”—यो० सू० ३/४० ।

२. “Baron Von Reichenbach ने Odyle के सम्बन्ध में गवेषणा करके स्थिर किया है कि जो उस odyle ज्योति को देख सकते हैं, वे जहाँ रासायनिक क्रिया होती है, वहाँ तथा दूसरे कई स्थानों में विशेषकर देख पाते हैं । शरीर में स्वभावतः ही चमक रहती है । शरीर के प्रत्येक आणु में इसी संयम-द्वारा सत्त्विक पुष्टिभाव होने से यह चमक इतनी बढ़ जाती है कि वह सबकी दृष्टि में आ जाती है । आज कल इस Aura का फोटो भी लिया गया है और उससे स्वास्थ्य-निर्णय करने का प्रबन्ध भी हो रहा है ।” ( पात० यो० ६०, (हरि० आ०), पृ० २७३-२७४ )

३. हृदय, कण्ठ, तालु एवं भूमध्य आदि स्थानों में प्राण की सरल गति-कुटिल या वक्र हो गई है । अतः ये स्थान ग्रन्थि कहलाते हैं । ये ग्रन्थियाँ सकोच-विकासशील होने से पद्म या कमल भी कहलाती हैं । द्रष्टव्य—भा० स० और सा०, प्र० ख०, पृ० ४६७ ।

४. शरीर को जलाना आग्नेयी धारणा से संभव होता है । समान जन से नहीं । दक्षपुत्री सती द्वारा स्वदेह ज्वलन के प्रसंग में कही-कही इस धारणा का प्रमाण मिलता है ।

“जला डालता है”—ऐसा अर्थ किया है, किन्तु “ज्वल-दीप्तौ” धातु से निष्पन्न ज्वलन शब्द से “दीप्त होता है”, यह अर्थ अभिव्यक्त होता है, “जला डालता है” ऐसा नहीं। “व्यासभाष्य” में भी “जितसमानस्तेजस उपध्मानं कृत्वा ज्वलति” उक्ति से यही अर्थ प्रकट होता है कि “समान-वायु का विजेता अपने तेज का उत्तेजन करके दीप्तियुक्त या जाज्वल्यमान हो उठता है।” यही श्रीवाचस्पति, शंकर, भोज प्रभृति विद्वान्-सम्मत मत है।

श्री भावागणेश की “प्रदीपिका” एवं “नागोजीभट्टवृत्ति” में भी विज्ञानभिक्षु के शब्दों का अनुसरण किया गया है। किन्तु इन तीनों टीकाकारों के द्वारा किया गया यह अर्थ, विशेष अनुभवजन्य ही हो सकता है।

राघवानन्द सरस्वती ने भी अपने “पातञ्जल-रहस्य” में “समानजयिच्छया देहभस्मीकरणम्” ऐसा कहा है, किन्तु इस मन की अयुक्तता ऊपर सिद्ध की जा चुकी है।

श्रोत्र एवं आकाश के पारस्परिक सम्बन्ध में संयम करने से दिव्य शब्द सुनने की शक्ति उपलब्ध होती है।<sup>१</sup>

शब्द-ग्राहिका श्रोत्रेन्द्रिय अहंकार-जन्य होती है और शब्द तन्मात्र भी अहंकार का ही कार्य है। आकाश शब्द का कार्य है तथा श्रोत्रेन्द्रिय का आधार आकाश है। अतः समस्त श्रोत्रो तथा समस्त शब्दों का आकाश ही आधार है, जैसा कि भाष्यकार श्री व्यास ने भी कहा है—“सर्वश्रोत्राणामाकाशं प्रतिष्ठा सर्वशब्दानां च”।<sup>२</sup> कर्ण-विवरवर्ती आकाश के सद्भाव में कर्ण की शब्दग्राहकता हेतु है, क्योंकि आकाश ही शब्दगुणक है, अन्य कोई पृथ्वी आदि तत्त्व नहीं। अतः शब्द, श्रोत्र एवं आकाश इन तीनों का अत्यन्त घनिष्ठ सम्बन्ध है। आकाश ही श्रोत्र एवं शब्द का संयोजक है। ठोस, तरल एवं वायवीय द्रव्य का कम्पन ही शब्द कहलाता है। ये स्पन्दन आकाश तत्त्व पर आश्रित हैं, जिसे आधुनिक विज्ञान की भाषा में ईथर कहते हैं। यह ईथर समस्त जड़ वस्तुओं का प्रतिनिधिस्वरूप कहा जा सकता है। आकाश ही शून्य या अवकाश भी है।<sup>३</sup> प्रत्येक कम्पन अवकाश का स्रोतक है। अनवकाश में कम्पन असम्भव है।

१. “श्रोत्राकाशयो. सम्बन्धसयमादिव्य श्रोत्रम्” ( यो० सू० ३/४१ )

२. व्या० भा० ( ३/४१ ) ।

३. टिप्पणी—शुद्ध अवकाश वैकल्पिक (विकल्प वृत्ति द्वारा ज्ञात होने योग्य) पदार्थ है, किन्तु —आगामी पृष्ठ पर

स्थूल कर्ण-यन्त्र स्पन्दनग्राही होने से अवकाशयुक्त है। अतः श्रोत्र आकाशाभिमानि हुआ, क्योंकि अहंकारजन्य होने से इन्द्रियगण अभिमानात्मक है।

आकाश एव श्रोत्र के मध्य यह अभिमान का सम्बन्ध ही श्रोत्राकाश का सम्बन्ध है।<sup>१</sup> इसी में सयम करने से दिव्य श्रवण-शक्ति प्राप्त होती है। इस सयम से अभिमान की सत्त्वजन्य उत्पत्ति होती है और अवकाश की अव्याहतता सम्पन्न होती है, अर्थात् उस श्रोत्राकाश के अदच्छेदक का अनावरण होता है। फलतः उक्त सयम-प्राप्त योगी दिव्य, सूक्ष्म, व्यवहित एव दूरदेशस्थ शब्द का अनायास श्रवण कर सकता है। यही दिव्यश्रोत्र है। श्रोत्र एव आकाशगत सयम की भाँति, त्वक्-वायु चक्षु-अग्नि, रसना-जल और नासिका तथा पृथ्वी के सम्बन्ध-विषयक सयम से दिव्यत्वक्, दिव्य नेत्र, दिव्य-रसना एव दिव्य नासिका की शक्तियाँ प्राप्त होती हैं। ये सब सिद्धियाँ पुरुषज्ञान से पूर्व प्रतिभज्ञान से प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ हैं। भेद केवल यह है कि यहाँ ये सिद्धियाँ विभिन्न इन्द्रियो एव उनसे सम्बद्ध तत्वों के पारस्परिक सम्बद्ध में सयम करने से प्राप्य हैं और स्वार्थप्रत्यय में पुरुषज्ञान हेतु संयम करने पर, उससे पूर्व ये सभी, उनकी प्राप्ति-हेतु सयम के बिना ही स्वतः आविर्भूत होती हैं।

×

×

×

शरीर एवं आकाश के पारस्परिक सम्बन्ध-विषयक संयम से अथवा रुई आदि की भाँति हल्के पदार्थों की समापत्ति से आकाश-गमन नामक सिद्धि प्राप्त होती है।<sup>२</sup>

आकाश के बिना शरीर की स्थिति असम्भव है। जहाँ भी देह है, वहीं उसका आकाश भी है। क्योंकि आकाश विभु अर्थात् सर्वत्र व्यापक एवं समस्त

१. द्र०—पात० यो० द०, (हरि० आ०), पृ० २७५।

२. “कायाकाशयो सम्बन्धसयमाल्लघुतूलसमापत्तेश्चाकाश-गमनम्” (यो० सू० ३/४२)

(गत पृष्ठ का शेषांश)

आपेक्षिक अवकाश वास्तविक भाव है। शब्द, स्पर्श, रूपादिशून्य पदार्थ ही अवकाश है। विशुद्धतम आकाश की धारणा नहीं की जा सकती है। फिर भी धारणा-योग्य अवकाश की धारणा शब्द-द्वारा ही शुद्धरूप से होती है। क्योंकि शब्दमात्र को सुन कर बाह्य ज्ञान का अनुभव होने पर भी किसी मूर्ति का बोध नहीं होता। अतः शब्दमयी, अवकाशस्वरूपा, सत्ता ही आकाश है। (द्र० आरण्य व्याख्या)

वस्तुओं को अवकाश देने वाला है। अतः शरीर एवं आकाश के मध्य व्याप्य व्यापक अथवा आधेय एवं आधार रूप सम्बन्ध है। अर्थात् जहाँ-जहाँ शरीर है, वहाँ-वहाँ आकाश भी है। इस प्रकार की व्याप्ति इन दोनों के मध्य सिद्ध होती है। शरीर एवं आकाश के मध्यवर्ती इस व्याप्ति सम्बद्ध में संयम करके उसे स्वाधीन किया जाता है, जिससे मध्याकर्षण या पृथ्वी की गुस्त्वाकर्षण की क्रिया नष्ट होने से शरीर हल्का हो जाता है।

उक्त संयम से गुस्त्व का क्षय क्यों और कैसे होता है, यह जिज्ञासा हो सकती है। वस्तुतः त्रिगुणात्मक प्रकृति के अंशभूत तमोगुण का धर्म गुस्त्वा एवं आवरण है। इससे ठीक विपरीत सत्त्वगुण लघु एवं प्रकाशात्मक है। चंचल रजोगुण क्रियाशील होता है। यह सत्त्व एवं तम को परस्पर सम्बद्ध करने की चेष्टा किया करता है। जप, तप, ध्यान, योग प्रक्रिया इत्यादि सत्त्वगुणाश्रित रज-क्रियाओं के द्वारा सत्त्वगुण का उत्कर्ष एवं तम का अभिभव होता है। अतः तम के कार्यभूत गुस्त्व एवं आवरकत्व, क्रमशः नष्ट होकर शरीर में सत्त्वधर्मात्मकता, लघुता एवं प्रकाशमयता अर्थात् तेज की अभिव्यक्ति होती है। यही साधना द्वारा गुस्त्व-ह्रास का रहस्य है। किसी भी प्रकार की साधना-द्वारा अथवा उक्त संयम से शरीर में सत्त्व के गुण अभिव्यक्त होने से शरीर लघुता प्राप्त करता है। शरीर के इस लघुत्व का अत्युत्कर्ष होने पर देह गुस्त्व-विहीन एवं ज्योतिर्मय होकर वायुमंडल के ऊपरी स्तर में उठ जाती है। इसके अतिरिक्त इसका एक और भी कारण हो सकता है। समाधि की अवस्था में चित्त ध्येयाकाराकारित हो जाता है। साथ ही ध्याता में ध्येय के गुणों की भी अभिव्यक्ति होती है। यह सर्वविदित है कि आकाश शब्दगुणक है और आकारविहीन क्रिया-प्रवाहमात्र ही शब्द है। सम्पूर्ण शरीर में क्रियाप्रवाहों की समष्टि है और आकाशवत् अवकाश भी है। एतद्रूपक ध्यान ही शरीर एवं आकाश की सम्बन्ध भावना है। इस प्रकार आकाश के आश्रय से शरीर का अवस्थान ही संयम का विषय है<sup>१</sup>। आकाश सर्वत्र व्याप्त है। अतः तद्विषयक संयमकर्ता योगी के संचारस्थल की परिच्छिन्नता भी समाप्त होकर वह सर्वव्याप्त हो जाती है।

स्वामी हरिहरानन्द आरण्य ने देह-व्यापी अनाहत नाद के ध्यान द्वारा कायाकाश के पारस्परिक सम्बन्ध में सयमजय बतलाया है<sup>२</sup>। इसके अतिरिक्त रुई

१. द्रष्टव्य—पात० यो० द०, हरि० आ०, पृ० २७७।

२. “भास्वती”—३/४२।



आदि पदार्थों में परमाणु-पर्यन्त चित्त की समापत्ति से, उस सम्बन्ध पर विजय प्राप्त करनेवाले योगी का शरीर भी हल्का होकर आकाश में विचरण करने में समर्थ हो जाता है। यहाँ भी ध्येय रुई आदि लघु पदार्थों का गुण लघुत्व योगी के शरीर में आविर्भूत होता है।

उक्त रीतियों से संयम द्वारा शरीर हल्का हो जाने पर, योगी मकड़ी के जाल के अति सूक्ष्म तन्तुओं पर और जल पर भी पृथ्वी की भाँति सुगमतापूर्वक पद-निक्षेप करता हुआ, विचरण कर सकता है। वह सूर्य-रश्मियों में प्रविष्ट होकर उन किरणों पर भी बिहार कर सकता है। वस्तुतः ये रश्मियाँ ही आकाश में यातायात के मार्ग-स्वरूप हैं<sup>१</sup>।

आई० के० टैमनी के मत में योगी स-शरीर ही पक्षी की भाँति आकाश में विचरण नहीं करता है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार भौतिक शरीर द्रव्य के असंख्य कणों की समष्टिमात्र है, जो परस्पर संयोजक शक्ति (फोर्स ऑफ कोहेजन) द्वारा संयुक्त है। ये शक्तियाँ आकाश में सर्वत्र विद्यमान हैं। शरीर के कण एवं आकाश, अन्ततः जिन तत्वों-द्वारा निर्मित एवं परस्पर संयुक्त हैं, वह सम्बन्ध ही शरीर की स्थिति का आधार है।

उक्त सम्बन्ध में संयम करने से उन (कायाकाश) की संयोजिका शक्ति (फोर्स ऑफ कोहेजन) योगी के वशीभूत हो जाती है। अतः वह (योगी) इच्छानुसार उस शक्ति की व्यवस्था और प्रयोग कर सकता है। जब चाहे तब शरीर के अणु-भूत अनन्त विभागों को, इच्छाशक्ति के बल से आकाश में मिला सकता है और पुनः इच्छामात्र से ही उन अणुओं को एकत्र करके गन्तव्य स्थल पर, शरीर की पुनः अभिव्यक्ति कर सकता है। इस प्रकार योगी जिस स्थान से उठकर आकाश मार्ग से गन्तव्य स्थल पर पहुँचता है, उसके बीच में उसका शरीर अवकाश स्वरूप ही हो जाता है। अर्थात् आकाश के उन तत्वों में मिल जाता है, जिनके द्वारा स्थूल शरीर की रचना होती है। शरीर-निर्माण के उन अणुओं के अवकाश में वितरण (Dispersion) का यह कार्य इच्छाशक्ति (विल-पावर) के प्रयोग द्वारा सम्पन्न होता है। इच्छा-शक्ति को उपसंहृत करते ही शरीर के वे असंख्य अणु स्वयमेव पुनः एकत्र होकर योगी के शरीर को प्रकट कर देते हैं। किन्तु इस प्रकार शरीर को

---

१. उदानजयी भी जल आदि पर स्थल की भाँति विचरण कर सकता है।

(द्र० यो० भा०, ३/६)

अवकाश रूप में तथा अवकाशभूत शरीर को पुनः स्थूल शरीर में परिणत करने की कला का आधुनिक वैज्ञानिक (साइंटिस्ट) की प्रतिभा सम्पन्न बुद्धि को ज्ञात नहीं है। इस विज्ञान की प्राप्ति एकमात्र संयम द्वारा ध्येय विषय के चैतन्य से एकाकार होने पर ही हो सकती है, जैसा कि सूत्रगत समापत्ति शब्द से भी द्योतित होता है। किन्तु इस प्रकार विनष्टीकृत एवं पुनः प्रादुर्भूत योगी के शरीर में निर्माण-काय का भ्रम नहीं करना चाहिये, क्योंकि आकाशगमन में योगी का मौलिक शरीर इस रीति से उसके तत्वों के अवकाश में वितरण (डिज़ोलूशन) तथा भौतिकीकरण (मैटीरियलाइजेशन) की मिल-जुली क्रिया द्वारा एक स्थान से दूसरे स्थान पर ले जाया जाता है और निर्माणकाय में मूल शरीर यथास्थान स्थित रहते हुए भी दूसरा अस्थायी कृत्रिम शरीर दूसरे स्थान पर निर्मित होता है। दोनों विधियाँ सर्वथा भिन्न हैं।

आई० के० टैमिनी का उक्त मत सबसे भिन्न, सर्वथा नवीन एवं अपने ही प्रकार का है। जबकि अन्य व्याख्याकारों के अनुसार तो यही प्रकट होता है कि योगी अकाश में सशरीर विचरण करता है, क्योंकि सूर्य-रश्मियों पर पैरों से विचरण कर सकने वाला कोई शरीरधारी ही होगा। बिना शरीर के पैरों से विचरण का कोई प्रश्न ही नहीं उठता है।

यह स्मरणीय है की सूत्रस्थ “च” विकल्पार्थक है समुच्चयार्थक नहीं, अर्थात् कायाकाश के सम्बन्ध में संयम करने से आकाशगमन सिद्ध होता है, अथवा तुलादि लघु पदार्थों में परमाणुपर्यन्त समापत्ति करने से आकाशगमन सिद्ध होता है। जैसा कि भगवान् व्यास की “तेन सम्बन्ध प्राप्तिः, तत्र कृतसयमो जित्वा तत्सम्बन्धं लघुषु तुलादिषु, वा परमाणुभ्यः समापत्तिः लब्ध्वा जितसम्बन्धो” इत्यादि उक्ति से भी अभिव्यक्त होता है, क्योंकि भाष्यकार ने सूत्रस्थ “च” शब्द के स्थान पर “वा” शब्द का प्रयोग किया है। श्रीमद् हरिहरानन्द आरण्य-द्वारा भी इस विषय में “अथवा” शब्द का प्रयोग इसी मत का पोषक है। श्री वाचस्पति की “तत्त्ववैशारदी” के अध्याय पर श्री ब्रह्मलीन मुनि-कृत “योगभाष्यविवृति” में भी इस सूत्र की व्याख्या में अन्त में स्पष्ट लिखा है कि “उक्त सयमद्वय” में ही किसी भी एक के अनुष्ठान से आकाशगमन सिद्ध होता है।

सूत्रस्थ “चकार” के स्थान पर “वा” शब्द के प्रयोग से श्री भावागणेश, नागोजीभट्ट, रामानन्द यति, सदाशिवेन्दु सरस्वती, श्री राघवानन्द सरस्वती, श्री विज्ञानभिक्षु प्रभृति विद्वानों का भी यही मत व्यक्त होता है।

विवरणकार, श्री भोज एवं अनन्त पंडित आदि टीकाकारों का उक्त मत से वैपरीत्य मालूम पड़ता है, किन्तु अधिकांश विद्वानों के मतानुसार विशेषकर “व्यासभाष्य” के आधार पर श्री भोज सम्मत मत की समीचीनता सिद्ध नहीं होती है, क्योंकि “व्यासभाष्य” ही अधिकांश व्याख्याओं की आधारशिला है। विद्वत्समाज में वही सर्वाधिक प्रामाणिक माना जाता है।

×

×

×

शरीर के बाह्यदेशवर्ती, अकल्पिता (वास्तविक) वृत्ति महाविदेहा (नामिका वृत्ति) कहलाती है। उस (वृत्ति) के द्वारा प्रकाश का आवरण नष्ट होता है<sup>१</sup>।

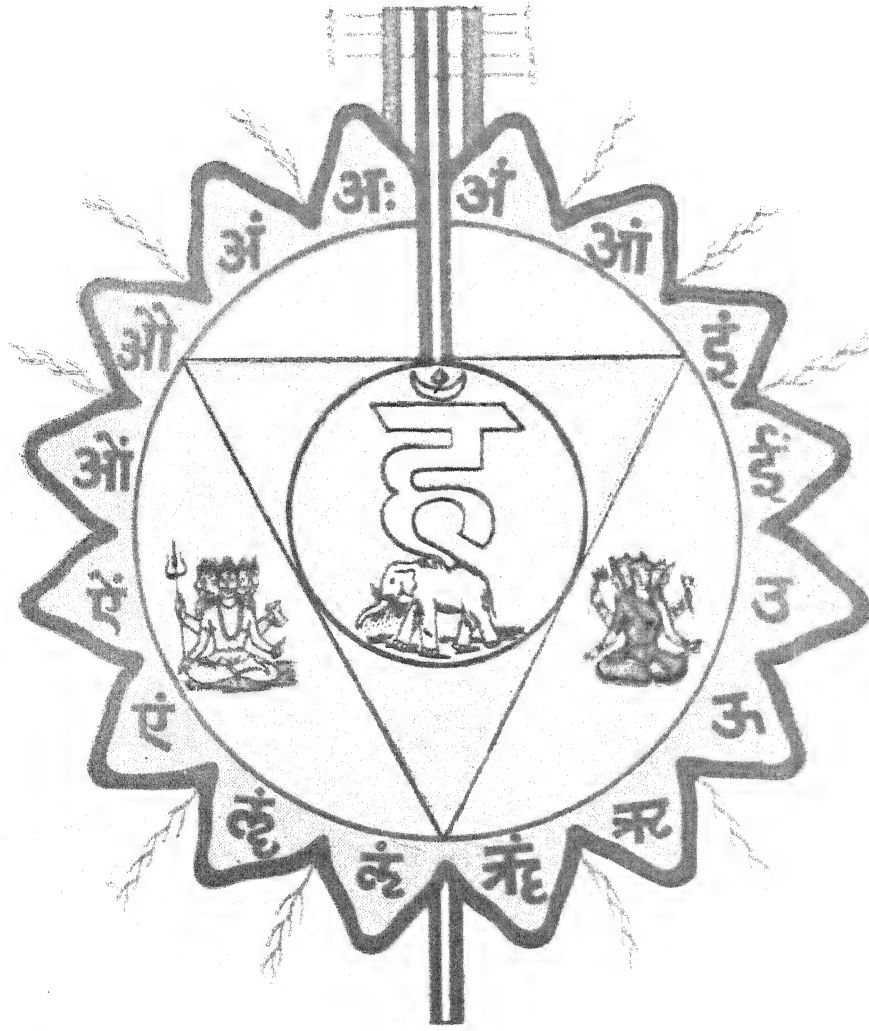
शरीर से बाह्य विषय में चित्त को धारण करना “विदेहा-वृत्ति” अथवा “विदेहा धारणा” कही जाती है। यह कल्पित एवं अकल्पित, भेद से दो प्रकार की होती है। इनमें जब चित्त शरीर में ही स्थित रहते हुए, वह (चित्त) वृत्ति-मात्र से किसी बाह्य देश में कल्पना के सहारे धारण किया जाता है या अवस्थित रखा जाता है, तब यह वृत्ति कल्पिता कहलाती है।

जब चित्त की बाह्यदेश में अवस्थित-हेतु शरीर एवं कल्पना की भी अपेक्षा नहीं रहती, अर्थात् चित्त ही स्वयं शरीर से बाहर निकलने में समर्थ हो जाता है, तो वस्तुतः बाह्य देशस्थ चित्त ही अकल्पिता या महाविदेहा धारणा कहलाती है।

सारांश यह है कि शरीर-सापेक्ष बाह्यदेशस्थ चित्तवृत्ति कल्पिता-विदेह-धारणा तथा शरीर-निरपेक्ष बहिर्देशीय चित्तवृत्ति, अकल्पिता विदेह-धारणा अथवा महाविदेहाधारणा कहलाती है। इनमें प्रथम साधन तथा द्वितीय साध्य है, क्योंकि प्रथम कल्पिता विदेह-धारणा का अभ्यास परिपक्व होने पर ही महाविदेहा-धारणा सिद्ध होती है। महाविदेहा धारणा-द्वारा योगी को परकाय-प्रवेश तथा सूक्ष्म शरीर से लोकान्तरो में विचरण की सामर्थ्य भी प्राप्त होती है तथा चित्त-सत्त्व के प्रकाश के अवरोधक या आवरण भूत-रजोगुण-तमोगुणजन्य क्लेश-कर्म-विपाकादि मल नष्ट होते हैं।

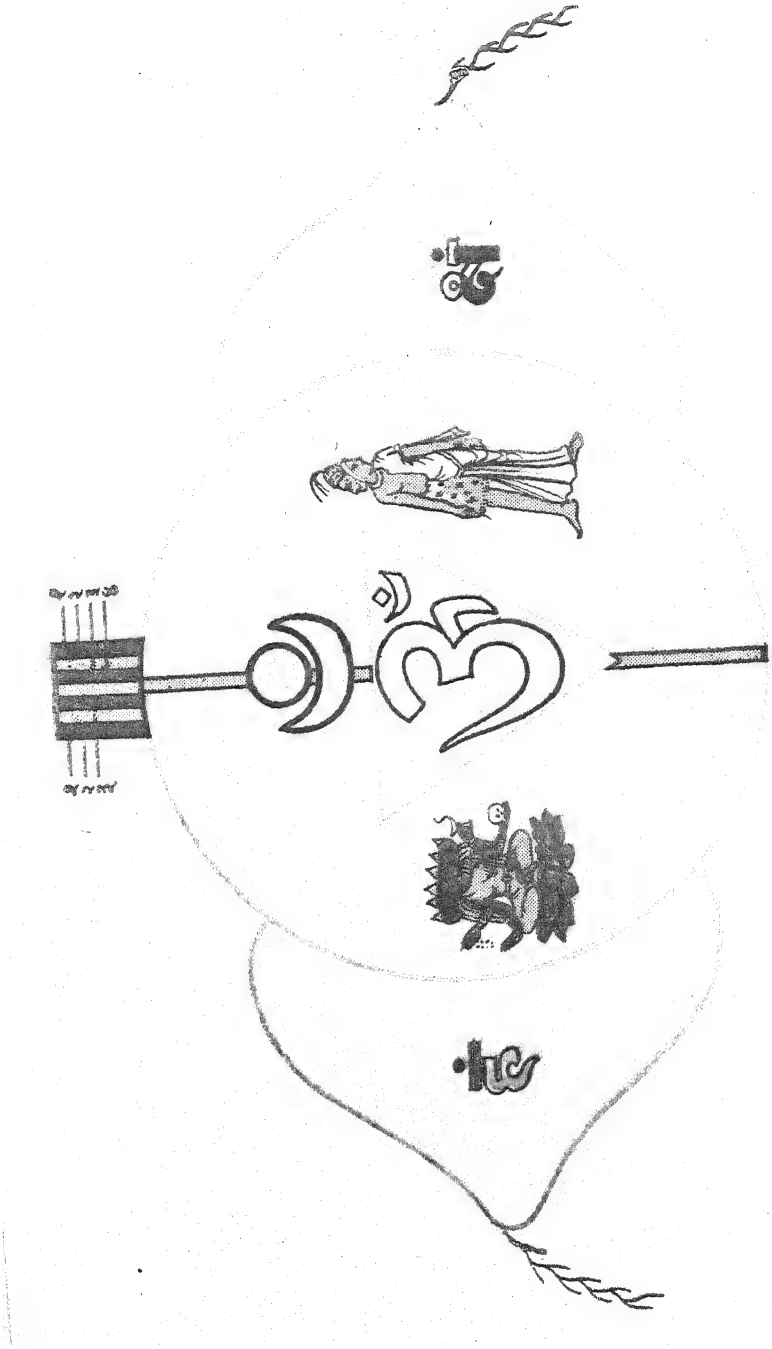
शरीर का अभिमान ही स्थूलतम आवरण है। “मैं शरीर हूँ” इस प्रकार के अज्ञानात्मक अहंभाव के कारण ही पुरुष एवं चित्त व्यापक होने पर भी एक ही शरीर में बंधे रहते हैं। अतः चित्त का कार्य एवं प्रचारक्षेत्र भी शरीर मात्र में सीमित रहता है। विदेह-भावना में चित्त स्थिति की शरीर से बाहर भावना की जाती है और

१. “बहिरकल्पितावृत्तिर्महाविदेहा ततः प्रकाशावरणक्षया” (योग सू० ३/४३)



विशुद्ध चक्र

# अमृत चक्र



यह धारणा की जाती है कि मैं अन्यत्र शरीर से बाह्यदेश में भी व्याप्त हूँ, जिसके फल-स्वरूप चित्त की शारीरिक सीमाएँ समाप्त होती हैं।

इस धारणा का विज्ञान हृदयगम करने से लिये चित्त का स्वरूप एवं वृत्तिगत भेद अवगम्य है। नेत्रेन्द्रिय से जैसे चाक्षुष-रश्मियाँ निकल कर बाह्य दृश्य से संयुक्त एवं तदाकाराकारित हो जाती हैं, उसी प्रकार चैत्तिक रश्मियाँ स्फुटित होकर बाहरी वस्तुओं में क्रिया करती हैं। इनकी क्रिया से दूरस्थ वस्तु में चित्त की धारणा अभ्यस्त हो जाने पर क्रमशः ध्यान एवं समाधि प्राप्त होती है। इस प्रकार उस दूर-देशस्थ पदार्थ विषयक संयमजन्य-साक्षात्कार होता है। इस रीति से बाह्य-पदार्थों का साक्षात्कार विदेह वृत्ति के बिना असम्भव है। इसी को शास्त्रों में “योगज-प्रत्यक्ष” भी कहा गया है। विदेह-धारणा के बिना किसी भी बाह्य पदार्थ का अपरोक्ष-ज्ञान असम्भव है<sup>१</sup>।

कल्पिताविदेहा धारणा में चित्त पूर्ववत् शरीर में ही स्थित रहता है, यह पहले भी बतलाया जा चुका है। तात्पर्य यह है कि योगी पूर्ववत् देहावच्छिन्न रहता है। केवल चित्त की रश्मि के संचार से, दूरवर्ती वस्तु को अवलम्बन करके योगी का चित्त उसकी वृत्ति-रूप में परिणत होता है, जैसा कि निकटस्थ वस्तु के लौकिक साक्षात्कार-काल में अन्तःकरण का परिणाम होता है। लौकिक प्रत्यक्ष में भी शरीरस्थ चित्त बहिर्वृत्तिक होता है।

भेद केवल इतना है कि लौकिक-प्रत्यक्ष में विषय के साथ इन्द्रियों सम्बद्ध रहती है। इन्द्रिय-सन्निकर्ष के बिना लौकिक प्रत्यक्ष असम्भव है, किन्तु विदेहा धारणा में शारीरिक इन्द्रियों का विषय से सम्पर्क नहीं रहता है, क्योंकि उसका विषय दूरस्थ होता है। अतः लौकिक इन्द्रियों का वह गोचर नहीं हो सकता है। फिर भी विषय तो गोचर होता ही है। अतः इस प्रकार से दूरस्थ विषय के साथ चैत्तिक-सम्पर्क जन्य प्रत्यक्ष वृत्ति अलौकिक प्रत्यक्ष बन जाती है। लौकिक प्रत्यक्ष में चित्त की अवस्था विक्षिप्त होती है, किन्तु अलौकिक प्रत्यक्ष-काल में चित्त उसकी अपेक्षा एकाग्र होता है। अतः एकाग्रचित्त में चित्तगत स्वाभाविक प्रज्ञालोक उदित होता है। इससे चित्त में विश्वव्यापी (यूनिवर्सल) आलोक की अनुभूति होती है।

उक्त रीति से कल्पिता विदेह-वृत्ति में शरीर-सापेक्ष कल्पनावृत्ति का आधार रहता है। फिर भी बाह्य देश में चित्त की रश्मि-संचार-जन्य वृत्ति शरीरस्थ

१. ब्र०—“भारतीय सस्कृति और साधना”—पृ० २५ (द्वितीय खण्ड)।

इन्द्रिय-सन्निकर्ष की अपेक्षा नहीं रखती है। यही कारण है कि शरीर-सापेक्ष होने पर भी चित्त की इस वृत्ति को विदेहा कहा गया है। पुनः अकल्पिता विदेहा वृत्ति में तो चित्त वस्तुतः शरीर से बाह्य देश में ही निकल जाता है, अतः पूर्णतः देह-निरपेक्ष होने से उसका तो महाविदेहा नाम यथार्थ ही है।

महाविदेहा वृत्ति में शरीर का मोहावरण नष्ट हो चुका होता है। अतः सत्त्व की वृद्धि से चित्त में व्यापकता आविर्भूत होती है। चित्त की गति व्यापक होने से, चित्त का संचार भी अव्योहत होता है। प्रकाश का आवरणरूप मोह नष्ट होने से, क्लेश, कर्म, विपाक आदि भी क्षीण होते हैं।

विक्षिप्त भूमिक चित्त की वृत्ति बहिर्मुखी होने से वह स्वाभाविक प्रज्ञा-लोक अभिव्यक्त रहता है। अतः इसकी अनुभूति नहीं होती है। ( आंशिक रूप में भी ) अन्तर्मुखी चित्त में इस प्रकार का स्फुरण होने पर इच्छामात्र से अभीष्ट वस्तु का प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रकार समग्र विश्व की प्रत्येक वस्तु का योगज-सन्निकर्ष द्वारा प्रत्यक्ष किया जा सकता है<sup>१</sup>।

इस प्रकार चित्त एवं अभीष्ट वस्तु का योग केवल चैत्तिक-रश्मि के प्रेषण-द्वारा होता है। इसका अभ्यास करते-करते बाद में चित्त स्वयं ही शरीर से बाहर निकल कर विश्व-चैतन्य के साथ तादात्म्य प्राप्त करता है। यही महाविदेहा-धारणा है, जिसके प्रसंग में श्री आई० के० टैमिनी ने लिखा है कि अपने चित्त-द्वारा बहिर्गमन की इस शक्ति को सम्भवतः महाविदेहा इसलिये कहते हैं कि यह चेतनता को शरीर-निरपेक्ष सम्पूर्ण विश्वगत समष्टि चित्त के क्षेत्र में मुक्त कर देती है। विश्व का समष्टि-चित्त व्यष्टि चित्त से बाहरी ओर है, अतः व्यष्टि चित्त में ससार के प्रतिविम्ब ( प्रतिमा ) का मूल बाह्य ही है। सृष्टि-क्रम के अन्वकारमय एवं अपूर्ण आकार को पूर्ण करने वाली एवं सबको अपनानेवाली यह सुस्पष्ट ( प्रतिमा ) कल्पना अकल्पिता वृत्ति कहलाती है अर्थात् यह बुद्धि के क्षेत्र से बाहर की वस्तु है। इसकी एक स्वतंत्र वास्तविक सत्ता है और यह अचिन्तनीय है। अस्थिर अवस्था होने से यह भी एक वृत्ति है, किन्तु यह व्यष्टि चित्त की अत्यन्त सीमित वृत्ति नहीं, वरन् समष्टि चित्त की सुविशदा वृत्ति है<sup>२</sup>।

१. द्र०—“भारतीय सस्कृति और साधना” द्वितीय खंड—पृ० २७।

२. “This power of getting out of our intellect is called maha-videha, probably because it releases the consciousness into

—आगामी पृष्ठ पर

पञ्चभूतों की स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म, अन्वय एवं अर्थवत्त्व इन पाँच अवस्थाओं में संयम करने से भूतों पर विजय प्राप्त होती है<sup>१</sup>।

पञ्चभूत पृथ्वी, जल, तेज, वायु एवं आकाश मुप्रसिद्ध है। इन पाँचों की पाँच-पाँच अवस्थाएँ होती हैं। स्थूल क्रम से प्रारम्भ करने पर, जिनके नाम क्रमशः स्थूल, स्वरूप, सूक्ष्म अन्वय एवं अर्थवत्त्व हैं। “योग-सार संग्रह” में इनका वर्गीकरण ग्राह्य संयम-जन्य सिद्धियों के अन्तर्गत किया गया है। भूत ही ग्राह्य है तथा धर्म-धर्मी एवं कार्य-कारण के भेद से उनकी उपर्युक्त पाँच अवस्थाएँ हैं। यथा—

१. जिनमें से इनका प्रथम रूप स्थूल-भूत या शब्द-स्पर्शादि विशेष अर्थात् भौतिक भावापन्न द्रव्य गौ, घटादि, भैरी, नादादि है।

२. प्रत्येक भूत का अपना-अपना सामान्यरूप होता है। अथवा उनके अपने नियत धर्म होते हैं, जिनके द्वारा उनको पहचाना जाता है। जैसे गन्ध-गुणात्मिका पृथ्वी की मूर्ति या कठिनता। रस-गुणक जल का स्नेह, अग्नि की उष्णता, वायु की नित्यप्रति संचारशीलता, आकाश की सर्वगामिता एवं अवकाशदायकता स्वरूप-वाच्य है। ये ही पृथ्वी का पृथ्वीत्व, जल का जलत्व, अग्नि का अग्नित्व, वायु का वायुत्व और आकाश का आकाशत्व है। शब्द, स्पर्शादि इन्हीं सामान्यों के विशेषरूप हैं, जैसा कि “व्यासभाष्य” की “अस्यसामान्यस्यशब्दादयो विशेषा”<sup>२</sup> उक्ति से भी स्पष्ट है।

१. “स्थूलस्वरूपसूक्ष्मात्वार्थवत्त्वसयमाद्भूतजय” (योग सू० ३/४४)

२. व्या० भा०—३/४४।

(गत पृष्ठ का शेषांश)

the realm of the Universal mind which works without a Deha or Body. The word Bahir is used because the universal mind is outside the individual mind and the world image in the individual mind has an external source. This all-embracing and vivid image which replaces the dark and partial image of the world process is Akalpita i. e. is outside the range of the intellect. It has an independent reality and is inconceivable. It is a Vritti because it is a passing state, but a Vritti of the universal mind and not of the extremely limited individual mind.”

( The Science of Yoge, page 350, 351 )



३. स्थूल भूतो के कारणभूत पंच तन्मात्र, शब्द, स्पर्श, रूप, रस एवं गन्ध उनके सूक्ष्मरूप है। इसीलिये इन्हें सूक्ष्मभूत भी कहा जाता है।

४. अनुगमनकारी को अन्वय कहते हैं। “अगुणच्छतीत्यन्वयः”<sup>१</sup> सत्त्व, रज एवं तम अपने प्रकाश, क्रिया एवं स्थिति, धर्मत्रय से समस्त भूतो में सर्वत्र अनुगत रहते हैं। अतः वे भूतो का अन्वयीरूप है।

५. गुणत्रय पुरुष के भोग एवं मोक्षरूप अर्थ की पूर्ति के लिये हैं। गुण तन्मात्र एवं भूतादि में सर्वत्र व्याप्त हैं। भूतो को अवलम्बन करके ही पुरुष सुख-दुःखादि के भोगता है और स्थूलभूत-संघातस्वरूप शरीर ही भोगायत न होता है, जिसमें वैराग्य-द्वारा ही मोक्ष-सिद्धि होती है। इस प्रकार भूतों का-पुरुष के भोगार्पण का-विषय बनना ही उनका अर्थवत्त्व रूप है।

पाँचो भूतों की इन पाँचो अवस्थाओं में (अर्थात् २५ रूपों में) संयम करने से समस्त भूतों पर विजय प्राप्त होती है। ये वशीकृत भूत एवं उनकी प्रकृतियाँ (तन्मात्र-योगी की इच्छानुसार कार्य करती हैं। जैसे बछड़े को दूध पिलाने के लिए गाय सर्वदा अनुकूल आचरण करती है।

पंचभूत समूह स्वरूप, भूतो के स्थूलतमरूप में ही, ये पाँचो रूप एकत्र विद्यमान हैं, अतः उनमें संयम करने से क्रमशः पाँचो का साक्षात्कार करके उन पर विजय प्राप्त हो सकती है। अर्थात् भौतिक द्रव्यभाव को प्राप्त भूत ही संयम का विषय है, क्योंकि उन्हीं में पाँचो रूपों की एकत्र उपलब्धि हो सकती है।

अब यह द्रव्य क्या है? भाष्यकार श्री व्यास के शब्दों में “सामान्य विशेष-समुदायों द्रव्यम्”, अर्थात् सामान्य एवं विशेष, शब्द-स्पर्शादि का समुदाय ही द्रव्य कहलाता है, किन्तु यह स्मर्तव्य है कि अयुतसिद्धावयव-समूह ही द्रव्य कहलाता है, युत-सिद्धावयवसमूह द्रव्य पद-वाच्य नहीं हो सकता है। अयुत=अपृथक्सिद्ध।

इस विषय में प्रसंगतः भाष्यकार श्री व्यास ने समूह-भेद का भी निरूपण किया है। समूह दो प्रकार के होते हैं। युतसिद्धावयव समूह और अयुतसिद्धावयव समूह। जिसके अवयव भिन्न-भिन्न हों, ऐसा समूह युतसिद्धावयव समूह कहलाता है, जैसे वन-रूप वृक्ष समूह में वृक्षों की सत्ता भिन्न-भिन्न है।

जिस समूह में अवयवों की भिन्न रूप से सत्ता प्रतीत न हो ऐसा समूह

“अयुतसिद्धावयव” कहलाता है। उदाहरणार्थ शरीर, त्वक्, रक्त, मांस, मज्जा इत्यादि का समूह-स्वरूप है, किन्तु इनकी भिन्न प्रतीति नहीं होती। इन सबको अलग कर देने पर शरीर की सज्ञा ही असिद्ध हो जायेगी। इसी को सूत्र में “स्वरूप” पद की सज्ञा दी गई है।

उससे ( भूतजय से ) अणिमा आदि अष्ट सिद्धियों का प्रादुर्भाव होता है और काय-सम्पत् की प्राप्ति तथा शारीरिक धर्मों से प्राप्त बाधाओं का अभाव होता है।<sup>१</sup>

भूतजयी योगी को अष्ट सिद्धियों की प्राप्ति होती है, जिनके नाम अणिमा, लघिमा, महिमा, प्राप्ति, प्राकाम्य, वशिता, ईशिता और यत्र-कामावसायित्व ( या सत्यसकल्पता ) है।

### १. अणिमा<sup>२</sup>—

अर्थात् महत्परिमाणयुक्त शरीर को भी अणु के समान सूक्ष्म बना लेने की शक्ति।

### २. लघिमा—

तृण, तूलादि की भौति अत्यन्त हल्के बन जाने की शक्ति।

### ३. महिमा—

अल्प परिमाण-युक्त शरीर को भी अत्यन्त महत्काय बनाने की शक्ति।

### ४. प्राप्ति—

यथेष्ट वस्तु को प्राप्त करने का सामर्थ्य। प्राप्ति-प्राप्त योगी की अभिलषित वस्तु यदि दूरस्थ हो, तो स्वतः निकटस्थ हो जाती है। उदाहरणार्थ योगी यथास्थान स्थित रहने पर भी इच्छामात्र से दूरस्थ चन्द्र का अंगुली से स्पर्श कर सकता है। ये चार सिद्धियाँ पञ्च स्थूल भूतों के समय से प्राप्त होती हैं।

### ५. प्राकाम्य—

इच्छा का अनभिघात प्राकाम्य है। जैसे जल की भौति पृथ्वी भेद कर उसमें भी उन्मज्जन एवं निमज्जन कर सकना। यह सिद्धि पञ्च भूतों की स्वरूप

१. “ततोऽणिमादि प्रादुर्भाव कायसम्पत्तद्वमनिभिघातश्च (यो० सू० ३/४५)

२. अणिमा=अणुभाव, पर यहाँ अणुभाव करण सामर्थ्य को अणिमा कहा गया है।

संज्ञक अवस्था में समय से प्राप्त होती है। इससे श्रुत एव दृष्ट पदार्थ मात्र में स्वच्छन्द गति होती है।

#### ६. वशित्व—

भूत एव भौतिक पदार्थों की शक्ति को स्तम्भित करके, उन्हें स्वाधीन कर लेना तथा स्वयं उनके वशीभूत न होना, वशित्व सिद्धि है, अर्थात् वशित्व-प्राप्त योगी अन्य को तो स्ववश कर लेता है, पर स्वयं किसी से अधिकृत नहीं हो सकता है। यह सिद्धि सूक्ष्म भूत-विषयक समय से प्राप्त होती है।

#### ७ ईशितृत्व या ईशिता—

भूतो एवं भौतिक पदार्थों को स्वेच्छानुसार प्रेरित करने की सामर्थ्य ईशिता नामक सिद्धि है। ईशिता-प्राप्त योगी सकल्पमात्र से सम्पूर्ण पदार्थों की सृष्टि, स्थिति एवं प्रलय करने में समर्थ हो जाता है। जैसे त्रिशंकु के हेतु विश्वामित्र ने नवीन स्वर्ग की रचना की थी। यह सिद्धि भूतो को अन्वयावस्था में समय करने से प्राप्त होती है।

#### ८. यत्र-कामावसायित्व—

सत्यसंकल्पता ही यत्रकामावसायित्व है। इसके प्रभाव से योगी के संकल्पानुसार भूतो का स्वभाव बदल जाता है। यदि वह चाहे तो विष में अमृत एव अमृत में विषत्व उत्पन्न हो जायगा। इस प्रकार उक्त शक्ति-प्राप्त योगी विष खिला कर भी प्राणी को जीवित कर सकता है। यह सिद्धि “अर्थवत्त्व” में संयम करने से प्राप्त होती है।

इस विषय में भाष्यकार भगवान् व्यास एवं अन्य विद्वानों ने भी कहा है कि योगी सर्वशक्ति-सम्पन्न हो जाने पर भी ईश्वर की इच्छा के विरुद्ध पदार्थों का विपर्यास अर्थात् उलट-पुलट नहीं करता है। उदाहरणार्थ वह सूर्य को चन्द्र या चन्द्र को सूर्य अथवा दिन को रात या रात को दिन नहीं बनाता है, क्योंकि ब्रह्माण्ड रचना में पूर्वसिद्ध हिरण्यगर्भ-ईश्वर का यह सकल्प है कि सृष्टि-क्रम यथायोग्य नियमित रूप से चलता रहे। क्योंकि उक्त रीति से सूर्य आदि का विपर्यास होगा, तो ईश्वर की सृष्टि की व्यवस्था अनियमित हो जायगी और अनेक अनिष्ट उत्पन्न होंगे। अतः योगी ईश्वर के सकल्प के विरुद्ध आचरण नहीं करते। ईश्वरीय सकल्प से मुक्त पदार्थों में ही वे अपनी शक्ति का समुचित-प्रयोग कर सकते हैं। पदार्थ-

विपर्यास ईश्वरेच्छा के विरुद्ध है। अतः योगी उसे नहीं करते, किन्तु उन पदार्थों में निहित शक्ति ईश्वरीय सकल्य से निश्चित नहीं, वरन् जाति, देश, काल एवं अवस्था से ही निश्चित होती है। इन जात्यादि में भेद होने पर वस्तु की शक्ति में भी भेद अवश्यम्भावी है, क्योंकि समस्त पदार्थ सर्वात्मक है<sup>१</sup>। अतः पदार्थगत-शक्ति का विपर्यास करना ईश्वरेच्छा के विरुद्ध आचरण नहीं है। वैसे पदार्थ की शक्ति में योगी-प्रयुक्त विपर्यास ईश्वर की ही प्रेरणा से न्याय एवं व्यवस्था के अनुसार ही होता है, अन्याय अथवा अनिष्ट करने को नहीं।

इन अष्ट-सिद्धियों के अतिरिक्त सूत्रकार ने भूतजयी को कायसम्पद् की प्राप्ति तथा शारीरिक धर्मों से अनभिघात रूप सिद्धि का भी कथन किया है। उनमें कायसम्पदाओं का वर्णन अग्रिम सूत्र में होगा। उसके धर्मों से अनभिघात, अर्थात् पंचभूतों के प्रभाव से योगी को आघात न पहुँचना तो अणिमादि अष्टसिद्धियों के आविर्भाव से स्वतः सिद्ध है। क्योंकि जिसे उक्त सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं, पंचभूतों को भूत्यवत् इच्छानुसार प्रेरित करना उसके बाँए हाथ का खेल है। आज्ञाकारी भूत्यु भला स्वामी को क्या हानि पहुँचाएगा? फिर भी कार्यसिद्धि की भाँति सूत्रकार ने उसका पृथक् न्यास किया है, जिसका स्पष्टीकरण इस प्रकार है :—

कठोर पृथ्वी, उक्त सिद्धि-प्राप्त योगी की शारीरिक क्रियाओं में अवरोध नहीं डालती। जैसे योगी शिला में भी अन्तः प्रविष्ट हो सकता है। जल का स्नेह (धर्म) उसे भिगो नहीं सकता है, अग्नि के ताप से वह जल नहीं सकता है। निरन्तर प्रवाहमान तीव्र वायु योगी को हिला भी नहीं सकता। मुक्त आकाश में भी योगी का शरीर अनावृत नहीं होता अर्थात् आकाश योगी को ढक लेता है, जिसके प्रभाव से युक्त आकाशस्थ योगी सिद्ध-पुरुषों के लिये भी अदृष्ट हो जाता है।

पूर्व सूत्र में अष्टसिद्धियों के अतिरिक्त भूतजयी को कायसम्पद् की प्राप्ति भी बतलाई गई है। वे कायसम्पदाएँ रूप, लावण्य, बल, एवं वज्र के समान शरीरावयवों की दृढ़ता है<sup>२</sup>।

योगी विवेकानन्द ने तो यहाँ तक लिखा है कि —भूतजयी योगी “काल-दण्ड को भग्न कर इस जगत् में शरीर लेकर वास करते हैं<sup>३</sup>। तुल० खण्ड भित्ति काल-दण्डं ब्रह्माण्डे विचरन्ति (घोरण्ड संहिता)।

१. द्रष्टव्य — “त्रिविध परिणाम का समयगत अनागतत्व ।”

२. “रूपलावण्यबल बज्रसहनत्वानि कायसम्पत्” (यो० सू० ३/४७)

३. राजयोग, पृ० २५०।

प्रथम ग्राह्य भूतो के सयम से जन्य सिद्धियों का निरूपण करके, सम्प्रति ग्रहणस्वरूप इन्द्रिय-विषयक सयम का उपन्यास किया जाता है, क्योंकि ग्रहण का निरूपण ग्राह्याधीन है ।

ग्रहण, स्वरूप, अस्मिता, अन्वय एवं अर्थवत्त्व इन्द्रियों के इन पाँच रूपों में सयम करने से इन्द्रिय-जय प्राप्त होता है<sup>१</sup> ।

जिस प्रकार स्थूलभूतो की स्थूल, स्वरूपादि पाँच अवस्थाएँ हैं। उसी प्रकार इन्द्रियों के ग्रहणादि उपर्युक्त पाँच रूप होते हैं । जिनके पाँचों रूपों में पृथक्-पृथक् सयम करने से तद्-तत् सयमजन्य भिन्न-भिन्न सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं ।

### १. ग्रहण—

विषयों को ग्रहण करने का माध्यम होने से एकादश इन्द्रियाँ ग्रहण कहलाती हैं । अतः ग्रहण शब्द से उस प्रणाली का भाव समझना चाहिये, जिसके द्वारा शब्द-स्पर्शादि गृहीत होते हैं ।

सामान्य-विशेषात्मक स्थूल शब्दादि विषय ग्राह्य हैं । उन विषयों में इन्द्रियों की वृत्ति ग्रहण कहलाती है अर्थात् वृत्ति के विषय ग्राह्य एवं विषयाकार में परिणत वृत्ति ग्रहण पदवाच्य है । यह ग्रहण ही इन्द्रियों का प्रथम रूप है । इन्द्रियों का यह ग्रहणस्वरूप भी सामान्य विशेष उभयात्मक होता है । इस विषय में बिना नाम का निर्देश किये भाष्यकार व्यास ने बौद्ध-मत का निरसन किया है । बौद्धों के मतानुसार घटत्व, शब्दत्वादि धर्म-सामान्य का ही इन्द्रिय-वृत्ति से ग्रहण होता है, किन्तु यह मान्यता उचित नहीं है । इन्द्रिय-वृत्ति का विषय धर्ममात्र या सामान्य मात्र नहीं, अपितु धर्म एवं धर्मी या सामान्य एवं विशेष दोनों ही उसके विषय होते हैं । अन्यथा इन्द्रियों के अ-विषयी-भूत विषय-विशेषों का मन के द्वारा निश्चय किया जाना भी असिद्ध हो जायेगा, क्योंकि बाह्य विषयों में मन की प्रवृत्ति स्वतन्त्र नहीं, अपितु इन्द्रियाधीन है । प्रथम इन्द्रियों से गृहीत विषय की ही बाद में मन आलोचना करता है । घटादि विशेष के साथ, यदि इन्द्रिय-निरपेक्ष मन का ही प्रत्यक्ष सम्बन्ध स्वीकार किया जाय, तो अन्ध-बहिरादि को चाक्षुष एवं श्रावण प्रत्यक्ष अवश्य होना चाहिये, किन्तु ऐसा तो होता नहीं । अतः स्पष्ट है कि इन्द्रिय-वृत्ति सामान्य एवं विशेष उभयात्मिका ही होती है । इन्द्रियों की उक्त वृत्ति ही ग्रहण कहलाती है और यही उसका स्थूलतम प्रथमरूप है । यही इन्द्रिय-विषयक सयम का प्रथम सोपान है ।

१. “ग्रहणस्वरूपास्मितान्वयार्थवत्त्वसयमादिन्द्रियजय.” (यो० सू० ३/४८)

## २. स्वरूप—

इन्द्रियवर्ती ज्ञान का साधनभूत अशसमूह प्रकाशात्मक बुद्धि का प्रकाशात्मक परिणाम-विशेष है। यह प्रकाशात्मक अंश ही इन्द्रियो का स्वरूप है, अर्थात् सामान्यरूप से इन्द्रियो की प्रकाशशीलता उनका स्वरूप है। उदाहरणार्थ नेत्रो का नेत्रत्व श्रोत्रो का श्रोत्रत्व, घ्राण का घ्राणत्व आदि उनके स्वरूप है।

## ३. अस्मिता—

इन्द्रियगण अहंकारजन्य होने से अहंकार उनका उपादान है। इन्द्रियगत अहंकार को क्रियाशील अवस्था विशेष ज्ञान है। अहंप्रत्यायात्मक भाव ही अस्मिता है। अतएव अहंकार ही इन्द्रियो का अस्मिता-सज्ञक तृतीय रूप है।

## ४. अन्वय—

प्रवर्तन, धारण एवं विज्ञान के व्यापार से गुणत्रय इन्द्रियो में भी सर्वत्र अनुगत है। अतः सत्त्व, रज एवं तम, ये गुणत्रय ही भूतो को भौति इन्द्रियो के भी अन्वयरूप है।

## ५. अर्थवत्त्व—

भोग एवं अपवर्गरूप अर्थ का करण या साधन होने से इन्द्रियो पुरुष के अर्थ स्वरूप है। अतः अर्थवत्त्व इनका पंचम स्वरूप है।

उपर्युक्त इन्द्रिय के पांचो रूपों में क्रमशः सयम करने पर योगी इन्द्रियो पर विजय प्राप्त करता है, जिसके फलस्वरूप योगी को मनोजवित्व, विकरण भाव और प्रधानजय ये तीन सिद्धियाँ प्राप्त होती हैं<sup>१</sup>।

१. सर्वोत्तम गतिलाभ ही मनोजवित्व है। जब का अर्थ है वेग। अतः मनोजवित्व का अर्थ है, शरीर को मन के समान तीव्र गति या वेग का प्राप्त होना। अर्थात् जिस प्रकार मन असंख्य योजन दूरस्थ अथवा व्यवहित देश में भी क्षण-मात्र में पहुँच जाता है, उसी प्रकार की गति का लाभ मनोजवित्व है। विभु अन्तःकरण को परिणत करने से अभीष्ट स्थल पर, क्षण-मात्र में इन्द्रिय-निर्माण की योग्यता प्राप्त होने पर मनोगति एवं विकरण भाव प्राप्त होते हैं<sup>२</sup>। यह सिद्धि ग्रहण-विषयक सयम से प्राप्त होती है।

१ “ततोमनोजवित्व विकरणभावः प्रधानजयश्च” (योग सू० ३/४८)

२ पा० योग ४० (हरि० आ०)—पृ० २८४।

२. इन्द्रियो का शरीर-निरपेक्ष वृत्तिलाभ ही विकरणभाव नामक सिद्धि है। इससे सभी दूरस्थ आदि देश, भूत, भविष्यतादि काल तथा सूक्ष्म आदि विषयो का-योगी शरीर के बिना ही यथा स्थान स्थित रह कर-प्रत्यक्ष कर सकता है। इन्द्रियो का सर्वत्र विकीर्णभाव अथवा व्यापकता ही विकरण भाव है। यह सिद्धि इन्द्रियो के स्वरूप विषयक संयम से प्राप्त होती है।
३. सम्पूर्ण कारक-कार्य-परम्परा को अर्थात् मूलप्रकृति एवं उसके समस्त विकारो को स्वाधीन कर लेना ही प्रधानजय है। प्रधान जय क्रिया-शक्ति की चरम सीमा है। इसके प्रभाव से सम्पूर्ण विश्वगत कार्य-कारणात्मक निखिल पदार्थ योगी की इच्छानुसार प्रेरित होते हैं। यह सिद्धि, अस्मिता अन्वय एवं अर्थवत्त्व इन तीनों के संयम का फल है।

प्रकृतिजय के विषय में यह आपत्ति हो सकती है कि इन्द्रियविषयक संयम-जय से इन्द्रियाँ ही बशीभूत होनी चाहिये, प्रधान तो नहीं। क्योंकि जिस विषय का संयम किया जाता है, उसी पर अधिकार प्राप्त होता है, अन्य पर नहीं, अतः इन्द्रिय सम्बन्धी संयम-द्वारा प्रधान के वशित्व का सम्पादन किस प्रकार हो सकता है? इसका समाधान यह है कि उपर्युक्त तीनों सिद्धियाँ पंचेन्द्रिय मात्र के जय से नहीं, अपितु उनके ग्रहण, स्वरूपादि पाँच रूपों के संयम एवं जय से प्रादुर्भूत होती हैं। उन पाँच रूपों के अन्तर्गत प्रधानादि का भी समावेश होता है। अतः प्रधानजय के विषय में आपत्ति नहीं करनी चाहिये।

इन्द्रियजय से उत्पन्न तीनों सिद्धियों को योगशास्त्र में “मधुप्रतीका” संज्ञा दी गई है। स्वामी ओमानन्द ने लिखा है कि उक्त सिद्धि-त्रय प्राप्त योगी को प्रत्येक सिद्धि में मधुवत् स्वाद की प्रतीति होती है। पुनः उन्होंने योगजन्य “ऋतम्भरा” प्रज्ञा की “मधु” संज्ञा बतलाकर उस मधु का प्रतीक होने से इन सिद्धियों की मधु-प्रतीक संज्ञा बताई है। उस मधु का प्रतीक—अर्थात् जिसके द्वारा उसका कारण प्रत्यक्ष किया जाय वह मधु-प्रतीक है<sup>१</sup>।

भूत एव इन्द्रिय—विजय-द्वारा उक्त सिद्धि-प्राप्त योगी, शक्ति एवं शुद्धि की दृष्टि से, अधिकांश में साधारण देवताओं की अपेक्षा उच्च स्तर में उठ जाते हैं। सृष्टि, स्थिति एवं संहारक्रिया में वे स्वयमेव समर्थ होते हैं और उनके वित्त में विमल वैराग्य की प्रभा प्रस्फुटित होती है।

तत्पश्चात् योगी भूतेन्द्रिय राज्य का उल्लंघन करके, पुरुष एवं सत्त्व के

---

१. “पातञ्जल योग-प्रदीप”—पृ० ५४२।

भेदज्ञान में निष्ठा प्राप्त करके, सब भावों का अधिष्ठाता और सर्वज्ञ हो जाता है<sup>१</sup>। भगवान् व्यास ने इस सिद्धि की “विशोका” सज्ञा बनलाई है। इस अवस्था में सर्वभावाधिष्ठातृत्व तथा सर्वज्ञत्व स्वाभाविक ही है। क्योंकि विवेकख्याति पर्यन्त सर्वात्मक प्रकृति के कार्यकारणात्मक समग्र गुण क्षेत्रज्ञ स्वामी ( पुरुष ) के प्रति निःशेषभोग्य या दृश्यभाव से उपस्थित हो चुकते हैं। अतः वह सब भावों का अधिष्ठाता होता है या स्वामी होता है। इस काल में योगी ईश्वर की भाँति इच्छामात्र से निखिल वस्तुओं को प्रेरित कर सकता है। भूत, भविष्य एवं वर्तमान धर्मरूपेण स्थित, सर्वात्मक गुणों का एक साथ सम्यक् विवेकज्ञान हो जाने से वह सर्वज्ञ हो जाता है। जगत् के स्थूल एवं सूक्ष्म, दोनों ही रूप गुण-त्रय के विविध विकास है। सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड प्रकृति के गुणों का ही विलास है। विवेकज्ञानी समस्त विकृतियों सहित प्रकृति का आद्योपान्त प्रत्यक्ष करके द्रष्टा पुरुष का भी स्वरूप-साक्षात्कार कर चुकता है। अतः विश्व का कोई भी तत्त्व अनालोचिन न रहने से सर्वज्ञता प्राप्त होती है।

श्रुति भी है—“आत्मनो वा अरे दर्शनेनेद सर्वविदितम् ( बृहदा० ) सत्त्व-पुरुष के भिन्न प्रत्यक्ष से क्लेश हेतुक भोग नष्ट हो जाने से इस सिद्धि को विशोका कहते हैं। यही जीवन्मुक्ति है।

सिद्धियों की प्राप्ति से योगी को अपनी श्रेष्ठता का अभिमान नहीं करना चाहिये। विविध सिद्धियों के प्राप्तिकाल में, तद्-तत् स्थानीय देवगण योगी के समक्ष दिव्य भोग उपस्थित कर उन्हें प्रलोभन देते हैं। निर्लिप्त, निरभिमान योगी उनकी उपेक्षा करके कैवल्य की ओर निरन्तर प्रयत्नशील रहते हैं। दिव्य भोगों के प्रलोभन में पड़ने, अथवा देवताओं-द्वारा आदर प्राप्ति का अभियान करने से योगभ्रष्ट होने की सम्भावना होती है, जैसा कि सूत्रकार ने भी कहा है—“स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्ग-स्मयाकरणं पुनरनिष्टप्रसङ्गात्<sup>२</sup>।”

देवगण प्रलोभन-प्रदान-हेतु, योगी के पास विविध दिव्यभोग अप्सरा आदि प्रेषित करते हैं।

“पातंजल-योग-सूत्र” में चार प्रकार के योगियों का वर्णन किया गया है, जिनका विवरण भाष्यकार श्री व्यास ने निम्न प्रकार से दिया है—

१. “सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिमात्रस्य सर्वभावाधिष्ठातृत्व सर्वज्ञातृत्वंच” (यो० सू० ३/४६)

२. “स्थान्युपनिमन्त्रणे सङ्गस्मयाकरण पुनरनिष्टप्रसङ्गात्।” (यो० सू० ३/५१)



- (१) प्रथमकल्पिक,
- (२) मधु-भूमिक,
- (३) प्रज्ञाज्योतिः,
- (४) अतिक्रान्तभावनीय ।

(१) प्रारम्भिक अभ्यासी स्मूल समाधि-सिद्ध योगियों की “प्रथमकल्पिक” संज्ञा है। अर्थात् सवितर्का समाधि (१/४२) में अधिकार-प्राप्त योगी प्रथमकल्पिक है। इनके चित्त में अन्तर्ज्योति का स्फुरण प्रारम्भ हो जाने पर भी उसकी शुद्धि एवं तत्त्व-विजय अवशिष्ट होती है। वे समापत्ति के द्वारा केवल “परचित्तज्ञानादि” प्राप्त कर सकते हैं<sup>१</sup>।

(२) प्रथमकल्पिक के बाद योगी “मधुमती” भूमि में प्रवेश करता है। मधुभूमिक योगियों के चित्त अत्यन्त शुद्ध होते हैं। उन्हें ऋतम्भरा-प्रज्ञा<sup>२</sup> प्राप्त होती है। वे भूत एवं इन्द्रियों को प्रत्यक्ष कर, उन पर विजय-प्राप्ति में प्रयत्नशील रहते हैं।

(३) तृतीय अवस्था-युक्त योगी विशोधित-प्रज्ञा-ज्योति-द्वारा भूत एवं इन्द्रियों के उक्त ग्राह्य, ग्रहणादि पाँचों रूपों को स्ववश कर विशोका सिद्धि हेतु प्रयत्नशील रहते हैं। ये मधुप्रतीकादि-सिद्ध योगी देवस्तर से उन्नत हो जाने से दिव्य विषयों में आसक्ति-शून्य होते हैं। इन्हीं की प्रज्ञाज्योतिः संज्ञा है।

(४) विवेकख्याति-द्वारा सर्व-भावाधिष्ठातृत्व-सर्वज्ञातृत्वरूप विशोका सिद्धि-प्राप्त चतुर्थ भूमिक योगी “अतिक्रान्तभावनीय” कहलाते हैं। साधनपाद सूत्र २७ में वर्णित सप्तधा-प्रान्तभूमि-प्रज्ञा-प्राप्त, इन चतुर्थ भूमिका-युक्त योगियों की सम्पूर्ण साधनापूर्ण हो चुकती है। केवल असम्प्रज्ञात समाधि-द्वारा चित्त का विलय करना ही अवशिष्ट रहता है।

उपयुक्त चारों प्रकार के योगियों में मधुभूमिक योगी के ही योगभ्रष्ट होने की अधिक सम्भावना रहती है<sup>३</sup>। प्रथमकल्पिक भूमि में तो चित्त की पूर्ण शुद्धि न

१. तत्व० (३/५१)

२. द्र०—यो० सू० १/४८ ।

३. द्र० यो० सू० १/४३, ३/४४-४७ ।

४. “तत्र मधुमती भूमि साक्षात्कुर्वतो ब्राह्मणस्य स्थानिनो देवा सत्त्वविशुद्धि-मनुष्यन्त स्थानैरुपनिमन्त्रयते.” (व्या० भा० सू० ३-५१)

हो सकने से देवादिको से इस प्रकार के प्रलोभनो की सम्भावना ही नहीं होती और मधुमती के बाद की भूमियो मे योगी देवस्तर से ऊपर उठ जाता है। फिर जिन दिव्य भोगो का देवगण प्रलोभन देते है, सृष्टि, स्थिति एवं सहार-क्रिया मे समर्थ भूतेन्द्रियजयी, उनका स्वय ही निर्माण कर सकते है। अतः उन विषयो मे उन्हें आसक्ति नहीं रहती। जिसके लिये दिव्य भोग दुर्लभ हो, अथवा जिसके लिये दिव्य भोग नवीन वस्तु हो, उसे उनके प्रति आकर्षण हो सकता है, पर जो उनकी उपेक्षा करके, उन भोगो से भी उत्कृष्ट अवस्था में पहुच चुका हो, उसके लिये वे भोग भी साधारण वस्तु है। अतः तृतीय एवं चतुर्थ भूमिक योगियो को इन प्रलोभनो में फँसने की सम्भावना नहीं रहती है<sup>१</sup>।

मधुमती भूमिका का साक्षात्कार करने वाले योगी की अत्यन्त चित्त-शुद्धि देख कर, देवगण रमणीय दिव्यातिदिव्य विषय-भोगो को प्रस्तुत कर, साधक को प्रलोभन देते है कि ये सब दिव्य भोग आपकी ही तपस्या का फल है। आपके ही योग्य है। ये अत्यन्त रमणीय, अजर, अमर पद प्रदान करने वाले है, इत्यादि। उस अवस्था मे दिव्यातिदिव्य नवल भोगो को देखकर उनके प्रति राग जागृत हो उठना स्वाभाविक होता है, साथ ही “मे देवताओ-द्वारा भी प्रार्थनीय हूँ”, इत्यादि अभिमान भी जागरूक हो जाना स्वाभाविक है। अतः मधुभूमिक योगी को सतर्क रहना चाहिये तथा गुणातीत स्वरूपस्थिति के लिये सतत यत्नशील रहते हुए, इन क्षुद्र प्रलोभनों की उपेक्षा करनी चाहिये। अन्यथा वह अपने अभीष्ट की सिद्धि न कर सकेगा, प्रत्युत क्लेश-कर्म-विपाक के आवर्तन मे पुनः प्रवृत्त हो जाएगा। मुमुक्षु के लिये इन विभूतियो का प्रयोजन दिव्य भोगो की उपलब्धि नहीं, वरन् उनके द्वारा तत्त्व साक्षात्कार करते हुए उन्हें स्ववश करके, अन्त मे विवेक-ज्ञान-द्वारा कैवल्य प्राप्त करना है।



## ( ६ ) कैवल्य-प्राप्ति का साधन ।

स्वार्थ-प्रत्यय के समय-द्वारा सत्त्वपुरुषान्यताख्यातिरूप विवेक-ज्ञान ही कैवल्य-प्राप्ति का साधन है । विवेकख्याति के अनेक सोपान हैं । ऋतम्भरा-प्रज्ञा से प्रारम्भ कर सप्तधा प्रान्त-भूमि प्रज्ञा पर्यन्त विवेकख्याति का प्रकर्ष होता है । पूर्व वर्णित स्वार्थ-प्रत्यय<sup>१</sup> का संयम, विवेकख्याति की आदिम अवस्था है । अन्तिम दशा में विशुद्ध सत्त्व एव पुरुष का भेद-ज्ञान प्राप्त होने पर, योगी सर्वभावाधिष्ठातृत्व एवं सर्व-ज्ञातृत्व प्राप्त करके, क्षीण-क्लेश एव विशोक हो जाता है<sup>२</sup> । स्वार्थप्रत्यय जन्य पुरुषज्ञान से प्रस्तुत प्रसंगगत सत्त्व-भिन्न पुरुष-ज्ञान का भेद प्रदर्शित करते हुए, श्री विज्ञानभिक्षु ने कहा है कि “तत्र पुरुषेयप्रत्यय सुखाद्यनुभवरूपे परिच्छिन्नएव समय उक्तो नत्वपरिच्छिन्ने पुरुषे, अत्र तु तेन समयेन ज्ञाते परिपूर्ण पुरुषे बुद्धि विवेक संयम उच्यते इति विशेषः”<sup>३</sup>, अर्थात् वहाँ ( स्वार्थप्रत्यय के संयम में ) सुख आदि के अनुभवरूप से परिच्छिन्न पौरुषेय प्रत्यय में ही समय कहा है, अपरिच्छिन्न पुरुष में नहीं । प्रस्तुत स्थल में उस समय के द्वारा पूर्ण पुरुष ज्ञात हो जाने पर, बुद्धि से विविक्त पुरुष का संयम कहा गया है, यह विशेषता है ।

इस विषय में मणिप्रभाकार तथा योगसुधाकरकार ने उल्लेख किया है कि पूर्वोक्त स्वार्थप्रत्यय के संयम-द्वारा, अन्तःकरण के रजोगुण एव तमोगुण रूप मल धुल जाते हैं और अन्तःकरण पर विजय-प्राप्ति होती है, तब वशीकार संज्ञक वैराग्य में स्थित बुद्धि-सत्त्व का आत्मा से भेदज्ञान उत्पन्न होता है, जिससे उन्हें सर्वभावाधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञता की स्थिति प्राप्त होती है । तात्पर्य यह है कि स्वार्थ-प्रत्यय विषयक समय से जिस पुरुष-साक्षात्कार का प्रारम्भ होता है, उसकी पूर्ण परिणति विवेकख्याति की अन्तिम अवस्था है<sup>४</sup> । अन्य किसी व्याख्याकार ने स्वार्थप्रत्यय के संयमजन्य पुरुष साक्षात्कार से, पूर्ण विवेकज्ञान-जन्य पुरुष-साक्षात्कार का, भेद प्रदर्शित करने की कोई आवश्यकता नहीं समझी—ऐसा प्रतीत होता है ।

१. यो० सू० ३/३५,

२. यो० सू० ३/४६,

३. यो० बा० ३/४६ ।

४. यो० सू० ३/४६ ।

श्री भिक्षु ने इस विषय में “योगसागर-संग्रह” में अविक स्पष्ट व्याख्या की है। तदनुसार भोग के मध्य ही बुद्धिजन्य प्रतीति से विविक्त पुरुष-विषयक ज्ञान स्वार्थ-प्रत्यय है, जिसके समय से सूत्र ३ ३५ में कथित पुरुष-ज्ञानरूप सिद्धि होती है<sup>१</sup>। किन्तु सर्वभावाधिष्ठातृता एवं सर्वज्ञता का हेतुभूत, पुरुष का साक्षात्कार बुद्धि एवं पुरुष का सर्वथा भिन्न प्रत्यक्ष है। यही इन दोनों में भेद है<sup>२</sup>।

वस्तुतः घट से अवच्छिन्न आकाश का प्रत्यक्ष जैसे घट से विवेक करने पर होता है, उसी भाँति शब्दस्पर्शादि विभिन्न वृत्तियों से अवच्छिन्न अश (चिदाकाश के अशभूत) आकाश का प्रत्यक्ष उन वृत्तियों से भेद करने पर होता है। यही स्वार्थ-प्रत्ययजन्य पुरुषज्ञान का स्वरूप है। इससे भिन्न विभु चिदाकाश से निखिल प्रपञ्च का भेद करने पर, विभु आकाश की भाँति सर्वव्याप्त परिपूर्ण परमात्मा का साक्षात्कार होता है<sup>३</sup>। यही उपाधिजन्य पुरुष के पूर्ण साक्षात्कार का स्वरूप है। यही विवेकख्याति की अंतिम अवस्था है।

×

×

×

निःशेष सर्वज्ञता का कारणभूत विवेकजन्य ज्ञान क्षण तथा उसके क्रम में संयम करने से आविर्भूत होता है<sup>४</sup>।

जिस प्रकार द्रव्य का सबसे छोटा अविभाज्य अंश परमाणु है, उसी प्रकार काल का सूक्ष्मतम निर्विभाज्य अंश क्षण होता है। अथवा भाष्यकार श्री व्यास ने क्षण के स्वरूप की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि एक चलित परमाणु जितने समय में परमाणुमात्र देश को पार करता है, वह काल क्षण है तथा उन क्षणों का एक के बाद एक प्रकट होते रहना या निरन्तर प्रवाहित रहना ही क्रम है। स्वामी विवेकानन्द ने पूर्वोक्त विवेकजन्य ज्ञान की दृढता के हेतु क्षण एवं उसके क्रम में संयम का विधान बतलाया है<sup>५</sup>। किन्तु श्री वाचस्पति, भोज, नागोजीभट्ट प्रभृति सभी संस्कृत टीकाकारों ने सत्त्व-पुरुष के विवेकजन्य सर्वज्ञतादि ज्ञान की प्राप्ति के उपा-

१. “भोगमध्ये बौद्धप्रत्ययविवेकेन पुरुषेय प्रत्यये समय कर्तव्य इत्याशयेन भोगोऽप्यत्र लक्ष्यते”

योगसार संग्रह, पृ० ८६।

२. यो० सा० स० (पृ० १००-१०१)

३. यो० सा० स० (पृष्ठ ६१)

४. “क्षणतत्क्रमयो समयमा द्विवेकज ज्ञानम्”—यो० सू० ३/५२।

५. राजयोग (विवेकानन्द), पृ० २५३।

यान्तर के अर्थ में ही क्षण एवं उसके क्रम में संयम का विधान बतलाया है। क्षण एवं उसके क्रम विषयक संयम से भी प्रत्येक तत्त्व का पुरुषपर्यन्त साक्षात्कार होकर, सबको विषय बनाने वाला, विवेकज—ज्ञान उत्पन्न होता है, क्योंकि अतीत वर्तमानादि परिणामत्रय से प्रत्येक वस्तु, प्रत्येक क्षण परिणाम को प्राप्त होती है, अतः क्षण एवं तत्क्रम में संयम करने से प्रत्येक महदादि तत्त्वों के परिणामत्रय का प्रत्यक्ष होता है। यह प्रत्यक्ष पुरुष पर्यन्त पहुँच कर विवेकजज्ञान का अभिव्यञ्जक बनता है<sup>१</sup>।

योगमत में क्षणों का उक्त क्रम कोई वास्तविक सत्ता नहीं होती, वरन् उसका काल्पनिक व्यवहारमात्र होता है। क्षण एवं उसके क्रम का कभी मिलन नहीं होता। एक क्षण के वर्तमान काल में एक ही क्षण वर्तमान रह सकता है। दो क्षण कभी एक साथ वर्तमान नहीं हो सकते तथा पूर्वोत्तर क्षण-रूप क्रम की भी परस्पर अनन्तरता होने से, क्षण एवं क्रम का भी मेल नहीं हो सकता है। अतः काल के स्थूल रूप मुहूर्त, दिन, रात्रि आदि सभी बौद्ध-कल्पना-प्रसूत एवं अयथार्थ है। लौकिक-जन इसी को काल कहते हैं और उसे वास्तविक समझते हैं। एकमात्र वर्तमान क्षण ही यथार्थ या वास्तविक है।

मुहूर्त आदि में क्षणों का समाहार कल्पनीय ही होगा, पर यह असम्भव है। क्योंकि उसमें वर्तमान क्षण के अतिरिक्त अवर्तमान क्षणों का भी समावेश करना होगा। अवर्तमान क्षण का तात्पर्य है, अतीत या अनागत क्षण, जो “है नहीं”, क्योंकि अवर्तमान का अर्थ में, किसी सत्ता का अभाव होना और अतीत एवं अनागत क्षण का अर्थ ही है अवर्तमान क्षण। अतः वर्तमान क्षण मात्र के अतिरिक्त अतीतादि क्षणों का मेल न हो सकने से, क्षण-समाहारस्वरूप मुहूर्त, घटिकादि काल की सत्ता भी वस्तुशून्य, वैकल्पिक शब्द-व्यवहारमात्र ही है।

फिर भी “त्रिकाल है,” इस प्रकार का तीनों कालों का सत्ता-बोधक व्यवहार शब्दमात्र से सिद्ध की भाँति किया जाता है। इसी भाँति मुहूर्त, घटिका आदि का व्यवहार भी विकल्पात्मक ही समझना चाहिये।

अतः योगमत में क्षणमात्र से अतिरिक्त काल नाम की कोई वस्तु नहीं

---

१ “सर्ववस्तुनामशेष विशेषैर्विविच्य साक्षात्करणरूप सार्वज्ञ भवतीत्यर्थः ।

प्रतिक्षण हि सर्वं वस्तु परिणमतेऽतः क्षणतत्क्रमयोः साक्षात्कार

सर्ववस्तुनां सर्वपरिणामतत्तत् क्रमयोरपि ज्ञानात्सर्वतो विवेकेन पुरुषप्रत्ययो

भवतीत्याशयः । ( नागोजीभट्टवृत्ति—सू० ३/५२ )

होगी। एकमात्र क्षण ही वास्तविक है। वह क्षण भी क्रम पर आश्रित है। क्षणों के इस क्रम को ही कालविद् योगी काल कहते हैं। “क्षणस्तु वस्तुपतितः क्रमावलम्बी। क्रमश्च क्षणानन्तर्यात्मा त कालविदः काल इत्याचक्षते योगिनः<sup>१</sup>।”

यहाँ यह ध्यान देने योग्य है कि क्षण भी वास्तविक है, पर स्वयं वस्तु नहीं है, जैसा कि भाष्यकार श्री व्यास की उपर्युक्त पक्तियों से भी स्फुट होता है। भाष्यकार व्यास ने क्षण को “वस्तुपतितः क्रमावलम्बी” कहा है, अर्थात् वस्तु में पड़ कर या वस्तु के अधीन होकर क्रम का अवलम्बन करने वाला, अर्थात् क्षण किसी वस्तु के परिणाम क्रम के आश्रय से अनुभवगम्य होने वाला अधिकरणस्वरूप है। श्री भिक्षु ने “योगवार्तिक” में प्रसंगगत सूत्र के व्यासभाष्यगत “क्रमावलम्बी” शब्द के स्थान पर “क्रमावलक्षी” पाठ स्वीकार किया है। तदनुसार क्षण वस्तु के परिणाम-क्रम द्वारा लक्षित पदार्थ है, अतः इस पाठ के अनुसार भी अर्थ में कोई भेद नहीं पड़ता है। श्री वाचस्पति मिश्र ने, व्यास-भाष्यगत “वस्तुपतित” का अर्थ “वास्तव” किया है। श्री हरिहरानन्द आरण्य ने “वस्तुपतित” का अर्थ वस्तु का अधिकरण-स्वरूप किया है (द्र० भास्वती)। उनके “पातजल-योग-दर्शनम्” सज्जक ग्रन्थ में, इस विषय-की और अधिक स्पष्ट एवं विस्तृत आलोचना की गई है, जिसमें उन्होंने श्री वाचस्पति मिश्र एवं श्री विज्ञानभिक्षुकृत समीक्षा को भी, स्वाभिमत अर्थ में पर्यवसित करते हुए, लिखा है कि “वास्तव” शब्द का अर्थ है, वस्तु सम्बन्धी, वस्तु नहीं। कारण क्षण स्वयं वस्तु नहीं, वरन् वस्तु का अधिकरणमात्र होता है<sup>२</sup>।

अधिकरण का अर्थ होता है, सयोगविशेष। जिस प्रकार दाडिम एवं हस्त का सयोग-विशेष देखकर हाथ में दाडिम है, ऐसा व्यवहार होता है, किन्तु वस्तुतः दाडिम दाडिम में ही होता है और हाथ-हाथ में ही होता है। इस प्रकार का सयोग-विशेष अधिकरण कहलाता है। अवकाश और अवसर (काल) बौद्ध कल्पनाजन्य अधिकरण होते हैं। अतः वस्तु का अधिकरण होने से वर्तमान क्षण वास्तविक है। जिसकी सत्ता साक्षात् लक्षित हो वही, वस्तु है। सामान्य भाषा में जो है, वही वस्तु है। “है” अर्थात् वर्तमान काल। अतः वस्तु का अधिकरण हुआ वर्तमान काल। अतीत एवं अनागत पदार्थ है, यह नहीं कहा जा सकता। उनके लिये “था” और “होगा”, इस प्रकार का व्यवहार होता है। इसलिये अनागत एवं अतीत “वस्तु” का अधिकरण नहीं हो सकता है। अतः अतीत एवं अनागत क्षण अवास्तविक होने से अलीक पदार्थ है।

१ व्या० भा० ३/५२।

२. पात० यो० द० (हरि० आ०)—पृ० २९०।

एकमात्र वर्तमान क्षण ही वास्तविक है। अतः सत्य है। फिर भी भूत एवं भावी क्षण शशविषाण के तुल्य अत्यन्त अलीक पदार्थ नहीं है। इसी दृष्टि से भाष्यकार श्री व्यास ने कहा—“ये तु भूतभाविनःक्षणास्ते परिणामान्विता व्याख्येयाः”<sup>१</sup> अतः भूत एव भावी क्षण परिणाम रूप से सूक्ष्म अवस्था में वर्तमान क्षण में निहित रहते हैं<sup>२</sup>। उन्हें अलीक कहने से तात्पर्य तद्विषयक ज्ञान की वर्तमान अनुभूति न होना ही है। जहाँ तक अतीत एवं अनागत पदार्थ के सूक्ष्म अस्तित्व का प्रश्न है, सूक्ष्म अवस्था में वे वर्तमान क्षण से अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। सारांश यही है कि एकमात्र वर्तमान क्षण ही वास्तविक सत्य या वस्तु का अधिकरण है। उस एक वर्तमान क्षण में ही समस्त विश्वपरिणाम निहित है। प्रत्येक व्यापारशील धर्म, उसी एक वर्तमान क्षण में उपारूढ़ है। द्रव्य के सूक्ष्मतम परिणाम तथा उसके प्रवाह का सम्यक ज्ञान होने पर से सूक्ष्ममम विवेकज्ञान होता है। अतः ( वर्तमान ) क्षण अथवा क्षणमात्र में व्याप्त वस्तु धर्म में तथा उसके धाराबाहिक क्रम में समय करने से, क्षण का क्रम-सहित प्रत्यक्ष होता है, पुनः विवेकज ज्ञान का प्रादुर्भाव होता है।

श्री भिक्षु ने इस सूत्र के व्याख्यान में, न्याय, वैशेषिकादि अपरमतों का भी विस्तृत विवरण दिया है।

×

×

×

उक्त विवेक - जन्य ज्ञान निखिल पदार्थ विषयक होने पर भी, इसके द्वारा अत्यन्त सूक्ष्म विषय-विशेष का भी निश्चय किया जाता है। जाति, लक्षण और देश-भेद से समान आकार युक्त पदार्थों के भेद का निश्चय न हो सकने पर, इस विवेकज ज्ञान के द्वारा ही उनमें भेद का अवधारण होता है<sup>३</sup>।

किन्हीं भी पदार्थों के पारस्परिक भेद का निश्चय कराने वाले तीन कारण होते हैं—जाति लक्षण और देश। तुल्य देश एव तुल्य लक्षणयुक्त पदार्थों में उनका भेद जाति के द्वारा निश्चित होता है, जैसे किसी एक ही स्थान पर लाल रङ्ग की गाय एवं घोड़ी रहने पर, उनमें यह गौ है, यह घोड़ी है, इस प्रकार के भेद-ज्ञान का कारण उनकी जाति का भेद है।

यदि एक ही देश में समान जाति-युक्त पदार्थ हों तो उनका लक्षण के द्वारा भेद होता है। जैसे यह श्वेतवर्णी गौ है, यह धूमिल वर्ण की गौ है, इत्यादि।

१. व्या० भा० ३/५२

२. इसका विवरण—“त्रिविध परिणाम का समय” शीर्षक में द्रष्टव्य है।

३. “जातिऽत्रग देशैरनन्यतानवच्छेदात्तुल्ययोस्तत प्रतिपत्ति” (यो० सू० ३/५३)

इसी प्रकार जहाँ समान जाति एवं लक्षण युक्त पदार्थ प्रस्तुत हो, वहाँ उनका पार्थक्य देशभेद से किया जाता है। उदाहरणार्थ दो समान आकार एवं लाल ही रङ्ग के सेब रखे होने पर, उनमें पारस्परिक भेद की पहचान पूर्व एवं उत्तर देश के द्वारा होती है, क्योंकि जो पूर्व देश में स्थित है, वह उत्तरदेश में नहीं है और जो उत्तरदेश में स्थित है, वह पूर्वदेश में नहीं है। इस प्रकार लोक में किसी वस्तु का एक-दूसरे से भेद जातिभेद, लक्षणभेद अथवा देशभेद-द्वारा ही पहचाना जाता है।

यदि सजातीय एवं समान लक्षण वाले उन सेबों का स्थानान्तर कर दिया जाय, तो कर्ता के अतिरिक्त अन्य जनो को यह ज्ञान नहीं हो सकेगा कि इनमें कौन पहला और कौन सा दूसरा है। इस प्रकार की सदेहात्मक स्थिति में वस्तुओं के पार्थक्य का निर्धारण असन्दिग्धरूप से तत्त्वज्ञान के द्वारा ही हो सकता है, क्योंकि प्रथम देश में स्थित सेब के साथ सम्बद्ध क्षण-परिणाम से, द्वितीय देशस्थ सेब से सम्बद्ध क्षण-परिणाम भिन्न है। अतः प्रथम तथा द्वितीय क्षण में कौन-सा सेब किस स्थान पर था, इस प्रकार का विवेकज्ञान क्षण तथा उसके क्रम में संयम करने से ही प्राप्त होता है, जो योगी के लिये ही सम्भव है। इसी दृष्टि से सूत्रकार ने कहा है कि जाति-लक्षण एवं देशगत भेद का निश्चय न होने पर समान पदार्थों का विवेकजन्य ज्ञान-द्वारा ही निश्चय होता है। यह क्षणान्तवर्ती भेद ही सूक्ष्मतम भेद होता है।

स्थूलदृष्टि से अनेक वस्तुएँ तुल्याकार समझ पड़ती हैं, जिनका भेद जन-सामान्य को बुद्धिगम्य नहीं हो सकता। जैसे एक ही धातु से निर्मित रूपों को आपस में मिलाकर रख देने पर, उनमें प्रथम, द्वितीय, तृतीयादि का ज्ञान नहीं होता। परन्तु अणुवीक्षण यन्त्र-द्वारा देखने पर उनमें उक्त निर्णयात्मक भेद लक्षित होता है, किन्तु अणुवीक्षण यन्त्र का क्षेत्र भी स्थूल जगत् तक ही सीमित है। इस स्थूल जगत् से भी परे, जिसके द्वारा समस्त ब्रह्माण्ड ही परिणाम को प्राप्त हो रहा है, उस तत्त्व का विवेचन एकमात्र योगज विवेकज्ञान के द्वारा ही सम्भव है। यह पहले भी बतलाया जा चुका है कि क्षणगत भेद ही सूक्ष्मतम भेद है। विवेकजन्य ज्ञान उसी का ज्ञान तथा क्षण एवं उसके क्रम का संयम, उसका विज्ञान है।

समान सेबों के भेदज्ञान के विवरण से उस प्रणाली को उदाहरणपूर्वक दिखाया जा चुका है, किन्तु योगी का लक्ष्य इस प्रणाली से उक्त सेब आदि का भेद-ज्ञान नहीं, वरन् इसी रीति से सूक्ष्म तत्त्व या समानाकार परमाणुवर्ती भेद का विवेचन



करके तत्त्वज्ञान प्राप्त करता है। इस प्रकार अपने लक्ष्यभूत सत्त्व एवं पुरुष का विवेक-साक्षात्कार योगी करते हैं।

वैसे इस प्रसंग में प्रसंगतवश भाष्यकार व्यास ने बिना नामोल्लेख किये वैशेषिक<sup>१</sup> मत की चर्चा की है। वैशेषिक मत में, द्रव्य में रहने वाले अन्तिम विशेष या भेदक धर्म ही भेदज्ञान का कारण है। वे भेदक विशेष—(१) देश, (२) लक्षण, (३) मूर्ति, (अवयवों का सन्निवेश विशेष), (४) व्यवधि (व्यवधानविशेष) और (५) जाति हैं।

उक्त मूर्ति आदि के भेद तो लौकिक प्रत्यक्षगम्य है, परन्तु क्षणभेद से विवेक करना, केवल यौगिक-प्रत्यक्ष से ही सम्भव है। तत्त्वसाक्षात्कार की सूक्ष्मतम अवस्था में मूर्त्यादि की सत्ता ही नहीं रहती। अतः वह लौकिक प्रत्यक्ष का विषय ही नहीं है। इसीलिये भगवान् वार्षगण्य ने कहा है कि जगत् के मूलकारण प्रधान (प्रकृति) में, मूर्ति, व्यवधि और जाति रूप भेदों का अभाव होने से, उसका वेद-ज्ञान लौकिक पुरुषों को नहीं होता है। अतः वह शास्त्रीय विवेक अथवा यौगिक प्रत्यक्ष से अवगम्य है।

×

×

×

उक्त विवेकजन्य ज्ञान तारक अर्थात् ससार-सागर से तारने वाला, निखिल पदार्थों को विषय बनाने वाला, सब प्रकार से विषय करने वाला तथा क्रमहीन है, अर्थात् सम्पूर्ण ज्ञान की युगपत् अभिव्यक्ति स्वरूप है<sup>२</sup>।

यह विवेकज्ञान की परिपूर्ण अभिव्यञ्जना है। इससे पूर्ववती सूत्र में इस विवेकजन्य ज्ञान के गौणफल का आंशिक रूप से वर्णन किया गया था। प्रकृत सूत्र में विवेकज्ञान की परिपक्वावस्था का वर्णन है। सत्त्व एवं पुरुष का सम्यक् विवेक हो जाने से इस ज्ञान की प्राप्ति होने पर क्लेशबन्धन छूट जाते हैं। क्लेश-कर्मों का निवर्तक होने से योगी को संसारापत्ति की संभावना नहीं रहती। इस विवेकज्ञान के द्वारा कैवल्य प्राप्त होता है। अतः इस विवेक-ज्ञान को ससार-सागर से तारने वाला होने के कारण तारक कहा जाता है।

भगवान् व्यासकृत भाष्य में सूत्रगत “तारक” शब्द की व्याख्या “अपनी

१ अपरेतु वर्णयन्ति (भाष्य), अपरे वैशेषिका (तत्त्व०)।

२. “तारक सर्व विषय सर्वथाविषयमक्रम चेति विवेकज्ञानमे” (यो० सू० ३/५४)

प्रतिभा से उत्पन्न अर्थान् अनौपदेशिक ज्ञान” कहकर की गई है<sup>१</sup>। उसी आधार पर विवरणकार शंकर, हरिहरानन्द आरण्य प्रभृति कतिपय विद्वानों ने भी ‘तारक’ शब्द का अर्थ, बिना निमित्त के अपनी प्रतिभा से उत्पन्न होने वाला किया है। श्री वाचस्पति मिश्र, श्री भोज, नागोजीभट्ट प्रभृति शेष सभी विद्वानों ने, जैसा कि “तारक” शब्द से ही स्पष्ट प्रतीत होता है, उसका अर्थ ससार-सागर से तारने वाला ही किया है। पुनः यह भी बतलाया गया है कि यह सयमजन्य प्रतिभा-द्वारा स्वतः स्फुरित होने से अनौपदेशिक होता है।

श्री विज्ञानभिक्षु ने भी “तारक” का अर्थ ससारतारक करके, पुनः भाष्यकार श्री व्यास-कृत अर्थ के विषय में लिखा है कि भाष्यकार ने सूत्रगत प्रत्येक शब्द की व्याख्या करते हुए तारक शब्द का अर्थापत्तिलब्ध अर्थ बतलाया है। पुनः उन्होंने लिखा है कि लौकिक सामग्री के बिना ही, यथार्थ ज्ञान का सामर्थ्य, सत्त्व-पुरुष के विवेक में संयम से अथवा क्षण एव तत्क्रम विषयक सयम से प्रतिभा का उद्बोधक होता है। उस प्रतिभा से जन्य ज्ञान ही ससार से तारने वाला भी होता है। अतः अर्थापत्ति की रीति से स्वप्रतिभोत्थ ज्ञान ही तारक शब्द का अर्थ है। वह अनौपदेशिक होता है, अतः वह अपनी प्रतिभा से ही उत्थित है<sup>२</sup>। ब्रह्माण्ड में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं होता, जो इस विवेकजन्य ज्ञान का विषय न हो। महदादि पर्यन्त प्रत्येक तत्त्व इसका विषयीभूत है। हर प्रकार से अर्थात् सूक्ष्म, अतीत अनागतादि प्रत्येक दृष्टिकोण से, एक साथ (अक्रम) विषयीभूत होता है। इस विषय का वर्णनसूत्र ३/४६ में भी किया जा चुका है। यह विवेकज्ञान की परिपूर्ण अवस्था का वर्णन है। योगप्रदीप इसी का अर्थ है। योगप्रदीप का अर्थ है सम्प्रज्ञात समाधि की प्रज्ञालोक युक्त भूमियाँ, जिनका प्रारम्भ द्वितीय मधुमती नामक भूमि या ऋतम्भरा प्रज्ञा से होता है तथा समाप्ति सप्तधा-प्रान्तभूमिप्रज्ञा पर्यन्त होती है। भाष्यकार व्यास कहते हैं—“अस्यैवांशो योगप्रदीपो मधुमती भूमिमुपादाय यावदस्य परिसमाप्तिरिति ।”

श्री विज्ञानभिक्षु एव हरिहरानन्द ने इसकी अत्यन्त स्पष्ट एव सुन्दर व्याख्या की है। सम्प्रज्ञात योग की प्रारम्भिक अवस्थागत सवितर्कादि भूमियों को विवेकज्ञान के अशभूत योगप्रदीप की कोटि में परिगणित नहीं किया गया है। क्योंकि उस अवस्था में प्रज्ञालोक की स्फुट अभिव्यक्ति नहीं हो पाती है, जिसमें तत्त्व का

१. “तारकमिति स्वप्रतिभोत्थमनौपदेशिकमित्थम् (व्या० भा० ३/५४)

२. योगवार्त्तिक वि० भि० (सू० ३/५४)

साक्षात्कार हो सके। ऋतुभरा प्रज्ञा मे ही प्रज्ञालोक की सर्वप्रथम सम्यक् अभिव्यक्ति होती है। यहाँ से तत्त्वसाक्षात्कार प्रारम्भ हो जाता है। अतः मधुमती भूमि या ऋतुम्भरा प्रज्ञा ही योगप्रदीप का प्रथमांश है। अतः यहाँ से लेकर सात प्रकार की प्रान्तभूमिप्रज्ञा पर्यन्त योगप्रदीप की ज्ञान-दीप्ति होती है। तत्पश्चात् प्रसंगगत परम प्रसंख्यानरूप विवेकख्याति की पूर्ण अभिव्यक्ति होने के बाद, पर वैराग्य द्वारा चित्त का प्रलय हो जाता है।

श्री भिक्षु ने योगप्रदीप की पूर्ण ज्ञानदीप्ति के बाद, अभिव्यक्ति परिपूर्ण विवेकज्ञान को सूर्य-तुल्य बतलाते हुए प्रमाणरूप मे विष्णुपुराण की इस उक्ति को उद्धृत किया है :—

“अन्धं तम इवाज्ञानं दीपवच्चेन्द्रियोद्भवम्।

यथासूर्यस्तथा ज्ञानं यद्विप्रर्षे<sup>१</sup> विवेकजम्।” (६/५/६२)

अर्थात् घोर अन्धकार तुल्य अज्ञान है, इन्द्रियजन्य ज्ञान दीप के समान है और यह विवेकजन्य ज्ञान सूर्य के समान है। भिक्षु जी ने उपर्युक्त उद्धरण-गत इन्द्रियजन्य ज्ञान को पूर्ण विवेकज्ञान से भिन्न ज्ञानों का उपलक्षण बतलाया है<sup>२</sup>।

×

×

×

विवेकज्ञान की इस परिपूर्णविस्था से वैराग्य-द्वारा, दोषों के बीज (भूत अविद्या) का क्षय हो जाने पर, कैवल्य की भी प्राप्ति होती है<sup>३</sup>।

तात्पर्य यह है कि विवेकख्याति की पूर्ण निष्ठा से सर्वभावाधिष्ठातृता एव सर्वज्ञता की सिद्धि होती है, जो कि सम्प्रज्ञात समाधि की उच्चतम अवस्था है, क्योंकि इस अवस्था मे योगी ईश्वर-तुल्य हो जाता है। फिर भी विवेकजन्य, उक्त सिद्धि भी उसकी गौण सिद्धि ही है, क्योंकि इस विवेकज्ञान से ही तज्जन्य सिद्धियों के प्रति वैराग्य द्वारा असम्प्रज्ञात समाधि का सम्पादन करके समस्त दोष बीजों के क्षयोपरान्त कैवल्य की प्राप्ति भी की जाती है। यह कैवल्य-प्राप्ति ही विवेकज्ञान-जन्य मुख्य सिद्धि है।

विवेकख्याति-द्वारा पुरुष का स्वरूपज्ञान यद्यपि सर्वश्रेष्ठ सम्प्रज्ञान है, फिर

१ “विमर्षे” ऐसा पाठभेद भी है।

२ यो० वा० ( सू० ३/५४)

३ “तद्वैराग्यादपि दोष बीजक्षये कैवल्यम्” (यो० ३/५०)

भी अन्ततः विवेकख्याति भी बुद्धि की ही एक वृत्ति है, पुरुष का वास्तविक स्वरूप नहीं। बुद्धिसत्त्व अनात्म होने से त्याज्य है क्योंकि मुमुक्षु का लक्ष्य तो शुद्ध आत्म-स्वरूप में प्रतिष्ठित होना है। जब तक बौद्धिक वृत्ति का व्यवधान वर्तमान है, वह आत्मस्वरूप में प्रतिष्ठा नहीं प्राप्त कर सकता है। जब तक सम्यक् वृत्ति-निरोध होकर आत्मस्वरूप में स्थिति नहीं होती, तब तक मोक्ष या कैवल्य प्राप्त नहीं हो सकता है। योगी का लक्ष्य सम्प्रज्ञात समाधि नहीं, वरन् असम्प्रज्ञात समाधि के द्वारा कैवल्य की प्राप्ति है। विवेक-ज्ञान के द्वारा अविद्यादि-चित्तमल क्षीण होते हैं। विवेक-ख्याति से पर वैराग्य होने पर वे अविद्यादि क्लेश दग्ध बीजतुल्य, पुनः क्लेशोत्पादन में असमर्थ होकर निर्बीज समाधि की पूर्णवस्था में चित्त-सहित विलीन हो जाते हैं, जिससे भोग एवं चित्त का सर्वथा अभाव हो जाने से केवल पुरुष ही अवशिष्ट रहता है। यही कैवल्य है। इस अवस्था में गुणों से अत्यन्त विलग पुरुष केवल अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है, इसी को केवलीभाव अर्थात् कैवल्य कहते हैं।

प्रस्तुत सूत्र में “अपि” शब्द “कैवल्यम्” के साथ योजनीय है, अर्थात् विवेक-ज्ञान द्वारा सर्वभावाधिष्ठातृत्व एवं सर्वज्ञातृत्व के अतिरिक्त, उनमें वैराग्य होने से कैवल्य भी प्राप्त होता है—ऐसा अर्थ है, तभी विवेकज्ञान कैवल्य का साधन भी बन सकता है।

श्री भोज, अनन्तपंडित एवं सदाशिवेन्दु सरस्वती आदि ने सूत्रस्थ “अपि” शब्द की “तद्” के साथ योजना करके, उससे विशोका सिद्धि (सर्वभावाधिष्ठातृता एवं सर्वज्ञातृता) में भी वैराग्य होने पर, दोष बीजक्षय होने पर, कैवल्य-सिद्धि होती है, यह अर्थ किया है। किन्तु श्री वाचस्पति, मिश्र श्री भिक्षु, भावागणेश एवं नागोजीभट्ट प्रभृति का मत है कि “अपि” शब्द कैवल्य के साथ योजनीय है। इस प्रकार उन्होंने सूत्र का अर्थ किया है कि विवेकज्ञानजन्य विशोका सिद्धि में वैराग्य होने पर, उस विवेकख्याति के मुख्य फलस्वरूप कैवल्य की भी प्राप्ति होती है। ऐसा अर्थ करने पर ही विवेकख्याति कैवल्य का साधन सिद्ध होती है।

विवरणकार शंकर का मत है कि सूत्रस्थ “अपि” शब्द, योगैश्वर्य को प्राप्त न करने वाले सम्यक्दर्शी को भी कैवल्य प्राप्त होने से, अप्राप्त योगैश्वर्य सम्यक्दर्शी संकेतक है। वे लिखते हैं—“तत्र तद्वैराग्यादपि इत्यपिशब्दादप्राप्तयोगैश्वर्यस्यापि सम्यग् दर्शनात् कैवल्यमिति।”

सूत्रगत “दोषबीजक्षये” यह कथन भी ध्यान देने योग्य है। कारण अवि-

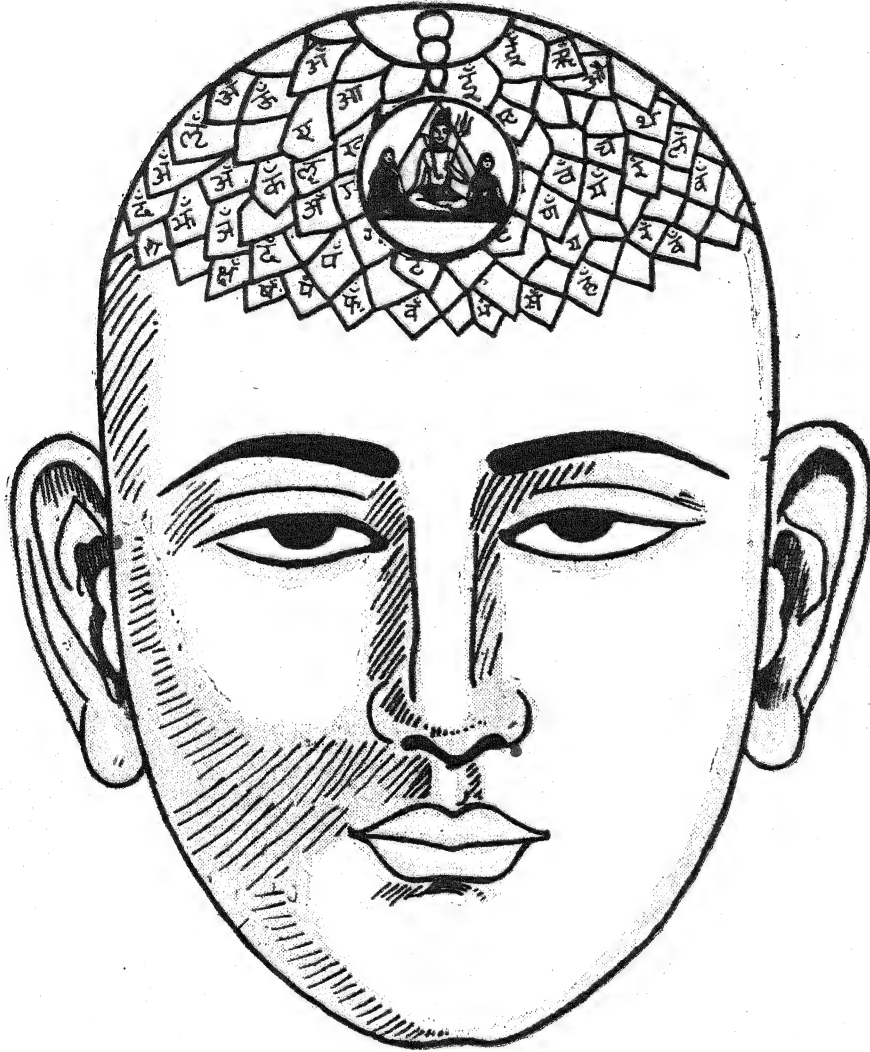
द्यादि दोषबीजो का क्षय तो पूर्ण विवेक-ज्ञान-द्वारा ही हो जाता है, फिर उससे वैराग्य उत्पन्न हो जाने पर दोष-बीजो के क्षय का कथन युक्तिसंगत नहीं प्रतीत होता। इस विषय में श्री भिक्षु का मत है कि पूर्ण विवेकज्ञान होने पर भी, ज्ञान की परिपक्वता न रहने से सर्वज्ञता आदि का मोह बना रहे तो विवेकजन्य सर्वज्ञादि दोनों सिद्धियाँ मोक्षरूप कैवल्य-सिद्धि में बाधक बन सकती हैं, अतः उनमें वैराग्य होने पर उस बाधा की भी आशंका नहीं रहती है<sup>१</sup>।

विवेक ज्ञान-जन्य जिन सिद्धियों का वर्णन पहिले किया जा चुका है, उन सिद्धियों की प्राप्ति कैवल्य के लिये आवश्यक नहीं होती। सत्त्व-पुरुष की विवेक-ख्याति ही कैवल्य का साधन है। उससे उत्पन्न तारक ज्ञान उसका साधक नहीं होता है। प्रकृत पाद में वर्णित कतिपय विभूतियाँ कैवल्य की उपलब्धि में सहायक हो सकती हैं, किन्तु तद् विशिष्ट समयों से उन विभूतियों को प्राप्त करने के बाद ही कैवल्य सम्पादित हो, यह अनिवार्य नहीं है। अतः विवेक ज्ञान-जन्य सिद्धियाँ प्राप्त हो या न हो—सत्त्व एव पुरुष की शुद्धि-द्वारा समानता होने पर कैवल्य<sup>२</sup> प्राप्त हो जाता है। सत्त्व-शुद्धि के साम्य का अर्थ है—बुद्धिगत रजोगुण, तमोगुण-जन्य मल के सर्वथा धुल जाने पर पुरुष के साथ उसकी समानता। जब रजस्-तमस्-जन्य मल से रहित चित्त में केवल शुद्ध-पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है, तो वह पुरुष के समान प्रतिभासित होता है। यही बुद्धिसत्त्व या चित्तसत्त्व का शुद्धिसाम्य है। दूसरी ओर पुरुष सर्वदा शुद्ध, चैतन्य-स्वरूप है। अज्ञानवश भोगबुद्धि से उसमें अशुद्धि का उपचार होता है। अतः पुरुषगत शुद्धि एव साम्य भी औपचारिक है। औपचारिक भोग का अभाव होते ही वह स्वतः शुद्ध स्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। बौद्धिक वृत्ति से उसका साम्य ही पुरुष की शुद्धि या असाम्य है। अतः वृत्तिमात्र का विलय होने पर पुरुष का अपने शुद्ध स्वरूप से सादृश्य ही पुरुष साम्य है।

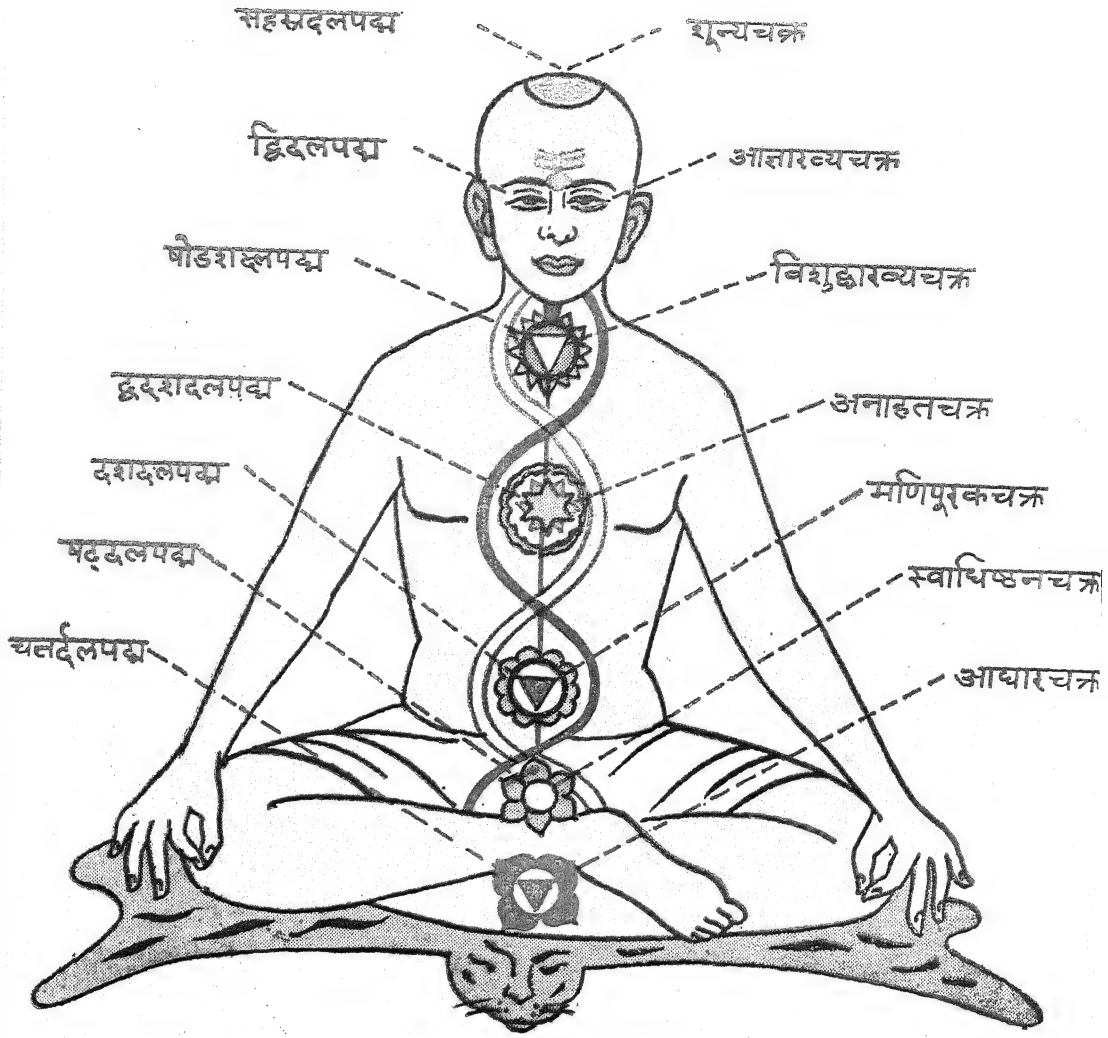
इस प्रकार बुद्धि का पुरुष से साम्य ही उसकी शुद्धतम अभिव्यक्ति है। इस अवस्था के बाद ही कृतकार्य या चरिताधिकारा बुद्धि निवृत्त हो जाती है। तब पुरुष-मात्र अवशिष्ट रहता है। यही कैवल्य है। यही कैवल्य को परम स्थिति है। दुःख की आत्यन्तिक निवृत्ति ही पुरुष का मुख्य प्रयोजन है, जिसके लिये ऐश्वर्य की नहीं, विवेकख्याति की आवश्यकता है, क्योंकि उसके द्वारा क्लेशमूल अज्ञान निवृत्त होता है। चित्त की वृत्तियाँ ही सुख-दुःख का द्वार हैं। इसी पाद के अन्तर्गत स्वार्थ—

१ द्रष्टव्य—योगसार सग्रह, पृ० १०२ एव योग वार्तिक ३/५० आदि।

२. “सत्त्वपुरुषयो शुद्धिसाम्ये कैवल्यम्” (यो० सू० ३/५५)



सहस्रार



**सुषुम्नागत चक्र (कमल)**

प्रत्यय-विषयक समय से जो पुरुषज्ञान होगा, उससे पुरुष का असहृत्त्व, निरवयवत्व, एक रूपत्व, मूल विषयित्व और बुद्धि के बोद्धृत्व का भान होता है। क्षणतत्क्रम (३/५२) विषयक समय से विवेक-ज्ञान प्राप्त होने पर, जड और चेतन (बुद्धि और पुरुष) में एकत्व का बोध दूर हो जाता है तथा यह निश्चय हो जाता है कि ज्ञातृत्व पुरुष का, ही है। सत्त्व-पुरुषान्यताख्यातिमात्र (३/४६) में प्रतिष्ठा प्राप्त होने पर पुरुष का अधिष्ठाता के रूप में, ज्ञान होता है, अर्थात् पुरुषाधिष्ठान के कारण ही अन्तःकरण (चित्त) व्यक्त होता है (अन्यथा वह अव्यक्त होगा)। सत्त्व-पुरुष का शुद्धिसाम्य होने पर इस बात का स्फुट परिज्ञान हो जाता है कि पुरुष अपरिणामी एवं स्वप्रतिष्ठ स्वयंज्योति है। जब चित्त शाश्वत काल के लिये रूढ़ होता है, तब द्रष्टा-स्वद्रष्टा रहता है या बाह्य दृष्टि से कहने पर, “द्रष्टा शान्तचित्त का द्रष्टा है”, ऐसा कहा जायगा। कैवल्य में चित्त प्रत्यय सस्कार शून्य होकर अव्यक्त रूप में रहता है, यही कहा जा सकता है। विवेक-ज्ञान से अज्ञान-निवृत्ति के उपरान्त चित्त भी अपने कारण में लीन हो जाता है। अतः क्लेशों का निवासस्थान चित्त ही न रहने से दुःखों की आत्यन्तिक निवृत्ति हो जाती है और पुरुष अपने केवली स्वरूप में प्रतिष्ठित हो जाता है। यही कैवल्य है।



# योग - दर्शन

( भाष्यार्थ-बोधनी )

व्यास तथा अन्य व्याख्याकारों के आधार पर  
'पातंजल-योग-सूत्र' का विवेचनात्मक  
एवं तुलनात्मक अध्ययन

## चतुर्थ अध्याय



- (१) सिद्धियों के मूल एवं जात्यन्तरपरिणाम ।
- (२) निर्माणचित्त तथा प्रवृत्तिभेद से उसकी एक से अनेकता ।
- (३) कर्मों के प्रकार, तद्विपाकानुरूप वासनाओं की अभिव्यक्ति तथा हेतु, फल और आश्रय के अभाव में उनका भी अभाव ।
- (४) कारणधर्मों के पथों के भेद से, अतीत और भविष्य की वास्तविक सत्ता ।
- (५) वस्तु के तत्त्वों का, परिणामों की एकता पर आश्रय ।
- (६) वस्तु की ज्ञातता और अज्ञातता ।
- (७) चित्त का दृश्यभाव ।
- (८) द्रष्टा और दृश्य से उपरचित चित्त का स्वभाव ।
- (९) विशेष सत्य को देखनेवाले का आत्मभाव ।
- (१०) धर्ममेष समाधि की उपलब्धि, क्लेश-कर्मों की निवृत्ति ।
- (११) ज्ञेय की अव्यता तथा गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति ।
- (१२) कैवल्य का स्वरूप ।

## (१) सिद्धियों के मूल एवं जात्यन्तर परिणाम ।

प्रथम, द्वितीय एवं तृतीयपाद मे क्रमशः समाधि, उसके साधन एवं समय-जन्य विभूतियों का मुख्य रूप से प्रतिपादन किया गया है । योग का मुख्य प्रयोजन कैवल्य की प्राप्ति है, जिसके यथार्थ स्वरूप का विशिष्ट विवरण चतुर्थ, कैवल्यपाद में है । कैवल्य का निर्णय चित्त एवं चित्ति पर निर्भर है । अतः पाँच प्रकार के सिद्ध चित्तो मे कैवल्योपयोगी चित्त के निर्धारण-हेतु सूत्रकार ने, कैवल्यपाद मे सर्वप्रथम पच प्रकार की सिद्धियों का निरूपण किया है ।

पञ्चप्रकार सिद्धियों के पाँच मूल है अर्थात् सिद्धियाँ पाँच हेतुओं से उत्पन्न होती है-जन्म से, औषधि से, मन्त्र से, तप से और समाधि से<sup>१</sup> । अतः निमित्तभेद के कारण सिद्धियाँ भी पाँच प्रकार की होती है —

### (१) जन्मना-सिद्धि—

देहान्तर मे प्राप्त होने वाली सिद्धियाँ जन्मना-सिद्धि अर्थात् जन्म से ही प्राप्त होने वाली कही जाती है । इस प्रकार की सिद्धियाँ पूर्व जन्म कृत किन्हीं कर्म-विशेष से अभिव्यक्त फलस्वरूप (वर्तमान जन्म मे) होती है । जैसे पक्षियों को गगन मे स्वच्छन्द उड़ने की, स्वभावतः जन्म से ही शक्ति प्राप्त होती है । भगवान् कपिल जन्म से दिव्य-ज्ञान सम्पन्न थे । पुण्य कर्मों के फलस्वरूप मनुष्य योनि के पश्चात् देवयोनि मे जन्ममात्र से देवसुलभ आकाश-गमनादि सिद्धियाँ प्राप्त होती है । जन-सामान्य मे ही आजकल किसी-किसी को निसर्गतः दिव्यदृष्टि (Clair Voyance) तथा परचित ज्ञानादि की सिद्धि देखी जाती है । इस प्रकार के सिद्धि-सम्पन्न चित्त जन्म से उक्त प्रकार की सिद्धियों की सामर्थ्य-युक्त होते है । अतः इन सिद्धियों को जन्मना सिद्धि या जन्मजात सिद्धियाँ कहते है ।

### (२) औषधिजा-सिद्धि—

औषधियों के सेवन से उत्पन्न होने वाली कार्यसिद्धि, वज्रसारत्व आदि सिद्धियाँ औषधिजा सिद्धियाँ कहलाती है । ये सिद्धियाँ रसायन विद्या की देन है ।

---

१. “जन्मौषधिमन्त्रतप समाधिजासिद्धयः ।” (यो० सू० ४/१)

रसायन-विज्ञान में पारा एवं गंधक अत्यन्त महत्वपूर्ण है। इनसे निर्मित औषधि के सेवन से शरीर को अभीष्ट काल तक अक्षुण्ण बनाये रखा जा सकता है। प्राचीनकाल में सोमरस-पान तथा अन्यान्य औषधियों के सेवन से काया-कल्प द्वारा जरापूर्ण शरीर को पुनः युवा बनाने आदि का प्रचलन था। संजीवनी औषधि सर्वप्रसिद्ध है। हनुमान जी ने लक्ष्मण जी के शक्ति-अस्त्र लगने पर सजीवनी औषधि लाकर पुनर्जीवित किया था। आधुनिक युग में क्लोरोफार्म आदि सूँघ कर, देह के श्वेतुल्य निश्चेष्ट होने पर, शरीर से बहिर्गमन की योग्यता प्राप्त होती है। हेमलोक नामक विषैली औषधि को देह के सब अंगों में पोतने पर भी, शरीर से बाहर निकलने की क्षमता आयत होती है<sup>१</sup>।

भगवान् व्यास ने औषधिज्ञा सिद्धि के लिये “असुर-भवन” का उदाहरण दिया है। वर्तमान युग में इसका पता किसी को नहीं है।

भारतवर्ष में इस विद्या का अत्यन्त प्राचीनकाल से प्रचलन है। स्वामी विवेकानन्द ने रसायनविद्या का प्रादुर्भाव आलकेमि से बतलाया है<sup>२</sup>। भारतवर्ष में “रसायनविद्या” का सम्प्रदाय था, उसके अनुयायियों का यह दावा है कि काया को अमर बनाया जा सकता है। जन्मान्तर की प्राप्ति के बिना ही इस शरीर का पुनर्गठन किया जा सकता है<sup>३</sup>।

### (३) मन्त्रज्ञा सिद्धि—

मन्त्र के बल से आकाश गमनादि सिद्धियों को प्राप्त करना मन्त्रज्ञा सिद्धि है। निरन्तर मन्त्रजप से चित्त में एकाग्रता परिणाम होता है तथा सबल इच्छाशक्ति का संचय होता है। सबल इच्छाशक्ति से सकल्प-सिद्धि होती है। वशीकरण आदि सामान्य सिद्धियाँ आजकल भी यत्र-तत्र-सर्वत्र दृष्टिगोचर होती हैं<sup>४</sup>।

मन की पवित्रता एवं मन्त्र की शक्ति के तारतम्यानुसार मन्त्रजन्य सिद्धियाँ भी उत्तम, मध्यम एवं निम्न श्रेणी की होती हैं।

१ (यूरोप में चुड़ैलों का इस प्रकार शरीर से बाहर निकलने का वर्णन पाया जाता है। पात० यो० ६० (हरि० आ०) पृ० २६८।

२. ताँबा आदि कम मूल्यवान् धातुओं से सोना-चौदी इत्यादि बनाने की विद्या ही आलकेमि कहलाती है। पहले गुप्त रूप से यूरोप में इस विद्या का अत्यधिक प्रचार था। (राजयोग—विवेकानन्द, पृ० २५६)

३. राजयोग—विवेकानन्द, पृ० २५६।

४. “पातञ्जल-योग-दर्शन”—हरिहरानन्द आरण्य, पृ० २६६

मन्त्र शब्दात्मक होता है और शब्द सर्वव्याप्त है। शब्द-शक्ति की कोई निर्दिष्ट सीमा नहीं है। मन्त्रयोग का आधार शब्द की अपरिमित शक्ति है। अतः कतिपय पवित्र शब्द समूह-स्वरूपमन्त्र के निर्दिष्ट नियमपूर्वक निरन्तर जप करने से, इसी जन्म में अद्भुत सिद्धियाँ प्रादुर्भूत होती हैं शब्द की अपरिमित शक्ति से आधुनिक वैज्ञानिक भी सुपरिचित हैं<sup>१</sup>।

#### (४) तपजन्य सिद्धियाँ :—

तप के अनुष्ठान से अशुद्धि के क्षीण होने पर शरीर एवं इन्द्रियों की इच्छा-नुसार गमन रूप, सकल्प सिद्धियाँ अभिव्यक्त होती हैं। “कायेन्द्रियसिद्धिरशुद्धिक्षयात्पसः।”<sup>२</sup> यह तप क्रिया-योग का ही एक अंग है। विश्वामित्र ने तप के प्रभाव से संकल्पमात्र से नवीन स्वर्ग की रचना की थी। यह कथा सुप्रसिद्ध है।

#### (५) समाधिजा सिद्धि—

समाधि-द्वारा उत्पन्न होने वाली सिद्धियाँ समाधि-जा सिद्धियाँ कहलाती हैं। इनका विभूतिपाद में विस्तारपूर्वक वर्णन किया जा चुका है।

इन पाँचों प्रकार की सिद्धियों में समाधिजन्य सिद्धियाँ प्रधान एवं सर्वश्रेष्ठ होती हैं। श्री भोज का मत है कि समाधेतर चारों सिद्धियाँ भी पूर्व जन्म में क्लेशनाश-हेतु थोड़ा बहुत समाधि का अभ्यास करने वालों को ही, दूसरे जन्म में प्राप्त होती हैं। जन्म, औषधि आदि तो निमित्तमात्र हैं<sup>३</sup>। अन्य सब व्याख्याकारों ने भी अन्य सिद्धियों की अपेक्षा समाधि-जन्य सिद्धियों की श्रेष्ठता का प्रतिपादन किया है। अतः समाधि-सिद्धि चित्त ही कैवल्य-प्राप्ति योग्य होता है।

उक्त अणिमा, महिमा आदि सिद्धियों-द्वारा शरीर एवं इन्द्रियों में विलक्षण शक्ति तथा कभी-कभी जात्यन्तर परिणाम भी देखा जाता है। जैसे नन्दीश्वर ने उसी जन्म में मनुष्यदेह से देवपरिणाम को प्राप्त किया था। इस विषय में शंका होती है कि इन सिद्धियों की प्राप्ति में सकल्पमात्र से देवादि शरीर, या अणिमा आदि सिद्धियों की अभिव्यक्ति होती है, अथवा अन्य किसी कारण की भी अपेक्षा

१. द्रष्टव्य—“सम्प्रज्ञात एव असम्प्रज्ञात समाधि” शीर्षकगत सू० १/२७ की व्याख्या।

२. यो० सू० २/४३।

३. भो० बृ० ४/१।

होती है ? इसका समाधान सूत्रकार की “जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्”<sup>१</sup> यह उक्ति है अर्थात् जात्यन्तर परिणाम प्रकृति के आपूर से होते हैं ।

इस विषय में शंका का उत्थापन करते हुए श्री वाचस्पति मिश्र ने लिखा है कि उपादानमात्र से तो कार्य की उत्पत्ति हो नहीं सकती है । अकेला उपादान ही अल्प अथवा अधिक दिव्य-अदिव्य भाव में इसका ( जात्यन्तर का ) हेतु नहीं होता है, क्योंकि कार्य की विलक्षणता के लिये अविलक्षण कारण या साधारण कारण ही पर्याप्त नहीं है । साथ ही इसमें आकस्मिकता नहीं होनी चाहिये, क्योंकि उससे फिर अनवस्था प्रसक्त होगी ।

भगवान् व्यास लिखते हैं—“अन्य आति में परिणत शरीर एव इन्द्रियो के जात्यन्तर का परिणाम प्रकृति के आपूरण-द्वारा होता है ।” अर्थात् प्रकृति रूप उपादान के द्वारा एक जाति से दूसरी जाति में परिणति होती है ।

पूर्व परिणाम का परित्याग और नवीन परिणाम की अभिव्यक्ति, अपूर्व अवयवों के अनुप्रवेश द्वारा होती है । शरीर की प्रकृति या उपादान-कारण आकाशादि पचभूत है और इन्द्रियों की प्रकृति अस्मिता या अहकार है । इन प्रकृतियों के नवीन रूप से आपूरण या अनुप्रवेश—द्वारा, अपने-अपने विकारभूत शरीरेन्द्रियों में अद्भुत परिणाम परिलक्षित होता है, किन्तु इस उपादानभूत प्रकृति की विद्यमानता ही जातिभेद के लिये पर्याप्त नहीं होती है । इसके लिये निमित्त भी अनिवार्य है । वे निमित्त यहाँ धर्म आदि हैं ।

भाव यह है कि सूत्रकार ने, प्रकृति के आपूरण रूप अनुग्रह-द्वारा जात्यन्तर परिणाम होता है, यह कह कर उपादानमात्र का कथन किया है । किन्तु उपादान मात्र कार्य की विलक्षणता में पर्याप्त नहीं होता है । अन्यथा सभी में दिव्यभावादि विलक्षणता होनी चाहिये, क्योंकि प्रकृति का उपादान तो सर्वत्र है । प्रत्येक प्राणी के कर्माशय में दैव, मानुष, पशु पक्षी आदि सबकी प्रकृति वासनारूप से विद्यमान है । फिर भी अभिव्यक्ति किसी एक ही प्रकार की प्रकृति की देखी जाती है । अतः तद्वत् विलक्षण प्रकृति की अभिव्यक्ति के लिये कारण-विशेष अर्थात् निमित्त की आवश्यकता होती है । प्रस्तुत प्रसंग में औषधि, मन्त्रादि रूप निमित्त से अवकाश पाते ही निमित्तानुरूप विलक्षण प्रकृति का अवयवों में सन्निवेश हो जाता है । प्रकृत्यापूर के द्वारा ही अणिमा-महिमा आदि की सिद्धि भी सम्भनी चाहिये ।

१. “जात्यन्तर परिणामः प्रकृत्यापूरात्” —(योग सू० ४/२)

केवल मनुष्यादि जाति से देवत्वादि का परिणाम ही प्रकृत्यापूर से नहीं होता है। अणिमा मे प्रकृति के अवयवों का शरीर से अपगम होने पर, शरीर लघु होता है। महिमा में प्रकृति के अवयवों के अधिक मात्रा में अनुप्रवेश होने पर, शरीर बृहदाकार होता है<sup>१</sup>। सिद्धियों-द्वारा सकल्पमात्र से शरीर एवं इन्द्रियो मे विलक्षण परिणाम नहीं होते हैं। बालको का युवा, वृद्ध आदि होना भी प्रकृत्यापूरजन्य परिणाम है<sup>२</sup>। जिस प्रकार शुष्क तृणराशि में निक्षिप्त अग्नि का एक कण सम्पूर्ण तृण-राशि मे परिव्याप्त होकर बृहद् ज्वाला रूप से परिणत होता है, उसी प्रकार औषधि, मन्त्र, समाधि आदि के सस्कारमात्र यथा समय पूर्णतः प्रस्फुटित होने पर सम्पूर्ण फल परिपाक करा सकते हैं।

प्रकृति का यह आपूरण निमित्त के उपस्थित होने पर ही होता है। इससे ऐसी भ्रान्ति नहीं करनी चाहिये कि निमित्त ही उन प्रकृतियों का प्रेरक है। इसी भ्रान्ति का निरसन करने के लिये सूत्रकार ने बतलाया है—उक्त धर्मादि निमित्त उन प्रकृतियों का प्रेरक नहीं है, वह तो किसानों की भाँति केवल आवरण का भेदन करता है<sup>३</sup>।

धर्मादि रूप उक्त निमित्त प्रकृतियों का प्रयोजक नहीं होता, क्योंकि धर्म आदि तो प्रकृति के कार्य हैं और कार्य के द्वारा कारण प्रवृत्त नहीं होता है। अतः निमित्त के द्वारा किसी विशिष्ट प्रकृति के प्रतिबन्धक कारण का भेदन होने पर, वह प्रकृति स्वयं अभिव्यक्त हो कर, यथास्थान प्रविष्ट हो जाती है। सूत्रकार ने क्षेत्रिक का दृष्टान्त दिया है। जिस प्रकार किसान खेत में मेड काट देता है, तो पानी स्वतः उस मार्ग से प्रविष्ट होकर पूरे खेत में भर जाता है, उसी प्रकार किसी प्रकृति-विशेष की अभिव्यक्ति के अवरोधक की निवृत्ति होने पर, वह प्रकृति स्वतः शरीरेन्द्रियो मे यथायोग्य अनुप्रविष्ट हो जाती है। अथवा निमित्त-भूत वही कृषक जल एवं भूमि के रसों को, मूँग, उडद, चना, धान आदि के पुष्टिकरण-हेतु, मूल में प्रविष्ट कराने में असमर्थ होता है। वह रस-प्रवेश के अवरोधक भाड, झखाडों को उखाड कर अलग कर देता है। पुनः सीचा हुआ जल स्वयमेव भूमिरस समेत धान्यादि के मूल में प्रविष्ट होकर, पौधों को पुष्ट करता है। इसी प्रकार औषधि, मन्त्र, तपादि के द्वारा विशिष्ट शक्ति-सम्पन्न प्रकृति के अवरोधक कारण के निवृत्त

१ द्रष्टव्य—योगवार्तिक—नागोजी भट्ट वृत्ति, भोजवृत्ति आदि (व्याख्या सू० ४/२)

२ तत्त्ववैशारदी (४/२)

३ “निमित्तमप्रयोजक प्रकृतीना वरणभेदस्तु तत क्षेत्रिकवत्”। (यो० सू०, ४/३)

होने पर, तद्-तद् विशिष्ट शक्ति युक्त प्रकृतियों का आविर्भाव स्वतः हो जाता है। इसी प्रकार धर्म के निवृत्त होने पर अधर्म से अशुद्ध परिणाम की अभिव्यक्ति होती है।

इस विषय में नहुष का उदाहरण सर्व प्रसिद्ध है, जिन्होंने अगस्त्यादि सप्तर्षियों के अपमानजन्य अधर्म रूप निमित्त से मानव देह प्रापक धर्म के भग होने पर अजगर देह को प्राप्त किया था<sup>१</sup>।

—०—

---

१. नन्दीश्वर तथा नहुष की कथा का प्रसंग “जात्यायुर्भोग” के प्रसंग में भी द्रष्टव्य है।

## ( २ ) निर्माण - चित्त तथा प्रवृत्तिभेद से

### उसकी एक से अनेकता

अपने सकल्प-द्वारा निर्मित चित्त ही निर्माणचित्त है।<sup>१</sup> सिद्ध योगी इच्छानुसार अनेक शरीर धारण कर सकता है। जिस समय योगी बहुत से शरीर धारण करता है, उस समय वे अनेक शरीर एक ही मन वाले होते हैं, अथवा अनेक मन वाले होते हैं ? भगवान् व्यास ने यह सन्देह व्यक्त करते हुए महर्षि पातजलि के “निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्”<sup>२</sup> इस सूत्र को उत्तर के रूप में न्यस्त किया है। तात्पर्य यह है कि योगी अनेक शरीर धारण करने के साथ-साथ प्रत्येक शरीर में कार्य करने के लिये अलग-अलग चित्तों का भी निर्माण करता है। ये निर्मित चित्त ही निर्माण-चित्त कहलाते हैं और वे चित्त अस्मिता अर्थात् अहंकारमात्र से विपचित्त होते हैं, क्योंकि यहाँ चित्त का उपादान अहंकार ही है।

श्री भोज प्रभृति विद्वानों ने बतलाया है कि जिस प्रकार अग्नि से एक साथ अनेक विस्फुलिग स्फुटित होते हैं, उसी प्रकार योगी के सकल्प मात्र से उसके चित्त के उपादानभूत अस्मिता-तत्त्व से एक साथ अनेक चित्त परिणत होते हैं।

श्री भोज, मणिप्रभाकर, रामानन्द यति तथा सदा शिवेन्द्र सरस्वती ने एक साथ अनेक शरीर धारण करने का प्रयोजन, सचित्त कर्माशय का, शीघ्र फल-भोग बतलाया है,<sup>३</sup> क्योंकि कर्माशय के फल का भोग समाप्त होने पर मुक्ति सम्भव है।

स्वामी हरिहरानन्द आरण्य का मत है कि योगी “भूतानुग्रहादि के लिये निर्माण-चित्त का आश्रय लेकर ज्ञान-धर्म का उपदेश करते हैं, क्योंकि प्रसंख्यान द्वारा उनके क्लेश दग्ध बीज तुल्य हो चुकते हैं। उनका कोई स्वारसिक कार्य नहीं अवशिष्ट रहता है। अतः वे परोपकार-हेतु ही शरीर धारण करते हैं। “अस्मितामात्रात्” की व्याख्या करते हुए उन्होंने लिखा है—“अविवेक रूप-चित्त कार्यहीनाथाएवास्मिताया इत्यर्थः”, भावार्थ यह है कि अविवेकस्वरूप अर्थात् विक्षेपसस्कार रहित, बुद्धि

---

१. योगवार्तिक, वि० भि० ( ४/४ )।

२. यो० सू० ४/४।

३. “रामार्तण्ड-वृत्ति”, “मणिप्रभा”, “योग-सुधाकर” आदि (सू० ४-५)।



तत्त्वस्वरूप अस्मिता के द्वारा, योगी चित्त का निर्माण तथा उससे कार्य करते हैं। इस अस्मिता मात्र से निर्मित निर्माण-चित्त का इच्छामात्र से विलय हो जाता है। अतः वह बन्धनकारी नहीं होता है। भास्वतीकार ने दग्धबीजकल्प चित्त के संस्कारो को भी अभावापन्न योगी का निर्माण-चित्त बतलाया है। वह किस प्रकार सम्भव है, इस विषय में उनका मत है कि यदि योगी सर्वदा के लिये चित्तलय का संकल्प करके चित्त विलीन करे, तो निर्माण-चित्त की रचना संभव नहीं है, पर जब योगी कुछ अवधि-पर्यन्त चित्त-लय का संकल्प करते हैं, तभी अवधि समाप्ति के उपरान्त चित्त का पुनरुत्थान होने पर, निर्माणचित्त बनाया जा सकता है। परन्तु यहाँ पर जिस चित्त का विवरण दिया गया है, वह अनाशय निर्माण-चित्त की चर्चा है।<sup>१</sup> इसके अतिरिक्त स्वामी जी ने, विवेक-ज्ञानलाभ के पूर्व भूतेन्द्रिययादि से तथा अन्य प्रकारो से भी चित्त-निर्माण हो सकता है, यह लिखा है। यह चित्त साशय या क्लेश-मूलक होता है।<sup>२</sup> स्पष्ट है कि इन सब में अनाशय निर्माण-चित्त सर्वश्रेष्ठ होता है। हरिहरानन्द जी ने प्रकृत सूत्र की व्याख्या में “भास्वती” में इसी की व्याख्या की है। किन्तु सूत्रकार व भाष्यकार ने, जिन अस्मितामात्र जन्य निर्माण-चित्तों का यहाँ कथन किया है, वे उक्त अस्मिताजन्य चित्त-सामान्य हैं, किसी एक ही प्रकार का निर्माण-चित्त नहीं। उन्हीं में अनाशय निर्माणचित्त भी सम्मिलित है।

श्री स्वामी ओमानन्द ने उक्त अनेक शरीर धारण एवं निर्माण-चित्त की धारणा को काल्पनिक बतलाते हुए, इस विषय में अनेक सन्देह व्यक्त किये हैं। साथ ही इस सूत्र (४-४) के “व्यासभाष्य” एवं “भोजवृत्ति” को भी किसी अन्य व्यक्ति की ही रचना बतलाया है<sup>३</sup>।

श्री स्वामी जी का यह मत युक्तिपूर्ण नहीं प्रतीत होता है। एक ओर तो स्वामी जी ने अपने मत की पुष्टि में छठे सूत्र के “व्यासभाष्य” को प्रमाण रूप से उद्धृत किया है। दूसरी ओर वे चतुर्थसूत्र के “व्यासभाष्य” एवं “भोज-वृत्ति” को व्यास एवं भोज की रचना भी स्वीकार नहीं करते हैं। तब क्या श्री व्यास एवं भोज ने अन्य सूत्रों की व्याख्या करके केवल चतुर्थ सूत्र की व्याख्या नहीं की? जिसकी पूर्ति किसी अन्य व्यक्ति ने योग का अद्भुत चमत्कार दिखलाने को कर दी। अन्य सूत्रों के भाष्य के साथ इस सूत्र की व्याख्या भी श्री व्यास एवं भोज ने अवश्य ही की

१. “भास्वती टीका तथा पातजल योग दर्शन”—हरिहरानन्द आरण्य—पृ० ३०२-३०३।

२. “भास्वती टीका तथा पातजल योग दर्शन”—हरिहरानन्द आरण्य—पृ० ३०२-३०३।

३. “पातजल-योगप्रदीप”—स्वामी ओमानन्द पृ० ५५४-५५।

होगी, जो अवश्य ही वर्तमान भी होनी चाहिये। वे व्याख्याये यदि ये नहीं है, तो अन्यत्र उनका सद्भाव होना चाहिये था और यदि अन्यत्र उनके सद्भाव में कोई प्रमाण नहीं है, तो इन व्याख्याओं को उनकी रचना न मानना भी अप्रामाणिक है।

अपने सन्देह के विषय में उन्होंने निम्न कारणों का उल्लेख किया है—

(१) उनका कथन है कि यदि भाष्यकार को इस प्रकार की किसी विभूति का कथन अभीष्ट होता, तो अन्य सिद्धियों के साथ वे इसके लिये भी सकते अवश्य करते। परन्तु विभूति वर्णन के प्रसंग में निर्माण चित्तों का स्पष्ट संकेत न करना ही स्वामी जी के मत की पुष्टि में पर्याप्त नहीं है। विभूतियों के प्रसंग में, भूतेन्द्रिय-जय से भूतेन्द्रियादि को स्वेच्छापूर्वक प्रेरित किया जा सकता है, यह भाष्यकार ने स्पष्ट बतलाया है तथा जैसा हरिहरानन्द आरण्य ने बतलाया है कि भूतेन्द्रियजय से भी निर्माणचित्त सम्भव है, अतः यह विभूति भी भूतेन्द्रिय-जय के अन्तर्गत आ जाती है। यह अवश्य है कि भूतेन्द्रिय जय से निर्मित चित्त साशय होते हैं, जब कि कैवल्य-प्राप्ति-हेतु अनाशय निर्माण-चित्त का निरूपण ही मुख्यतः अपेक्षित है। उसका वर्णन कैवल्य के प्रसंग में अभीष्ट होने से पहिले उसका संकेत नहीं किया गया है।

(२) दूसरी आपत्ति यह है कि अनेक शरीर धारण करने वालों को ग्रन्थान्तरों में मायावी कहा गया है। वे मायाजन्य अनेक शरीर वास्तविक नहीं होते हैं, जिनके द्वारा भोग की निवृत्ति हो और जो पूर्वोक्त रीति से प्रकृत्यापूर की विधि से निर्मित हो।

यह तर्क भी कुछ समझ में नहीं आता। यदि अनेक शरीर-धारण करना मायावी का ही कार्य हो, तो उसमें दोष ही क्या है? माया के आश्रय बिना तो शरीर-धारण सम्भव ही नहीं है। भले ही माया-माया में उत्कृष्ट एवं निकृष्ट का भेद हो। क्षुद्र सिद्धि-सम्पन्न व्यक्ति क्षुद्र माया का आश्रय लेते हैं। योगी उत्कृष्ट योग माया का समाश्रयण करते हैं, किन्तु शरीर की रचना-हेतु माया का अवलम्ब अपरिहार्य है। सर्व-समर्थ भगवान् भी माया के आश्रय से ही शरीरान्तरों को धारण करते हैं। रासलीला के समय भगवान् कृष्ण ने भी योगमाया का आश्रय लिया था—

“भगवानपि ता रात्रीः शारदोत्फुल्लमल्लिकाः ।

वीक्ष्य रन्तु मनश्चक्रे योगमायामुपाश्रिताः ॥” (श्रीमद्भाग० १०)

रही कर्मक्षय की बात, वह प्रयोजक चित्त के अधीन है। निर्माण चित्तों के द्वारा जो भी कार्य होते हैं, वे प्रयोजक चित्त की इच्छानुसार ही होते हैं। तदनुसार ही उनका फल भी होता है। यदि प्रयोजक चित्त को निर्मित चित्तों-द्वारा कृतकार्यों से, कर्मक्षय ही अभीष्ट हो, तो उनके द्वारा कर्मक्षय भी हो सकता है।

(३) तृतीय शका यह है कि चित्त से प्रकाशित चित्तोंकी “अस्मिता” संज्ञा है। अतः एक व्यष्टि चित्त अन्य व्यष्टि चित्तों का उपादान नहीं बन सकता है। चित्त का परिणाम अहंकार है। यदि निर्माण चित्तों को अहंकार के अर्थ में ले तो, प्रत्येक चित्तगत अहंकार भिन्न होने से, योगी उन भिन्न अहंकार-कृत कर्मफलों का भोक्ता नहीं हो सकता है।

इसका उत्तर यह है कि जिस प्रकार किसी दूसरे व्यक्ति से कह कर बंध कराने वाला पापी फौसी के दण्ड का भोक्ता होता है, उसी प्रकार अन्य गौण चित्तों द्वारा किये गए कर्मफल का भोक्ता प्रयोजक चित्त भी हो सकता है।

(४) चौथी शंकानुसार निर्माण-चित्त का अर्थ यदि केवल चित्त लिया जाय, तब भी वे चेतन से अधिष्ठित होकर भिन्न जीवस्वरूप होंगे।

यदि वे निर्माण-चित्त एवं शरीर भिन्न-भिन्न जीवस्वरूप हैं, तो इसमें आपत्ति ही क्या है? भिन्न प्राणी के रूप में तो उनकी रचना ही की जाती है। तभी वे एक प्राणी-द्वारा दीर्घकाल में भोग्य कर्माशय का अल्पकाल में भोग कर सकते हैं।

(५) क्रियामाण, प्रारब्ध एवं संचित तीन प्रकार के कर्मों में से जिन कर्मों ने जाति, आयु एवं भोग रूप फल-प्रदान-प्रारम्भ कर दिया है, वे तो भोगने ही हैं, अन्य कर्म जिन्होंने फलप्रदान आरम्भ नहीं किया है, उनको इतना समर्थ योगी दग्ध बीजतुल्य कर सकता है।

स्वामी जी की यह धारणा भी भ्रान्तिमूलक मालूम पड़ती है। यह आवश्यक नहीं है कि जो योगी निर्माण-चित्त की सामर्थ्ययुक्त हो, वह क्लेशों को दग्ध-बीज-तुल्य बनाने में समर्थ ही हो। अनेक शरीर धारण करके भोग समाप्त करने की अपेक्षा क्लेशों को दग्ध बीजतुल्य बनाना बहुत उत्कृष्ट सिद्धि है। यद्यपि कैवल्योपयोगी सिद्ध चित्त वही है, जिसके क्लेश दग्ध-बीज तुल्य हो चुके हों और वही सूत्रकार एवं भाष्यकार का मुख्यतः प्रतिपाद्य विषय भी है।

फिर भी सम्भवतः स्वामी जी प्रस्तुत शंका-उत्थापन के समय यह भूल गये कि यहाँ जन्म, औषधि, मन्त्र, तप एव समाधि पाँचो प्रकार की सिद्धियों से जन्य निर्माण चित्तो का प्रसंग चल रहा है, केवल समाधि-जन्य चित्त या योगी का ही नहीं। इन पाँचो प्रकारो मे समाधि से इतर सिद्धियाँ अपेक्षाकृत निम्नस्तरीय ही होती है। उनके द्वारा अस्मितामात्र से अनेक शरीर तो धारण किये जा सकते है, परन्तु क्लेशो को दग्ध बीज-तुल्य नहीं किया जा सकता है।

(६) प्रस्तुत स्थल पर योग प्रदीपकार यह भी कहते है कि अनेक शरीरो के युगपत् निर्माण का यहाँ कोई प्रसंग ही नहीं है। अतः यह प्रसंग चलाना ही असंगत है। पर जब सूत्रकार स्वय ही “निर्माण चित्तानि” इस बहु-वचन के प्रयोग से तथा “प्रवृत्तिभेदे प्रयोजक चित्तमेकमनेकेषाम्” इत्यादि वाक्यो से अनेक चित्तो की चर्चा चला रहे है, तब उस विषय को अप्रासंगिक और असंगत कहना ठीक नहीं है।

(७) पुनः शंकाकार ने शंका व्यक्त की है कि यहाँ पर पाँच प्रकार की सिद्धियों से उत्पन्न पाँच प्रकार के निर्माण चित्तो का प्रसंग चल रहा है। अनेक शरीर धारण का तो सकेत भी नहीं है।

इस विषय मे अधिक कुछ कहने की आवश्यकता नहीं है। उत्तर के लिये व्यासभाष्य ही पर्याप्त है। सूत्र (४/४) की व्याख्या करते हुए, भाष्यकार ने सूत्र के पूर्व भाष्य मे लिखा है—“यदा तुयोगी बहून् कायान् निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्का इति—निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्।”

(८) अपने अन्तिम सन्देह को व्यक्त करते हुए ओमानन्द जी ने छठे सूत्र के “व्यासभाष्य” एव “भोजवृत्ति” को प्रमाणस्वरूप उद्धृत करके सूत्र का अर्थ इस प्रकार किया है—निर्माण-चित्तानि<sup>१</sup>=जन्म, औषधि, मन्त्र, तप तथा समाधि—इन पाँचो सिद्धियों से उत्पन्न होने वाले पाँच प्रकार के सिद्ध चित्त, जिनका प्रथम सूत्र से प्रसंग चला आ रहा है। अस्मितामात्रात्=पुरुष से प्रतिबिम्बित चित्तसत्त्व ( जिससे अहंकार उत्पन्न होता है। अर्थात् जिसमे अहंकार बीज रूप से रहता है ), जो निर्माण चित्तो की प्रकृति है। उन विलक्षण शक्ति वाले सिद्ध शरीर, इन्द्रियों आदि को चलाने वाले निर्माणचित्त अस्मितामात्र से उत्पन्न होते है, अर्थात् उनकी प्रकृति

१. निर्माणचित्त सम्बन्धी विशेष विवरण के लिये देखिये म० म० गोपीनाथ कविराज कृत लेख “Nirmanakaya” (S. B. Studies, vol. I.)

(उपादान कारण) अस्मिता (चित्त-सत्त्व) है, जिसके “आपूर” से उनमें यह विलक्षण परिणाम होता है ।

यहाँ पर जन्म, औषधि, मन्त्र, तप, एव समाधि-सिद्ध पाँचों प्रकार के निर्माण-चित्तों का प्रसंग चल अवश्य रहा है, फिर भी सूत्रगत “निर्माण-चित्तानि” इस शब्द में बहुवचन का प्रयोग इन पंचविध सिद्धियों से जन्य चित्तों की दृष्टि से नहीं, वरन् एक-एक प्रकार की ही सिद्धि के द्वारा, अनेक शरीर-धारण की दृष्टि से किया गया है । जैसा कि श्री व्यास, वाचस्पति, भिक्षु, विवरणकार शंकर, भोज आदि सभी विद्वानों की व्याख्याओं में भी स्पष्ट उल्लेख है<sup>१</sup> ।

विचार दृष्टि से देखने पर भी पाँचों प्रकार की सिद्धियों से उत्पन्न निर्माण-चित्तों के लिये बहुवचन का प्रयोग अपेक्षित नहीं है । क्योंकि प्रत्येक रीति से निर्मित चित्त अकेला ही है । औषधिजन्य चित्त किसी अन्य ही व्यक्ति का है । मन्त्रजन्य किसी अन्य ही व्यक्ति का है । प्रत्येक सिद्ध को पाँचों सिद्धियाँ प्राप्त हैं नहीं और यदि हो तब भी एक शरीर में चित्त तो एक ही होगा । अतः इस दृष्टि से भी “निर्माणचित्तानि” इस प्रकार बहुवचन का प्रयोग निरर्थक ही सिद्ध होगा । साथ ही वह एक चित्त तो पहले से ही विद्यमान है । उसका निर्माण सिद्धि द्वारा नहीं किया गया है । जो चित्त पहले से विद्यमान है, उसके लिये अस्मिता-मात्र उपादान की भी आवश्यकता नहीं है । औषधि, मन्त्रादि की सिद्धि से जन्य विलक्षण परिणाम में तो निमित्त उपस्थित होने पर स्वतः ही प्रकृत्यापूर हो जाता है । उसके उपादानग्रहण-हेतु, सिद्ध व्यक्ति को अलग से किसी कौशल की आवश्यकता नहीं होती । स्वामी जी ने अपनी तृतीय शंका व्यक्त करते हुए लिखा है कि “एक व्यष्टि चित्त दूसरे व्यष्टि चित्त का उपादान नहीं हो सकता है । चित्त का विषम परिणाम (अर्थात् विकृत) अहंकार ही हो सकता है” और इस प्रकार वह अहंकार ही निर्माण चित्तों की विकृति हुई । तब क्या अपना ही विकारभूत अहंकार स्वयं अपना उपादान होगा ? शरीर एक होने से उसका चित्त भी एक ही है, जो पहले से विद्यमान है । उसके पुनर्निर्माण का प्रश्न ही नहीं उठता और यदि उसी का पुनर्निर्माण होता है, तब क्या उस विकारभूत अहंकार के द्वारा अपने कारणभूत चित्त का निर्माण होता है ?

सारांश यह है कि योगी अथवा सिद्धों में से कोई भी सिद्ध, मूलचित्त से

१. द्रष्टव्य—व्य० भा०, भा० वि०, तत्त्व०, यो० वा०, भो० वृ० आदि ।

अतिरिक्त शरीरान्तवर्ती एक या अनेक चित्तों का निर्माण करता है, स्वचित्त के कारणभूत अस्मितामात्र के उपादान को ग्रहण करके ही अन्य चित्तों का निर्माण करता है ।

स्वामी जी ने यह तो कहा है कि यहाँ निर्माणचित्तों का कारण अहंकार है, जो कि चित्त का ही विषम परिणाम है । परन्तु यह स्पष्ट नहीं किया कि निर्माणचित्त की प्रकृति अहंकार होने से, निर्माणचित्त का अर्थ केवल मन है । क्योंकि अहंकार मन की ही प्रकृति है चित्त की नहीं । श्री विज्ञानभिक्षु ने स्पष्ट लिखा है—“अत्र चित्तशब्दो मनोमात्रवाची, अहंकार प्रकृतिकत्ववचनात्”<sup>१</sup> । यहाँ मन=कर्मज्ञानेन्द्रियचालक इन्द्रिय है । श्री वाचस्पति मिश्र ने इस विषय में स्पष्ट उल्लेख नहीं किया है, फिर भी इस सूत्र की व्याख्या करते समय—“तत्र नानामनस्त्वे कायानां प्रतिचित्तमभिप्रायभेदाद्”<sup>२</sup>—इस उक्ति में अनेक मन वाले अनेक शरीरों के कथन से, भी इसी की पुष्टि होती है ।

भाष्यकार श्री व्यास द्वारा प्रस्तुत सूत्र के पूर्वभाष्य में “यदा तु योगी बहून् कयान् निर्मिमीते तदा किमेकमनस्कास्ते भवन्त्यथानेकमनस्का इति” में मन शब्द का प्रयोग इसी बात को बल प्रदान करता है कि यहाँ चित्त शब्द मनोमात्रवाची है । भावागणेश, नागोजी भट्ट प्रभृति अन्य विद्वानों की टीकाओं में भी इस मत की पुष्टि का ही सकेत मिलता है<sup>३</sup> । उस अस्मितामात्र अहंकार को सकल्पमात्र से ग्रहण करते ही अपनी प्रकृति अर्थात् मूल बुद्धि का आपूरण हो जाता है<sup>४</sup> । इस प्रकार सिद्ध<sup>५</sup> द्वारा निर्मित शरीर भिन्न-भिन्न जीव के रूप में रहते हैं । उनके मन भी अलग अलग होते हैं, पर वे मन मूल चित्त की अस्मितामात्र है, अतः मूल चित्त के अधीन होते हैं । एक ही मूल चित्त प्रकृष्ट प्रकाशयुक्त दीपक की भाँति प्रसरणशील होने से उन सब निर्माणकायाओं में व्याप्त होता है । इस स्थल पर श्री विज्ञानभिक्षु ने नैया-

१. “योगवार्त्तिक” ( सू० ४-४ )—विज्ञान-भिक्षु ।

२. “तत्त्ववैशारदी” वा० मि० ( सू० ४-४ )

३. “भावागणेशवृत्ति”—“नागोजी भट्ट वृत्ति” आदि ( यो० सू० ४-४ )

४. “बुद्धयहङ्कारा, अपि अनेकस्वप्रकृतिप्रधान बुद्ध्यापूराद्भवन्तीति प्रत्येतव्य बुद्धिसाम्याद् ( यो० वा० ) ।

५. “तस्मादेकमेवचित्तां प्रपीवद्विसारितया बहूनपि निर्माणकायान् व्याप्नोतीति प्राप्त आह—निर्माणचित्तान्यस्मितामात्रात्” (तत्त्ववैशारदी—वाचस्पति मिश्र)

यिक मत का उत्थापन एवं खंडन भी किया है, जिसका विवरण आवश्यक नहीं प्रतीत होता ।

इस प्रकार अनेक शरीर धारण किये जाने पर प्रत्येक चित्त का कार्य, भिन्न प्रवृत्ति-युक्त होने पर भी, वे एक सूत्र में बँधे हुए, एक ही प्रयोजन की सिद्धि करते हैं, क्योंकि उन सब विभिन्न प्रवृत्तियुक्त अनेक चित्तों का प्रयोजक या प्रेरणा देने वाला एक ही मूल चित्त होता है<sup>१</sup> ।

जिस प्रकार शरीर में विभिन्न प्राण एवं इन्द्रियादि को अपने-अपने कार्यों में नियोजित करने वाला अन्तःकरण ही होता है । अतः वे सब उस एक चित्त के प्रेरणानुसार, उसी के प्रयोजन की सिद्धि करते हैं । उसी प्रकार मूल चित्त के अस्मितामात्र, अन्य सब चित्त, उसी मूल चित्त की प्रेरणा से प्रेरित होकर भिन्न-भिन्न प्रवृत्तियुक्त होने पर, उस मूल या प्रयोजक चित्त के ही लक्ष्य को सिद्ध करते हैं । योगी या कोई भी निर्माण-चित्तों का निर्माता इस मूल चित्त को अवान्तर चित्तों के प्रयोजन के रूप में नियुक्त करता है । अतः उन सबकी एक साथ प्रवृत्ति मूल चित्त के नियन्त्रण में ही होती ।

जिस प्रकार अक्रमतारक ज्ञान स्वायत्त होने पर, सम्पूर्ण विषयों का युगपत् सम्यक् दर्शन होता है, उसी प्रकार प्रयोजन चित्त, उसके द्वारा समस्त प्रयोजित चित्त एवं उनके विषय, सब एक साथ प्रवृत्त होते हैं और मूल चित्त उन सबका सांकर्य-विहीन नियन्त्रण करता है<sup>२</sup> ।

एक चित्त शरीरान्तवर्ती अनेक चित्तों के ऊपर किस प्रकार कार्य करता है, इस विषय में यह स्मरणीय है कि चित्त स्वरूपतः विभु है<sup>३</sup> । अतः यह प्रत्येक भाव से सम्बद्ध है । इस दृष्टि से चित्त की गति व्यवधानशून्य है । उसके लिये कुछ भी दूर या निकट नहीं है । क्षुद्रस्तर में जादूगर का मुख्य चित्त जिस प्रकार अनेक दर्शकों के चित्त पर कार्य करता है, उसी प्रकार निर्माण चित्तों के विषय में भी अवगन्तव्य है । मूल चित्त अन्य सब गौण चित्तों के ऊपर आवश्यकतानुसार यथोचित कार्य करता है<sup>४</sup> ।

१. “प्रवृत्तिभेदे प्रयोजक चित्तमेकमनेषाम” (यो०सु० ४/५) ।

२. द्र०—पात० यो० ८०—(हरि० आ०), पृ० ३०२ ।

३. द्र०—अ० भा० (१-१०) ।

४. द्र०—पात० यो० ८०—हरि० आ०—पृ० ३०३ ।

जब तक प्रयोजक चित्त के लक्ष्य की पूर्ति नहीं होती तब तक वह समस्त निर्माण-चित्तो को कार्यशील रखता है। पुनः जिस प्रकार सूर्य अपनी रश्मियों को समेट लेता है, उसी प्रकार अपनी लक्ष्य-पूर्ति हो जाने पर, वह मूल चित्त, उन निर्माण चित्तो को भी उपसंहृत कर लेता है<sup>१</sup>।

निर्माणचित्तो में भी अपेक्षा कृत उच्च-भिन्न का भेद होता है। यह पहिले भी बतलाया जा चुका है कि समाधिजन्य चित्त ही सर्वश्रेष्ठ होता है। अन्य सिद्धियों में भी जन्म एव औषधि-जन्य सिद्धियाँ प्रायः अत्यन्त निम्न कोटि की होती हैं। मन्त्र एवं तप-जन्य निर्माण चित्त उनकी अपेक्षा अधिक सात्त्विक एवं उच्चस्तरीय होते हैं।

विवेकख्याति प्राप्त योगी का निर्माण-चित्त सर्वश्रेष्ठ होता है, क्योंकि वह अनाशय होता है। शेष सब साशय होते हैं। इस अनाशय निर्माण चित्त को सूत्र-कार ने ध्यान-जन्य या ध्यानज चित्त कहा है<sup>२</sup>।

क्षीण-क्लेश योगी का कर्माशय नहीं होता है। अतः तज्जन्य चित्त भी अनाशय होता है। अन्य, जन्म, औषधि, मन्त्र एवं तप-जन्य सिद्धियों से निर्मित चित्त साशय अर्थात् आशय सहित होते हैं<sup>३</sup>। रागादि की प्रवृत्ति से युक्त चित्त साशय होते हैं। चित्त में राग-द्वेषादि प्रवृत्तियों का अभाव होने से पुण्य-पाप का सम्बन्ध नहीं होता है। पुण्य-पाप से सम्बन्ध न रहने पर कर्माशय भी नहीं रहता है।

श्री हरिहरानन्द आरण्य ने इस सूत्र की व्याख्या करते हुए ध्यानजन्य अनाशय चित्त के विषय में लिखा है कि पहले से समाधि का आशय विद्यमान नहीं होता है, क्योंकि समाधि सिद्ध करके पुनर्जन्म नहीं होता है। समाधिसिद्ध को उसी जन्म में मोक्ष प्राप्त होता है, इस विषय में शास्त्रोक्ति प्रसिद्ध है—“विनिष्पन्न समाधिस्तु मुक्तिस्तत्रैव जन्मानि”। (विष्णु पु०) अतः समाधिजा सिद्धि का पूर्वसंचित आशय नहीं होता है। समाधिसिद्धि निर्माण-चित्त किसी पूर्व वासनारूप प्रकृति के अनुप्रवेश से नहीं बनता है, वरन् उसकी अभिव्यक्ति पूर्व अनुभव-शून्य प्रकृति के

१. “योगीश्वर शरीराणि करोति विकरोति च,

प्राप्नुयाद्विषयान् कैश्चित्कैश्चिदुग्र तपश्चरेत्।

सहरेच्च पुनस्तानि सूर्यो रश्मिगणा निव”। (तत्व० से उद्धृत) वायुपुराण ५/३२-३,

लिग० १/७०/६३, वायु० ६६/१५२, कूर्म० १/४/५४-५५।

२. “तत्र ध्यानज अनाशयम्” (यो० सू० ४-६)।

३. द्रष्टव्य—व्या० भा०—(४/६)।



आपूरण-द्वारा होती है। साथ ही ध्यानज चित्त को अनाशय कहने का एक कारण यह भी है कि ध्यान या समाधि कर्माशय को नष्ट करते हैं। इस प्रकार न तो वह वासनाजन्य है और न वासना का संग्रहकारी ही है। अतः इन दोनों ही दृष्टियों से वह “अनाशय” कहलाता है।

समाधि से इतर चारो सिद्धियाँ, पूर्वानुभूत वासनाजन्य होती हैं, अतः साशय हैं। उन सिद्धियों से उत्पन्न सिद्ध चित्तो को आशय-परवश होकर व्यवहार करना पड़ता है। ध्यानज सिद्ध चित्त सर्वथा स्वाधीन एवं आशय का नाशक होता है। यह ध्यानज चित्त ही कैवल्योपयोगी होता है।

—०—

### (३) कर्मों के प्रकार, तद्विपाकानुरूप वासनाओं की अभिव्यक्ति तथा हेतु, फल और आश्रय के अभाव में उनका भी अभाव ।<sup>१</sup>

पिछले शीर्षक में योगेतर सिद्धों का चित्त साशय तथा योगज चित्त अनाशय बतलाया गया है, क्योंकि योगी के कर्म अशुक्ल-अकृष्ण होते हैं और इतर मनुष्यों के कर्म शुक्ल, कृष्ण तथा शुक्ल-कृष्ण उभयात्मक के भेद से तीन प्रकार के हैं<sup>१</sup> ।

कर्म चार प्रकार के होते हैं, शुक्ल कर्म, कृष्ण कर्म, शुक्ल एवं कृष्ण-मिश्रित कर्म तथा अशुक्ल-अकृष्ण कर्म ।

उनमें पापियों के कर्म कृष्ण कहलाते हैं । साधारण बोलचाल की भाषा में भी बुरे कर्मों को काली करतूत कहा जाता है । सार यह है कि पापकर्म ही कृष्ण कर्म है । जैसे परपीड़न, स्तेय, व्यभिचार आदि । साधारण गृहस्थादिकों के कर्म पाप-पुण्य दोनों से युक्त होते हैं । अतः वे कृष्ण-शुक्ल उभयात्मक हैं ।

गृहस्थों में बाह्य साधनों का अवलम्ब आवश्यक होने से, परानुग्रह एवं परपीड़न दोनों ही अनिवार्य हो जाते हैं । भलाई-बुराई दोनों के बिना सांसारिक व्यवहार का निर्वाह नहीं होता । कृषि में, भाड़-बुहारू आदि में जीव-हत्या होती ही है । इसी प्रकार आपत्काल में अपना साथ देने के लिए दूसरे का भी उपकार समाज में करना ही पड़ता है । अपने परिवार एवं इष्ट-मित्रों के मंगल-हेतु भजन पूजन भी गृहस्थ करते हैं । इस प्रकार साधारण-गृहस्थादि सामाजिक मनुष्यों के कर्म शुक्ल एवं कृष्ण दोनों प्रकार के होते हैं ।

तीसरे प्रकार के केवल शुक्ल या केवल पुण्यात्मक कर्म तपस्वों, स्वाध्यायी व्यक्तियों के होते हैं, जिन्हें गृहस्थों की भाँति बाह्य उपकरणों की अपेक्षा न होने से परपीड़न आदि अनिवार्य नहीं है । शुक्ल कर्म केवल मन के अधीन है, क्योंकि इसमें बाह्य साधनों का अभाव होता है । उक्त तीनों प्रकार के कर्म क्रमशः एक दूसरे से श्रेष्ठ होते हैं । अर्थात् कृष्ण कर्मों से शुक्ल-कृष्ण तथा शुक्ल-कृष्ण से विशुद्ध शुक्ल कर्म श्रेष्ठ हैं । फिर भी इन तीनों प्रकार के कर्मों से ही कर्मशय का प्रचय होता है । कर्मशय

---

१ “कर्मशुक्लाकृष्ण योगिनस्त्रिविधमितरेषाम्” ( यो० सू० ४-७ )

चाहे पापमय हो अथवा पुण्यमय, उसके प्रचय एवं वासना से पुनर्जन्म होता है। अतः क्लेश-कर्मों की निवृत्ति नहीं होती।

काम्य-कर्मों के परित्यागी योगियो! के कर्म उक्त त्रिविध कर्मों से अतीत है। वे न कृष्ण होते हैं, न शुक्ल होते हैं और न उभयात्मक ही होते हैं। मुमुक्षु योगी स्वकृत पुण्य-कर्मों के फल की प्राप्ति की आकांक्षा नहीं रखता है। वह शुक्ल कर्मों को भगवत्-अर्पण कर देता है। अतः वे कर्मपरित्यक्त होकर कर्माशय-प्रचय में असमर्थ हो जाते हैं। पूर्व सचित आशय का उनके यम-नियम तपस्वाभ्यायादि के द्वारा क्षयमात्र होता है—आशय-सचय और पाप कर्म वे करते ही नहीं। अतः योगियो के कर्म अशुक्ल अकृष्ण अर्थात् पुण्य-पाप के सम्बन्ध से रहित होते हैं। इसलिये भाष्यकार व्यास ने ऐसे सन्यासी योगियो को “चरमदेही” बतलाया है। क्योंकि पूर्व कर्मों का वे क्षय कर चुकते हैं और आगे पाप-पुण्यात्मक आशय न रहने से पुनर्जन्म की सम्भावना नहीं रहती है अतः उनका वर्तमान शरीर ही चरम या अन्तिम शरीर होता है।

उन कृष्ण-शुक्लादि तीन प्रकार के साशय कर्मों में से उनके विपाक के अनुरूप ही वासनाओं की अभिव्यक्ति होती है<sup>१</sup>

अयोगियो के कर्म किसी न किसी वासनापूर्वक होते हैं। अर्थात् फल की इच्छा से होते हैं। अनुभव सस्कारमूलक वासना दो प्रकार की होती है। एक तो जाती, आयु और भोग रूप फल प्रदान करने वाली, जिसे वाचस्पति मिश्र ने कृष्णादि कर्म-वासना बतलाया है। दूसरी स्मृतिमात्र फल वाली। इसे भी क्लेशवासना कहा है<sup>२</sup>। अन्य भोजादि विद्वानों ने भी द्विविध वासनाएँ बतलाई हैं<sup>३</sup>।

“पञ्चक्लेश तथा उनके निवारण के उपाय” शीर्षक में जाट्यायुर्भोग को कर्माशय का विपाक कहा गया है ( जिसे ऊपर कर्मवासना कहा है )। साथ ही उससे वासना का भेद स्पष्ट करते हुए यह भी बतलाया गया है कि वासना साक्षात् रूप से क्लेशदायक नहीं होती है। वस्तुतः वासना का मुख्य स्वरूप वही है। कर्माशय जिसे प्रस्तुत स्थल में, कृष्णादि कर्म-वासना कहा है वासना का गौण अर्थ है। स्मृति-फलमात्र-प्रदायिनी वासना ही मुख्य वासना है।

उक्त त्रिविध कर्मों के विपाककाल में कर्माशय से जिस प्रकार का विपाक

१. “ततस्तद्विपाकानुगुणानामेवाभिव्यक्तिर्वासनानाम्” ( यो० सू० ४/८ )।

२. द्रष्टव्य—तत्त्व ( ४-७-८ )।

३. द्रष्टव्य—भो० बृ० आदि।

होता है, उसी के अनुकूल वासना भी अभिव्यक्त होती है। जैसे कोई मनुष्य जन्मान्तर में बिल्ली की योनि प्राप्त करता है, तो उस जन्म में उसकी बिडालोचित वासना की अभिव्यक्ति होती है, जिससे उसकी मुषकादि के भक्षण में अथवा अन्य समस्त मार्जारीचित आचरण में सहजात प्रवृत्ति होती है। अन्यथा पहले कभी बिडाल योनि से प्राप्त अनुभव की पूर्व-संचित बिडालोचित वासना की अभिव्यक्ति न हो, तो मानव योनि प्राप्त होने पर मुषकादि भक्षण में प्रवृत्ति नहीं होनी चाहिये।

प्रत्येक प्राणी के अन्दर प्रत्येक जाति की वासना संचित होती है। किन्तु जिस योनि में उसे जन्म प्राप्त होता है, उसी योनि के अनुसार पूर्व के अनेक जन्मों में अनुभूत वासनाभूत संस्कार अभिव्यक्त हो उठते हैं। उस वासना के द्वारा ही उन योनियों में भोग सम्भव है।

कर्म—विपाक के अनुकूल वासनाओं की एक साथ अभिव्यक्ति होती है, चाहे वे सैकड़ों जन्म पूर्व की हों। इस विषय में यह आशंका होती है कि अनेक भव (जन्म) पूर्विका वासनाओं में तो जाति, देश एवं काल का अत्यधिक अन्तर होता है। फिर किसी एक ही जन्म रूप, विपाक के भोग में वे विभिन्न जन्म, देश एवं काल में अनुभूत संस्कारभूत वासनाएँ किस प्रकार निमित्त बनती हैं ?

उदाहरणार्थ मानव जन्म के बाद मार्जार-जन्म प्राप्त होने पर, अत्यन्त व्यवहित पूर्ववर्ती मार्जार-योनि की अनुभूत वासना कैसे अभिव्यक्त होती है, जिसके द्वारा मार्जारीचित भोग सम्भव होता है। उस मार्जार योनि से निकट पूर्ववर्ती मनुष्य-योनि की वासना क्यों नहीं अभिव्यक्त होती है, इस प्रकार की शंका मन में उठ सकती है।

सूत्रकार ने इस आशंका को निवृत्त करने के लिये लिखा है कि स्मृति और संस्कार, समान-विषयक होने से जाति, देश एवं काल द्वारा व्यवहित होने पर भी वासनाएँ अव्यवहित की भाँति अभिव्यक्त होती हैं<sup>१</sup>

जिस प्रकार दीर्घ काल पूर्व किसी दूर देश में अनुभूत विषय के संस्कार काल एवं देश के व्यवधान-युक्त होने पर भी, स्मरण करते ही तुरन्त मन में अभिव्यक्त हो उठते हैं, उसी प्रकार अनेक जन्म, दूर देश एवं दीर्घ काल से व्यवहित वासना भी उद्बोधक निमित्त उपस्थित होते ही जागरूक हो जाती है। जिस प्रकार पुराने से पुराने ग्रामोफोन रिकार्ड के ध्वनि-संस्कार, रिकार्ड के ग्रामोफोन पर रखे जाने पर,

१. “जातिदेशकालव्यवहितानामप्यानन्तर्यं स्मृतिसंस्कारयोरेक—रूपत्वात्” (यो० सू० ४-६)

सूई ( नीडल ) के सम्पर्क मात्र से प्रतिध्वनित हो उठते हैं, उसी प्रकार जीवान्तर्वर्ती उच्चतर चेतनता के साथ संस्कारों का सम्पर्क स्थापित होते ही, चित्त में तदनुकूल वासनाएँ अभिव्यक्त हो उठती हैं<sup>१</sup> ।

स्मरण करने के प्रयत्न में देर लग सकती है, किन्तु स्मृति क्षणमात्र में ही उठती है । उस स्मृति का अनुभव-मूलक संस्कार जिस देश अथवा काल में चित्त पर अंकित होता है, उसके बाद चित्त में पड़ने वाले भिन्न देशकालीन संस्कार उस स्मृति में बाधक नहीं होते हैं । सैकड़ों जन्म-पूर्व अनुभूत विषयक-वासना की अभिव्यक्ति के विषय में भाष्यकार ने यही बात उदाहरणपूर्वक समझाई है ।

यदि कोई मनुष्य किसी दुष्कर्म से विवश होकर बाद में सहस्र जन्म तक भिन्न-भिन्न स्थलों पर पशु शरीर प्राप्त करके, पुनः मानव शरीर प्राप्त करता है, तो उन सहस्र पशु जन्मों तथा विभिन्न देशों एवं काल का व्यवधान रहने पर भी, मानव जन्म में मानवोचित वासना अव्यवहित की भाँति प्रकट होती है ।

इस अव्यवहितत्व या अनन्तरता का कारण है—स्मृति और संस्कार की समानविषयता या एकरूपता । संस्कारों के अनुरूप ही स्मृति होती है जिस प्रकार के अनुभव होते हैं—तज्जन्य संस्कार उस प्रकार के होते हैं । वे संस्कार पुनः कर्म वासना के अनुरूप होते हैं । जैसी वासनाएँ होती हैं, वैसी ही स्मृति भी होती है । वह स्मृति अनुभूत होने से अनुभवरूप है । अतः स्मृति से पुनः संस्कार उत्पन्न होते हैं । इस प्रकार स्मृति एवं संस्कार कर्माशय द्वारा उद्बोधित होकर व्यक्त होते रहते हैं । जाति, देश एवं काल द्वारा व्यवहित होने पर भी वासना एवं स्मृति का निमित्त-नैमित्तिक भाव अविच्छिन्न रहने से वे अव्यवहित ही सिद्ध होते हैं । अतः स्मृति और संस्कार एकरूप हैं । नैमित्तिक = निमित्त से ज्ञात ।

शंका हो सकती है कि जब वासनाओं के अनुसार ही जन्म और कर्मानुरूप ही वासनाओं का संबन्ध होता है, तो प्रथम जन्म-प्रदायिनी वासना कहाँ से आई ? इसका उत्तर यह है कि कर्म-विपाकानुकूल प्रवृत्ति की प्रेरणा-प्रदायिनी वासना अनादि होती है, क्योंकि प्राणिमात्र में आत्मकल्याण की नित्य अभिलाषा है<sup>२</sup> ।

प्रत्येक प्राणी में सर्वदा अपने विषय में आशा की वासना पाई जाती है कि मेरे साथ मेरी सुख-सामग्री सर्वदा अक्षुण्ण रहे । उनका वियोग कभी भी

१ “साइन्स ऑफ योग”—पृ० ३६८ ।

२, “तासामगदित्व चाशिषो नित्यत्वात्” ( यो० सू० ४-१० )

न हो। इस आशिस-रूप वासना की नित्य उपलब्धि से उसकी अनादिता भी स्वतः सिद्ध है।

आत्माशिस की उक्त कामना स्वाभाविक नहीं होती, क्योंकि जिसने पहले कभी मरणत्रास या मरण दुःख का अनुभव नहीं किया है, ऐसे सद्योजात शिशु में भी द्वेष हेतुक मृत्युत्रास अथवा भय भावना देखी जाती है। यह भय शिशु के समक्ष किसी प्रकार का भयंकर दृश्य या भयावह ध्वनि उपस्थित होने पर ही उत्पन्न होता है, सर्वदा नहीं। द्वेष-भावना दुःखानुभव के पश्चात् ही होती है। सद्योजात शिशु में भी द्वेष की भावना से यह सिद्ध होता है कि पूर्व जन्म में इसने दुःख या मरणत्रास का अनुभव अवश्य किया है। जिसके स्मृतिरूप निमित्त से उसे भयावह दृश्यो से भय उत्पन्न होता है।

मरणत्रास अथवा किसी भी प्रकार का भय सर्वदा दुःख स्मृति-रूप निमित्त से ही उत्पन्न होता है। दुःख-स्मृति के निमित्तभूत किसी भयावह दृश्य के उपस्थित होने पर दुःख-स्मृति उत्पन्न होती है और दुःख-स्मरण रूप निमित्त-द्वारा भय उत्पन्न होता है। यदि यह भय सनिमित्तक न होता तो प्राणी में सर्वदा भय वर्तमान रहता क्योंकि स्वाभाविक वस्तु का कभी वियोग नहीं होता। जैसे ग्राह्य, ग्रहण एवं ग्रहीत् पदार्थ या रूपादि धर्म प्राणी के स्वाभाविक धर्म हैं और वे सदैव विद्यमान रहते हैं। देह-धारण-काल में ये न तो किसी निमित्त से उद्भूत होते हैं न, उनका कभी वियोग ही होता है। जब तक शरीर है तभी तक उक्त धर्म भी प्राणी से स्वाभाविक रूप से संलग्न हैं, किसी निमित्त से नहीं। शरीर-नाश के साथ ही उक्त धर्म भी तिरोहित हो जाते हैं, परन्तु वासना कारण शरीर में बनी रहती है। वह नित्य है। अतीत, अनागत एवं वर्तमान समस्त प्राणियों में अपने अस्तित्व की भावना देखी जाती है अतः उसका कभी भी व्यभिचार न होने से वासना नित्य है। उक्त आत्माशी की भावना के नित्य होने से पूर्व-पूर्व जन्म की अनादि परम्परा सिद्ध होती है और अनादि जन्म-परम्परा की सिद्धि से जन्म की हेतुभूत वासना भी अनादि सिद्ध होती है।

पुनः यदि वासना की अभिव्यक्ति स्वाभाविक मानी जाए, तो चित्तवर्ती समस्त वासनाओं की एक साथ अभिव्यक्ति होनी चाहिए। निमित्त के अनुरूप किसी एक काल में किसी एक ही वासना की अभिव्यक्ति नहीं होनी चाहिये, क्योंकि चित्त में तो सर्वदा समस्त वासनाएँ संचित हैं, फिर भी जिस वासना के अनुरूप

निमित्त उपस्थित होता है, वही वासना अभिव्यक्त होकर भोग सम्पन्न कराती है। अतः वासना, जन्म एवं मरणत्रास, ये सभी अस्वाभाविक एवं निमित्त-जन्य है<sup>१</sup> ।

वासना की अनादिता के साथ-साथ भाष्यकार श्री व्यास ने प्रसंगत, अनादि, असंख्य वासनाओं से विचित्र चित्त के परिमाण का प्रतिपादन भी किया है। अनादि वासना के आश्रय भूत चित्त के परिमाण के विषय में भाष्यकार व्यास ने दो मतों का उल्लेख किया है। जिनमें पर मत का प्रदर्शन “अपर” पद के प्रयोग से तथा योगसम्मत मत का प्रदर्शन “आचार्य” शब्द के प्रयोग-द्वारा किया है।

मतान्तर ( योग से ) में चित्त मध्यम परिमाण वाला होता है। मध्यम-परिमाण-अणु एवं महत् द्विविध परिमाणों से विलक्षण। जिस प्रकार घट एवं प्रासाद में न्यस्त दीप संकोच विकासशील होता है, उसी प्रकार चित्त भी शरीर के आकार मात्र-परिमाण-युक्त होता है। अर्थात् जैसे घटस्थ प्रदीप, घटमात्र का प्रकाशक तथा प्रासादस्थ प्रदीप विशाल प्रासाद का प्रकाशक होता है, उसी भाँति चित्त भी पिपीलिका के शरीर में पिपीलिका-देह के आकारमात्र परिमाणयुक्त तथा गजशरीर में गजाकार परिमाण तुल्य हो जाता है। अतः संकोच-विकासशील होने से चित्त न अणुमात्र है, न विभु, वरन् पदार्थान्तर सापेक्ष उभयात्मक, मध्यम परिमाण वाला होता है। अर्थात् अपने से अणु-परिमाणयुक्त पदार्थ की अपेक्षा विभु तथा महत् परिमाणयुक्त वस्तु की अपेक्षा अणु है। इस मत के अनुयायियों का कथन है कि चित्त अणु-परिमाण वाला यदि माना जाय तो किसी एक समय में पाँचों ज्ञानों की उत्पत्ति नहीं हो सकती है, क्योंकि विभिन्न देशस्थ, समस्त इन्द्रियों के साथ अणु चित्त एक साथ सम्बद्ध नहीं हो सकता है। साथ ही शरीर-देश के अन्तर्गत ही

- 
१. पाश्चात्यो की दृष्टि में मरणभय सहजवृत्ति ( इन्स्टिक्ट ) अर्थात् अशिक्षित-क्रिया क्षमता ( अन-टाट ऐबिलिटी ) है। किन्तु जन्म के साथ मनोत्पत्ति में कोई प्रमाण नहीं है। सम्पूर्ण आर्ष दर्शनों के मत में मन अनादि है और उसकी वृत्तियाँ भी। अतः उसकी एक अज्ञान वृत्ति रूप मरणभय भी जन्मजात या स्वाभाविक नहीं हो सकता। अभिव्यक्तिवादियों की दृष्टि में मरणभय पुरुषों की परम्परा से प्राप्त है। पर उसको इन्स्टिक्ट परम्परा प्राप्त कह देने मात्र से कर्मवाद निरस्त नहीं हो सकता। मरणत्रास को सहज-वृत्ति मानने वाले भी यह नहीं बतला सकते कि यह वृत्ति कहाँ से आई। इसका उत्तर कर्मवादी ही दे सकते हैं। स्वाभाविक वस्तु कभी निमित्तजन्य नहीं होती। साथ ही स्वाभाविक धर्म कभी भी वस्तु को नहीं छोड़ता। ज्ञानाम्यास से मरणभय, वासनाएँ एवं जन्म परम्परा ये सभी निवृत्त होते हैं, अतः अस्वाभाविक है।

चित्त के समस्त कार्य देखे जाने से शरीर के बाहर चित्त की सत्ता सिद्ध नहीं होती। अतः चित्त विभु भी नहीं हो सकता है। विभुत्व-अणुत्व दोनों के निषेध से चित्त का अवशिष्ट मध्यम परिमाण ही सिद्ध होता है। विभु चित्त नित्य एव अक्रिय होगा। अणु एव विभु दोनों पदार्थ नित्य होते हैं। चित्त के विषय में उपर्युक्त मत श्री स्वामी हरिहरानन्द आरण्य के अनुसार जैनो का है<sup>१</sup>। श्री भिक्षु के अनुसार यह मतभेद सांख्यो का है। चित्त आध्यात्मिक द्रव्य है। अतः सांख्य की दृष्टि से चित्त शरीर परिमाणाकार नहीं हो सकता है। श्री स्वामी ब्रह्मलीन मुनि के अनुसार, श्री वाचस्पति मिश्र ने भी उक्त “मध्यम-परिमाण चित्त” का मत सांख्यो का बतलाया है। परन्तु इस सूत्र की “तत्त्ववैशारदी” व्याख्या में सांख्यो का नामोल्लेख नहीं मिलता<sup>२</sup>। मतान्तर में यह मत किसी का भी हो, योगशास्त्र इसे स्वीकार नहीं करता। “आचार्य” पद के प्रयोग-द्वारा भाष्यकार व्यास ने महर्षि पतञ्जलि का निर्देश किया है, जैसा कि इस मत की मान्यताओं एवं व्याख्याकारों की व्याख्याओं से सिद्ध होता है।

योगमत से चित्त विभु है। केवल उसकी वृत्ति ही संकोच-विकासशील होती है, क्योंकि चित्त को मध्यम-परिमाण एवं अनित्य मानने पर वह अनादि वासना का आश्रय नहीं हो सकेगा। चित्त को विभु एवं नित्य मानने पर ही वह अनादि वासना का आश्रय हो सकता है। अन्यथा जब मरणकाल में अनित्य होने से आश्रय-भूत चित्त ही न रहेगा तो उस पर आश्रित वासना की भी अनादिता असिद्ध हो जायगी। फिर ज्ञानशक्ति सीमा रहित है। अतः चित्त विभु है। उसकी वृत्ति ही संकोच-विकासशील, सक्रिय एवं अनित्य है<sup>३</sup>।

चित्त के विषय में किसी व्याप्ति की सीमा निर्धारित नहीं की जा सकती है। अतः वह व्याप्तिशून्य ज्ञानशक्ति मात्र है तथा अनन्त बाह्य विषयों से सम्बद्ध है। इस सम्बन्ध का प्रस्फुटित ज्ञान भी हो सकता है। चित्त स्वयं विभु है। फिर भी वृत्तियों के संकोच एवं विस्तार भाववश वह स्वयं भी संकुचित सा अवभासित होता है। किन्तु इसी से उसे संकुचित नहीं समझना चाहिये। ज्ञान-वृत्ति साधारण प्राणियों के समक्ष सीमित तथा विवेकजन्य ज्ञान-प्राप्त सिद्ध योगियों के प्रति सर्व

१ “पातञ्जल योग दर्शन”—हरि० आ०, पृ० ३१०।

२ द्रष्टव्य—“तत्त्ववैशारदी”—योग सू० ४१०।

३ द्रष्टव्य—योगभाष्यविवृति—पृ० ७७४, पात० योग० द०—हरि० आ०—पृ० ३१०।



भासक, अपरिच्छिन्न भाव-युक्त होती है। अतः चित्त विभु है—श्रुति भी है—“अनन्तं वै मनः”<sup>१</sup> इस उक्ति में मन शब्द विभुत्व का द्योतक है।

अतः विभु चित्त की वृत्ति ही संकोच—प्रसारशील है। भाष्यकार व्यास ने स्पष्ट ही लिखा है—

“वृत्तिरेवास्य विभुनश्चित्तस्य संकोचविकासिनी”<sup>२</sup>

चित्त को मध्यम-परिमाण मानने वालों की आपत्ति है कि यदि चित्त को विभु माना जायगा, तो वह नित्य एव अक्रिय होने से, चित्त का प्रलयकाल में लय और संसृतिकाल में लोकान्तरों में गमनागमन असम्भव हो जायगा।

इस विषय में योगाचार्यों का मत है कि चित्त के नित्य होने पर भी, उसकी संकोच विकासशील वृत्ति सक्रिय एव अनित्य होने से, प्रलयकाल में उसका लय तथा सृष्टिकाल में ससरण सम्भव है। अतः चित्त को विभु मानना ही समीचीन है। साथ ही चित्त को नित्य मानने पर वह अनादि वासना का आश्रय भी बन सकेगा, अन्यथा चित्त को अनित्य मानने पर उसकी आश्रित वासना की अनादिता भी असंगत ही सिद्ध होगी, जो कि पूर्व सिद्ध है।

चित्त की वृत्तियों का उक्त संकोच एव विकास, धर्मादि निमित्तों की अपेक्षा से होता है। निमित्त दो प्रकार के हैं, बाह्य और आध्यात्मिक। शरीर, इन्द्रिय आदि बाह्य साधन सापेक्ष स्तुति, दान, अभिवादन आदि बाह्य निमित्त हैं। श्रद्धा, मैत्री, मुदिता आदि चित्तमात्र से साध्य कर्म, आध्यात्मिक निमित्त हैं। इनमें बाह्य उपकरण निरपेक्ष मानस कर्म ही अधिक प्रबल है, क्योंकि ज्ञान-वैराग्य से बढ़ कर और कोई शक्ति नहीं है। ज्ञान और वैराग्य-सदृश मनोबलों को कोई भी अन्य बल अभिभूति नहीं कर सकता है।

चित्त के विभुत्व के विषय में यह भी अवगम्य है कि सांख्ययोग में प्रकृति एव पुंश के अतिरिक्त अन्य समस्त तत्वों का नित्यत्व या विभुत्व स्व-विकृति सापेक्ष है। चित्त अपनी विकृति अहंकार तथा उससे आगे भी तन्मात्रादि विकृति-परम्परा की अपेक्षा विभु एव नित्य होने पर भी स्वकारण, मूलप्रकृति की अपेक्षा अनित्य एव विभुत्वशून्य है।

१ बृहदारण्यक ( ३/१/६ )

२ व्य० भा० सू० ४-१०

अब वासनाओ की अनादिता से सन्देह होता है कि वे आनादि पुरुष की भौति नित्य भी होगी। अतः उनका उच्छेद न हो सकेगा। फिर यदि वासना का उच्छेद न होगा तो जन्म-मृत्यु के आवर्तन से मोक्ष भी न हो सकेगा। इस शका का निरसन करते हुए सूत्रकार ने लिखा है कि वासनाओ का सग्रह हेतु, फल, आश्रय एवं आलम्बन के आधीन होता है। अतः इन चारों के अभाव से, उन वासनाओ का भी अभाव हो जाता है<sup>१</sup>।

अनादिता दो प्रकार की होती है। एक तो स्वरूप से अनादिता और दूसरी प्रवाहरूप से। पुरुष की अनादिता स्वरूपतः है, अतः वह नित्य है। वासनाएँ स्वरूपतः अनादि नहीं हैं, वरन् कार्य-प्रवाह से अनादि हैं। प्रावाहिक अनादिता का कारण के नाश से उच्छेद हो जाता है<sup>२</sup>। स्वरूपतः अनादि चित्तिशक्ति (पुरुष) के नाश का कारण ही न होने से उसका कभी नाश नहीं हो सकता है। प्रवाहतः अनादि वासना सकारण है। अतः प्रवाह के कारणों का नाश होने से वासना का अभाव एवं उसके अभाव से संसार से मोक्ष भी संभव है।

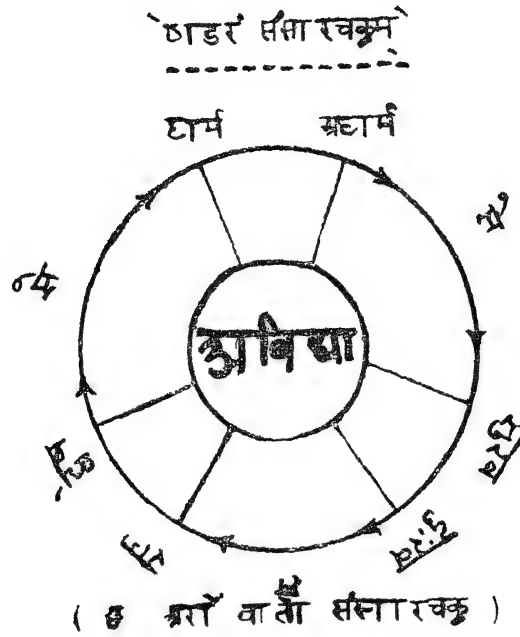
सूत्रकार ने हेतु, फल आदि वासना के जिन चार कारणों का वर्णन किया है, उनका विवरण इस प्रकार है—

### (१) हेतु—

छः अरों से युक्त संसार—चक्र की नेत्री, अविद्या ही वासनाओं का मूल हेतु है। जैसे शुक्ल-कृष्ण कर्म रूप धर्म-अधर्म से सुख एवं दुःख की प्राप्ति होती है। धार्मिक कृत्यों से सुख की उपलब्धि होती है और अधार्मिक कर्मों से दुःख की प्राप्ति होती है। सुख एवं दुःख की प्राप्ति से, सुख तथा सुख के साधनों के प्रति राग, तथा दुःख एवं दुःख-साधनों के प्रति द्वेष-भाव की उत्पत्ति होती है। पुनः सुखोपलब्धि एवं दुःख-निवृत्ति के लिये प्राणी परानुग्रह, परपीडन आदि धर्म-अधर्म-कार्य करता है। उन धर्म, अधर्म से फिर सुख, दुःख की प्राप्ति होती है। इस प्रकार यह संसार चक्र सतत प्रवर्तित रहता है। इन धर्म-अधर्मादि, सुख-दुःखादि सभी के मूल में अविद्या है। अविद्यावश ही जीव पाप-पुण्य करके सुख-दुःखादि का अनुभव करता है। अतएव साक्षात् रूप से, अथवा धर्म-अधर्मादि परम्परा के द्वारा, अविद्या ही वासनाओं का मूल हेतु है।

१. “हेतुफलाश्रयालम्बनैः सगृहीतत्वादेवामभावे तदभावः” (योगसूत्र, ४-११)

२. द्रष्टव्य—“तत्त्ववैशारदी”—“मणिप्रभा”—“योगसुधाकर” आदि।



इस अविद्या के कारण जीव विविध क्लेशों से कष्ट पाता है। अतः अविद्या कारण सहित यह षडर-ससार-चक्र ही वासना का मूल है।

## (२) फल—

जिसको आश्रय करके जो उत्पन्न होता है, वह उसका फल कहलाता है। जैसे किसी पुण्य या पाप कर्म आश्रय से या आचरण से जिस धर्म या अधर्म के द्वारा सुख या दुःख की प्राप्ति होती है, वह केवल उस धार्मिक या अधार्मिक कर्म की ही नहीं, वरन् उसकी वासना का भी फल है।

इस विषय में शंका हो सकती है कि वासना के फलस्वरूप कार्य द्वारा, कारणभूत वासना कैसे संग्रहीत हो सकती है? इसका समाधान यह है कि असत् वस्तु की उत्पत्ति नहीं होती। अतः पहले से ही सूक्ष्मरूप से वासना में विद्यमान रहने से वह (फल) वासना का संग्राहक हो सकता है।

यहाँ स्मृति वासना का फल है, क्योंकि उद्बोधक कारण उपस्थित होने पर पूर्व वासनानुसार ही स्मृति होती है। पुनः स्मृति संस्कारों से वासना उपचित होती है। अतः वासना के फल-द्वारा भी वासना संग्रहीत होती है।

सूत्रगत “फल” शब्द का अर्थ, प्रस्तुत प्रसंग में, श्री विज्ञान मिश्र,

भावागणेश एव नागोजी भट्ट ने “पुरुषार्थ”, श्री भोज ने शरीरादि एव स्मृति आदि, चन्द्रिकाकार ने शरीरादि, विवरणकार शंकर ने सुख आदि तथा मणिप्रभाकर एवं योगसुधाकरकार ने “देहायुर्भोग” या “जात्यायुर्भोग” किया है। परन्तु प्रस्तुत स्थल पर स्मृतिफल मुख्यतः प्रतिपाद्य है, क्योंकि जात्यायुर्भोग से भी स्मृति-द्वारा ही वासना का संग्रह होता है<sup>१</sup>। इसीलिये सूत्रकार ने स्मृति एवं संस्कार की एकरूपता का प्रतिपादन किया है<sup>२</sup>। वासना संस्कारस्वरूपा ही होती है। संस्कारो का बोध ही स्मृति है। स्मृति-संस्कारो से ही वासना दृढतर होती जाती है।

श्री भिक्षु, मणिप्रभाकर, रामानन्द यति प्रभृति विद्वानो के, वासनाफल विषयक उपर्युक्त मतों के विषय में स्वामी हरिहरानन्द आरण्य का मत है कि “पुरुषार्थ केवल वासना का ही नहीं, अपितु दृश्य-दर्शन का फल है। जात्यायुर्भोग वासना के नहीं, वरन् कर्माशय के फल है। शरीरादि को उन्होंने वासना का गौण फल बतलाया है। इस प्रकार उनके मतानुसार भी स्मृति ही वासना का मुख्य फल है<sup>३</sup>।

प्रकृत स्थल में सूत्रस्थ (४-१०) फल शब्द से स्मृति का अर्थ मुख्यतः अभीष्ट अवश्य है, किन्तु इसका तात्पर्य यह नहीं है कि जात्यायुर्भोग वासना का फल ही नहीं होते। लगभग सभी व्याख्याकारों ने वासना के दो प्रकार बतलाए हैं, जिनमें एक का फल जात्यायुर्भोग होता है और दूसरी का फल स्मृतिमात्र है। फिर स्वामी जी ने जिस कर्माशय का फल जात्यायुर्भोग बताया है, वह कर्माशय भी तो वासना का ही एक प्रकार है। इसीलिये तो टीकाकार श्री वाचस्पति मिश्र ने सू० ४-८ की व्याख्या में, शुक्लकृष्णादि कर्मों की वासना को कर्माशय तथा स्मृतिफल मात्र वाली वासनाको क्लेशाशय कहा है<sup>४</sup>।

### (३) आश्रय —

वासनाओं का आश्रय साधिकार मन होता है। चित्त का अधिकार विवेकख्याति पर्यन्त ही होता है। विवेक-ज्ञान हो जाने पर उसका कार्य या अधिकार समाप्त हो जाता है। अतः विवेकशून्य चित्त की संज्ञा साधिकार तथा विवेक प्राप्त चित्त की समाप्ताधिकार या चरिताधिकार संज्ञा होती है। विवेकख्याति

१. पात० यो० द०—हरि० आ०—पृ० ३११।

२. यो० सू० ४/६।

३. द्रष्टव्य—पा० यो० द०—पृ० ३११।

४. द्रष्टव्य—उत्त्व० (४/८)।

द्वारा अधिकार समाप्त हो जाने पर, चित्त में पुरुषाकार मात्र प्रत्यय अवशिष्ट रहने से “मैं मनुष्य हूँ” या “पशु हूँ” अथवा “सुखी हूँ”, “दुखी हूँ”, इस प्रकार का प्रत्यय होना असंभव है। इस प्रकार अज्ञानात्मक वृत्तियों एवं वासनाओं का आश्रय साधिकार चित्त ही होता है। जब आश्रय ही न रहेगा तो वासनाओं की स्थिति भी असंभव है।

#### (४) आलम्बन —

जिस विषय की सन्निधि से जिस वासना की अभिव्यक्ति हो, उस वासना का वही विषय आलम्बन है। जैसे मधुर शब्द-श्रवण से, मधुर शब्द के श्रवण की वासना उदित होती है। अतः वह मधुर शब्द ही उस शब्द-विषयक वासना का आलम्बन हुआ। इस प्रकार शब्द, स्पर्श, रूप, रस आदि विषय ही वासना के आलम्बन हैं। इनके अभाव में वासना की अभिव्यक्ति भी असंभव है।

वासनाएँ अनादि एवं असंख्य हैं। फिर भी पूर्वोक्त रीति से हेतुफल, आश्रय एवं आलम्बन के द्वारा संग्रहीत वासनाएँ, इन चारों के अभाव में समाप्त हो जाती हैं, जिससे चित्त चिरकालपर्यन्त रुद्ध होता है। अतः मोक्ष सम्भव है। वासना के उक्त समस्त सग्राहकों का अभाव अविप्लवा विवेकख्याति के द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि इन हेतुवादि का मूल अविवेक-प्रत्यय या अविद्या ही है। अतः कहा जा सकता है कि अविद्या के अर्थात् उक्त हेतुफलादि का, अविद्या मात्र के क्षय से, विनाश हो सकता है, फिर अन्य तीनों का कथन ही निरर्थक है। किन्तु अविद्या का विनाश अचानक ही नहीं किया जा सकता है। धैर्यपूर्वक सतत, समस्त विषयादि का सर्वतोदिक् निरोधाभ्यास करना पड़ता है, तब कहीं अन्त में मूल कारण अविवेक या अविद्या का नाश होता है। अतः पहले से ही ज्ञानपूर्वक वासना के समस्त सग्राहक पदार्थों के विनाश का प्रयत्न करना चाहिये।

## (४) कारण धर्मों के पथों के भेद से अतीत और भविष्य की वास्तविक सत्ता ।

पिछले शीर्षक में हेतुफलादि के अभाव में अनादि वासना के अभाव का उल्लेख किया गया है। इस विषय में यह सन्देह होता है कि असत् की सत्ता असम्भव है और सद्बस्तु का अभाव अशक्य है—“नासतो विद्यते भावो नाभावो विद्यते सतः”—(गीता)। अतः अनादि वासना का समुच्छेद किस प्रकार सम्भव है? अतीत एवं अनागत की सत्ता से उक्त शका का, निरसन हो जाता है, अर्थात् अनागत एवं अतीत की सत्ता की सिद्धि से वासना के अभाव का अर्थ, वासना की अतीतावस्था ग्राह्य है।

इस बात को समझाने के लिये सूत्रकार ने प्रसंगतः धर्मों के अन्वयभेद से अतीत एवं अनागत की स्वरूप से विद्यमानता का निरूपण किया है<sup>१</sup>।

प्रत्येक धर्म के तीन पथ या अन्वय होते हैं। अनागत, वर्तमान एवं अतीत। भविष्य में अभिव्यक्त होने वाला पदार्थ अनागत, अनुभूत अभिव्यक्ति-युक्त पदार्थ अतीत तथा स्वव्यापार-सलभ पदार्थ वर्तमान कहलाता है<sup>२</sup>। अनागत, अतीत एवं वर्तमान तीनों सत् पदार्थ हैं, क्योंकि वे ज्ञान के विषय हैं। योगी को इनका प्रत्यक्ष होता है। यदि अतीत एवं अनागत पदार्थ न होते तो अतीत एवं अनागत-ज्ञान निर्विषयक होता, किन्तु निर्विषयक ज्ञान की उत्पत्ति नहीं होती है। अन्यथा विषय-शून्य आकाशकुसुमादि का भी परिज्ञान होना चाहिये, पर वह होता नहीं है। अतः अतीत एवं अनागत पदार्थों की सत्ता स्वरूप से सिद्ध होती है। साधारण व्यक्तियों को भी कभी-कभी भविष्य-ज्ञान या स्वप्नादि के माध्यम से अतीत का ज्ञान होता है। इससे अतीत एवं अनागत की सत्ता सिद्ध होती है।

इसके अतिरिक्त मनुष्य की कार्य-प्रवृत्ति सोद्देश्य होने से भी अनागत की सत्ता सिद्ध होती है। प्रत्येक मनुष्य का प्रत्येक कार्य किसी न किसी उद्देश्य-पूर्वक

---

१. “अनीतातागत स्वरूपतोस्त्यन्वयभेदाद्वर्माणाम्” (यो० सू० ४-१२)

२. अतीत एवं अनागत की सत्ता का विशेष विवरण—

“त्रिविध परिणाम का समय” शीर्षक में द्रष्टव्य है।

ही होता है। भोग अथवा मोक्ष-प्राप्ति के लिये जनसमूह सतत प्रयत्नशील है। यदि उसके द्वारा किये गए साधन-द्वारा भोग अथवा मोक्ष रूप अनागतफल सतत् हो तो विद्वान् मनुष्य उसका अनुष्ठान ही क्यों करे ? जो सत् है, अर्थात् जो पहले से विद्यमान है, उसी फल की अभिव्यक्ति निमित्त के द्वारा की जा सकती है, असत् वस्तु की नहीं। तिल में तैल पूर्व से विद्यमान रहता है। निमित्त भूत तैलक उसकी अभिव्यक्ति मात्र करता है। किसी अपूर्व वस्तु की उत्पत्ति में वह समर्थ नहीं होता। अन्यथा बालू से भी तैल की अभिव्यक्ति होनी चाहिये। पर ऐसा तो होता नहीं।

एक धर्मों के अनेक धर्म होते हैं। वे विभिन्न धर्म अभ्रभेद अर्थात् अनागत अतीत और वर्तमान पथों के भेद से अवस्थित रहते हैं। अतीतादि परस्पर अत्यन्त विरुद्ध धर्मों का, किसी एक ही धर्मों में अवस्थान असम्भव प्रतीत होता है। परन्तु ये तीनों धर्म एक ही धर्मों में कालभेद से रह सकते हैं। अतः कोई विरोध नहीं है।

इस विषय में इतनी विशेषता अवश्य है कि वर्तमान अभ्रसम्पन्न पदार्थ जिस प्रकार द्रव्य रूप से दृष्टिगोचर होता है, उस प्रकार अतीत एवं अनागत अभ्रयुक्त पदार्थ नहीं दिखलाई देते हैं। अनागत वस्तु अपने व्यंग्य या भवितव्य स्वरूप से स्थित रहता है और अतीत अनुभूत अभिव्यक्ति वाले रूप से विद्यमान रहता है। अतः एकमात्र वर्तमान अभ्रस्थ द्रव्य की ही स्वरूपाभिव्यक्ति होती है। अतीत एवं अनागत की सत्ता रहने पर भी उनकी स्वरूपाभिव्यक्ति नहीं होती है। परन्तु इससे उनका अभाव नहीं समझना चाहिये। किसी धर्म के वर्तमान अभ्रकाल में अन्य दोनों अर्थात् अतीत एवं अनागत अभ्र-भाव, धर्मों में ही समन्वित रहते हैं। वे सर्वथा सत्ताहीन नहीं हैं।

अवर्तमान का अर्थ है किसी वस्तु का लक्षित न होना। जिस वस्तु को हम देख नहीं सकते, उसके लिये अनागत अथवा अतीत का व्यवहार करते हैं। किन्तु सूक्ष्मता के कारण हमारे ज्ञानगम्य नहीं है, वही अनागत अथवा अतीत है। पिछले सूत्र में वासना का जो अभाव बतलाया गया है, उसका अर्थ केवल वासना का अपने कारण में प्रलीनभाव है, अत्यन्त अभाव नहीं। वासनाएँ प्रलीन होकर दुबारा कभी ज्ञानगम्य नहीं होती, यही अभीष्ट है।

मूल धर्मों प्रधान-प्रकृति है। विश्वगत सम्पूर्ण प्रपञ्च के विविध धर्म उसी के विजृम्भणमात्र हैं। इस विषय में श्री वाचस्पति मिश्र ने सन्देह व्यक्त किया है कि असंख्य प्रकार के धर्म-अवस्थादिपरिणाम एक ही प्रधान धर्मों से किस प्रकार

सम्भव है, क्योंकि मूल-प्रकृति तो सबका उपादानभूत सामान्य कारण है, कारण के विलक्षण्य बिना कार्य की विलक्षणता असम्भव है, ऐसा नियम है।

इसका उत्तर यह है कि वे पूर्वोक्त व्यक्त और सूक्ष्म धर्म गुणात्मक है अर्थात् त्रिगुण-स्वरूप ही है<sup>१</sup>। अतः कोई दोष नहीं है। त्रिगुण की विलक्षणता से विश्वभेद सम्भव है और मूल प्रकृति त्रिगुणस्वरूप ही है।

तीन पथों के भेद से प्रतीयमान धर्मों में वर्तमान धर्म व्यक्त होते हैं और अतीत तथा अनागत काल में सूक्ष्म अवस्थावश अव्यक्तभाव से अवस्थित रहते हैं। ये सूक्ष्म अवस्थाक धर्म षड्विशेषस्वरूप हैं<sup>२</sup>।

वर्तमान अध्वस्थ व्यक्त धर्म ही षोडश विकार होते हैं, अर्थात् पचभूत और एकादशेन्द्रिय। जिनका व्यक्तभाव विलीन हो गया है, अथवा जो आगे व्यक्त भावापन्न होंगे, वे धर्म ही क्रमशः अतीत एवं अनागत सूक्ष्मस्वरूप धर्म हैं। तात्त्विक दृष्टि से षड्विशेष या पंचतन्मात्र और अस्मिता ही सूक्ष्म धर्म हैं। अतात्त्विक उदाहरण स्वरूप मृत्पिण्ड में पिण्डत्व धर्म व्यक्त, चूर्णत्व धर्म अतीत और घटत्व धर्म अनागत है। यहाँ चूर्णत्व और घटत्व धर्म सूक्ष्म हैं।

निखिल प्रपञ्च गुणों का संयोग-विशेष-मात्र है। पारमार्थिक दृष्टि से देखने पर ज्ञात होता है कि यह सब गुणों का ही खेल है। पचभूतात्मक निखिल प्रपञ्च पंचतन्मात्रात्मक है। पंचतन्मात्र व एकादशेन्द्रियगण अहंकारात्मक, अहंकार महत्त्वात्मक, महत्त्व प्रकृत्यात्मक तथा प्रकृति त्रिगुणात्मिका है। अतः परम्परया समस्त व्यक्त एवं अव्यक्त प्रपञ्च त्रिगुणात्मक ही है। इस दृष्टि से महर्षि पञ्चशिखाचार्य ने कहा है कि—

“गुणों” का वास्तविक रूप दृष्टिगोचर नहीं होता। उनका जो स्वरूप दृष्टिगोचर होता है, अर्थात् व्यक्त है, वह माया के समान अत्यन्त तुच्छ है<sup>३</sup>।”

“ते व्यक्तसूक्ष्माः गुणात्मानः”, प्रसंगगत इस सूत्र की व्याख्या करते हुए

१. “ते व्यक्त सूक्ष्मा गुणात्मान” (यो० सू० ४/१३)

२. अविशेषों का विवरण “पञ्चक्लेश तथा उनके निवारण के उपाय” शीर्षकगत यो० सू० २/१६ की व्याख्या में द्रष्टव्य है।

३. “गुणानां परमरूपं न दृष्टिपथमृच्छति।

यत्तु दृष्टिपथं प्राप्तं तन्मायेव सुतुच्छकम्” ॥ (व्या० भा० ४/१३)



भाष्यकार व्यास ने अतीत एवं अनागत की चर्चा की है, जिसमें अतीत एवं अनागत धर्मों को उन्होंने “षडविशेष” स्वरूप बतलाया है, जो पचतन्मात्रों में अहंकार को मिलाने से पूर्ण हो जाते हैं। क्योंकि ये छः ही शान्त, घोर व मूढ नहीं होते हैं।

इस सूत्र की व्याख्या में श्री विज्ञानभिक्षु ने व्यास भाष्यगत “षडविशेषाः” इस पाठ को प्रामादिक<sup>१</sup> बतलाते हुए कहा है कि जब घटपटादिपर्यन्त समस्त पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं, तब भाष्यकार का छः पदार्थों को त्रिगुणात्मक बतलाना युक्ति-सगत नहीं है। —ऐसा प्रतीत होता है कि वार्त्तिककार को वास्तविकता समझने में कुछ भ्रम हो गया है, क्योंकि व्यास जी ने जिन छः अविशेषों का नाम लिया है, वे त्रिगुणात्मक भले ही हों, पर उन्होंने उनकी अविशेषता को प्रधानता दी है, यह नहीं कहा है कि ये छः ही त्रिगुणात्मक हैं। उनका यह कथन, कि जब घटपटादि समस्त जागतिक पदार्थ त्रिगुणात्मक हैं, तब “षडविशेष” ही क्यों त्रिगुणात्मक बतलाए गए, और भी भ्रमात्मक है, क्योंकि इस प्रकार तो षडविशेषों की भी विशेष पदार्थों में गणना की जा सकती है, जो सर्वथा अनुचित है। षडविशेषों का उल्लेख तो अतीत एवं अनागत धर्मों की विशेष-व्यक्तभाव-शून्यता प्रदर्शित करने के लिये ही किया गया है। फिर घटपटादि विशेषभावापन्न जागतिक पदार्थों की त्रिगुणात्मकता का व्यास जी ने निषेध तो किया नहीं है। उन्होंने तो स्पष्ट ही “सर्वमिदं गुणानां सन्निवेशविशेषमात्रमिति परमार्थतो गुणात्मानः” उक्ति से अविशेष और सविशेष सम्पूर्ण पदार्थों को त्रिगुणात्मक ही कहा है। यदि विशेषों के लिये इस प्रकार त्रिगुणात्मकता का स्पष्ट उल्लेख न भी किया होता तो भी पचभूतात्मक सकल विशेष पदार्थ, अविशेषान्तर्गत त्रिगुणात्मक पचतन्मात्र का परिणाम होने से, त्रिगुणात्मक तो है ही। इस प्रकार भाष्यकार व्यास के कथन में कोई न्यूनता नहीं प्रतीत होती है।

## (५) वस्तु के तत्वों का परिणामों की एकता पर आश्रय ।

पिछले शीर्षक में सम्पूर्ण वस्तुओं की त्रिगुणस्वरूपता का प्रतिपादन किया गया है । जब सभी पदार्थों में सभी अर्थात् तीनों गुण विद्यमान हैं, तो फिर एक “शब्द तन्मात्र” या एक ही (नेत्र या कर्ण) इन्द्रिय—इस प्रकार का एक बुद्ध्यात्मक व्यवहार कैसे होता है ? भाष्यकार व्यास ने उपर्युक्त शका उठा कर, उसके समाधान के रूप में महर्षि पतञ्जलि का—“परिणामैक त्वाद्भवस्तुतत्त्वम्”<sup>१</sup>—यह सूत्र अवतरित किया है, अर्थात् (गुणों के)—परिणामों की एकता से वस्तुभूत तत्व का भी एकत्व होता है । अतः वस्तु के तत्वों की एकता परिणामों की एकता पर आश्रित है । परिणामों की एकता का अर्थ है एक जातीय परिणाम होना ।

प्रत्येक वस्तु परस्पर अत्यन्त विरुद्ध त्रिगुणों का कार्य है । सत्त्वगुण लघु एवं प्रकाशक, रजोगुण क्रियाशील एवं उत्तेजक तथा तमोगुण भारी एवं आवरक होता है । फिर भी इन तीनों की प्रवृत्ति मिल कर किसी एक ही लक्ष्य की पूर्ति हेतु होती है, जैसे दीपक में ज्योति, तैल और वर्तिका तीनों मिल कर दीपक को प्रकाशित करने का कार्य सम्पन्न करते हैं<sup>२</sup> । अथवा रूमा या नमक की खान में प्रक्षिप्त, हाथी, घोड़ा, गाय आदि विभिन्न पदार्थ जिस प्रकार एक ही नमक रूप परिणाम को प्राप्त होते हैं, उसी भाँति परस्पर विरुद्ध त्रिगुण से प्रधान गुण के अनुपातानुसार कोई एक ही परिणाम होता है ।

किसी एक ही गुण के प्रधानानुसार परिणाम होता है, जैसे सत्त्व, रज एवं तम का लिंगमात्र विषम परिणाम सत्त्व या महत्त्व है । उसी प्रकार सत्त्व की प्रधानतापूर्वक अहवृत्तिक भेद-युक्त (महत् की अपेक्षा) किञ्चित अधिक विषम परिणाम अहंकार होता है । इसी भाँति अहंकार से सत्त्व-प्रधान त्रिगुण-द्वारा विषम परिणाम स्वरूप एक श्रोत्रादि इन्द्रिय उत्पन्न होती है । इस अहंकार के ही सत्त्व प्रधान अंश से मन, रजःप्रधान अंश से ज्ञानेन्द्रियाँ और तमःप्रधान अंश से कर्मेन्द्रियों की उत्पत्ति

१. यो० सू० ४—१४ ।

२. “सत्त्व लघु प्रकाशकमिष्टमुपष्टम्भक चलचरज ।

गुरुवरणकमेव तम प्रदीपवच्चार्थतो वृत्ति” ॥ (ई० कृ० सांख्यकारिका १३)

होती है। उसी अहंकार से इन्द्रियो की अपेक्षा अधिक तामसिक अंश से पंचतन्मात्र उत्पन्न होते हैं। इन पंच-तन्मात्रों में भी गुणों के परस्पर न्यूनाधिक्यवश ही परस्पर भेद होता है। उत्तरोत्तर अधिक गुणों की अभिवृद्धि होती है। जैसे अहंकार से परिणत शब्द तन्मात्र में तन्मात्र का केवल शब्दात्मक अंश है। स्पर्श में शब्द-स्पर्श दोनों हैं, रूप में शब्द, स्पर्श, रूप तीनों हैं, रस में शब्द, स्पर्श, रूप, रस चार गुण हैं और गन्ध-तन्मात्रों में गन्ध का प्रधान्य होने पर भी शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध पाँचों गुण हैं। तन्मात्रों से जब भूत-परिणाम होता है, तो गन्ध तन्मात्र से पृथ्वी परिणाम में गन्ध गुणक पृथ्वी परमाणुओं की प्रधानता होने पर भी, उसमें शब्द, स्पर्श, रूप, रस, गन्ध पाँचों होते हैं। फिर भी काठिन्यादि पृथ्वी के गुणों की प्रधानता से व्यवहार रूप में वह एक ही पृथ्वी परिणाम कहलाता है। इसी प्रकार भूतान्तरो में भी सर्वत्र समझ लेना चाहिये। इस प्रकार वस्तु के तत्वों की एकता का व्यवहार परिणाम की एकता पर निर्भर है।

भौतिक-विज्ञान के अनुसार भी इस विषय को सुगमतापूर्व समझा जा सकता है। तदनुसार भौतिक सघातों का परिणामभूत कोई भी द्रव्य एक रूप में दिखलाई देता है, जिससे उसके एकत्व का व्यवहार होता है। पर उसे तोड़ने पर उसके भौतिक एवं रासायनिक अवयवों को अलग किया जा सकता है। ये अवयव अणु (Molecules), परमाणु (एटम्स), इलेक्ट्रॉन्स और प्रोटोन आदि होते हैं<sup>१</sup>।

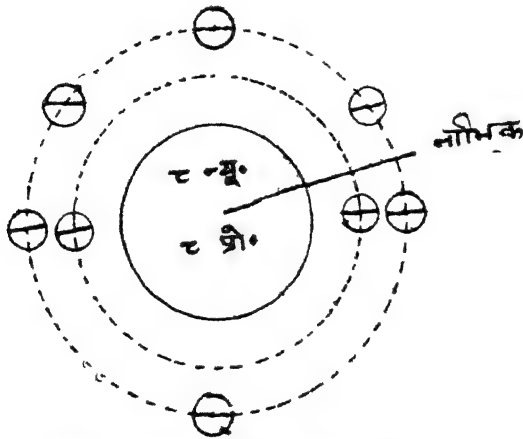
अन्ततोगत्वा उक्त अणु, परमाणु और उनके विभाग आदि विभिन्न प्रकार

- 
१. आधुनिक परमाणुवाद के अनुसार पदार्थ का अन्तिम कण परमाणु नहीं है। अणु किसी भी पदार्थ का वह सूक्ष्मतम अंश है, जो स्वतंत्र अवस्था में रह सकता है। परमाणु अणु का भी सूक्ष्म विभाग है। यह स्वतंत्र अवस्था में नहीं रह सकता। लार्ड रदरफोर्ड के सिद्धान्तानुसार परमाणु केन्द्र धनावेशयुक्त (पोजिटिवली चार्ज्ड) होता है, जो कि दो प्रकार के कणों, प्रोटॉन और न्यूट्रॉन से मिलकर बनता है। प्रोटॉन इकाई धनावेशयुक्त (पोजिटिवली चार्ज्ड) और न्यूट्रॉन विद्युत्-उदासीन (इलेक्ट्रिकली न्यूट्रल) होता है। नाभिक (Nucleus) के धनावेश को उदासीन करने के लिये, इसके (नाभिक के) चारों ओर निश्चित पथों में, प्रोटॉनों की बराबर संख्या में, ऋणावेशयुक्त (निगेटिवली चार्ज्ड) इलेक्ट्रॉन घूमते रहते हैं। इन इलेक्ट्रॉनों के ऋणावेश, प्रोटॉनों के धनावेशों का उदासीनीकरण कर देते हैं और परमाणु विद्युत्-उदासीन हो जाता है। परमाणु की उपर्युक्त बनावट का स्पष्टीकरण आक्सीजन-परमाणु के चित्र द्वारा किया जा रहा है :—

(शेष आगामी पृष्ठ पर)

की भौतिक शक्तियों और गतियों में विभक्त हो जाते हैं। यदि हम वास्तविक दृष्टि से इस तथ्य पर विचार करें कि द्रव्य और शक्ति परस्पर परिवर्तनीय हैं, तो कोई भी द्रव्य इस नियम से अछूता नहीं छूटेगा। सम्पूर्ण दृश्य, जो कुछ भी हम देख सकते हैं, केवल विभिन्न प्रकार की शक्तियों और असाधारण, विचित्र तथा रहस्यपूर्ण गतियों का ही खेल है। परमाणु के केन्द्रभूत नाभिक की प्रकृति के विषय में अभी विज्ञान को पूर्ण निश्चित जानकारी नहीं है। फिर भी इस दिशा में जो अनुसन्धान हो रहे हैं, उनसे अधिकांश में यही सम्भावना है कि यह भी विभिन्न गतियों का यौगिक मात्र सिद्ध होगा। अतः जहाँ तक आधुनिक विज्ञान की पहुँच है, वह इस यौगिक सिद्धान्त के इस तथ्य का ही समर्थक है कि प्रत्येक चित्त एवं प्रत्येक वस्तु, जिसका हम इन्द्रियों के द्वारा मस्तिष्क से अनुभव करते हैं, तीनों गुणों की एक अपूर्व विकृत-मात्र

(गत पृष्ठ का शेषांश)



**आक्सीजन-परमाणु का चित्र**

चित्र में प्रो०=प्रोटॉन, न्यू०=न्यूट्रॉन,  $\oplus$  -इलेक्ट्रॉन और  $\ominus$  -इलेक्ट्रॉन के भ्रमण का मार्ग।

नोट — बंगाली बाबा ने अपने “पातजल-योगसूत्र” में पृ० ७८ पर पञ्चतन्मात्रों को भौतिक विज्ञानियों के इलेक्ट्रॉन तथा अहंकार को प्रोटॉन बतलाया है। अतः अभी तक के अन्वेषणों के आधार पर “अविशेष गुण पर्व” भौतिक-विज्ञान की अन्तिम सीमा है। इसके आगे सृष्टीक्रम को भौतिक विज्ञानवादी रहस्यात्मक कह कर छोड़ देते हैं, किन्तु उसके आगे भी कोई शक्ति विशेष है, यह आज के वैज्ञानिकों को भी मान्य है। तन्मात्र इलेक्ट्रॉन आदि जातीय कोई पदार्थ नहीं है, इस मत के सविस्तार प्रतिपादन के लिये, द्र०—“तन्मात्र तथा विश्व का मनोमय मूल”।

या रूपान्तरमात्र है। यह भी ध्यान देने योग्य है कि सूत्रार्थ का सार, सूत्रगत “एकत्वान्” शब्द में ही निहित है, जिसका अर्थ यहाँ एकता (वन्नेस) नहीं, वरन अपूर्वता या विशेषता है<sup>१</sup>।

वस्तुतत्त्व की सत्ता के प्रस्तुत प्रसंग में प्रसंगवश भाष्यकार श्री व्यास ने बिना नाम-निर्देश के विज्ञानवादी वैनाशिको (बौद्धों) के मत का खंडन किया है। यद्यपि सूत्रकार ने इसका कोई संकेत नहीं किया है।

विज्ञानवादी बौद्ध बाह्य वस्तु की सत्ता का अपलाप करते हैं। उनका कथन है कि विज्ञान का असहभावी कोई भी अर्थ (वस्तु) नहीं है, अर्थात् विज्ञान की अनुपस्थिति में किसी भी बाह्य वस्तु की उपलब्धि नहीं होती है। परन्तु बाह्य वस्तु की अनुपस्थिति में, स्वप्नादिकाल में, विज्ञान (बाह्य वस्तु का ज्ञान) होता है। अतः बाह्य-वस्तु स्वप्न की भाँति विज्ञान की कल्पनामात्र है। कोई सद्-वस्तु नहीं है।

इस युक्ति का खंडन करते हुए भाष्यकार ने कहा है कि—स्वप्नादि की अवस्था में अवभासित पदार्थों की प्रतीति, निद्रादि दोषों के कारण होती है। स्वप्न-ज्ञान इन्द्रिय सन्निकर्षजन्य नहीं है, अतः वह अलीक है। किन्तु जाग्रतावस्था का ज्ञान तो इस प्रकार के दोषों से रहित तथा पदार्थ के साथ इन्द्रिय सन्निकर्ष से उत्पन्न होता है। समस्त प्रमाणों का आधार प्रत्यक्ष-प्रमाण है। अतः नित्य प्रति इन्द्रिय सन्निकर्षजन्य प्रत्यक्ष-प्रमाण से प्राप्त बाह्यार्थ का अपलाप करने वाले कदापि विश्वसनीय नहीं हो सकते, अर्थात् बाह्यार्थ सद्-वस्तु है, स्वप्नतुल्य अलीक नहीं।

इसके अतिरिक्त विज्ञानवादियों की उक्त युक्ति न्यायसंगत नहीं है, क्योंकि वस्तु के एक रहने पर भी चित्तभेद होने से, उन दोनों, वस्तु और ज्ञान (चित्त), का मार्ग भिन्न है<sup>२</sup>। अनेक चित्तों का विषयोभूत घट, स्त्री आदि बाह्य पदार्थ एक रहने पर भी, उस विषय के प्रति विभिन्न चित्तों में विभिन्न भाव उत्पन्न होने से, चित्त एवं उसी वस्तु को भिन्न सत्ता सिद्ध होती है। उदाहरणार्थ एक स्त्री अनेक चित्तों का विषय है। वह स्त्री अनेक चित्तों के लिये सर्व-साधारण है, क्योंकि प्रत्यभिज्ञा से उसका एकत्व जाना जाता है। “जिस स्त्री को तुमने देखा उसी को मैं भी देख रहा हूँ,” इत्याकारक प्रत्यभिज्ञा उस स्त्री के विषय में देखी जाती है। इससे उसका सर्व-साधारणत्व सिद्ध है। उस स्त्री रूप विषय के सर्व-साधारणत्व से सिद्ध होता है

१ साइन्स आफ योग—पृ० ४१०।

२ “वस्तुसाम्येचित्तभेदात्तयोर्विभक्त पत्न्या ।” (यो० सू० ४-१५)

कि वह न तो किसी एक चित्त-द्वारा कल्पित पदार्थ है, न अनेक चित्तों द्वारा कल्पित है, वरन् अपने स्वरूप में प्रतिष्ठित है। वह स्त्री रूप विषय एक होने पर भी उसके विषय में विज्ञान भिन्न-भिन्न है<sup>१</sup>। उसी एक रूपवती स्त्री रूप आलम्बन से, धर्म-रूप निमित्तवश पति को सुख-प्राप्ति, अधर्म के आश्रयभूत सपत्नी को दुःखानुभव, अविद्या-पेक्ष कामी को विमूढ-भाव तथा तत्त्वदर्शी में उसी से उपेक्षा भाव की जागृति होती है। इस प्रकार वस्तु वही रहने पर विज्ञानभेद होने से विज्ञान से वस्तु की भिन्न सत्ता सिद्ध होती है।

यदि बाह्य विषय विज्ञानस्वरूप ही होता तो विज्ञानभेद के अनुसार विषय भी अनेक होने चाहिये, किन्तु प्रत्यभिज्ञा-द्वारा विषय की एकता सर्वानुभव-सिद्ध है। अतः विज्ञान का विषयीभूत बाह्य पदार्थ विज्ञान से भिन्न सद्-वस्तु है, विज्ञान की परिकल्पनामात्र नहीं।

प्रथम तो यदि वस्तु की चित्त से भिन्न सत्ता न होती, तो वह वस्तु (स्त्री) अनेक चित्तों का विषय नहीं बन सकती थी। यदि उसे विज्ञानाभिन्न चित्त परिकल्पनामात्र ही माने तो वह उन सबमें से किस चित्त-द्वारा कल्पित मानी जायेगी ? फिर किसी एक चित्त की कल्पना मानने पर अन्य चित्तों का किसी एक चित्त की कल्पना-द्वारा उपरजनयुक्त नहीं है, क्योंकि कल्पना जिस चित्त की होती है, उसी का वह विषय बन सकती है, अन्य चित्तों की नहीं। जिस स्वप्नादि ज्ञान के आधार पर विज्ञानवादी पदार्थ को विज्ञानस्वरूप मानते हैं, उस स्वप्नज्ञान का आभास किसी एक ही चित्त को होता है, क्योंकि प्रत्येक व्यक्ति को कोई एक ही स्वप्न नहीं दिखाई देता है। अतः वह वस्तु किसी एक चित्त की कल्पना नहीं हो सकती है।

यदि यहाँ उस स्त्री रूप पदार्थ को अनेक चित्तों से परिकल्पित माने तो वह एक नहीं अनेक होनी चाहिये। किन्तु सब चित्तों-द्वारा एक ही स्त्री की प्रत्यभिज्ञा से विषय-एकत्व का प्रतिसिद्धान्त सर्व-सिद्ध है। अतः इस दृष्टि से भी ज्ञान और विषय भिन्न सिद्ध होते हैं, जो एक है वह अनेकों से भिन्न सत्ता रखता है। जिस प्रकार एक रक्त वर्ण-ज्ञान अनेक नील-पीतादि वर्ण-ज्ञानों से भिन्न है।

सारांश यह है कि वस्तु (विषय) और ज्ञान (विषयी) दोनों सर्वथा भिन्न सत्तावान् हैं। इन दोनों में परस्पर सांकर्य की गन्ध भी नहीं है। ज्ञान और ज्ञेय

१. यहाँ पर चित्त, ज्ञान, विज्ञान और बुद्धि एक अर्थ में प्रयुक्त हुए हैं।

सकर की सम्भावना कदापि नहीं हो सकती। नील-पीतादि विषयो का ज्ञान अवश्य चित्त के ही परिणाम है। किन्तु जागृतावस्था में इन्द्रिय-सन्निकर्ष-द्वारा किसी बाह्य विषय के आश्रय से ही चित्त परिणत होता है, स्वयमेव परिणत होकर नील-पीतादि ज्ञानोत्पत्ति नहीं करता।

यदि कोई यह आशंका करे कि सर्व चित्त सामान्य एक ही विषय से विभिन्न चित्तों में विभिन्न ज्ञान रूप परिणाम किस प्रकार होता है, क्योंकि अविलक्षण कारण से कार्य में विलक्षणता नहीं देखी जाती, तो इसका उत्तर यह है कि सांख्ययोग-मत में समस्त पदार्थ त्रिगुणस्वरूप माने गए हैं गुणवृत्त सर्वदा चंचल है। सुख-दुःख एवं मोह त्रिगुण के धर्म होने से, प्रत्येक-वस्तु में सुख, दुःख एवं मोह के बीज विद्यमान है। अतः विषय में त्रिगुण विद्यमान रहने से वह विषय (स्त्री) धर्म-अधर्मादि निमित्त की अपेक्षा से निमित्त के अनुरूप विभिन्न चित्तों में सुखात्मक-दुःखात्मक अथवा मोहात्मक ज्ञान की उपलब्धि में हेतु बनता है, जैसा कि पहले रूपवती स्त्री के दृष्टान्त से प्रदर्शित किया जा चुका है। फिर भी विभिन्न चित्तों में विभिन्न ज्ञानोत्पादक होने पर भी, विषय एक ही है, अनेक नहीं और वह चित्त से भिन्न सद्बस्तु है, कल्पित पदार्थ नहीं। यदि उसे विज्ञान-कल्पना-प्रसूत ही माना जाय, तो जिस समय चित्त उस विषय को छोड़ कर विषयान्तर की कल्पना करता है, उस समय वस्तु की सत्ता नहीं होनी चाहिये। पर विषयान्तर चिन्तन-काल में भी वह वस्तु अभावापन्न नहीं होती, यह सर्व-विदित है। अतः ज्ञेय और ज्ञान भिन्न है।

×

×

×

किसी-किसी के मत में अर्थ (वस्तु) विज्ञान का सहवर्ती है, अर्थात् ज्ञान के साथ ही विषय उत्पन्न होता है और विज्ञान के साथ ही नष्ट हो जाता है, क्योंकि वह भोग्य है। जैसे सुख-दुःखादि भोग्य मानस भावों का ज्ञानकाल में ही अस्तित्व होता है। इस प्रकार कहने वाले सर्वानुभूत के विषयीभूत बाह्यार्थ को अस्वीकार करके ज्ञानोत्पत्ति से पूर्वोत्तर काल में वस्तु के स्वरूप का ही अपलाभ करते हैं। यह मत भी श्रद्धास्पद नहीं प्रतीत होता। वस्तु किसी एक ही चित्त के अधीन नहीं होती है, क्योंकि यदि वस्तु को किसी एक चित्त के अधीन माना जाएगा, तो जिस समय वह वस्तु चित्त-रूप प्रमाण का विषय नहीं होगी या ज्ञान-गोचर नहीं होगी, उस समय वह (वस्तु) क्या होगी? जैसा कि सूत्रकार पतंजलि ने कहा है कि—

“न चैकचित्ततन्त्र वस्तु तदप्रमाणकं तदा किं स्यात्”<sup>१</sup> तात्पर्य यह है कि जिस समय चित्त पूर्वोक्त स्त्रीरूप विषय को छोड़ कर घट-पटादि विषयान्तरो का चिन्तन करने लगेगा, उस समय उस स्त्री को क्या माना जाएगा ? क्या यह माना जाएगा कि वह स्त्री उत्पन्न ही नहीं हुई, अथवा उत्पन्न होकर नष्ट हो गई ? यदि नष्ट माना जाय तो चित्त द्वारा उससे सम्बद्ध होने पर वह कहाँ से आ गई ? अतः इन युक्तियों में कोई सार नहीं है। यदि चित्त किसी समय किसी वस्तु विशेष को विषय नहीं करता, इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि उस वस्तु की संसार में सत्ता ही नहीं है। अन्यथा क्या जिस समय चित्त उस स्त्री के पृष्ठ मात्र को विषय करता है, उस समय उसे उदर एव मुखदिविहीन माना जाएगा। अतः किसी काल विशेष में किसी वस्तु-विशेष अथवा किसी वस्तु का अंश-विशेष अज्ञात रहने से, उस वस्तु (या अंश) के अस्तित्व को नकारा नहीं जा सकता।

स्पष्ट है कि बाह्य-वस्तुओं की स्वतन्त्र सत्ता है और वे (वस्तुएँ) सर्व साधारण के विषय हैं। इसी प्रकार प्रत्येक व्यक्तिगत चित्त भी स्वतंत्र सत्तावान् हैं। इस स्वतंत्र सत्तायुक्त पदार्थों एवं चित्तों के परस्पर स्वतंत्र संसर्ग से प्रत्येक व्यक्ति का अलग-अलग भोग सम्पन्न होता है।

१. यो० सू० ४-१६।

टिप्पणी — श्री भोज ने इस सूत्र को अलग सूत्र नहीं माना है। फिर भी इसमें उत्थित शका का समाधान उन्होंने अपनी वृत्ति में किया है।



## (६) वस्तु की ज्ञातता और अज्ञातता ।

चित्त मे किसी विषय ( वस्तु ) का प्रतिबिम्ब पडने पर ही उसका ज्ञान होता है । अतः चित्त को वस्तु के उपराग की अपेक्षा रहने से ( चित्त को ) वस्तु कभी ज्ञात तथा कभी अज्ञात रहती है<sup>१</sup> । बाह्यार्थ की स्वतन्त्र सत्ता पहले ही सिद्ध की जा चुकी है, फिर भी विपक्ष से यह शका की जा सकती है कि यदि बाह्य-पदार्थ स्वतन्त्र है, तो वह जड़-स्वभाव है, अथवा चेतन-स्वभाव । यदि वह जड़-स्वभाव-युक्त है, तो वह सर्वदा अज्ञात रहना चाहिये और यदि उसका स्वभाव चेतन हो तो वह सर्वदा ज्ञात हो रहना चाहिये, क्योंकि वस्तु कभी अपने स्वभाव का परित्याग नहीं करती है । किन्तु चित्त के बाह्य विषय-सापेक्ष होने से उक्त शका भी निरस्त हो जाती है ।

यद्यपि बाह्यार्थ जड़-स्वभाव है, फिर भी चित्त को उसके उपरंजन की अपेक्षा रहने से, वह कभी ज्ञात और कभी अज्ञात रहता है अतः कोई दोष नहीं है । समस्त विषय ( बाह्यार्थ ) अयस्कान्त मणि ( चुम्बक ) के समान अयः सधर्मी चित्त को अपनी ओर आकृष्ट करते हैं, जिससे इन्द्रिय-सन्निकर्ष-द्वारा चित्त उपस्थित विषय-कार में परिणत हो जाता है । यह चित्त का विषयोपराग कहलाता है । चित्त जिस विषय से उपरक्त होता है, उस समय उसी विषय का उसे ज्ञान होता है, अन्य वस्तुओं का नहीं । विषयान्तर से उपरंजनकाल मे वह पुनः अज्ञात हो जाता है । अतः वस्तु की ज्ञातता और अज्ञातता से ही चित्त विषयान्तर-ग्रहण-रूप परिणाम को प्राप्त करता है । चित्त के परिणाम का अर्थ यह नहीं है कि चित्त निरन्तर नवीन वस्तुओं का प्रसव करता है ।

वस्तु से इन्द्रिय-सन्निकर्ष के द्वारा चित्तोपराग के अतिरिक्त, किसी पूर्वानुभूत विषय के सदृश पदार्थज्ञानरूप सहकारी कारण उपस्थित होने पर, सस्कारों के उद्बोध द्वारा भी, उस वस्तु का स्मृतिजन्य ज्ञान होता है ।

चित्त के द्वारा सब वस्तुओं का ज्ञान होता है, किन्तु जिस पुरुष के प्रतिबिम्ब से चित्त चेतनवत् अन्य विषयों को ग्रहण करने मे समर्थ होता है, उस ( पुरुष )

---

१. “तदुपरागापेक्षित्वाच्चित्तस्य वस्तुज्ञाताज्ञातम्” (यो० सू० ४-१७)

में परिणामित्व की आशंका नहीं करनी चाहिए। चित्तिशक्ति चित्त से विभिन्न और सर्वदा अपरिणामी है। जिस चेतन-स्वरूप पुरुष का वह चित्त स्वयं ही दृश्य-भूत या विषय है, उसे चित्त की वृत्तियाँ तो सर्वदा ज्ञात ( प्रकाशित ) ही रहती हैं, क्योंकि उस ( चित्त ) का स्वामी सदा द्रव्य पुरुष अपरिणामी है<sup>१</sup>। चित्त के विषय शब्द-स्पर्शादि हैं, जो उसे कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होते हैं, क्योंकि चित्त को स्वविषयोपराग की अपेक्षा रहती है और वह क्षण-क्षण विषयान्तरो में परिणत होता रहता है। चित्त की अत्यन्त व्यग्रावस्था में कभी-कभी उसके विषय विद्यमान रहने पर भी उसे उनका स्पष्ट बोध नहीं होता है। पुरुष का विषय है—वृत्ति सहित चित्त। उस चित्त का, उसकी प्रमाणादि वृत्तियों सहित, पुरुष को सर्वदा ज्ञान रहता है। प्रमाणादि किसी भी वृत्ति को “मैं जान रहा हूँ”, इस प्रकार का बोध पुरुष को सर्वदा होता रहता है। इस प्रकार के बोध में “मैं” इस प्रकार का अहं प्रत्यय ही पौरुष प्रत्यय है। कोई वृत्ति हो, किन्तु पुरुष को उसका ज्ञान न हो, ऐसा कदापि सम्भव नहीं। चित्त विषयाकार में परिणत होकर क्षण-क्षण परिवर्तित होता रहता है। पुरुष को चित्तगत इन परिणामों का सर्वदा ज्ञान रहता है। पुरुष किसी वस्तु के ज्ञान-हेतु विषयाकार में परिणत नहीं होता, क्योंकि वह अपरिणामी है।

यदि पुरुष भी चित्त के समान परिणामी होता, तो उसकी विषय-स्वरूपा चित्तवृत्तियाँ भी, कभी ज्ञात और कभी अज्ञात होती, किन्तु पुरुष के सर्व-ज्ञातृत्व का कभी भी व्यभिचार नहीं देखा जाता। इससे उसकी अपरिणामिता सिद्ध होती है। चित्त स्वयं चित्ति ( पुरुष ) के चैतन्य से ही चेतनवत् प्रतीत होता है। पुरुष-चैतन्य के प्रतिविम्ब से वह शब्द, स्पर्श या घट-पटादि विषयों को ग्रहण करने में समर्थ होता है। इस शास्त्र में इन्द्रिय-प्रणाली-द्वारा उत्पन्न विषयाकारा वृत्ति प्रमाण कहलाती है<sup>२</sup>। वह वृत्ति पुरुष के चैतन्य से प्रकाशित रहती है। यदि वह स्वयं अप्रकाशित हो तो अपने विषयभूत घटादि के प्रकाशन में समर्थ नहीं हो सकती, अर्थात् वह चित्त-वृत्ति, चेतन पुरुष से प्रकाशित होकर अपने विषयों का प्रकाश करती है। वह ( चेतन ) अपरिणामी है, अतः पुरुष-चैतन्य सर्वदा वर्तमान रहता है। इसी से उसे चित्तवृत्तियाँ भी सदा ज्ञात ही रहती हैं।

चित्त की व्यग्रावस्था में, चित्त के विषय उसके समक्ष उपस्थित होने तथा

१ ‘सदाज्ञाताश्चित्तवृत्तस्तत्प्रभो पुरुषस्यापरिणामित्वात्’ (यो०सू० ४-१८)

२. “इन्द्रियप्रणालिकया चित्तस्य बाह्यवस्तूपरागान्त द्विषया सामान्यविशेषात्मनोऽर्थस्य विशेषावधारणप्रधाना वृत्ति प्रत्यक्ष प्रमाणम्”। (व्या०भा०सू० १-७)

उनसे क्षणिक परिणाम पाने पर भी, उनका भान कभी-कभी चित्त को नहीं होता । किन्तु पुरुष को उसकी ( चित्त की ) व्यग्रावस्था का और उसके कारण न भासित होने वाले विषयो का भी ज्ञान हो जाता है । चित्तगत ज्ञान (वृत्ति) से पौरुषेय ज्ञान भिन्न है । चित्त के इस प्रकार के अज्ञात परिणामो की प्रामाणिकता आज कल के हिप्नोटिज्म के प्रयोगो से भी सिद्ध होती है । इस प्रकार अज्ञातरूप में होने वाले चित्त के परिणामो के सस्कार सम्मोहित अवस्था में उद्बोधित हो उठते हैं । अतः पात्र उन परिणामो के विषय में पूर्ण विवरण देता है<sup>१</sup> ।

स्पष्ट है कि चित्त स्वयं चाहे अपने अन्दर होने वाले परिवर्तनो से अनभिज्ञ रहे, फिर भी पुरुष को उसमें होने वाले परिणामो अर्थात् उसकी वृत्तियों का सर्वदा ठीक-ठीक ज्ञान रहता है, क्योंकि वह नित्य चेतन एवं शाश्वत है । उसकी चेतना का कभी भी व्यभिचार नहीं देखा जाता, जिससे उसकी अपरिणामिता सिद्ध होती है

### (७) चित्त का दृश्यभाव ।

पुरुष नित्य चैतन्यस्वरूप है। उसके प्रतिबिम्ब से चेतनवत् चित्त अपने विषयो को प्रकाशित करता है। योग के उक्त सिद्धान्त के विषय में वैनाशिक मता-वलम्बियों की आशंका हो सकती है कि अग्नि की भाँति चित्त स्वयं ही अपना तथा अपने विषयो का प्रकाशक हो सकता है, ( फिर पुरुष को मानने की क्या आवश्यकता है ? )। इसका उत्तर यह है कि चित्त स्वप्रकाश नहीं हो सकता है, क्योंकि वह दृश्य है<sup>१</sup>।

जो दृश्य होता है, वह स्वप्रकाश नहीं हो सकता। जैसे शब्द, स्पर्शादि, विषय इन्द्रिय के दृश्य (दूसरे द्वारा देखे जाने योग्य, प्रकाश के योग्य) होने से स्वप्रकाश नहीं है। दृश्य स्वप्रकाश नहीं होता—यह उभयपक्ष को मान्य है। द्रष्टा से दृश्य अत्यन्त भिन्न वस्तु है। चित्त के सम्बन्ध में अग्नि का दृष्टान्त उपयुक्त नहीं है, क्योंकि अग्नि अप्रकाश आत्मस्वरूप को प्रकाशित नहीं करता है अर्थात् अग्नि स्वयं अपने स्वरूप-बोध में असमर्थ है। अग्नि के स्वरूप का प्रकाश, प्रकाश्य एवं प्रकाशक के सयोग से जन्य है, जो अग्नि के स्वरूप मात्र में सम्भव नहीं है। सयोग किन्हीं दो वस्तुओं का ही होता है। यदि अग्नि से अग्नि का ज्ञान मानें, तो इसका अर्थ है—अग्नि का अग्नि संयोग। संयोग द्विष्ट है, यह सर्वसिद्ध है। अग्नि अपने आपको विषय नहीं बना सकती (अग्नि स्वयं को प्रकाशित नहीं करती) अतः वह स्वप्रकाश नहीं हो सकती है। प्रकाश का अर्थ यहाँ केवल आलोक नहीं, वरन् ज्ञातृत्व भी है। अग्नि आलोकवान् है, किन्तु ज्ञाता नहीं। जिस प्रकार अन्य समस्त विषयों का ज्ञान, ज्ञाता या द्रष्टा के सयोग से होता है, उसी प्रकार आलोकरूप अग्नि का ज्ञान भी किसी अन्य चेतन द्रष्टा के संयोग द्वारा हो होता है।

यदि “मै अग्नि हूँ”, इस प्रकार अग्नि-द्वारा अग्नि-स्वरूप का ज्ञान होता, साथ ही अग्नि अन्य सब विषयों का प्रकाश और ज्ञाता होती, तब उसे स्वप्रकाश मानना युक्तिसंगत माना जा सकता था, किन्तु वह आलोकस्वरूप होने पर भी जड़ है। वस्तुतः वह पुरुष के ज्ञान या प्रकाश से ही प्रकाशित होती है, स्वतः नहीं,

---

१. “मतस्त्वाभास दृश्यत्वात्” (यो०सू० ४-१९)

यह सर्वानुभव सिद्ध है। अग्नि अपना प्रकाश करती है, इसका अर्थ केवल यही है कि अग्नि के सान्निध्य से किसी अन्य चेतन द्रष्टा को अग्नि के आलोक का ज्ञान होता है। अग्नि अन्य विषयो का प्रकाश करती है, इसका तात्पर्य है कि किसी चेतन द्रष्टा को द्रष्ट्यान्तरो मे प्रक्षिप्त अन्यालोक का ज्ञान होता है<sup>१</sup>। अतः उक्त अग्नि विषयिणी ज्ञानक्रिया मे चेतन ग्रहीता विषय का प्रकाशक या ज्ञाता और आलोक अर्थात् तेजस्वरूप अग्नि प्रकाश्य या ज्ञेय विषय है। यहाँ पर ज्ञेय विषय (अग्नि) और ज्ञाता (चेतन पुरुष) के संयोग से अग्नि-ज्ञान रूप क्रिया सम्पन्न होती है। यही बात भाष्यकार व्यास ने —“प्रकाशश्चायं प्रकाश्य प्रकाशक संयोग दृष्टः”<sup>२</sup>—इन शब्दों मे कही है। अतः स्पष्ट है कि अग्नि भी जड एव दृश्य है, वह स्वाभास नहीं है। इसी प्रकार चित्त भी जड एव दृश्य होने से स्वप्रकाश नहीं हो सकता।

भाष्यकार व्यास ने पुनः वैनाशिक पक्ष की ओर से लिखा है कि—चित्त की स्वाभासता का अर्थ यदि यह किया जाय कि वह (चित्त) किसी अन्य के द्वारा ग्राह्य नहीं है, तो उसे स्वप्रकाश मानने मे आत्माश्रय दोष न होगा। जिस प्रकार “आकाश स्वात्मप्रतिष्ठ है”—यह कहने से वह किसी अन्य पर आश्रित नहीं है—केवल यही अर्थ द्योतित होता है, उसी प्रकार चित्त स्वाभास है, इस उक्ति से यही अर्थ निकालना चाहिये कि वह अन्य किसी के द्वारा ग्राह्य नहीं है।

यदि उक्त रीति से चित्त की स्वप्रकाशता का अर्थ, अन्य से अग्राह्यता भी माने तो भी वह सिद्ध नहीं होती है। चित्त ग्राह्य है, यह नित्य प्रति चित्त व्यापार के अनुभवों से ही सिद्ध है। “मैं कुछ हूँ”, “मैं भीत हूँ”, अमुक व्यक्ति से मेरा राग है, अमुक के प्रति क्रोध है, इत्यादि चित्त की वृत्तियों से, चित्त और उसके परिणामों का नित्य ही भान होता रहता है। इससे सिद्ध होता है, कि चित्त बोध्य है। जो स्वाभास या स्वबोध होता है, वह अह प्रत्ययात्मक चेतन रूप मे पहिचाना जाता है। जो पदार्थ “मेरा है” इस प्रकार अनुभूत होता है, वह स्वयं बोध-रहित होता है। वह अन्य किसी चेतन द्वारा ग्राह्य अथवा जानने योग्य होता है। चित्त भी इसी प्रकार—“मेरा चित्त शान्त या घोर है” आदि-अनुभवों से बोध या दृश्य है।

यदि पुरुष की स्वप्रकाशता के विषय मे आत्माश्रय दोष की आशंका की जाय कि वह अपना विषय अपने आप कैसे करेगा तो वह व्यर्थ है, क्योंकि ज्ञान-

१ पात० यो० द०—हरिहरानन्द आरण्य—पृ० ३२५।

२ व्या० भा० सू० ४—१९।

क्रिया प्रकाश्य एव प्रकाशक उभयनिष्ठ संयोगजन्य है। दर्पण में प्रति-विम्बित स्वरूपदर्शन से आत्मा स्वरूप का ज्ञाता है। अतः पुरुषाकारा बुद्धिवृत्ति से संयुक्त होकर आत्म-ज्ञान सम्पन्न होने से आत्माश्रय दोष की आपत्ति नहीं होती है।

चित्त अपने स्वरूप तथा अपने विषय इन दोनों का एक साथ निश्चय नहीं कर सकता है। अतः स्वरूप एव विषय दोनों का युगपद् अवधारण न हो सकने से भी चित्त स्वाभास नहीं हो सकता है<sup>१</sup>। किसी एक ही व्यापार से दो विलक्षण कार्यों की उत्पत्ति नहीं हो सकती। कार्य-भेद-हेतु व्यापार-भेद भी अनिवार्य है। चित्त में जिस समय अपने विषयभूत बाह्यार्थाकारावृत्ति उदित होगी, उस समय स्वरूपाकारा वृत्ति का अभाव होगा। एक ही क्षण में दो विरुद्ध वृत्तियाँ वर्तमान नहीं रह सकती, फिर चित्त जिस विषय से सम्बद्ध होता है, उसी के आकार में परिणत हो जाता है। अतः उस समय विषयाकार में परिणत चित्त का अपना कोई भिन्न रूप ही न रह जायगा, जिससे उसका भिन्न ज्ञान हो। स्पष्ट है, कि चित्त एवं उसके व्यापारों का द्रष्टा कोई अन्य (पुरुष) ही है, जो उन सबका एक साथ ज्ञाता है।

किसी वस्तु से चित्त के उपराग होने पर प्रथम क्षण में तदाकारा चित्तवृत्ति से उसे वस्तु का ज्ञान होता है। पुनः द्वितीय क्षण में, “इस वस्तु का मैं ज्ञाता हूँ”—यह भाव उत्पन्न होता है—जैसे पट-साक्षात्कार-काल में प्रथम “यह पट है”, यह ज्ञान उद्भूत होता है, पुनः “मैंने पट को देखा या जाना”—इत्याकारक ज्ञातृभाव उत्पन्न होता है। चित्त के उक्त दोनों व्यापार परस्पर भिन्न तथा भिन्न-क्षण में उत्पन्न होते हैं, एक साथ नहीं। वैनाशिक मत में प्रत्येक पदार्थ क्षणिक है, अतः उनके मत में पदार्थ की क्रिया, कारक और कार्य एक ही माने गए हैं। तदनुसार चित्तवृत्ति क्षणमात्र स्थायी तथा निरन्वय है। अतः ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों की वे अभिन्न सत्ता स्वीकार करते हैं। उनका कथन है—

भूति—“भूतिर्येषां क्रिया सैव कारकः सैव चोच्यते”<sup>२</sup>

ज्ञाता, ज्ञान और ज्ञेय तीनों की सत्ता पृथक्-पृथक् है, यह पहिले भी प्रति-पादित किया जा चुका है तथा सर्वानुभव-सिद्ध है। रहा चित्त का क्षणिकत्व, तो

१. “एकसमये” चोभयानवधारणम्” (यो० सू० ४-२०)

२. द्रष्टव्य—यो० वा०, पातंजल रहस्य (४-२०)

क्षणिक चित्त मे, विभिन्न क्षणो मे ज्ञेय चित्त एवं तद्विषयो के ज्ञान को प्राप्त करने का सामर्थ्य ही नहीं है। कारण जिस क्षण मे चित्त अपने विषय का ज्ञान प्राप्त करेगा, उसमे तो वह अपना ज्ञान प्राप्त कर नहीं सकता। आगे द्वितीय क्षण में अपना ज्ञान प्राप्त करने के लिये वह रहेगा ही नहीं; क्योंकि उस चित्त के उसी क्षण मे नष्ट हो जाने से अन्य क्षण मे नवीन चित्त की उत्पत्ति होगी। इस नवीन चित्त का पूर्व चित्त से कोई सम्बन्ध न रहने से, वह यदि स्वरूप-प्रतिष्ठ होकर अपना ज्ञान प्राप्त करता है, तो उसे अपने अन्य विषयो का ज्ञान नहीं हो सकता। अतः क्षण-क्षण परिवर्तमान चित्त स्वप्रकाश नहीं हो सकता है। उसके ( परिवर्तनशील चित्त के ) लिये किसी निर्व्यापार साक्षी को स्वीकार करना पड़ेगा, जो नित्य-चेतन-अपरिणामी पुरुष ही है।

×

×

×

वैनाशिक मतानुसार क्षणस्थायी चित्त स्वप्रकाश नहीं हो सकता है, यह सिद्ध किया जा चुका है। पूनः यह कहा जा सकता है कि विनाशस्वभाव-चित्त स्वप्रकाश किये बिना नष्ट होकर भी उसके परवर्ती चित्त-द्वारा पूर्ववर्ती चित्त गृहीत हो सकता है। इस प्रकार उत्तरकाल में उत्पद्यमान चित्त से, उस (पूर्ववर्ती चित्त) का प्रकाश सम्भव है। अतः पुरुष की मान्यता व्यर्थ है। ऐसी स्थिति में एक चित्त को दूसरे चित्त का दृश्य स्वीकार करने पर उस द्वितीय चित्त के ज्ञान—हेतु तृतीय एवं चतुर्थादि अनेक चित्तान्तरो की कल्पना करनी पड़ेगी जिससे अनवस्था प्रसक्त होगी तथा स्मृतियो मे भी संकर हो जायेगा<sup>१</sup>।

सारांश यह है कि जब एक चित्त का ज्ञाता दूसरा चित्त होगा, तो उस दूसरे चित्त के प्रकाश हेतु तृतीय चित्त भी स्वीकार करना होगा, क्योंकि द्वितीय चित्त प्रथम चित्त का ज्ञान तो करा देगा, किन्तु अपना प्रकाश करने मे वह भी असमर्थ ही होगा। अतः द्वितीय चित्त के प्रकाश हेतु तृतीय चित्त एवं तृतीय चित्त के प्रकाश हेतु चतुर्थ, पचमादि अनेक चित्त स्वीकार करने होंगे। इस प्रकार प्रत्येक चित्त अपने प्रकाशन मे असमर्थ होने से, उत्तरोत्तर स्वीकार्य, इस चित्त-परम्परा का अन्त न होगा और अनवस्था प्राप्त होगी।

इसके अतिरिक्त यदि प्रथम चित्त का प्रकाशक द्वितीय चित्त और द्वितीय का प्रकाशक प्रथम चित्त माना जाय तब अन्योन्याश्रय दोष प्रसक्त होगा। यदि

१. "चित्तान्तरदृश्ये बुद्धिबुद्धेरतिप्रसंग स्मृतिसकरश्च"। (यो० सू० ४-२१)

द्वितीय चित्त के ज्ञातृरूप में तृतीय और इसी प्रकार चतुर्थ-पंचमादि चित्तों का क्रम स्वीकार किया जाएगा, तो उस प्रवाह का कहीं भी अन्त न होगा तथा अनवस्था भी प्राप्त होगी। प्रथम तो एक चित्त-द्वारा द्वितीय चित्त का द्रष्टृत्व ही कल्पित है, वास्तविक नहीं। कारण, दूसरा चित्त भी स्वाभास न होने से किसी का दृश्य है। फिर किसी भाँति इस कल्पना को भी मान ले, तो वर्तमान चित्त अतीत चित्त का द्रष्टा नहीं हो सकता, क्योंकि वह (अतीत) तो उत्तर (वर्तमान) चित्त की उत्पत्ति के पूर्व ही विनष्ट हो चुका है। वैनाशिक मत में प्रत्येक चित्त क्षणिक है। अतः पूर्व क्षणवर्ती चित्त नष्ट हो चुकने पर, उत्तर क्षणवर्ती चित्त की उत्पत्ति होगी। द्वितीय-क्षणवर्ती चित्त की वर्तमानावस्था में प्रथम चित्त विद्यमान ही नहीं होगा, फिर वह उसे विषय कैसे बनाएगा ? जब वह उसका विषय ही न बन सकेगा, तब उसके द्वारा प्रकाशित किस प्रकार होगा ? अतः एक-दूसरे के द्रष्टाभूत असंख्य वर्तमान चित्तों की कल्पना करनी होगी।

इस प्रकार असंख्य चित्तों की अविश्रान्त धारा से अनवस्था प्राप्त होने पर, उन चित्तों से अनुभूत अर्थज्ञान भी अव्यवस्थित हो जाएगा। इससे उक्त अनुभवजन्य स्मृतियों में सकर होगा अर्थात् किसी एक अनुभव का विशुद्ध स्मरणज्ञान न हो सकेगा। तात्पर्य यह है कि किसी भी विषय के अनुभवकाल में जितनी बुद्धियों की बुद्धियाँ अर्थात् जितने चित्तान्तरो के द्रष्टा चित्त होंगे, उतने ही उनके अनुभवजन्य ज्ञान होंगे। उन असंख्य ज्ञानों की उतनी ही असंख्य स्मृतियाँ भी होंगी।। जैसे किसी पुष्प के अनुभव जन्य ज्ञान से “मैं पुष्प को स्मरण करता हूँ”, ऐसी स्मृति उत्पन्न होती है, यह स्मृति केवल एक चित्त की है। जब उस चित्त के प्रकाशक चित्त तथा उसके भी प्रकाशक द्वितीय, तृतीय, चतुर्थादि चित्तान्तर होंगे, तो उनके सबके युगपद् अनुभव से उत्पन्न स्मृति इस प्रकार होगी कि “मैं घटज्ञान को स्मरण करता हूँ”, “मैं घटज्ञान के ज्ञान को स्मरण करता हूँ”, “मैं घट-ज्ञान के ज्ञान के ज्ञान के ज्ञान को स्मरण करता हूँ”। इस प्रकार जब असंख्य स्मृतियाँ एक साथ उत्पन्न होंगी, तो परस्पर सांकर्य प्राप्त होगा और यह निश्चय नहीं हो सकेगा कि कौन सा स्मृति-ज्ञान किस अनुभव से उत्पन्न है। अतः वैनाशिकों की दृश्य एवं द्रष्टाभूत चित्तान्तरो की कल्पना भी नितान्त अयुक्त प्रतीत होती है। इसके अतिरिक्त, इस प्रकार का स्मृति-सकर, सर्वज्ञा प्राप्त होने से, वह अनुभव-सामान्य के विरुद्ध भी है। अतः ज्ञान का प्रकाशक ज्ञानान्तर नहीं, वरन् स्वातंत्र्यसाक्षादिक एक कूटस्थ, निर्विकार चेतन आत्मा ही सबका भासक है।



वैनाशिक मतानुसार स्थायी आत्मा न मानने पर, उसके बन्ध-मोक्ष के सिद्धान्त भी अपोल-कल्पनामत्र सिद्ध होगे। क्योंकि बन्धन का कारण तो अनादि क्लेश, कर्मादि के अनुभव से वासित वासना है। जब चित्त क्षणमात्र में उत्पन्न होकर विनष्ट हो जाता है, तो उसमें अनादि वासना का सद्भाव भी असंगत होगा। क्षण स्थायी आत्मभूत चित्त के मोक्ष हेतु दीर्घकाल में माध्य योगसाधन का उपदेश भी उसी प्रकार उपहासास्पद है। अतः उक्त क्षणिक चित्त की आत्मस्वरूप में कल्पना सर्वथा अग्राह्य है। क्षणिक चित्त के सिद्धान्त की मान्यता से बौद्धों के मत में पूर्वोक्त दोषों के अतिरिक्त स्वमत-विरोध की भी प्राप्ति होती है। वे ससारकाल में क्षणिक विज्ञानरूप चित्त को ही आत्मा मानते हैं, पुनः उसी के द्वारा मलिन पंचस्कन्धों को त्याग कर, निर्वाणकाल में आर्हतिक शुद्ध पंचस्कन्धों का ग्रहण स्वीकार करते हैं। इससे उसका स्थायित्व सिद्ध होता है। अतः स्वमतविरोध की प्राप्ति होती है, अन्यथा मोक्ष के हेतु उद्यम करने वाला चित्त पूर्व क्षणों में ही नष्ट हो गया और मोक्ष मिला किसी अन्य ही चित्त को, यह कहना भी युक्तिसंगत नहीं है। मिष्ठान्न खाये कोई और तथा मधुरिमा का अनुभव किसी और को हो, यह तो सम्भव नहीं हो सकता है। ऐसा मानने पर अकृताभ्यागम और कृतविप्रणाश दोषों से ग्रस्त होने के कारण भी उक्त मत न्यायसंगत नहीं है।

इसी प्रकार शून्यवादी पंचस्कन्धों से महानिर्वेदरूप वैराग्य की प्राप्ति के हेतु तथा तज्जन्य पुनर्जन्माभावरूप प्रशान्ति की प्राप्ति-हेतु “मै गुरु के समीप ब्रह्मचर्याभ्यास करूंगा”, इस प्रकार का संकल्प करते हैं। फिर भी इस प्रकार जिस

---

१. पंचस्कन्धों के नाम हैं, विज्ञान, वेदना, सज्ञा, रूप तथा संस्कार।

(१) बौद्धमत में “अहं” प्रत्ययात्मक आलप-विज्ञान की धारा विज्ञान-स्कन्ध कहलाती है।

(२) सुख-दुःखादि का साक्षात्कार वेदना-स्कन्ध कहलाता है।

(३) “अयं देवदत्त” “अयं ब्राह्मण” “अहं गौरवर्ण”, इत्यादि विकल्पात्मक ज्ञान सज्ञा-स्कन्ध है।

(४) स्वविषय समेत इन्द्रियाँ रूप-स्कन्ध तथा

(५) रागद्वेषादि द्वान्दात्मक धर्म संस्कार स्कन्ध हैं।

ये पाँचों स्कन्ध मलिन और शुद्ध के भेद से दो-दो प्रकार के हैं। जब तक आत्मा (बुद्धि) उक्त सांसारिक मलिन स्कन्धों का अनुभव करती है, तभी तक बद्ध है। इनका परित्याग कर जब वह शुद्ध पंचस्कन्धों को अनुभव करता है तब उसका मोक्ष हो जाता है, ऐसी बौद्धों की मान्यता है।

आत्मस्वरूप की उपलब्धि द्वारा वे निर्वाण की प्राप्ति करते हैं, उस आत्मा को शून्य कह कर वे उसी का अपलाप करते हैं। इन मतों की अयुक्तता एवं अप्रमाणिकता भलीभाँति प्रदर्शित की जा चुकी है। अतः सांख्ययोगादि प्रकृष्ट मतों के अनुसार चित्त के भोक्ता एवं द्रष्टा निर्विकार, नित्य चेतन, पुरुष को ही आत्मा मानना सर्वथा युक्तिसंगत है। वही पुरुष स्वप्रकाशक है और उसी के प्रकाश से चित्त तथा उसके विषयों का प्रकाश भी होता है।

प्रकृत प्रसंग में भाष्यकार व्यास ने, जिन स्वमत विरोध तथा न्याय विरोध रूप दोषों को प्रदर्शित किया है, श्री विज्ञानभिक्षु ने अपने “योगवार्त्तिक” में, उन दोषों की सत्ता आधुनिक वेदान्तमत में भी दिखाई है। उनका कथन है कि शून्य-वादियों की भाँति वेदान्ती भी सम्पूर्ण जगत् को मिथ्या कहते हैं, साथ ही गुरु के निकट ब्रह्मचर्याभ्यासादि मोक्ष-साधनों की साधना भी स्वीकार करते हैं। किन्तु वेदान्त मत में उक्त दोषों के लिये अवकाश नहीं है, कारण-वेदान्त मत में “मिथ्या” शब्द का अर्थ “शून्य” (अभाव) नहीं, अपितु “व्यावहारिक” है। तदनुसार व्यवहार काल में गुरु, ब्रह्मचर्य, वेदाध्ययनादि समस्त साधन भी सत्य एवं सार्थक हैं। ( वस्तुतः मिथ्या वह है जो सत् एवं असत् से निर्वाक्त होने योग्य नहीं है, माया एवं जगत् दोनों ऐसे ही हैं )।

×

×

×

चित्त की स्वप्रकाशता का निराकरण करते हुए, स्वप्रकाश पुरुष को उसका साक्षी, स्वामी एवं भोक्ता बतलाया गया है। अतः शका होती है कि निष्क्रिय आत्मा में चित्त का भोक्तृत्व ( दर्शन-कर्तृत्व ) किस प्रकार संभव हो सकता है ? किसी विषय का ज्ञान, क्रिया एवं परिणाम द्वारा प्राप्त होता है। पुरुष निष्क्रिय और अपरिणामी है, फिर उसे चित्त एवं तद्विषयों का बोध किस प्रकार प्राप्त होता है ? इसका समाधान यह है कि सच्चा शून्य या निष्क्रिय पुरुष को, स्वप्रतिबिम्बित चित्त के साथ तादात्म्य प्राप्त होने पर अपनी विषय-स्वरूपा बुद्धि का ज्ञान होता है<sup>१</sup>। अतः अपरिणामी आत्मा का दर्शन-कर्तृत्व औपाधिक है, स्वाभाविक नहीं। वस्तुतः पुरुष न ज्ञाता है, न द्रष्टा है, न कर्त्ता है और न ही भोक्ता है।

निष्क्रिय एवं अपरिणामी-चित्तिशक्ति (पुरुष) का चैतन्य, जब जड़ चित्त में प्रतिबिम्बित होकर बुद्धि के साथ एकाकार सा हो जाता है, तो वह (चित्त) चेतनवत्

१ “चित्तेरप्रतिस्क्रमायास्तदारापतौ स्वबुद्धिसवेदनम्” (यो० सू० ४-२२)

प्रतीत होने लगता है। इस प्रकार बुद्धि-वृत्ति से तादात्म्य प्राप्त चेतन (पुरुष) ज्ञान-वृत्ति कहलाता है<sup>१</sup>। अतः उस अविशिष्टा बुद्धिवृत्ति अथवा चैतन्य के साथ अभिन्नता इव प्राप्त बुद्धिवृत्ति (चित्तवृत्ति) के द्वारा ही सम्पूर्ण विषयो का ज्ञान होता है। वस्तुतः चित्ति-प्रतिविम्बित चित्त ही, द्रष्टा, भोक्ता एव ज्ञाता होता है, शुद्ध चैतन्य नहीं।

जिस प्रकार निर्मल जल में सक्रान्त चन्द्र का प्रतिविम्ब स्वयं किसी प्रकार की क्रिया नहीं करता है, फिर भी जलीय तरंगों की हलचल से चन्द्र का प्रतिविम्ब भी चंचल सा प्रतीत होता है, उसी भाँति निष्क्रिय पुरुष में भी चित्त की उपाधि से वैकारिक द्रष्टृत्व, कर्तृत्व आदि का अभ्यारोप होता है।

---

१ “अपरिणामिनी हि भोक्तृशक्तिरप्रतिसक्रमा च, परिणामिन्यर्थे प्रतिसक्रान्तेव तद्वृत्ति-मनुपतति, तस्याश्च प्राप्तचैतन्योपग्रहस्वरूपाया बुद्धिवृत्तेः अनुकारमात्रतया बुद्धिवृत्त्य विशिष्टा हि ज्ञानवृत्तिराख्यायते।”—(व्या०भा०सू० १४-२२)

## (८) द्रष्टा एवं दृश्य से उपरंजित चित्त का स्वभाव ।

बाह्यार्थ एवं पुरुष दोनों ही चित्त से सर्वथा भिन्न सत्ताएँ हैं। फिर भी (बौद्धादि मतानुसार) चित्त में ही आत्मतत्त्व की अथवा बाह्यार्थ की भ्रान्ति क्यों होती है ? इस भ्रान्ति का कारण द्रष्टा (आत्मा) और दृश्य (बाह्यविषय) इन दोनों से उपरचित चित्त का स्वभाव है। चित्त में चेतन पुरुष का प्रतिबिम्ब पड़ता है और बाह्य जगत् का भी। इन दोनों से उपरक्त होकर ही चित्त सर्वार्थक अर्थात् ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीतृ सब प्रकार के विषयों का प्रकाशक होता है। जैसा कि सूत्रकार महर्षि पतंजलि की “द्रष्टृदृश्योपरक्त चित्तं सर्वार्थम्”<sup>१</sup>—इस उक्ति से भी अभिव्यक्त होता है।

गुणों का प्रथम विषम एवं सात्त्विक परिणाम चित्त, क्रियायुक्त, परिणामी एवं जड़ है। यह चित्त का अपना ग्रहण-स्वरूप है।

चित्त का यह स्वभाव है कि वह जिस विषय से उपरक्त होता है, उसी के आकार को धारण कर लेता है। चित्त जड़ है और किसी वस्तु के ज्ञान-हेतु चेतना आवश्यक है। अतः चेतन पुरुष से प्रतिबिम्बित होकर ही वह किसी वस्तु के आकार को ग्रहण करने में समर्थ होता है। जड़ चित्त में पुरुष का चैतन्य पड़ते ही (यह संयोग अनादि है। यह भूलना नहीं चाहिए) वह (चित्त) ज्ञानवान (व्यक्तीभूत ज्ञान का उत्पादक कारण प्रतीत होने लगता है। द्रष्टा से उपरजित चित्त का यही ग्रहीतृ रूप है। जिसके कारण चित्त में ही चेतन आत्मतत्त्व का भ्रम उत्पन्न होता है।

चिदाभासित चित्त का जिस बाह्यार्थ से सम्बन्ध होता है, उसी से उपरक्त होकर तदाकाराकारित हो जाता है। इससे भ्रान्त होकर क्षणिक विज्ञानवादी चित्तमात्र को सम्पूर्ण प्रपञ्च कहते हैं, अर्थात् विज्ञान (चित्त) से अतिरिक्त बाह्यार्थ की सत्ता स्वीकार नहीं करते हैं। चित्त का उक्त बाह्यार्थोपरक्तरूप ही उसका ग्राह्य-स्वरूप है। अतः ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता इन तीनों रूपों का भासक होने से द्रष्टा एवं दृश्य से उपरक्त चित्त सर्वार्थ होता है। चित्त का सर्वार्थग्राहक स्वभाव ही समस्त भ्रान्तियों का मूल है,

किसी भी वस्तु के ज्ञानकाल में चित्त के इन तीनों रूपों की भलक प्राप्त हो सकती है<sup>१</sup>। उदाहरणार्थ “पुष्पमहमनुभवामि”—इस अनुभव में “पुष्प” शब्द ग्राह्य विषय का, “अहम्” पद चेतन ग्रहीता का और “अनुभवामि” शब्द साक्षात्कार स्वरूप अनुभवात्मक चित्तवृत्ति (ग्रहण) का भासक है ! इसी से वह सर्वार्थग्राही है।

वस्तुतः ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता अर्थात् बाह्यार्थ, चित्त एवं पुरुष, तीनों सर्वथा भिन्न हैं। फिर भी पूर्वोक्त रीति से द्रष्टा एवं दृश्य से उपरंजित चित्त, चेतन और अचेतन उभयस्वरूप बन जाता है। वह अचेतन होने पर भी चेतन तथा स्वर्य (पुरुष का) विषयात्मक होने पर भी अविषयात्मक होने पर भासित होता है। जिस प्रकार रक्त एवं नील पुष्प के समीपस्थ स्फटिकमणि उन दोनों (पुष्पों) के प्रति-बिम्ब स्वरूप से तथा तीसरे अपने स्वरूप से इस प्रकार तृत्यात्मरूप से भासित होता है। उसी भाँति द्रष्टा एवं दृश्य से उपरक्त चित्त, ग्राह्य, ग्रहण (चित्त का अपना स्वरूप) आदि सम्पूर्ण अर्थों का ग्राहक बन कर सर्वार्थक सिद्ध होता है।

चित्रपट के दृष्टान्त से चित्त के इन तीनों रूपों को अत्यन्त स्पष्टतया समझा जा सकता है। शुद्ध सत्वात्मक (ग्रहणस्वरूप) चित्त सादा श्वेत पदे (सिनेमा स्क्रीन) की भाँति है। चित्त का चैतन्योपरक्तस्वरूप विद्युत् के आलोक से आलोकित चादर (सिनेमा स्क्रीन) की भाँति है। चित्त के चैतन्य से अप्रकाशित चित्त किसी भी बाह्य विषयाकार को ग्रहण करने में असमर्थ होता है। उसी प्रकार विद्युत् प्रकाश से अप्रकाशित श्वेत चित्रपट सिनेमा रील के चित्रों से चित्रित नहीं हो सकता है। विद्युत्-आलोक से आलोकित चित्रपट पर, सिनेमा रील का जो-जो चित्र सामने आता जाता है, चित्रपट उसी चित्र से चित्रित होता जाता है। विविध चित्रों से चित्रित जवनिका की भाँति ही चित्त का बाह्यार्थाकार ग्राह्यस्वरूप है। सिनेमा देखते समय चित्रपट, सिनेमा रील और विद्युत्-आलोक—ये तीनों एकाकार रूप से प्रतिभासित होते हैं। फिर भी उन तीनों की भिन्न सत्ताएँ हैं। चल-चित्र-प्रदर्शन के रहस्य से अनभिज्ञ लोग इस भेद को नहीं समझते हैं।

इसी प्रकार चित्त के ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीत्याकार का विवेक न समझने वालों को, चित्त में ही आत्मतत्त्व की, अथवा बाह्यार्थत्व की भ्रान्ति होती है। समाधि-जन्य साक्षात्कार से यह विवेक स्पष्ट हो जाता है। समाधि की अवस्था में भ्येय

१. द्र०—“योगभाष्यविवृति” (स्वामी ब्रह्मालीन मुनि, पृ० ८३२)

२. द्रष्टव्य—योग बा० ४-२३।

विषय, ध्यान और ध्याता तीनों भिन्न होते हैं। समाधिजन्य प्रज्ञा से अब “पौरुष प्रत्यय”<sup>१</sup> का साक्षात्कार होता है, तो उस प्रज्ञा का आलम्बन आत्मा से भिन्न सिद्ध होता है, अन्यथा यदि चित्त को ही आत्मा (पुरुष) और प्रज्ञा सब कुछ मानें तो प्रज्ञा के द्वारा ही प्रज्ञा का किस प्रकार निश्चय होगा ? प्रज्ञा स्वयमेव प्रज्ञा का आलम्बन नहीं हो सकती है, अर्थात् आत्माश्रय दोष की उत्पत्ति होगी। जिस विषय का प्रतिबिम्ब चित्त में पड़ता है, वह उसी के आकार में परिणत होता है। यदि चित्त से भिन्न पुरुष की सत्ता ही न होगी, तो चित्त में उसका प्रतिबिम्ब कहाँ से पड़ेगा ? उक्त रीति से भी पुरुष का भिन्न अस्तित्व सिद्ध होता है।

ग्राह्य, ग्रहण और ग्रहीता का जातिः उक्त भेद जानने वाले ही सम्यग्दर्शी हैं। वे ही समाधि द्वारा पुरुष-साक्षात्कार के अधिकारी हैं। वे ही पुरुष-साक्षात्कार के अनन्तर चित्त के प्रति-प्रसव-द्वारा कैवल्य का लाभ करते हैं।

×

×

×

पुरुष की स्वतन्त्र सत्ता प्रमाणान्तर से भी सिद्ध होती है। चित्त में चेतनता की भ्रान्ति द्रष्टा एव दृश्य से उपचितस्वभाववश होती है, यह सम्यक्, प्रदर्शित किया जा चुका है। इतने पर भी यदि वैनाशिक यह कहे कि जब समस्त व्यवहार चित्त के ही व्यापार से होते हैं, तथा असंख्य वासनाओं का आश्रय भी वही है, तो द्रष्टा प्रमाणशून्य है और चित्त ही भोक्ता है, यही मानना चाहिये।

वैनाशिक पक्ष की उक्त शका भी अयुक्त ही है, क्योंकि वह (चित्त) सहत्यकारी होने से असंख्य वासनाओं से चित्रित होने पर भी परार्थ (पुरुष के अर्थ) है<sup>२</sup>।

यद्यपि चित्त असंख्य वासनाओं से विचित्र है, अतः उसी को भोक्ता मानना चाहिये, क्योंकि वासना का आश्रय ही भोग का आश्रय भी होता है, ऐसा नियम है। किन्तु चित्त स्वयं ही मिलजुल कर कार्य करने वाला होने से दूसरे के अर्थ है। तात्पर्य यह है कि चित्त स्वयं ही अपने लिये नहीं, वरन् पुरुष के भोग एवं मोक्ष के सम्पादनार्थ है। अतः जिसके लिये भोग एवं मोक्ष का सम्पादन होगा, वह पुरुष ही भोक्ता होगा, न कि स्वयं चित्त। चित्त दूसरे के लिये ही है इस बात का प्रमाण उसका सघातकारित्व है। जितने भी सघात हैं अथवा जितने भी पदार्थ मिल-जुल

१. पौरुष प्रत्यय के स्पष्टीकरण हेतु “विविध समयो का ज्ञान” शीर्षक में सू० ३/३५ की व्याख्या देखना चाहिये।

२. “तदसंख्येयमवासनाभिस्त्रिमपि परार्थ सहत्यकारित्वात्” (यो० सू० ४-३४)

कर कार्य करने वाले है, वे सब परार्थ होते हैं<sup>१</sup>। जैसे गृह, शैय्या आसनादि सहत्य-कारी होने से अपने लिये नहीं, वरन् असहत्यकारी पुरुष या गृहस्वामी के उपभोग-हेतु होते हैं। चित्त भी त्रिगुण-सघातस्वरूप होने अथवा विषय तथा इन्द्रियादि के साथ मिलजुल कर कार्य करने वाला होने से परार्थ है।

आपत्ति की जा सकती है कि सघात-परार्थत्व में जिन शैय्या, आसनादि का दृष्टान्त दिया गया है, वे भी तो तत्वो एव अवयवसघातरूप शरीर के ही उपभोग-हेतु हैं, त्रिगुणादि से भिन्न शुद्ध, चेतन पुरुष के लिये तो नहीं। इस विषय में यही कहना है कि “चित्ताहंकारादयः परार्थाः सघातत्वात् शयनासानादिवत्”,<sup>२</sup> इत्यादि अनुमान में “सघातत्व” का साहचर्य या अन्वय-व्याप्ति “परार्थत्व” मात्र के साथ है। चित्त के सहत्यकारी होने से उसकी परार्थता मात्र का अनुमान होता है, ‘सहन पर-पुरुष के लिये होने’ का नहीं। किसी दृष्टान्त में प्राप्त होने वाले प्रत्येक धर्म का दार्ष्टान्तिक (प्रस्तुत विषय या पक्ष) में अनुमान लगाने से तो अनुमान किसी प्रकार ठीक हो ही नहीं सकता है<sup>३</sup>।

इस प्रकार मिल-जुलकर कार्य करने वाला चित्त अपने ही लिये भोग एव मोक्षरूप अर्थ का सम्पादन करने योग्य नहीं है। सुख-दुःखरूप भोगात्मक चित्त सुख दुःख रूप भोगात्मक चित्त के लिये नहीं होता है। इसी प्रकार ज्ञान अर्थात् अपवर्ग चित्त-ज्ञानार्थ अर्थात् चित्त के अपवर्गार्थ नहीं होता है। तात्पर्य यह है कि चित्त अपने ही लिये भोग एव मोक्ष का सम्पादन नहीं करता है। प्रवृत्तिशील चित्त भोग एव निवृत्तिशील चित्त मोक्ष कहलाता है। अतः भोग एव मोक्ष स्वरूप

१. “संघातपरार्थत्वात् त्रिगुणादि विपर्ययादधिष्ठानात्।

पुरुषोऽस्ति भोक्तृभावात् कैवल्यं “प्रवृत्तेश्च ॥” (ईश्वरकृष्णसाख्यकारिका न० १७)

२. सां० त० कौ० (का० १७)

३. ‘Because there can scarcely be found any two occurrences in nature which could be quite identical. Even in the stock example of the Laiyayikas—‘Fiery, because smoking, as the culinary hearth’—we have a dissimilarity between the subject-matter of the syllogism and the instance cited. Thus, in the culinary hearth, the fire is for cooking food, and proceeding from a house made by men, etc. etc., whereas such is not the case with the fire in the mountain’.

द्रष्टव्य—डू० भा कृत अनुवाद, पृ० ४४, (भूमिका खण्ड) फुटनोट २।

चित्त अपने ही लिये भोग एवं मोक्ष का सम्पादन करता है, ऐसा कहने से अपनी ही वृत्ति से विरोध प्राप्त होने पर आत्माश्रय दोष प्रसक्त होगा ।

इन सब युक्तियों के आधार पर चित्त से अन्य, चेतन पुरुष के लिये ही भोग एवं अपवर्ग की सिद्धि होती है । साथ ही जो चेतन पुरुष भोग एवं मोक्षरूप प्रयोजन वाला है, वही “पर” है, कोई सामान्यमात्र अर्थात् चित्त की ही भाँति दूसरा संहत्यकारी चित्तरूप पदार्थ नहीं है ।

वैनाशिक मत में चित्त ही आत्मा है । अतः वे संहत्यकारी चित्तान्तर को ही पूर्वचित्त से भोगापवर्ग द्वारा प्रयोजनवान् स्वीकार करते हैं । इस प्रकार एक संधात को दूसरे संधात के प्रति प्रयोजन-युक्त मानने पर तो इस परम्परा का कभी अन्त न होगा, क्योंकि संधात परार्थ ही होता है, यह प्रतिपादित किया जा चुका है । अतः संधातपरार्थत्व की अविश्रान्त परम्परा माननी पड़ेगी, जिससे अनवस्था दोष प्राप्त होगा । साथ ही जिसके हेतु चित्त, भोग, एवं मोक्ष का सम्पादन करता है, वह यदि पुरुष माना जायगा तो उक्त दोष का भी प्रसंग नहीं आयेगा । कारण पुरुष असंहत्यकारी है । अतः यह अन्य किसी के प्रति प्रयोजनयुक्त नहीं है । फिर सांख्य-योग के मत में चित्त जड़ है । अतः उसके द्वारा सम्पादित भोग एवं मोक्ष का फल-भोक्ता, चित्त से अन्य चेतन पुरुष ही सिद्ध होता है । वही एकमात्र निरवयव भी है ।

---



## (९) विशेष सत्य को देखने वाले का आत्मभाव

विगत तीन शीर्षको मे चित्त एवं चिति की भिन्नता का निरूपण किया गया है। सम्प्रति योग-साधना के लक्ष्यभूत कैवल्योपयोगी चित्त अर्थात् कैवल्य के अधिकारी चित्त का निर्णय किया जाएगा।

चित्त एव चिति (पुरुष) सर्वथा भिन्न है, इस सत्य का अब तक केवल युक्तियों के आधार पर ही प्रतिपादन किया गया है, किन्तु आत्मा का वास्तविक स्वरूप युक्तियों-द्वारा ज्ञेय नहीं है। वह अनुभव का विषय है। अतः इस सत्य का विशेष, दर्शन, अर्थात् चित्त से भिन्न पुरुष-स्वरूप का साक्षात्कार, समाधि का ही विषय है। जिन्होंने विवेकख्याति द्वारा इस सत्य का प्रत्यक्ष किया है, वे विशेष दर्शी (विशेष सत्य को देखने वाले) हैं। अतः विशेष सत्य को देखने वाले की ही आत्मभाव विषयक जिज्ञासा निवृत्ति होती है<sup>१</sup> अर्थात् विवेकज्ञान होने पर योगी शुद्ध आत्मभाव (आत्मा के यथार्थस्वरूप) में स्थित होता है<sup>२</sup> अतः आत्मा का क्या स्वरूप है, यह जिज्ञासा शान्त हो जाती है।

आत्मस्वरूप-विषयिणी जिज्ञासा ही आत्मभाव-भावना है। जैसे अपने वास्तविक स्वरूप विषयक सत्ता को जानने की अभिलाषा—कि “मैं कौन हूँ? पूर्व जन्म मे मैं कौन था?”—“वर्तमान समय मे मेरा वास्तविक स्वरूप क्या है?” “भविष्य मे क्या होगा?” “मेरा शरीर किन तत्वों से बना है?” “यह भूतो का कार्य है, अथवा भूतो से भिन्न है?” शरीरस्थ कौन सा तत्व आत्मा कहलाता है? उसे कैसे जाना जा सकता है? इत्यादि, आत्म-तत्त्वज्ञान विषयिणी जिज्ञासा ही आत्मभाव-भावना कहलाती है। आत्मभाव विषयक यह जिज्ञासा प्राणी मे अनादिकाल से है। विवेकख्याति के द्वारा जब इस रहस्य का विशेष रूप से उद्घाटन हो जाता है, तब शुद्ध आत्मभाव में स्थिति प्राप्त होती है। अतः यह जिज्ञासा भी निवृत्त हो जाती है।

---

१. “विशेषदर्शन. आत्मभावभावना विनिवृत्ति” (यो० सू० ४-२५)

२. चित्त की वर्तमानता मे पुरुष का शुद्धतम साक्षात्कार विवेकख्याति की पूर्णवस्था मे होता है। परन्तु शुद्ध पुरुष स्वरूप मे स्थिति कैवल्य-दशा मे चित्त न रहने ही पर ही सम्भव है।

उक्त आत्मभाव-विषयिणी जिज्ञासा जिसके अन्दर विद्यमान है, वही आस्तिक है। वही योगसाधना के द्वारा विवेकख्याति एवं कैवल्य-प्राप्ति का अधिकारी होता है। जिस मनुष्य में उक्त तत्त्वज्ञान विषयक जिज्ञासा नहीं होती है, वह नास्तिक है और विवेकज्ञान तथा कैवल्य का अनधिकारी है<sup>१</sup>। ऐसे अनधिकारी व्यक्ति आत्म-साक्षात्कार नहीं कर सकते। अतः उनकी आत्मानुसन्धान विषयक जिज्ञासा भी कभी निवृत्त नहीं होती है। आत्मभाव के जिज्ञासु को पहिचानने के लिये भाष्यकार व्यास ने निम्न लक्षण बतलाए हैं : —

जिस प्रकार वर्षा ऋतु में तृण के अकुरो की उत्पत्ति से, भूमि में उसके बीज की सत्ता अनुमित होती है, उसी प्रकार मोक्षमार्ग की चर्चा सुनते ही किसी व्यक्ति के रोमांच तथा अश्रुपात को देख कर, उसके अन्दर विशेष दर्शन के बीज का अनुमान होता है।

भाव यह है कि उस व्यक्ति ने पूर्व जन्म में मोक्ष के हेतुभूत विवेकज्ञान के लिये थोड़ा-बहुत साधन-अनुष्ठान किया है, यह अनुमान होता है।

ऐसे व्यक्तियों में आगे स्वाभावतः आत्मानुसन्धान की प्रवृत्ति जागृत होती है, जिससे वे तत्त्वज्ञान के हेतु योग साधना में अग्रसर होते हुए, अन्त में विवेकज्ञानो-परान्त कैवल्य प्राप्त करते हैं।

विशेष सत्य को देखने वाले विवेकज्ञानी की आत्मभाव की भावना इसलिये निवृत्त हो जाती है, क्योंकि उसे आत्मा की सत्ता का पृथक् रूप से ज्ञान हो जाता है। इससे उसे शरीर, चित्तादि में आत्मतत्त्व का भ्रम नहीं रहता है। अतः उसकी स्वरूप-विषयक जिज्ञासा भी निवृत्त हो जाती है। विशेष दर्शन-द्वारा समस्त अनात्म पदार्थों से योगी की आत्म-भावना निवृत्त हो जाती है। अतः वह अवस्था भी अत्यन्त उत्कृष्ट ज्ञान एवं आनन्द की अवस्था है।

आत्मिक स्तर की चेतना में अन्तर्निहित इस सर्वोत्तम आनन्द एवं ज्ञान की इच्छा निम्नस्तरीय इच्छाओं को नष्ट एवं बहिष्कृत कर देती है और योगी को प्रकृति के क्षेत्र में सम्भावित आत्मप्रकाश से उच्चतम स्तर पर ले आती है, किन्तु अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति में इन ज्ञान और आशीः की प्राप्ति भी बन्धन का कारण हो सकती है, अतः चरम लक्ष्य की उपलब्धि से पूर्व उन्हें छोड़ ही देना पड़ता है।

उच्चतर स्तर की प्राप्ति के लिये निम्नस्तर के परित्याग की अनिवार्यता जीवन का एक मौलिक आधारभूत नियम है<sup>१</sup>।

विशेष-दर्शन से विवेक-ज्ञान-निष्ठ योगी का चित्त विवेकप्रवण एवं कैवल्य-भिमुख हो जाता है<sup>२</sup>। विवेक-ज्ञाननिष्ठ चित्त सतत विवेक प्रत्ययो में ही संचारशील रहता है तथा कैवल्य के आसन्न होता जाता है। प्रकृतसूत्र में चित्त को “विवेक-निम्न” तथा “कैवल्यप्राग्भार” बतलाया गया है विवेक निम्न का अर्थ है विवेक की ओर झुका हुआ या विवेक की ओर ढाल।

किसी ढाल के बाद जिस उच्च प्रदेश में जल का प्रवाह अवृद्ध हो जाय, उस प्रदेश को प्राग्भार कहते हैं। अतः जलप्रवाह को अन्तिम सीमा उक्त प्रकार का प्राग्भार है। यहाँ पर विवेकनिष्ठ चित्त को ढाल पर प्रवाहशील जल की उपमा दी गई है, जिसकी अन्तिम सीमा कैवल्य होती है। जिस प्रकार ढाल भूमि पर बहता हुआ पानी का प्रवाह किसी प्राग्भार में जाकर सूख कर समाप्त हो जाता है, उसी प्रकार योगी का चित्त जो पहले बहिर्मुखतया अज्ञानमार्ग का संचारी था, विवेक-ज्ञानोपरान्त निम्नाभिमुख जल की भाँति निरन्तर विवेकख्याति में प्रवाहित होता हुआ, उस कैवल्य की ओर अग्रसर होता है, जो उसका प्राग्भारस्वरूप है। कैवल्यप्राग्भार में पहुँच कर विवेक प्रत्ययात्मिका वृत्ति भी विलीन हो जायगी। बात यह है कि कैवल्य के पूर्व चित्त की अन्तिम वृत्ति विवेकख्याति ही होती है।

वाचस्पति मिश्र ने इस सूत्र की विशेष व्याख्या नहीं की है। विवेकदर्शी का चित्त किस प्रकार का होता है, यह इस सूत्र में बतलाया गया है। इतना बतला कर “निगदव्याख्यातम्” लिख कर इस सूत्र को उन्होंने छोड़ दिया है। स्वामी हरिहरानन्द आरण्य ने “भास्वती” में इससे अग्रिम सू० (२७) को “सुगममन्यत्” कह कर उसकी व्याख्या नहीं की है।

इस सूत्र के व्याख्यान में श्री टैमनी लिखते हैं—“अनुभव-द्वारा योगी को जब आत्मभाव की अपर्याप्तता का अनुभव होता है, तो वह आत्मिक स्तरीय आनन्द एवं ज्ञान के परित्याग-द्वारा, इस अन्तिम बेड़ी को भी तोड़ने का दृढ़ निश्चय कर लेता है। तदुपरान्त उसके सभी प्रयत्न अविद्या के उस अन्तिम आवरण के एकमात्र भेदक, तीव्र विवेकज्ञान के दृढ़ अभ्यास-द्वारा कैवल्य-प्राप्ति हेतु ही होते हैं।

१. साइन्स आफ योग—आई० के० टैमनी—पृष्ठ ४२७।

२. “तदाविवेकनिम्न कैवल्यप्राग्भार चित्तम्” (यो० सू० ४/२६)

मुक्ति के इस अन्तिम संघर्ष में प्रयुक्त शस्त्र विवेक और वैराग्य है, जिनसे योगी को आत्मा की झलक प्राप्त हो गई है। दृढ अभ्यास-द्वारा योगी को अविच्छिन्न विवेक-प्रवाह-रूप धर्म से समाधि प्राप्त करनी है और उन्हीं विवेक और वैराग्य के द्वारा इस वृत्तिमार्ग को छोड़ देना है<sup>१</sup>।

विवेकज्ञानी का चित्त समाहित होकर सतत् विवेकप्रवाही हो जाता है। फिर विवेकी पुरुष के द्वारा भी निष्ठाटन, स्नान-शौचादि का व्यवहार देखा जाता है, वह किस प्रकार सम्भव होता है, क्योंकि विवेकेतर-व्युत्थानप्रत्ययोत्पत्ति बिना उक्त व्यापार असम्भव है।

इस विषय में यह स्मरणीय है कि विवेकनिष्ठ चित्त अधिकांश में विवेक-मार्ग-संचारी रहने पर भी जब तक पूर्वानुभूत संस्कारों का पूर्णतः क्षय नहीं हो जाता, तब तक उसमें प्रत्यान्तरो की उत्पत्ति यदा-कदा होती ही रहती है। विवेक-ज्ञान हो जाने पर भी समस्त संचित संस्कार एक साथ ही नष्ट नहीं हो जाते हैं। उनका सम्यक् नाश विवेक-संस्कारों के संचय के क्रमानुसार ही होता है। अतः विवेक-प्रवाही चित्त के अन्तरालों में भी व्युत्थानसंस्कारों की उत्पत्ति पूर्वसंस्कारों से होती रहती है<sup>२</sup>। समाधि के अन्तरालवर्ती व्युत्थान-संस्कारों-द्वारा पूर्वोक्त व्यापार भी जब-तब होते रहते हैं। जब तक योगी पूर्व संस्कारों को सर्वथा क्षीण करके मुक्त नहीं हो जाता, तब तक समाधि से व्युत्थित अवस्था में उक्त अनात्म प्रत्यय अवश्य ही उत्पन्न होते रहते हैं। इन प्रत्यान्तरो से योगी को “मैं हूँ”, “मैं जानता हूँ”, अथवा “यह वस्तु मेरी है”—इस प्रकार का अविवेकात्मक ज्ञान उत्पन्न होता रहता है<sup>३</sup>।

उक्त अनात्म संस्कार विवेक ख्याति की अपरिपक्वावस्था में उत्पन्न होते हैं, क्योंकि अनादि जन्मों-द्वारा संचित क्लेश-वासना के संस्कार अभी अधिक प्रबल हैं। अतः उनकी अपेक्षा अल्पकाल में सम्पादित विवेक-संस्कार दुर्बल होने से वे कभी-कभी व्युत्थान-संस्कारों से आक्रान्त हो जाते हैं। विवेक-ख्याति की “सप्तधा प्रान्तभूमिप्रज्ञा” प्राप्त हो जाने पर अन्य अनात्म संस्कार विवेकाग्नि के द्वारा दग्ध बीजतुल्य हो जाते हैं। अतः विवेक की परिपूर्णावस्था में प्रत्यान्तरो की उत्पत्ति नहीं होती है।

१ साइन्स आफ योग—पृ० ४२८-४२९।

२. “तच्छिद्रेषु प्रत्यान्तराणि संस्कारेभ्यः” (यो० सू० ४/२७)

३. द्रष्टव्य—व्या० भा०, तत्त्व०, वार्तिक आदि (सू० ४/२७)

विवेकप्रत्यय के मध्य उत्पन्न होने वाले उन व्युत्थानसंस्कारों की निवृत्ति (हान) क्लेशों की निवृत्ति के तुल्य करनी चाहिये<sup>१</sup> । अर्थात् जिन उपायों से क्लेशों को नष्ट किया जाता है,<sup>२</sup> उन्हीं उपायों से इन व्युत्थान-संस्कारों को भी नष्ट करना चाहिये ।

विवेकख्याति के द्वारा समस्त क्लेश क्षीण होकर, दग्ध बीजतुल्य होने पर, पुनः अप्ररोहसमर्थ बनते हैं । इसी प्रकार-विवेकजन्य संस्कारों-द्वारा व्युत्थान-संस्कारों का क्षय होता है और दृढतर अभ्यास एवं वैराग्य-द्वारा परिपुष्ट विवेक संस्कार संचित होते हैं । उस प्रबल विवेकाग्नि में अन्तन्त समस्त व्युत्थान-संस्कार भी दग्ध-भावापन्न हो कर, पुनरुत्थान में अशक्त हो जाते हैं । विवेकख्याति वृत्ति है । यह परम सात्त्विक वृत्ति है । अतः इसके अभ्यास एवं इतर वृत्तियों से वैराग्य-द्वारा रजोगुणी, तमोगुणी क्लिष्टा वृत्तियों का नाश किया जाता है । इस वृत्ति से विवेक के संस्कार बनते हैं । उन संस्कारों के संचय से व्युत्थानावस्था की वृत्तियों के संस्कार क्षीण किये जाते हैं । विवेक के संस्कार जब इतनी मात्रा में संचित हो जाते हैं कि व्युत्थान-संस्कारों को पूर्ण अभिभूत कर सकें, तब वे ( व्युत्थान-संस्कार ) भी दग्ध-भावापन्न हो जाते हैं । इससे उन दग्धभावसंस्कारों द्वारा पुनः अविवेकात्मक वृत्तियों का उत्थान नहीं हो सकता है । अतः इस अवस्था में विवेक-निम्न चित्त के मध्य व्युत्थान-प्रत्ययों का आविर्भाव नहीं होता है । अर्थात् अविच्छिन्नविवेक-स्रोत प्रवाहित रहता है । पुनः विवेकज्ञान के संस्कार, चित्ताधिकार की समाप्ति पर्यन्त, वर्तमान रहते हैं । चित्तलय के साथ वे स्वतः विलीन हो जाते हैं । अतः विवेक-संस्कारों के क्षय हेतु किसी ध्यान-चिन्तन की आवश्यकता नहीं है ।

हाँ, विवेक-ख्याति स्वयं वृत्ति है । जब तक चित्त की वृत्ति ( व्यापार ) वर्तमान है, तब तक उसका विलय नहीं हो सकता है । विवेक-वृत्ति के नाश हेतु उससे वैराग्य का अभ्यास यत्नपूर्वक करणीय है । उस पर वैराग्य के अभ्यास से निरोध-संस्कार संचित होंगे । निरोध-संस्कारों से विवेकख्याति भी निरुद्ध होकर चित्तलय के साथ-साथ विवेकसंस्कारों का स्वतः विलय हो जायगा ।

—०००—

१ “हानमेवां क्लेशवदुक्तम्” (यो० सू० ४/२६)

२. द्रष्टव्य-योगसूत्र, २/१०-११ ।

## (१०) धर्ममेघ समाधि की उपलब्धि क्लेश-कर्मों की निवृत्ति ।

व्युत्थान-संस्कार समाधि के विरोधी है। उन्हे तीव्र विवेक-ज्ञान की अग्नि से दग्ध किया जाता है। परन्तु विवेकज्ञान ही योगी का अन्तिम लक्ष्य नहीं है, चरम लक्ष्य तो कैवल्य है, जिसकी प्राप्ति के हेतु विवेक-ख्याति के अभ्यास से विरक्त होना अनिवार्य है। विवेक-ज्ञान भी उसी योगी के चित्त में निरन्तर प्रवाहित होता है, जो उससे विरक्त होकर आगे बढ़ने के लिये प्रयत्नशील है। उसी अवस्था में धर्ममेघ समाधि की उपलब्धि होती है। अतः प्रसंख्यान अर्थात् विवेक-ज्ञानाभ्यास (तथा तज्जन्य सर्वज्ञातृत्वादि सिद्धियो) से भी सर्वथा लिप्साशून्य योगी को अविच्छिन्न विवेकख्याति होने से धर्ममेघ समाधि की सिद्धि होती है<sup>१</sup>।

### प्रसंख्यान—

परस्पर विलक्षण-स्वभाव छद्मीसो तत्वो का यथा साक्षात्कार, प्रसंख्यान कहलाता है। सत्त्व एव पुरुष का भेद-ज्ञान उसकी चरम सीमा है। जिस अवस्था में प्रत्ययान्तरो की उत्पत्ति न होने से, “अविप्लवा विवेकख्याति” का उदय होता है, वह परम-प्रसंख्यान कहलाता है<sup>२</sup>। वही धर्ममेघसमाधि है। प्रस्तुत स्थल में “प्रसंख्यान” शब्द से स्वल्पनशून्य सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति का अर्थ ही ग्राह्य है, क्योंकि धर्ममेघ समाधि में सत्त्वपुरुषान्यथाख्याति मात्र का निरन्तर आभास होता है। यह विवेक ज्ञान तथा सम्प्रज्ञातसमाधि की चरमावस्था है। जब सत्त्व-पुरुषान्यथाख्याति से ही वैराग्य हो जाएगा, तो प्रारंभिक प्रसंख्यान से वैराग्य का कथन तो स्वतः ही आक्षिप्त हो जाएगा। यही अर्थ वाचस्पति, विवरणकार शंकर, विज्ञानभिक्षु, नागोजीभट्ट, सदाशिवेन्द्र सरस्वती प्रभृति विद्वानों को अभिप्रेत प्रतीत होता है<sup>३</sup>।

भोज, रामानन्दयति एवं अनन्त पंडित ने “प्रसंख्यान” पद से साधारण तौर पर क्रमिक तत्त्वसाक्षात्कार का अर्थ ग्रहण किया है<sup>४</sup>, किन्तु यहाँ पर सामान्य

१ ‘प्रसंख्यानेऽप्यकुसीदस्य सर्वथाविवेकख्यातेर्धर्ममेघ समाधि ।’ (यो० सू० ४-२६)

२ द्रष्टव्य—व्या० भा० १-२ ।

३. द्रष्टव्य-तत्त्व०, भा० विव०, यो० वा०, नागो० वृ०, यो० सु० आदि (सू० ४/२६)

४. द्रष्टव्य भो० वृ०, मणिप्रभा, यो० च० (४/२६)

प्रसख्यान नहीं, “परम प्रसख्यान” का अर्थ ग्रहण करना अधिक युक्तिसंगत प्रतीत होता है। यह ऊपर प्रदर्शित किया जा चुका है। भास्वतीकार श्री हरिहरानन्द आरण्य ने यहाँ पर सूत्रस्थ प्रसख्यान शब्द का, विवेकख्याति-नन्य सार्वज्ञ सिद्धि (३५४) अर्थ किया है<sup>१</sup>, उससे भी यहाँ पर परम प्रसख्यान की ही अभिव्यञ्जना होती है।

**अकुसीद :—**

“कुसे रू” इत्यादि, उणादि ४/सू० ११३ के अनुसार “कुसीद” शब्द का अर्थ सलग्नतारूप मनोभाव है। अतः श्लेषणार्थक “कुस्” धातु से निष्पन्न “कुसीद” शब्द का अर्थ हुआ राग। वैसे राग के अर्थ में “कुसीद” का प्रयोग प्रसिद्ध नहीं है। “कुत्सितेषु विषयेषु सीदतीति कुसीदो रागः,” तद्रहितः अकुसीदः, विरक्तः<sup>२</sup>, इस व्युत्पत्ति के अनुसार “अकुसीद” का अर्थ है विरक्त। अतः प्रसख्यान में विरक्त व्यक्ति को धर्ममेघ समाधि की प्राप्ति होती है। सूत्र में विरक्त शब्द का प्रयोग न कर, “अकुसीद” शब्द का प्रयोग क्यों किया गया इसमें भी एक विशेष प्रयोजन निहित है। ऋण देकर धनवृद्धि की लिप्सा से मूलधन पर प्रतिमास व्याज लेने वाले व्यक्ति को तथा व्याज (सूद) को भी कुसीद कहते हैं। इसी प्रकार प्रकृत स्थल में विवेक के व्याज से सर्वभावाधिष्ठातृत्व एव सर्वज्ञातृत्वरूप सिद्धियों में रागवान् के लिये कुसीदत्व की कल्पना की गई है। विवेकजा सिद्धि की फलस्वरूपा इन सिद्धियों से लिप्साशून्य या विरक्तयोगी को अकुसीद सज्ञा दी गयी है। अतः जो योगी परम प्रसख्यान-स्वरूपा विवेकख्याति से भी, उक्त सिद्ध्यदि रूप फल की आकांक्षा नहीं करता, प्रत्युत, परिणाम रूप दोषदर्शन पूर्वक, उस विवेकख्याति से भी विरक्त होता है, उसको विप्लव-शून्य विवेक-साक्षात्कार होने से धर्ममेघ समाधि प्राप्त होती है, यह सूत्रार्थ हुआ।

धर्ममेघ समाधि की अवस्था में प्रत्यान्तर की उत्पत्ति किञ्चितमात्र भी नहीं होती है। विवेकनिम्न चित्त की अवस्था से धर्ममेघ समाधि की अवस्था में यही भेद है। विवेकख्याति की चरम अवस्था में जब व्युत्थान-बीजो का सर्वथा दाह हो जाता है, अन्य प्रत्ययो की उत्पत्ति की सम्भावना ही नहीं रहती, तभी अविरल विवेकप्रवाहरूप धर्ममेघ समाधि का आविर्भाव होता है।

विवेकख्याति द्वारा आत्मस्वरूप की उपलब्धि होती है। यह अत्युत्कृष्ट

१. भास्वती (४-२६) पात० यो० द०, सो० हरिहरानन्द आरण्य (पृ० २६५-३३७)

२. द्रष्टव्य—भास्वती, मणिप्रभा आदि टीकाएँ (४-२६)

अवस्था है, फिर इससे वैराग्य क्यों आवश्यक है ? इस प्रश्न का उत्तर यह है कि योगी का अन्तिम लक्ष्य है—चित्तलय द्वारा कैवल्य की प्राप्ति। योगी को केवल आत्मदर्शन की उपलब्धि नहीं आत्मस्वरूप में नित्य स्थिति प्राप्त करनी है। विवेक-वृत्ति कितनी ही सात्त्विक क्यों न हो, है तो वृत्ति ही। जब तक उस वृत्ति में राग वर्तमान है, वृत्ति नष्ट नहीं हो सकती। जब तक चित्त की वृत्ति वर्तमान है चित्त का लय नहीं हो सकता। जब तक चित्त का लय नहीं होता, कैवल्य की उपलब्धि नहीं हो सकती। कैवल्य प्राप्ति-हेतु विवेकख्याति रूप परम प्रसख्यान से भी वैराग्य होना अनिवार्य है।

इस अविरत विवेक प्रत्यय-प्रवाहिनी-समाधि में निरन्तर विवेक धर्म की वृष्टि होती है। अतः इस समाधि को धर्ममेघ समाधि कहते हैं।

“मिह सेचने” धातु से निष्पन्न “मेघ” शब्द का अर्थ होता है—“सिंचन करने वाला”। आकाशस्थ वारिद वृष्टि द्वारा जल का सिंचन करता है, अतः मेघ कहलाता है। एतत् सूत्रीय समाधि समस्त क्लेश कर्मनासिका विवेक-ख्याति से चित्त को सींचती है, या आप्लावित करती है, अतः मेघ पदवाच्य है। “अयं तु परमो धर्मो यद्योगेनात्मदर्शनम्”। योगी याज्ञवल्क्य की इस उक्ति के अनुसार योग द्वारा आत्मसाक्षात्कार रूप विवेक-ख्याति ही परम धर्म है। अतः “धर्मं विवेकख्याति मेहति वर्षतीति धर्ममेघः” अर्थात् विवेकख्याति रूप धर्म का अभिवर्षण करने वाली समाधि “धर्ममेघ” कहलाती है।

इस सूत्र में “धर्ममेघ” शब्द की व्याख्या करते हुए, श्री वाचस्पति एव विवरणकार शकर ने, सर्वथा विवेकख्याति प्रवाहित रहने से, इस समाधि को “धर्ममेघ” कहा है। इसका तात्पर्य यही है कि विवेकख्याति रूप धर्म का मेहन करने से वह समाधि धर्ममेघ कहलाती है। राघवानन्द सरस्वती “धर्ममेघ” शब्द का अर्थ परवैराग्य करते हैं। सम्प्रज्ञात की पूर्णविस्था में परवैराग्य का उदय होता है। विवेकख्याति में भी वैराग्य होना ही परवैराग्य है<sup>१</sup>। वही ज्ञानप्रसाद या ज्ञान की पराकाष्ठा भी है। धर्म-मेघ समाधि में सत्व-पुरुष<sup>२</sup> ख्याति से वैराग्य का अभ्यास सतत चलता रहता है। अतः निरन्तर परवैराग्य की वृष्टि का अर्थ भी ग्रहण किया जा सकता है।

१. १/८।

२. द्र०—“तत्पर पुरुषख्यातेर्गुणवैतृष्यम्” का० व्या० भा०—(सू० १-१६)।



वार्तिककार श्री मिश्र ने, क्लेशकर्मादि के निःशेष उन्मूलक धर्म की वर्षा करने वाली है—अतः यह समाधि धर्ममेघ कहलाती है—ऐसा अर्थ किया है। क्लेश कर्मों का अशेष उन्मूलन करनेवाला धर्म, विवेकख्याति ही है, यह अग्रिम सूत्र (४/२०) की व्याख्या से भी स्पष्ट हो जायेगा।

भोज ने धर्ममेघ समाधि को, प्रकृष्ट एव परम पुष्टार्थ साधक अशुक्ल अकृष्ण धर्म का सिचन करनेवाली बतलाया है। वह धर्म-विवेक-ख्याति ही है, यह भी उनके व्याख्यागत शब्दों से स्पष्ट हो जाता है। शका हो सकती है कि पहले विवेकख्याति से वैराग्य की आवश्यकता के प्रसंग में विवेकख्याति में परिणामदोष-दर्शन-पूर्वक वैराग्य बतलाया गया है। जो परिणाम-दोष से दूषित हो, वह धर्म अशुक्ल-अकृष्ण कैसे हो सकता है? इसका समाधान यह है कि विवेकख्याति के रागसहित अभ्यास से विवेक-प्रत्यय और पुण्य कर्माशय का सचय होता है, जिससे वह विवेकवृत्ति निरुद्ध नहीं होती। अतः चित्तलय एवं कैवल्योपलब्धि में बाधक सिद्ध होती है। इसी से उस विवेक वृत्ति से भी वैराग्य उक्त हुआ है। जब विवेकख्याति से वैराग्य हो जाता है, तो उससे किसी फल की कामना भी नहीं रहती। निष्काम कर्म द्वारा कर्माशय संचित नहीं होता है। धर्ममेघ समाधि का उदय विवेकख्याति से विरक्त चित्त में ही होता है। अतः उस अवस्था में प्रवाहित होनेवाला विवेक-धर्म भी अशुक्ल - अकृष्ण होता है, अर्थात् कर्माशय का सचयकारी नहीं होता।

भोज के अतिरिक्त श्री भावागणेश, नागोजीभट्ट एव अनन्त पण्डित ने स्पष्ट रूप से अथवा प्रकारान्तर से श्री भोज के मत का ही अनुसरण किया है।

भास्वतीकार श्री हरिहरानन्द अरण्य ने धर्ममेघ को “कैवल्य धर्म को बरसाने वाली” समाधि कहा है। उनका कथन है कि वर्षा से लब्ध वारि की भाँति धर्ममेघ के द्वारा कैवल्य अप्रयत्नसाध्य हो जाता है। जिस प्रकार बिना किसी प्रयत्न के वर्षा का जल सबको सुलभ होता है, उसी प्रकार धर्ममेघ समाधि के बाद कैवल्य भी सुगमतापूर्वक स्वतः प्राप्त हो जाता है। उसके लिये प्रयत्न की आवश्यकता नहीं रहती है।

मणि प्रभाकार रामानन्द यति तथा सदाशिवेन्द्र सरस्वती की व्याख्याएँ भी भास्वतीकार-सम्मत मत को ही बलप्रदान करती हैं।

---

१ “य समाधि धर्ममेघ इत्याख्यायते योगिभिः कैवल्यधर्मं स वर्षति, वर्षालब्ध वारीव धर्ममेघादप्रयत्नलभ्यं कैवल्यं” भवतीति सूत्रार्थ” —भातस्ती (सू० ४/२६)

धर्ममेघ समाधि के विषय में श्री टैमनी लिखते हैं कि—“जब विवेकख्याति और परवैराग्य का युगपद् दीर्घकालीन सतत अभ्यास क्रमशः एक दूसरे को दृढ करता हुआ, अत्यन्त तीव्र अवस्था प्राप्त करता है, तब उसकी चरम सीमा धर्ममेघ समाधि में पहुँच जाता है। इस धर्ममेघ की अवस्था में पहुँचने पर सत्कारो के समस्त बीज भस्मसात् हो जाते हैं और उस शाश्वत सत्य का ताला खुल जाता है, जिसमें पुरुष नित्य निवास करता है”<sup>१</sup>।

उपर्युक्त धर्ममेघ समाधि से क्लेश-कर्मों की सर्वथा निवृत्ति हो जाती है<sup>२</sup>। धर्ममेघ समाधि-लाभ के उपरान्त योगी के समस्त अविद्या, अस्मिता आदि क्लेश वासनामूल सहित नष्ट हो जाते हैं। साथ ही पुण्यापुण्यात्मक कर्माग्य भी समूल विनष्ट हो जाते हैं। अतः क्लेश एवं कर्मों की निवृत्ति होने पर विद्वान् योगी जीवित रहता हुआ भी मुक्त हो जाता है। इस विषय में श्रुति की—“जीवन्नेव विद्वान्मुक्तो भवति” यह उक्ति भी प्रमाण है। यही जीवन्मुक्तावस्था है। विपर्यय-ज्ञानात्मिका अविद्या ही ससार का कारण है। अविद्याक्षोण हो जाने पर, किसी भी विद्वान् का, कहीं भी, कभी भी पुनर्जन्म नहीं देखा जाता। “गौतमवृत्र” में भी वीतराग के पुनर्जन्मका निषेध किया गया है—“वीतरागजन्मादर्शनात्” (न्यायसूत्र ३/१/२५) विवेक-ख्याति प्राप्त कर लेने पर भी, सम्यक निरोध के अभिलाषी साधक भी जीवन्मुक्त कहलाते हैं, क्योंकि चित्तलयार्थ इस (विवेकवृत्ति) वृत्ति का लय भी चरमलक्ष्य होता है। शरीर धारणोपयोगी सत्कार मात्र उनके जीवन के चरम साधन रह जाते हैं। नवीन कर्मों के परित्यागोपरान्त वे सत्कार-समाप्ति मात्र की प्रतीक्षा करते हैं। स्नेह हीन दीपक की भाँति, सत्कार-निवृत्ति के उपरान्त उन्हें कैवल्य प्राप्त होता है।

१ साइन्स आफ योग—पृ० ४३२।

२, “तत क्लेशकर्मनिवृत्ति” (यो० सू० ४/३०)

## (११) ज्ञेय की अल्पता तथा गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति ।

धर्ममेघ समाधिनिष्ठ जीवन्मुक्त योगी के क्लेशकर्मों की निवृत्ति हो जाती है। अतः उसका चित्त अनन्त ज्ञान के स्फीत प्रकाश से परिपूर्ण हो जाता है। उसके सब आवरण नष्ट हो चुकते हैं। तमोगुण-रजोगुण-प्रयुक्त क्लेशकर्म ही चित्त सत्त्वके आवरण हैं। उन आवरणों के निवृत्त होने पर चित्त अपने विभु स्वरूप की उपलब्धि करता है। इतर मनुष्यों के चित्तों में शरीरेन्द्रियादि का अभिमान रहने से, उनकी ज्ञानशक्ति संकुचित हो जाती है। शरीर एवं इन्द्रियों के अभिमान से ज्ञानशक्ति में जड़भाव उत्पन्न होता है तथा रजोगुण-प्रयुक्त चांचल्य चित्त अस्थिर होता है। इसलिये किसी ज्ञेय विषय का शान्तभाव से सम्यक् अवधारण करने में असमर्थता होती है। अस्थिरता एवं जड़भाव ज्ञान के सम्यक् विकास के बाधक हैं। यही कारण है कि रजोगुण एवं तमोगुण से व्याप्त जन-सामान्य के चित्तों की ज्ञानशक्ति भी सीमित होती है।

धर्ममेघावस्था से रजोगुण एवं तमोगुण-प्रयुक्त, उक्त सीमाएँ बाधित हो जाती हैं। अतः साधारण प्राणियों की भाँति जीवन्मुक्त योगी की ज्ञानशक्ति सीमित नहीं रहती है। क्लेशकर्मों की निवृत्ति होने से चित्त के समस्त आवरण हट जाते हैं। अतः ज्ञान की या चित्त-प्रकाश की अनन्तता के कारण ज्ञेय (विषय) अत्यन्त अल्प रह जाता है। तमोगुण जड़ता को उत्पन्न करने वाला तथा आवरक होता है। अतः तम से आक्रान्त चित्त (का अनन्त भाव) आवृत होकर सीमित हो जाता है। तमावृत चित्त कभी ही कभी क्रियाशील रजोगुण-द्वारा अनावृत होकर प्रवृत्त होता हुआ, किसी सीमित विषय को ग्रहण करने में समर्थ होता है। स्वभावतः प्रकाशशील चित्तसत्त्व को सीमित करने वाले रजतम का अपगम होते ही, चित्त अपने विभु एवं प्रकाशशील स्वभाव को उपलब्ध करता है। अतः धर्ममेघ समाधिकालीन, सर्वथा अनावृत चित्तसत्त्व में सीमाशून्य (अनन्त) ज्ञान का स्फुरण होता है। इस समय चित्त-प्रचार के समस्त मार्ग खुल जाने से वह अनन्त पदार्थों का युगपत् ग्रहण करने में समर्थ होता है। उस अपरिमित चित्त के असीम ज्ञान-प्रकाश की तुलना में अल्प-परिमाण ज्ञेय विषय इतना सीमित प्रतीत होता है, जैसा अनन्त-विस्तृत आकाश में क्षुद्र खद्योत मालूम पड़ता है। ज्ञान-

निर्विषयक नहीं होता । अतः ज्ञान के आनन्त्य के साथ-साथ विषयो की भी अनन्तता होनी चाहिए । पर सूत्रकार कहते हैं—“ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयल्पम्” । वस्तुतः ज्ञान शक्ति यदि इतनी विकसित हो जाय कि सर्वविध ज्ञेय के साथ उस के सम्बन्ध का सामर्थ्य हो जाय, तो ज्ञेय के प्रति हेयता का बोध उत्पन्न होता है और ज्ञेय को जानने की इच्छा समाप्त हो जाती है । यह मनोभाव धर्ममेघ समाधि में होता है । उस काल में ज्ञेय की नवीनता नहीं रह जाती । समस्त ज्ञेय को वह गुणत्रय का विकार मात्र समझ लेता है । अतः उस पर ज्ञातव्य बुद्धि क्षीण हो जाती है । यह मनोभाव ही ज्ञानानन्त्य से ज्ञेय की अल्पता का द्योतक है ।

ज्ञान की अनन्तावस्था के विषय में श्री आई० के० टैमनी लिखते हैं कि आत्मिक स्तर का सर्वश्रेष्ठ ज्ञान, जो अभिव्यक्ति के क्षेत्र में मस्तिष्क की उच्चतम पहुँच का प्रतीक है, वह भी कैवल्य की अवस्था में आने वाले विवेकज ज्ञान की तुलना में नगण्य सा है । अर्बुद और खर्बुद एक की तुलना में विशाल और विशालतर सख्याएँ हैं, परन्तु जब वे अनन्त के समकक्ष लाई जाती हैं, तो नगण्यत्व में विलीन हो जाती हैं । जैसा कि गणित के निम्नांकित दृष्टान्त से भी स्पष्ट होगा —

$$\frac{1}{\infty} = 0, \quad \frac{1,000,000,000}{\infty} = 0, \quad \frac{1,000,000,000,000}{\infty} = 0$$

जब हम अनन्त की परिधि में पहुँचते हैं, तो विशालता की समस्त परिधियों से परे पहुँच जाते हैं । अतः यह द्रष्टव्य है कि जीवन्मुक्त वस्तुतः ज्ञान के क्षेत्र में नहीं रहता, अपितु ज्ञान की कोटि से ऊपर उठ कर विशुद्धतम विवेक की कोटि को पा लेता है । विशुद्ध चेतनता पर बौद्धिक सीमाओं के आरोप द्वारा ज्ञान का उदय होता है । अतः शुद्ध चैतन्य के क्षेत्रगत, सीमामुक्त आत्मप्रकाश से उच्चतम ज्ञान की भी तुलना नहीं की जा सकती है । ज्ञान एवं आत्मप्रकाश का सम्बन्ध, काल एवं नित्यता के सम्बन्ध के सदृश्य है । “शाश्वतता” ( नित्यता ) अनन्त विस्तृत काल नहीं, वरन् सर्वथा कालातीत अवस्था है । ये दोनों अवस्थाएँ किसी एक ही श्रेणी में नहीं आती हैं ।

यहाँ पर यह भी बात ध्यान देने योग्य है कि जीवन के समस्त वास्तविक रहस्य, जिन्हें हम बुद्धि की सहायता से सुलझाने में प्रयत्नशील रहते हैं, उनके मूल वस्तुतः उस नित्य में ही निहित है, जिसके अन्तर्गत वास्तविकताओं का प्रकाशन समय एवं अवकाश की मर्यादाओं में सीमित है । यही कारण है कि जब तब हमारी चेतनता अविद्या के क्षेत्र में किञ्चित्मात्र भी बुद्धि की परिमित एवं संकीर्ण परिधियों

टिप्पणी—उपर्युक्त समीकरण (equation)  $\infty$  = अनन्त ।

से सीमित है, तब तक जीवन की किसी भी समस्या को सुलझाना सम्भव नहीं है। हमारी समस्याओं के नामपात्र के बौद्धिक समाधान, जिन्हें विद्वज्जन खोज निकालते हैं कोई समाधान नहीं, प्रत्युत विभिन्न सीमापर्यन्त उन्हीं समस्याओं के पुनः कथनमात्र है, जो वस्तुतः उन समस्याओं को गम्भीरतर स्तर में ढकेल देते हैं। इन सब समस्याओं को सुलझाने तथा आत्मप्रकाश को आवृत्त करने वाली सीमाओं से चैतन्य को मुक्त करने के लिये एकमात्र उपाय, योग दर्शन-द्वारा निर्दिष्ट विधि की सहायता से अपनी चेतनता में गोता (डुबकी) लगाना ही है<sup>१</sup>।

जहाँ तक ज्ञान के आनन्त्य का प्रश्न है, श्री दैमनी ने उसे अत्यन्त सुचारु ढङ्ग से समझाया है, परन्तु उन्होंने ज्ञान की इस अनन्तावस्था को ही विवेकज ज्ञान तथा कैवल्य कहा है, यह बात अवश्य खटकती है। वस्तुतः ग्रथकार की इस त्रुटि का आधार, विवेकज-ज्ञान, जीवन्मुक्ति एवं कैवल्य के अभेद का भ्रम ही है। जिस विवेकज ज्ञान को वे ज्ञान का आनन्त्य एवं कैवल्य कहते हैं, वे तीनों ज्ञान की परस्पर भिन्न एवं क्रमिक अवस्थाएँ हैं। विवेकज ज्ञान से वैराग्य होने पर धर्ममेघ समाधि होती है। धर्ममेघ समाधि से क्लेश कर्मक्षय होने पर, प्रसंगगत ज्ञान का आनन्त्य होता है, जो जीवन्मुक्त को होता है। पुनः जीवन्मुक्ति एवं कैवल्य, ये मुक्ति की दो भिन्न श्रेणियाँ हैं। जीवन्मुक्त प्रारब्ध सस्कारमात्र शेष चित्त से शरीर धारण करने वाला साधक होता है और कैवल्य तो इससे भी परे की अवस्था है। उसमें गुणों का परिणाम क्रम समाप्त हो चुकता है। अतः कैवल्य देहपात के बाद की अवस्था है।

ज्ञेय की स्वल्पशेषता और ज्ञान का आनन्त्य ही परमज्ञान का लाभ है। इनकी प्राप्ति से पुनर्जन्म नहीं होता है। जीवन्मुक्त का पुनः जन्म नहीं होता, इस विषय में भाष्यकार श्री व्यास ने लौकिक आभाणक को उद्धृत करते हुए लिखा है कि—“अन्व पुरुष ने मणिबेध किया, अगुली रहित ने उसमें धागा पिरोया, ग्रीवारहित ने उसे गले में पहिना और जिह्वाहीन ने उसकी प्रशंसा की”। सारांश यह है कि जिस प्रकार अन्वादि के द्वारा मणिबेधादि करना असम्भव है, उसी प्रकार जन्म

१. साइस ऑफ योग—आई० के टैमिनी—पृ० ४३६।

२. “अन्वो मणिमविध्यत्तमनगुलिरावयत्।

अग्नीवस्त प्रत्यमुल्लूतमजिह्वोऽभ्यपूजयत् ॥ (व्या० भा० सू० ४—३१)

**आभाणक**—असम्भव अर्थ का उपपादक तथा हास्यजनक लौकिक कथन आभाणक कहलाता है। उक्त श्लोक भी इसी कोटिकी उक्ति है। यह श्लोक ते० आ० में है।

( आरण्यक का पाठ है )

परम्परा के मूलभूत क्लेशकर्मों का अत्यन्त उच्छेद हो जाने पर जीवन्मुक्त का पुनर्जन्म भी असम्भव है ।

“तदासर्वविरणमलापेतस्य ज्ञानस्यानन्त्याज्ज्ञेयमल्पम्,” प्रसंगगत इस सूत्र की व्याख्या में भाष्यकार ने उपर्युक्त आभाणक का उद्धरण दिया है । इसकी व्याख्या में श्री विज्ञानभिक्षु ने लिखा है कि यह श्लोक किसी नास्तिक ग्रन्थ का है और योग तथा उसके फलस्वरूप मोक्ष के विषय में आक्षेप करता है । इसका अर्थ यह होगा कि जिस प्रकार अन्धादि के द्वारा मणिबेधन आदि कार्य असम्भव है, उसी प्रकार ज्ञान-विहीन अन्ध के द्वारा सांख्यादि सम्मत ज्ञान का अधिगम एवं विवेकज्ञान की प्राप्ति असम्भव है ।

परन्तु भिक्षु जी का मत समीचीन नहीं प्रतीत होता है । यदि यह श्लोक उपहासपरक ही होता तो भाष्यकार व्यास उसके उत्तर में अवश्य लेखनी उठाते । किन्तु उन्होंने तो इसके विपरीत, विज्ञानभिक्षु के मतानुसार किये गए आक्षेपस्वरूप इस श्लोक को स्वमतस्थापन के रूप में उद्धृत किया है । इससे वह आक्षेप-परक नहीं, प्रत्युत् समाधानस्वरूप सिद्ध होता है । अन्यथा किसी सम्प्रान्त का अपने ऊपर उछाले गए कीचड़ को स्वच्छ किये बिना ही भरी सभा में जाकर बैठ जाना तो सगत नहीं प्रतीत होता ।

पुनश्च चारो वेदो के मन्त्रभाग एवं ब्राह्मणभाग के भाष्यकार, स्वामी श्री विद्यारण्य ने “सर्वदर्शन सग्रह” में उक्त श्लोक को श्रुतिवाक्य बतलाया है<sup>१</sup> । यह सम्भव हो सकता है कि अपने किसी अर्थ की पूर्ति-हेतु किसी नास्तिक ने भी इसे स्वग्रन्थ में उद्धृत किया हो जहाँ इसे श्री भिक्षु ने देखा हो वाचस्पति मिश्र एवं विवरणकार शंकर की व्याख्यानानुसार भी यह श्लोक यहाँ आक्षेपपरक नहीं, प्रत्युत् योगमत का पोषक ही सिद्ध होता है । राघवानन्द सरस्वती ने “पातञ्जल रहस्य” में तत्त्व-वैशारदीकार का अनुसरण किया है । स्वामी हरिहरानन्द आरण्य ने भी इस श्लोक द्वारा धर्ममेघ समाधि से नष्ट-क्लेश योगी के पुनः संसरण की अलीकता का ही प्रतिपादन किया है । उनके अनुसार “विज्ञानभिक्षु ने इसकी बौद्धों के उपहास रूप में व्याख्या करके, केवल व्याख्यान-कौशल ही दिखाया है । परन्तु वास्तव में उनकी व्याख्या श्रद्धेय नहीं है<sup>२</sup> ।”

नागोजीभट्ट अपनी “वृत्ति” में लिखते हैं, “यदि विवेकी योगी का पुनर्जन्म

१. द्रष्टव्य—यो० भा० विवृ०-पृ० ८६१ ।

२. “पातञ्जल योग दर्शन” हरिहरानन्द आरण्य—पृ० ३४०

सम्भव होगा तो अन्ध का मणिवेध-अनगुली-द्वारा ग्रन्थन, अग्नीव का परिधान और अजिह्वा का स्तुति करना भी सत्य होगा। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार यह सब असम्भव है, उसी प्रकार उक्त योगी का पुनर्जन्म, एतावता उनकी भी व्याख्या से यह आभाणक यहाँ पर आक्षेपपरक नहीं सिद्ध होता है।

भोज, भावा गणेश, रामानन्द, अनन्तपण्डित एवं सदा शिवेन्दु सरस्वती ने इस श्लोक को अस्पृष्ट ही छोड़ दिया है, क्योंकि वाचस्पति मिश्र, विज्ञानभिक्षु, विवरणकार शंकर एवं हरिहरानन्द आरण्य ने “व्यासभष्य की” टीकाएँ की हैं तथा राघवानन्द सरस्वती का पातजलरहस्य स्वयं ‘तत्त्ववैशारदी’ की ही टीका है। नागोजी भट्ट की वृत्ति का आधार भिक्षु का “योग-वार्तिक” है। अतः इन सब ने व्यास-भाष्यान्तर्गत उक्त श्लोक की व्याख्या की है। भोज, भावागणेश, रामानन्द यति, अनन्त पण्डित और सदाशिवेन्दु सरस्वती, इन सबकी व्याख्याएँ साक्षात् योगसूत्रों की ही टीकाएँ हैं। अतः इन्होंने इस श्लोक की व्याख्या नहीं की है।

धर्ममेघ समाधि-द्वारा परवैराग्य का अभ्यास किया जाता है<sup>१</sup>। परवैराग्य के द्वारा ही उसकी परिपक्वावस्था रूप ज्ञानप्रसाद से क्लेश-कर्मों की सम्यक् निवृत्ति होने पर जीवन्मुक्ति होती है। अतः धर्ममेघ समाधि की चरमावस्था में निवृत्तक्लेश योगी के चित्त में, एक साथ उत्कृष्ट परवैराग्य रूप ज्ञानप्रसाद से अनन्त ज्ञान तथा निरोधप्रत्ययात्मिका असम्प्रज्ञात समाधि का उदय होता है। इस अवस्था में कोई भी वृत्ति चित्त में वर्तमान नहीं रहती है। एक बार असम्प्रज्ञात समाधि होने पर ही साधक जीवन्मुक्त पदवाच्य होता है और बारम्बार “विरामप्रत्यय” के अभ्यास से यह समाधि पक्व होती है। सम्प्रज्ञात समाधिमान् का पतन सम्भावित है, असम्प्रज्ञात समाधि-मान् का नहीं। निरोध-समाधि के अभ्यास से निरन्तर विवेकजन्य सस्कारों का निरोध होता है। इसके साथ ही साथ, प्रारब्धवश, योगी मुक्त होकर भी शरीर-धारण किये हुए सस्कारों के क्षय की प्रतीक्षा करता है<sup>२</sup>। सस्कारों के सम्यक् नाशोपरान्त शरीरपात के साथ-साथ उसे परम मुक्ति कैवल्य की प्राप्ति होती है। उस स्थिति में योगी स्वरूप में नित्य-स्थिति उपलब्ध करता है।

१. विवेकख्याति से वैराग्य का अभ्यास ही परवैराग्य का प्राथमिक रूप है।

२. “सम्यग् ज्ञानाधिगमाद् धर्मादीनामकारण प्राप्तौ।

तिष्ठति सस्कारवशाच्चक्रमिवद् धृतशरीर ॥”

“प्राप्ते शरीरभेदे चरीतार्थत्वात् प्रधानविनिवृत्तौ।

ऐकान्तिकमात्यन्तिकमुभय कैवल्यमाप्नोति ॥ (ईश्वरकृष्णकृत साह्यकारिका—६७-६८)

शंका होती है कि गुणस्वभाव स्वतः विकारशील है, फिर धर्ममेव समाधि-निष्ठ क्षीणक्लेश योगी के प्रति, वे (गुण) पुनः शरीरेन्द्रियादि के आरम्भक क्यों नहीं होते ? अन्य शब्दों में क्षीणक्लेश योगी का पुनर्जन्म क्यों नहीं होता है ? इस विषय में सूत्रकार महर्षि पतंजलि का कथन है कि उक्त क्षीणक्लेश योगी के भोगापवर्ग रूप अर्थ को सिद्ध किये हुए गुणों के (कार्योत्पत्ति रूप) परिणामक्रम की समाप्ति हो जाती है<sup>१</sup>।

क्लेशकर्मों की निवृत्ति ज्ञान प्रसाद या ज्ञान का चरम उत्कर्ष और गुणाधिकार (परिणामक्रम) की समाप्ति—ये सब धर्ममेव समाधि के फलस्वरूप प्राप्त होते हैं। सत्त्वादि गुण-त्रय का प्रयोजन पुरुष का भोग एव अपवर्ग का सम्पादन करना है। भोग का सम्पादन तो पहले से ही चल रहा है। भोग निवृत्ति के लिये ही अपवर्ग की आवश्यकता होती है। क्लेशकर्मों के सम्यक् निवृत्ति होने पर तथा पर-वैराग्य-द्वारा निरोधाम्यास करते हुए पुरुष के नित्यमुक्त स्वरूप में स्थित प्राप्त करने से अपवर्ग का सम्पादन होता है। गुणों का परिणामक्रम ही भोग एवं अपवर्ग का स्वरूप है<sup>२</sup>। अतः भोग के उपरान्त मोक्ष के सम्पादन-पर्यन्त ही गुणों का अधिकार होता है। गुणाधिकार की समाप्ति होने पर—जिस पुरुष के अर्थद्वय का सम्पादन गुणों ने किया है, उसके प्रति वे क्षण भर भी स्थित नहीं रह सकते हैं। इसीलिये कृतार्थ गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति हो जाती है और वे योगी के शरीरादि के पुनः आरम्भक नहीं होते। त्रिगुण साम्यावस्था प्रकृति नित्य है, अतः उसका विनाश नहीं होता। गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति का अर्थ है, बुद्धि आदि प्रकृति की विकार-परम्परा का नाश—अर्थात् जिस पुरुष के प्रति गुणाधिकार की समाप्ति हो गई है, उसके प्रति प्रकृति की बुद्ध्यादि—परम्परा प्रवृत्त नहीं होती।

×

×

×

क्षीणक्लेश योगी के गुणाधिकार की समाप्ति से परिणामों के जिस क्रम की समाप्ति होती है, उसके क्रम का क्या स्वरूप है ? इस शंका का उत्थान करते हुए भाष्यकार श्री व्यास ने सूत्रकार की इस उक्ति का अवतरण किया है—“क्षण प्रतियोगी परिणामापरान्तनिग्राह्यः क्रम”<sup>३</sup> अर्थात् (क्षण-प्रवाहगत प्रत्येक) क्षण

१ “तत् कृतार्थानां परिणामक्रमसमाप्तिर्गुणानाम्” (यो० सू० ४/३२)

२. “पातञ्जल योग दर्शन”—हरिहरानन्द-आरण्य—पृ० ३४०।

३. यो० सू० ४/३३।

(क्षण एव तत्क्रम के विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य “कैवल्य प्राप्ति का साधन” शीर्षक गत सू० ३/५२ तथा “चित्त का समाधि” परिणाम, एकाग्रता-परिणाम तथा निरोध-परिणाम—शीर्षक में परिणामों की ऐक्य प्रतीति।



सम्बन्धी तथा परिणाम के अवसान से ग्रहण करने या जानने योग्य (अवस्था विशेष) क्रम है। क्रम कोई एक क्षणवर्ती वस्तु नहीं है। वह अनेक क्षणों के नैरन्तर्य या अविरल प्रवाह को आश्रय करने वाली परिणाम-परम्परा है<sup>१</sup>। अतः किसी वस्तु के परिणाम का क्रम उसके परिणाम का अन्तिम दशा से अनुमित होता है। उदाहरणार्थ कितने ही यत्नपूर्वक रखे गये वस्त्र में अनेक वर्षोंपरान्त अत्यन्त जीर्णता देखी जाती है। यहां तक कि वह (वस्त्र) हाथ लगाने से ही विशीर्ण होने लगता है। वस्त्रगत यह जीर्णता किसी एक क्षण में ही नहीं होती, यह सर्वानुभव सिद्ध है। अतः वस्त्र प्रतिक्षण पुराना होता जाता है। फिर भी उसके उक्त प्रतिक्षणवर्ती परिणाम का आभास उन क्षणों में नहीं होता। अन्त में वस्त्र की उक्त पुराणता देखकर ही अनुमान-द्वारा प्रतिक्षण होने वाले परिणामक्रम का अनुमान होता है। अतः सूत्रकार ने क्षणान्तर्वर्ती परिणाम-क्रम को उसके अवसान से निग्राह्य बतलाया है। प्रतिक्षण होने वाला अलक्ष्य परिणाम, जब स्थूल दृष्टि से बोधगम्य होता है, तभी उसका जन-सामान्य को ज्ञान होता है।

यह भी स्मरणीय है कि शुद्ध कालांशभूत क्षण का क्रम नहीं होता, क्योंकि वह वस्तु नहीं है। इसीलिये भाष्यकर व्यास ने (सू० ३-५२ की व्याख्या में) उसे “वस्तुपतित” कहा है। वह अवस्तु होने पर भी वस्तु से सम्बद्ध होकर, उसके परिणाम-क्रम के साथ वस्तु इव अवभासित होता है। किसी धर्म का अन्यथात्व या परिणाम देखकर ही पूर्व क्षण और उत्तर क्षण, इस प्रकार के भेद का स्थापन होता है। अतः क्रम परिणाम का ही होता है, क्षण का नहीं।

शका होती है कि गुणों को नित्य कहा गया है, फिर उनमें परिणाम कैसे, जिस (परिणाम-क्रम) की समाप्ति बतलाई गई है। इसका उत्तर यह है कि नित्यता-सामान्य का लक्षण अपरिणामित्व नहीं, अपितु अतीतावस्था का राहित्य है। त्रिगुण परिणमित होने पर भी कभी अतीतभावापन्न नहीं होते। जिस वस्तु का परिणाम होने पर भी तत्त्वान्तर नहीं होता वही नित्य है। यह लक्षण त्रिगुण साम्यावस्था मूल-प्रकृति में अनुगत होता है। यह नित्यता पुनः दो प्रकार की है। कूटस्थ-नित्यता तथा परिणामिनित्यता।

### (१) कूटस्थनित्यता :—

किसी प्रकार के परिणाम से शून्य, स्वरूपतः सर्वदा एक-रस बना रहना

१ क्षण एव तत्क्रम के विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य “कैवत्यप्राप्ति का साधन” शीर्षक गत सू० ३/५१ तथा “चित का समाधि-परिणाम, एकाग्रता-परिणाम तथा निरोध-परिणाम” शीर्षक में परिणामों की ऐक्य प्रतीति।

ही कूटस्थनित्यता है। पुरुष सर्वदा एकरस परिणाम-शून्य है। अतः वही कूटस्थ नित्य है।

### (२) परिणामि नित्यताः—

परिणामी-नित्य पदार्थ सर्वदा परिणत होते हुए भी अपने तात्त्विक स्वरूप से प्रच्युत नहीं होता अर्थात् उसका तत्त्वान्तर नहीं होता है। त्रिगुण परिवर्तित होते रहने पर भी कभी स्वरूपच्युत नहीं होते अर्थात् उनका तत्त्वान्तर नहीं होता है। अतः वे परिणामी नित्य हैं।

यह स्मरणीय है कि सूत्रस्थ 'क्षणप्रतियोगी' यह अश लक्षण परक तथा 'परिणामा-परान्त निर्ग्राह्यः' यह अश प्रमाण प्रदर्शन मात्र के लिये है। वह लौकिक प्रत्यक्ष में ही पूर्णतः घटित होता है, क्योंकि नित्य धर्मीतत्त्व के क्रम का कभी अन्त नहीं होता है। परिणामी नित्य गुण समूह कभी भी पर्यवसान-लाभ नहीं करते हैं। त्रिगुण-परिणाम-रूप बुद्धि आदि का पर्यवसान देखा जाता है, किन्तु वे नित्य एवं मूल धर्मी नहीं हैं। त्रिगुण ही मूल धर्मी हैं। बुद्ध्यादि का धर्मीत्व काल्पनिक एवं तन्मात्रादि से आपेक्षिक नित्यत्व होता है। अतः बुद्ध्यादि का परिणामक्रम लब्धपर्यवसान तथा नित्य त्रिगुणों में परिणाम-क्रम अलब्ध पर्यवसान होता है। इसी प्रकार कूटस्थ नित्य अपरिणामी पुरुष में भी परिणामक्रम अलब्ध पर्यवसान है, क्योंकि उसका भी कभी अभाव नहीं होता है। पुरुष के स्वरूप का परिणाम-क्रम सर्वदा अस्तित्व रूपा क्रिया से ही अनुभूत होता है। 'अस्तीति ब्रूवतो न्यत्र कथन्तदुपलभ्यते (कठ-उप) इस उक्ति के अनुसार 'पुरुष है' 'आगे भी रहेगा'—इस प्रकार के परिणाम की कल्पना मुक्त पुरुष के विषय में करनी पड़ती है, किन्तु यह ज्ञान भी शब्द ज्ञानानुपाती मात्र अर्थात् विकल्पार्थक है। उक्त वैकल्पिक व्यवहार के बिना पुरुष के विषय में कुछ भी बतलाया नहीं जा सकता है। इस वैकल्पिक व्यवहार के अनुसार ही कूटस्थ नित्य पुरुष में वैकल्पिक परिणाम-क्रम सिद्ध होता है। मुक्त पुरुष के विषय में तत्राप्यलब्ध पर्यवसानः शब्द पृष्ठे नास्तिक्रियामुपादाय कल्पित इति—इन शब्दों द्वारा भाष्यकार व्यास ने इसी भाव की अभिव्यञ्जना की है।

बद्ध पुरुष के विषय में चित्तवर्ती परिणाम का अभ्यास अवगन्तव्य है, क्योंकि बद्ध आत्मा चित्त को ही आत्मस्वरूप समझता है।

गुणों में अलब्ध पर्यवसान परिणामक्रम के कथन से शका होती है कि गुणों में वर्तमान-सृष्टि और प्रलय-प्रवाह रूप संसारक्रम की समाप्ति होती है अथवा नहीं?

यदि इस क्रम की समाप्ति मानी जाती है, तो 'गुण अलब्ध पर्यवसान परिणामक्रम युक्त है अर्थात् गुणों के परिणामक्रम का अन्त नहीं होता' इस उक्ति का खडन होता है। यदि समाप्ति नहीं मानी जाती है तो सूत्रकार का 'ततः कृतार्थानां परिणाम क्रम समाप्तिगुणानाम्' यह कथन अयुक्त सिद्ध होता है। इस द्विविधा का निवारण करते हुए भाष्यकार व्यास ने लिखा है कि उक्त संसारक्रम-विषयक प्रश्न अनिर्वचनीय है। उसका उत्तर एक बार ही 'हाँ' अथवा 'नहीं' में नहीं दिया जा सकता है। प्रश्न तीन प्रकार के होते हैं।

### (१) एकान्तवचनीय—

जिन प्रश्नों का नियमपूर्वक एक ही समाधान-द्वारा उत्तर दिया जा सकता है वे एकान्तवचनीय कहलाते हैं। जैसे 'जिन्होंने भी जन्म ग्रहण किया है वे सब मरेगे' 'इसका उत्तर' 'हाँ' अवश्य मरेगे' इस एक ही समाधान-द्वारा दिया जा सकता है।

### (२) विभज्य वचनीय—

जो प्रश्न विभागपूर्वक उत्तर देने योग्य है, वे विभज्य वचनीय कहलाते हैं। क्या प्रत्येक मृत मनुष्य जन्म ग्रहण करेगा ? इसका उत्तर है कि 'जिस जिसने विवेक-ख्याति में परवैराग्य-द्वारा मुक्ति प्राप्त की है-वह-वह जन्म ग्रहण नहीं करेगा तथा शेष प्रत्येक व्यक्ति अवश्य जन्म लेगा'।

### (३) अवचनीय—

अवचनीय प्रश्न का उत्तर एकान्तरूप से अर्थात् किसी एक प्रकार से कथनीय नहीं होता है। उदाहरणार्थ मानव जाति श्रेष्ठ है या नहीं ? इसके उत्तर में मनुष्य जाति को न तो केवल उत्तम बताया जा सकता है न ही निम्न पशु-पक्षी-कीटपत-गादि की अपेक्षा मनुष्य जाति उत्तम है और देवताओं की अपेक्षा निम्नकोटि की है। इस प्रकार संसारक्रम के अवसान का प्रश्न भी अवचनीय एवं विभज्यवचनीय है, क्योंकि आगम-प्रमाण आधार पर, अज्ञानी पुरुषों के संसार-क्रम का अवसान नहीं होता है और विवेकी ज्ञानी कुशल पुरुषों के संसारक्रम का उच्छेद होता है, जिससे वे कैवल्य प्राप्त करते हैं।

श्री बाचस्पति मिश्र श्री भिक्षु प्रभृति विद्वानों ने व्याख्या के अन्त में प्रतिवाद के पक्ष से यह शंका की है कि मुक्त पुरुष के प्रति गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति हो जाती है, तब तो क्रमशः मुक्त होते-होते किसी दिन सभी पुरुष मुक्त हो जायेंगे।

अतः सबके प्रति गुणो के परिणामक्रम समाप्ति हो जाने से ससारोच्छेद हो जायेगा । इससे प्रधान प्रकृति भी अनित्य सिद्ध होगी । इसका उत्तर यह है कि जीव असंख्य है, उन सब का युगपद् मोक्ष असम्भव है । फिर प्रत्येक जीव मनुष्य नहीं है । पशु, पक्षी-कीट-पतंग, सरीसृपादि अनन्त चराचर प्राणी है, जिनके लिये विवेकख्याति भी असंख्य जन्मसाध्य है । अतः ससारक्रम का सर्वथा उच्छेद नहीं हो सकता है ।

इस विषय मे हरिहरानन्द आरण्य तो लिखते है कि दो-चार नपुंसको को देख कर कोई व्यक्ति यदि शका करे कि जिस कारण से ये व्यक्ति क्लैव्य को प्राप्त हुए है, इसीसे सारा ससार नपुंसक हो जायगा, तो जगत् सृष्टि-हीन हो जायगा । समस्त जगत् बद्ध-पुरुष रहित हो सकता है—यह शंका भी उसी ढंग की है क्योंकि शास्त्र में कहा गया है—“अतएव हि” विद्वत्सु मुच्यमानेषु सर्वदा । ब्रह्माण्डजीवलोकाना मनन्त-त्वादशून्यता ।’ अतः प्राणियो के निवासस्थान, अनन्त लोको मे असंख्य पुरुष प्रति-मुहूर्त मुक्त होते रहने पर भी संसार कभी भी बद्ध पुरुष-हीन नहीं होता है । असंख्य का अधिक अथवा न्यून सब असंख्य ही होता है । असंख्य सत्ता का गणित तत्त्व है—

असंख्य + असंख्य = असंख्य, असंख्य - असंख्य = असंख्य, असंख्य × असंख्य असंख्य = असंख्य तथा असंख्य ÷ असंख्य = असंख्य । अतः जगत् बद्ध पुरुष-हीन नहीं हो सकता है, क्योंकि श्रुति कहती है—

पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते—  
पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावविष्यते ॥

१. ‘पातञ्जलयोगदर्शन’ (हरिहरानन्द आरण्य) पृ० ३४४ । अतएव...श्लोक धार्तिककार के नाम से नामकन्द ली (पृ०) मे उद्धृत हुए है । सम्भवत यह धार्तिककार सुकेश्वर है ।

## कैवल्य का स्वरूप

गुणों के परिणामक्रम की समाप्ति होने पर, पुरुष को कैवल्य ( केवलीभाव या शुद्धात्म तत्व मे नित्य प्रतिष्ठा ) प्राप्त होता है। कैवल्य के स्वरूप का निर्धारण करते हुए, महर्षि पतंजलि ने इस सूत्र का उल्लेख किया है—“पुरुषार्थ शून्यान्यां प्रतिप्रसवः कैवल्यं स्वरूप प्रतिष्ठा वा चितिशक्तेरिति”<sup>१</sup> अर्थात् पुरुष के प्रयोजन से शून्य गुणों का स्वकारण मे विलय अथवा चितिशक्ति ( पुरुष ) की अपने स्वरूप मे ( नित्य ) अवस्थिति ही कैवल्य है।

गुण पुरुष के भोग एव मोक्ष रूप प्रयोजन की सिद्धि के लिये ही प्रवृत्त होते है, यह पहले भी अनेक बार बतलाया जा चुका है। पुरुष के भोगापवर्गार्थ ही वे शरीर, इन्द्रियगण एवं बुद्धि आदि के रूप मे परिणाम प्राप्त करते है। भोगापवर्ग सिद्ध हो जाने पर यह परिणाम क्रम समाप्त हो जाता है। अतः उन बुद्धि, अहंकार आदि प्रकृति-विकृति स्वरूप गुणों का प्रतिलोम गति से अपने कारणो मे प्रलय हो जाता है। अन्य शब्दों मे विकार परम्परा सर्वदा के लिये अपने-अपने कारणो मे विलीन हो जाती है। सूत्रकार ने इस कार्य-कारणात्मक परम्परा के प्रलय के लिये ‘प्रतिप्रसव’ शब्द का प्रयोग किया है। “प्रतिप्रसव” है सृष्टि। “प्रतिप्रसव” का अर्थ है सृष्टि-क्रम का विपरीत धर्म। अतः प्रतिप्रसव का अर्थ होगा प्रलय। पुरुषार्थ-शून्य त्रिगुण कृतकार्य होते है। अतः वे अपने कारण मूल प्रकृति मे चिरकाल के लिये प्रलीन हो जाते है। यहाँ पर सूत्रोक्त प्रतिप्रसव शब्द मे निहित अर्थ का विशेष स्पष्टीकरण इस प्रकार है। कार्यकारणात्मक गुणों के व्युत्थान संस्कार, समाधि संस्कार और निरोध-संस्कार—उक्त तीनों प्रकार के संस्कार मन मे लीन हो जाते है, मन अहंकार मे विलीन होता है, अहंकार स्वकारण बुद्धि मे और बुद्धि त्रिगुण साम्य स्वरूपा प्रधान प्रकृति मे प्रलयभाव प्राप्त करती है।

गुणों का पूर्वोक्त प्रतिप्रसव या प्रलय ही कैवल्य का स्वरूप है। त्रिगुण का कार्य समाप्त हो जाने से पुरुष ( त्रिगुण के कार्य ) चित्त की उपाधि से रहित हो जाता है।

---

१. यो० सू० ४-३४। भोज ने चितिशक्तिरिति ऐसा पाठ माना है। अन्यत्र चितिशक्तिरिति ऐसा पाठ मिलता है।

उपाधिभूत चित्त न रहने से पुरुष का शुद्ध चैतन्य स्वरूप मात्र रहता है। अतः गुणों के प्रतिप्रसव को कैवल्य (पुरुष का केवलीभाव या अकेलापन) कहा गया है। कैवल्य की यह व्याख्या गुणों की दृष्टि से की गई है। चित्तिशक्ति (पुरुष) की दृष्टि से चित्तिशक्ति की असंग स्वस्वरूप में प्रतिष्ठा ही कैवल्य है, ऐसा कहना होगा। इसका भी वही सार है कि गुणों के सम्बन्ध से शून्य शुद्ध, चैतन्य स्वरूप पुरुष का स्वरूप में अवस्थित रहना बुद्धि का नित्य लय सिद्ध होने पर पुरुष भी उससे सदा असंग रहेगा ही यही कैवल्य है।

कैवल्य के स्वरूप का निर्धारण करते हुए श्री भोज ने मोक्ष काल में आत्मा के स्वरूप के विषय में वेदान्त, न्याय काश्मीर शैव दर्शनादि मतों का स्पष्टतः खण्डन किया है। यथा वेदान्तियों के अनुसार मोक्षकालिक आत्मा के आनन्दमयत्व का खण्डन। चेतना के योग से आत्मा के चेतनत्व के विषय में न्यायमत का खण्डन इत्यादि। सामान्यतः भोजवृत्ति में परमत खण्डन की प्रवृत्ति नहीं दिखाई देती है। किन्तु प्रस्तुत प्रसंग में श्री भोज का भुकाव परमत खण्डन, के प्रति मालूम पड़ता है। इसीलिये अन्तिम सूत्र की व्याख्या में भोज—वृत्ति में अनावश्यक विस्तार भी हो गया है।

प्रस्तुत स्थल पर व्याख्या के प्रारम्भ में भोज का कथन है कि केवल हमारे दर्शन में ही आत्मा के क्षेत्रज्ञ (आत्मा या पुरुष) कैवल्यवस्था में चिद्रूप नहीं होता—“न केवलमस्मि दर्शने क्षेत्रज्ञः कैवल्यवस्थायामेवंविधश्चिद्रूपः यावद्दर्शनान्तरेऽपि विमृष्यमाण एवं रूपोऽवतिष्ठते”। अतः श्री भोज की इस उक्ति से ऐसा आभासित होता है कि मतान्तरो के प्रदर्शन से, उनका प्रयोजन परमतखण्डन मात्र नहीं, वरन् योग के साथ समन्वय करना भी है।

पातञ्जलयोगप्रदीपकार स्वामी ओमानन्द ने तो स्पष्ट ही लिखा है कि—‘यहाँ यह न समझना चाहिये कि वृत्तिकार के अन्य दर्शनों का खण्डन किया है। किन्तु अन्य शास्त्रों में ऐसी ही मुक्ति बन सकती है, यह सिद्ध कर कैवल्य (मुक्ति) के स्वरूप का निरूपण किया है।’

नागोजीभट्ट ने भी इस प्रसंग में विविध दर्शन सम्मत मोक्षस्वरूप का निरूपण किया है। पुनः तद्विषयक शका समाधान पूर्वक योग के साथ मतान्तरो का स्पष्टतः समन्वय स्थापित किया है।

कैवल्य की अवस्था में गुणों का प्रतिप्रसव और चितिशक्ति की 'स्वरूप प्रतिष्ठा' ये दोनों कार्य एक साथ ही होते हैं। इसीलिये सूत्रकार ने दोनों को दिखाते हुए कैवल्य के स्वरूप का अवधारण किया है इस आधार पर श्री वाचस्पति मिश्र एवं श्री विज्ञानभिक्षु ने कैवल्य के दो प्रकार माने हैं<sup>१</sup> मूलप्रकृति में त्रिगुण के नित्य अवस्थान को, वे बुद्धि अथवा प्रधान प्रकृति का मोक्ष बतलाते हैं। चितिशक्ति की स्वरूपावस्थिति को वे पुरुष (चितिशक्ति) का कैवल्य कहते हैं। क्योंकि पुरुष जो वृत्ति सारूप्यावस्थावश जपा कुसुम से उपहित स्फटिक की भांति उपाधियुक्त था, अब चित्त प्रलयावस्था में वृत्ति की उपाधि, से शून्य, शुद्धस्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। इस प्रकार पुरुष का कैवल्य औपचारिक होता है। प्रधान की मुख्यतः मुक्ति होती है यह कहते हुए श्री भिक्षु ने प्रमाणस्वरूप सांख्य की निम्न कारिका को उद्धृत किया है—

“तस्मान्न बध्यतेऽद्वा न मुच्यते नापि संसरति पुरुषः ।

संसरति बध्यते मुच्यते च नानाश्रया प्रकृतिः ॥

यह पहिले भी बतलाया जा चुका है कि कैवल्य में गुणों का प्रतिप्रसव और पुरुष की स्वरूपस्थिति ये दोनों कार्य होते हैं, किन्तु इस आधार पर कैवल्य को दो प्रकार का मानना कुछ विचित्र सा प्रतीत होता है। विवरणकार शंकर तोस्पष्ट ही लिखते हैं कि कैवल्य के स्वरूप-निर्धारण में सूत्रकार द्वारा प्रदर्शित विकल्प क्रिया पदों में ही है, कारक रूपों में नहीं, क्योंकि वस्तुस्वरूप में भेद की उपत्ति नहीं होती।

१. द्र० तत्व वै० (४/३३), योग-वा० (४/३४)

२. क्रियायां हि विकल्पो न तु वस्तुनि । वस्तुस्वरूपस्य भेदानुपपत्तेः । कैवल्यमपि वस्तु, कथं तद्विकल्प्यत । नैष दोषः । निमित्तनैमित्तिकयोः प्रभेदोपपत्तेः । निमित्तनैमित्तिक भेदोऽचरितोऽपि विकल्पो न वस्तुस्वरूप भेद कृतः । या तु गुणानां परिणामिता पुरुषस्य विमिश्रिता वृत्तिसरूपता, सा कार्य कारणात्मकानां पुरुषार्थशून्यानां गुणानां प्रतिप्रसर्गा निमित्तादपगच्छतीति निमित्तमेव प्रतिप्रसवाख्यं कैवल्यं शब्देनोपचरितम् ।”

(पातञ्जलयोगसूत्रभाष्य विवरणमें) (शंकर) सू० ४/३४/ ।

## उपसंहार

### (१) विविध आचार्यों के मतों का निष्कर्ष

पातंजल-योग पर विविध आचार्यों का ग्रन्थानुशीलन इस निष्कर्ष पर पहुँचाता है कि योगसूत्रों के अर्थ के विषय में विभिन्न व्याख्याकार अधिकांश स्थलों में एकमत हैं। उनके व्याख्यानो का ढग अलग-अलग होने पर भी उनमें प्रायः समन्वयात्मक दृष्टि लक्षित होती है। 'योगसूत्र' के प्रत्येक व्याख्याकार ने, स्पष्टतः अथवा प्रकारान्तर से प्रायः भाष्यकार व्यास का अवलम्ब ग्रहण किया है। सामूहिक रूप से प्रायः इस आन्तरैक्य के होते हुए भी, विविध व्याख्याकारों में कुछ न कुछ मतभेद होना स्वाभाविक ही है। ये मतान्तर प्रायः वाचस्पति मिश्र और विज्ञानभिक्षु की व्याख्याओं में दृष्टिगत होते हैं। अन्य व्याख्याकारों में से, भावागणेश एवं नागोजी भट्ट ने अधिकांश स्थलों में श्री विज्ञानभिक्षु का अनुकरण किया है। शेष व्याख्याकारों ने प्रायः वाचस्पति मिश्र का अनुगमन किया है। एक-दो स्थलों पर भोजराज एवं विवरणकार शंकर का मत—वाचस्पति एवं भिक्षु दोनों ही आचार्यों से भिन्न प्रकार का है।

अर्वाचीन विद्वानों में से भास्वतीकार हरिहरानन्द आरण्य एवं हिन्दी—व्याख्याकार ओमानन्द ने, पूर्वाचार्य परम्परागत मान्यताओं का निर्वाह करते हुए साथ में एक-दो स्थलों पर विषय का आधुनिक विज्ञान से समन्वय दिखलाने की चेष्टा की है। अंग्रेजी व्याख्याकार श्री आई० के० टैमनी की व्याख्या-पद्धति नितान्त वैज्ञानिक, सबसे निराली और अपने ढग की अद्वितीय है। इनके व्याख्यानो से यही निष्कर्ष निकलता है कि आधुनिक विज्ञान एवं योग-विज्ञान के अनेक सिद्धान्तों में—वाह्य दृष्टि से अन्तर लक्षित होने पर भी आन्तरैक्य है, यद्यपि जड़-विज्ञान अभी तक सृष्टि के उन अन्तिम रहस्यों से अनभिज्ञ है, जिनका सन्धान योगज दृष्टि-सम्पन्न पूर्वाचार्य कर चुके हैं। श्री टैमनी की व्याख्या नितान्त वैज्ञानिक (आधुनिक विज्ञान की दृष्टि से) होने के कारण, प्राचीन आचार्यों से उनका अनेक स्थलों पर मतभेद स्वाभाविक ही है। यद्यपि योग की परम्परागत मान्यताओं के प्रति भी उनका दृष्टिकोण आदरपूर्ण है।



जिन-जिन सूत्रों की व्याख्याओं में विविध व्याख्याकारों में पारस्परिक मतभेद अथवा मतान्तर है, उनका यथास्थान सविशेष विवरण दिया गया है। इसके अतिरिक्त ऐसे स्थलों में से विशिष्ट स्थलों की सूत्र-संख्या का निर्देश, भूमिका के अन्तर्गत—‘तुलनात्मक आलोचना का सार’ शीर्षक में कर दिया गया है।



## प्रथम-ग्रन्थावली

( अकारादि वर्णक्रम से )

क्रम संख्या	पुस्तक का नाम	लेखक/संपादक/प्रकाशक	संस्करण
१	२	३	४
१.	अहिबुध्न्यसंहिता	—	—
२.	इण्डियन फिलासफी ( प्रथम खण्ड )	ले०—डा० राधाकृष्णन्	द्वितीय ( भारतीय )
३.	इण्डियन फिलासफी ( द्वितीय खण्ड )	ले०—डा० राधाकृष्णन्	द्वितीय ( भारतीय )
४.	इन्द्रोडक्शन् टु फिलासफी	ले०—कुल्पे	—
५.	ईशावास्योपनिषद्	स०—कण्ठमणि शास्त्री	वि०स० २०१०
६.	ए-सोर्स बुक इन इण्डियन- फिलासफी	ले०—डा० राधाकृष्णन् एण्ड मूर	१९५७
७.	ऐतरेय आरण्यक	—	—
८.	कठउपनिषद्	—	—
९.	कूर्मपुराणम् ( ब्राह्मी संहिता समेतम् )	मु०—गोपाल प्रिटिंग वर्क्स, प्रथम कलकत्ता ६	—
१०.	गण्डपुराण	स०—डा० रामशंकर - भट्टाचार्य	प्रथम
११.	गोरक्षसंहिता	—	—
१२.	गौतमप्रणीतधर्मसूत्राणि	प्र०—आनन्दाश्रम मुद्रणालय १९५६ ई० अडियर	—
१३.	घेरण्ड संहिता	—	—
१४.	छान्दोग्य उपनिषद्	प्र०—आनन्दाश्रम मुद्रणालय १९३० ई०	—
१५.	जयाख्यसंहिता	प्र०—ओरियेन्टल इन्स्टीट्यूट १९६१ ई० बड़ौदा	—

क्रम संख्या	पुस्तक का नाम	लेखक/संपादक/प्रकाशक	संस्करण
१	२	३	४
१६.	तत्त्ववैशारदी	ले०—वाचस्पति मिश्र स०—गोस्वामी दामोदर- शास्त्री	१९३५ ई०
१७.	तन्मात्रतथा विश्व का मनोमय मूल	डा० रामशंकर भट्टाचार्य	—
१८.	तैत्तिरीय ब्राह्मण	—	—
१९.	दि पाजिटिव साइन्स ऑफ दि एन्शेन्ट हिन्दूज	ले०—ब्रजेन्द्रनाथ प्र०—सुन्दरलाल जैन	१९५८ ई०
२०.	दि कम्प्लीट इलस्ट्रेटेड बुक आफ योग	ले०—विष्णुदेवानन्द प्र०—मार्क्स बाच (लन्दन)	१९५६ ई०
२१.	दि स्टडी ऑफ पतञ्जलि	ले०—एन० एन० दास गुप्त	१९२० ई०
२२.	दि सर्पेन्ट पावर	ले०—आर्थर एवलान	छठा
२३.	दि साइन्स ऑफ योग	ले०—आई० के० टैमनी	१९६१
२४.	देवी-भागवत	सर्वाधिकार सुरक्षित श्री वेंकटेश्वर (स्टीम्) यन्त्रालयाधीश	सम्बत् १९६४
२५.	नामोजीभट्टवृत्ति	स०—दुण्डिराज शास्त्री	१९३०
२६.	नाइट साइड आफ नेचर	—	—
२७.	न्यायसूत्र	ले०—अक्षपाद गौतम	—
२८.	नारदीय शिक्षा	—	—
२९.	निरुक्तम्	प्र०—पूना भण्डारकर ओरि- येन्टल रिसर्चइन्स्टी- ट्यूट	१९४०
३०.	न्यायभाष्य	—	—
३१.	पद्मपुराण	प्र०—आनन्दाश्रम मुद्रणालय	१८९३ ई०
३२.	पातंजल-योगदर्शनम् 'पर योगभाष्य- विवृति'	ले०—स्वामी ब्रह्मलीन मुनि	प्रथम

क्रम	पुस्तक का नाम	लेखक/संपादक/प्रकाशक	संस्करण
१	२	३	४
३३.	पातंजल-योगसूत्र ( व्यासभाष्य- सहित ) ( हिन्दी संस्करण )	ले०—बगाली बाबा प्र०—एन० आर० भार्गव	१९४८ ई०
३४.	पातंजलयोगदर्शनम् ( तत्त्ववैशारदी सहितम् )	स०—श्री रामशंकर - भट्टाचार्य	१९६३
३५.	पातंजल योगसूत्रभाष्य विवरणम्	प्र०—मद्रासराज्य सरकार	प्रथम
३६.	पातंजलयोगदर्शनम् ( हिन्दी रूपान्तर )	ले०—हरिहरानन्द आरण्य प्र०—लखनऊ विश्वविद्यालय	प्रथम
३७.	पातजलयोगदर्शनम् ( योगसूत्र )	प्र०—गीता प्रेस गोरखपुर	
३८.	पातजलयोगप्रदीप	ले० स्वामी ओमानन्द तीर्थ	चतुर्थ
३९.	पातंजलरहस्यम्	स०—गोस्वामी दामोदर- शास्त्री ।	१९३५
४०.	पातंजल महाभाष्य		
४१.	प्रदीपिका	स०—पं० हुण्डिराजशास्त्री	१९३०
४२.	प्रश्नोपनिषद् ( आनन्द गिरि- विरचितटीका संवलितशांकर भाष्यसमेता )	प्र०—आनन्दाश्रम मुद्रणालय	१९२२
४३.	ब्रह्मसूत्रशांकरभाष्य ( स्वामी सत्यानन्दसरस्वती विर- चित भाषानुवाद तथा सत्यानन्दो दोपिका सहित )	प्र०—गोविन्दमठ टेढ़ीनोम वाराणसी ।	२०२२
४४.	बृहदारण्यकोपनिषद्	स०—राम स्वरूप शर्मा	सम्बत् १९५७
४५.	बृहद्योगीयाज्ञवल्क्य	—	—
४६.	भारतीय दर्शन	ले०—डा० उमेश मिश्र	प्रथम
४७.	भारतीय दर्शन	ले०—सतीशचन्द्र चट्टो- पाध्याय एवं धीरेन्द्रमोहन दत्त	द्वितीय
४८.	भारतीय दर्शन	ले०—प० बलदेव उपाध्याय	पंचम

क्रम	पुस्तक का नाम	लेखक, संपादक/प्रकाशक	संस्करण
सं०			
१	२	३	४
४९.	भारतीय संस्कृति और साधना ( प्रथम खण्ड )	ले०—गोपीनाथ कविराज	प्रथम
५०.	भारतीय संस्कृति और साधना ( द्वितीय खण्ड )	ले०—गोपीनाथ कविराज	प्रथम
५१.	भारतीय संस्कृति और उसका इतिहास	ले०—सत्यकेतु विद्यालकार	द्वितीय
५२.	भास्वती	स०—गोस्वामी दामोदर शास्त्री (१९३५)	
५३.	भोजवृत्ति	स०—प० दुण्डिराज शास्त्री (१९३०)	
५४.	भोजवृत्ति	स०—रामशंकर भट्टाचार्य	प्रथम
५५.	मणिप्रभा	स०—पं० दुण्डिराज शास्त्री	२९३०
५६.	मत्स्यपुराण	मु०—हिन्दी साहित्य प्रेस प्रयाग	प्रथम
५७.	मनुस्मृति	—	—
५८.	मनुस्मृति ( कुल्लूकरचित व्याख्या सहित )	—	—
५९.	महाभारत ( अनुशासन पर्व )	प्र०—प्रतापचन्द्रराय	द्वितीय
६०.	„ ( अश्मेधपर्व )	„	„
६१.	„ ( आदिपर्व )	„	„
६२.	महाभारत	कुम्भकोण संस्करण	—
६३.	„ ( वनपर्व )	प्र०—प्रतापचन्द्रराय	तृतीय
६४.	मन्त्र और मातृकाओं का रहस्य	डा०—शिवशंकर अवस्थी	१९६६
६५.	महाभारत ( शान्तिपर्व )	प्र०—प्रतापचन्द्रराय	तृतीय
६६.	मीमांसा दर्शन	ले०—मण्डन मिश्र शास्त्री	द्वितीय
६७.	मीमांसा दर्शन	स०—रतनगोपाल भट्ट	१९१६
६८.	मुण्डकोपनिषद्	प्र०—आनन्दाश्रममुद्रणालय	१९१८
६९.	याज्ञवल्क्य स्मृति	प्र०—जयकृष्णदास हरिदास- गुप्त, चौखम्भा संस्कृत सीरीज बनारस	१९८६

क्रम स०	पुस्तक का नाम	लेखक/संपादक/प्रकाशक	संस्करण
१	२	३	४
७०.	योग एण्ड वेस्टर्न साइकोलॉजी	ले०—जी० कोस्टर	षष्ठ
७१.	योग-चन्द्रिका	स०—पं० ढुण्डिराज शास्त्री	१९३०
७२.	योगदर्शन-समीक्षा	ले०—कृष्णमणि त्रिपाठी	
७३.	योग फिलॉसफी	ले०—एस० एन० दास गुप्ता	प्रथम
७४.	योगभाष्य	ले०—ऋषास	
७५.	योगभाष्य का अध्ययन ( पत्रिका )	ले०—रामशंकर भट्टाचार्य	
७६.	योगवार्तिक	स० गोस्वामी दामोदर शास्त्री	१९३५
७७.	योगवसिष्ठ	प्र०—अच्युतग्रन्थमाला कार्यालय काशी ।	
७८.	योगसार संग्रह ( स्वामी सनातन देवकृत हिन्दी अनुवाद सहित )	प्र०—मोतीलाल बनारसीदास सं० २०१४ वि०	
७९.	योगसुधाकर	स०—ढुण्डिराजशास्त्री	१९३०
८०.	योगीयाज्ञवल्क्य	—	—
८१.	युक्तिदीपिका	—	—
८२.	राजयोग	ले०—स्वामी विवेकानन्द	—
८३.	वाक्यदीप्यम् (हेलाराजकृत प्रकाश टीका सहित)	स०—गोस्वामी दामोदर शास्त्री	षष्ठ
८४.	वायुपुराण	प्र०—गीताप्रेस गोरखपुर	
८५.	विभूतेष्टपत्ति प्राकृतनियमानुसारिणी ( पत्रिका )	ले०—डा० रामशंकर भट्टाचार्य	
८६.	विष्णुपुराण	प्र०—गीता प्रेस गोरखपुर	तृतीय
८७.	वेदान्त एण्ड दि वेस्ट ( पत्रिका )	इ ग्लैण्ड से प्रकाशित	
८८.	वेदान्तसार ( भावबोधिनी सहित )	उदयवीर शास्त्री	
८९.	वेदान्त दर्शन का इतिहास	ले०—श्री सदानन्द	
९०.	वेदान्त फॉर दि ईस्ट एण्ड वेस्ट	प्र०—रामकृष्ण वेदान्त आश्रम लन्दन	८९ (सोरीज १९६६)
९१.	वैदिक साहित्य और सस्कृति	ले०—बलदेव उपाध्याय	१९५५
९२.	वैशेषिक सूत्र	ले०—महर्षि कणाद	
९३.	इलोकवार्तिक ( पार्यसारथि मिश्र प्रणीतन्याय- रत्नाकर व्याख्या सहितम् )	ले०—कुमारिल भट्ट	चतुर्थ

क्रम	पुस्तक का नाम	लेखक/संपादक/प्रकाशक	संस्करण
सं०			
१	२	३	४
६४.	श्वताश्वतरे उपनिषद्	—	—
६५.	शतपथ ब्राह्मण	सं०—वंशीधर शास्त्री	सं० १६६२
६६.	शास्त्रदीपिका	ले०—पार्थसारथि मिश्र	द्वितीय
६७.	शिवसार तन्त्र	सं०—पं० लक्ष्मण शास्त्री द्रविड	—
६८.	श्रीमद्भागवत ( प्रथम खण्ड )	प्र०—गीता प्रेस गोरखपुर	तृतीय
६९.	श्रीमद्भागवत ( द्वितीय खण्ड )	—	—
१००.	श्रीमद्भागवद् गीता	प्र०—गीता प्रेस गोरखपुर	सं० २००६
१०१.	सघर्ष और शान्ति	ले०—स्वामी करपात्री जी	प्रथम
१०२.	सरल रसायन-शास्त्र	ले०—डा० एच० सी० सारस्वत	—
१०३.	स्कन्द पुराण	एवं डा० के० एस० तिवारी	प्रथम
१०४.	सर्वदर्शन संग्रह	ले०—माधवाचार्य	—
१०५.	सांख्यकारिका	ले०—ईश्वरकृष्ण	—
१०६.	सांख्यतत्त्व कौमुदी ( आद्याप्रसाद मिश्र कृत हिन्दी अनुवाद सहित )	सं०—सत्यनारायण पांडेय	—
१०७.	सांख्यतत्त्व कौमुदी ( रामशंकर भट्टाचार्यकृत ज्योतिष्मती टीका )	ले०—वाचस्पति मिश्र	१९५६
१०८.	सांख्यदर्शन का इतिहास	—	—
१०९.	सांख्य-प्रवचन-भाष्य	ले०—उदयवीर शास्त्री	प्रथम
११०.	सांख्यसूत्रम् ( अनिरुद्धकृतवृत्ति-सहित )	ले०—विज्ञानभिक्षु	—
१११.	साहित्य ( पत्रिका )	प्र०—श्री आशुबोध विद्याभूषण तथा नित्य बोध विद्यारत्न ।	चतुर्थ
११२.	सौन्दर्यलहरी ( लक्ष्मीधरकृत टीका सहितम् )	पटना वर्ष ७ अङ्क २	—
११३.	सूर्योदय पत्रिका	प्र०—मैसूर विश्वद्यालय	तृतीय
११४.	हठयोगप्रदीपिका ( ज्योत्स्ना टीका सहित )	भारत धर्ममंडल वाराणसी	—
११५.	हिन्दू-सभ्यता	ले०—स्वात्माराम	शक सवत् १९०४
११६.	हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फिलॉसफी ( द्वितीय भाग )	ले०—राधाकुमुदमुकर्जी	द्वितीय
११७.	योगभाष्य-	ले०—एस० एन० दास गुप्त	प्रथम
		ले० स्वामी ज्ञानानन्द	—

उपरिलिखित ग्रन्थो मे से कुछ ऐसे भी है, जिनके मुखपृष्ठ उपलब्ध नहीं हो सके ।

अतः उनके प्रकाशनादि का विवरण नहीं दिया जा सका है ।

## APPENDIX

### A LIST OF SOME IMPORTANT WORKS ON THE YOGA SYSTEM

1. Yoga Sutras of Patanjali — Ballantyne and Deva  
(Tr. with Sanskrit Text)
2. Yoga Sutras (Patanjali) — Tr Johnstons
3. Yoga Aphorisms of (Patanjali) — Faber
4. Patanjali's Yoga Aphorisms — Jwdge, William
5. Patanjali for Western Readers — Stephen
6. Science of Yoga — I K Temu  
(with Sanskrit Text of Patanjali)
7. Yoga and Western Psychology — G Coster  
(with Sanskrit Text of Patanjali)
8. Yoga for Modern World — Bharati
9. A Source Book in Indian Philosophy — Radhakrishnan and Moore  
(only Yoga portion)
10. Yoga for you — Devi
11. About Yoga — Day
12. Yoga Method of Re-integration — Danielou
13. Yoga of Light — Hudson
14. Yoga Philosophy — Sharpe
15. Manual of Yoga — Dunne
16. Study and practice of Yoga — Day, Harvey
17. Yoga, Tibetan — Bromage
18. Yoga, Praetical — Wood, E E
19. Yoga — Behanan
20. About Yoga — Day, Harvey
21. Renew your life Through Yoga — Devi, Indra
22. Rajyoga — Vivekananda
23. Yoga The Way to Long Life — Dunne, Desmond  
and happiness
24. Yoga immortality and freedom — Elhade, Mircea
25. Yoga for Americans — Devi, Indra
26. Tibetan Yoga and Secret Doctrine — Evanswentz, W Y.
27. Synthesis of Yoga — Aurobindo
28. How to be a Yogi — Swami Abhedanand
29. A Study of Yoga — Dr. J Ghosh
30. Hatha Yoga — Yogi Rama Caraka
31. Yogic Power and God-realization — V. M. Bhat
31. Introduction to Patanjali Yoga — Clara M. Codd



- |   |                             |
|---|-----------------------------|
| 32. Fruits of Silence                       | — Fausset, Hugh             |
| 33. Yoga Life Science                       | — Francis, P. G             |
| 34. Yoga the amazing life Science           | — Francis, P. G             |
| 35. The Serpent Power                       | — Sir Arthur Avalon         |
| 36. Concentration and Meditation            | — Shivananda                |
| 37 Fundamentals of Yoga                     | — Rammurti Misra, M. D      |
| 38 Garland of Letters                       | — Arthur Avalon             |
| 39 Kundalini Yoga                           | — Swami Sivanand            |
| 40. Life Divine                             | — Arbindo                   |
| 41. Mind its mysteries and control          | — Swami Sivanand            |
| 42 The Practice of Yoga                     | — Swami Sivanand            |
| 43 The complete Illustrated<br>book of Yoga | — Swami Vishudhanand        |
| 44. The Yoga Sutra of Patanjali             | — Manilal Nabhubhai Dwivedi |
| 45 An Introduction to Yoga                  | — Claude Bragdon            |
| 46, The Secret of Golden flower             | — Wilhelm and Jung          |
| 47. Diagnosis of Man                        | — Kenneth Walker            |
| 48. Modern Man in Search of a Soul          | — Carl Jung                 |
| 49. A New Model of the Universe             | — P. D. Ouspensky           |
| 50 The Message of Asia                      | — Paul Cohen-Portheim       |
| 51. The Occult Training of the Hindus       | — Ernest Wood               |
| 52 Thought Power its Control<br>and culture | — Annie Besant              |

## ग्रन्थ के अन्तर्गत प्रयुक्त संक्षिप्त शब्दों का विवरण

### संक्षिप्त शब्द

### विवरण

सू० सं०	सूत्रसंख्या
अ०	अध्याय
यो० भा०	योगभाष्य
व्या० भा०	व्यासभाष्य
पात० द०	पातञ्जल-योग-दर्शन
स० पा०	समाधिपाद
सा० पा०	साधनपाद
वि० पा०	विभूतिपाद
कै० पा०	कैवल्यपाद
तत्त्व०	तत्त्ववैशारदी
वाच०	वाचस्पति
यो० वा०	योगवार्त्तिक
यो० सा० स०	योगसारसंग्रह
वि० भि०	विज्ञानभिक्षु
भोज०	भोजवृत्ति
भो० वृ०	भोजवृत्ति
राज० मा०	राजमार्तण्डवृत्ति
राघ० स०	राघवानन्द सरस्वती
पा० रह०	पाताञ्जल रहस्य
हरि० भा०	हरिहरानन्द आरण्य
पात० यो० द०	पातञ्जल योगदर्शन
भावा०	भावागणेश
भा० वृ०	भावागणेशवृत्ति
पा० यो० वि०	पातञ्जलयोगसूत्रभाष्यविवरणम् (दोनों
भा० वि०	भाष्य विवरण एक ही ग्रन्थ के नाम है)
वृ०	वृत्ति

} ये दो एक ही ग्रंथ है ।

} ( एक ही ग्रन्थ के नामान्तर है ।

संक्षिप्त शब्द

वा० का०

योग० विवृ०

ब्रह्म०

नागो०

नागो० वृ०

रामा०

मणि०

अन०

यो० च०

सदा० शि० सर०

योग० सु०

स्वा० ओमा०

भा० का०

श्रीमद्भा०

भाग०

भ० गी०

गी०

टी०<sup>१</sup>

मनु०

याज्ञ०

योगीया०

वि० पु०

वायु०

ठ्या०

शान्ति०

वन०

आदि०

अश्व०

मोक्ष०

भ०

विवरण

वार्तिककारिका

योगभाष्यविवृति

ब्रह्मलीनमुनि

नागोजीभट्ट

नागोजीभट्टवृत्ति

रामानन्दयति

मणिप्रभा टीका

अनन्तपण्डित

योगचन्द्रिका

सदाशिवेन्द्र सरस्वती

योगसुधाकर

स्वामी ओमानन्द तीर्थ

भास्वतीकार

श्रीमद्भागवत

भागवत

भगवद्गीता

गीता

टीका

मनुस्मृति

याज्ञवल्क्यस्मृति

योगीयाज्ञवल्क्य

विष्णुपुराण

वायुपुराण

ठ्याख्या

शान्तिपर्व ( महाभारत )

वनपर्व ( महाभारत )

आदिपर्व ( महाभारत )

अश्वमेधपर्व ( महाभारत )

मोक्षधर्म ( शान्तिपर्व का अंश विशेष )

भूमिका

## संक्षिप्त शब्द

भा० द०

बल० उ०

शत० ब्रा०

राज०

पात० प्र०

भा० स० सा०

गोपी० कवि०

है० यो० शा०

सां० सू०

छा०

वाक्य०

श्लो० वा०

हठ० यो० प्रा०

कठ०

श्वेता० उप०

भो० सं० इति०

हिन्दू स०

भू० पा० यो० द०

द्र०

तुल०

ध० सू०

टि०

प्र० ख०

द्वि० ख०

न्याय०

वैशे०

ब्र० सू०

पृ०

यो० सू०

## विचरण

भारतीय दर्शन

बलदेव उपाध्याय

शतपथ ब्राह्मण

राजयोग

पातञ्जलयोगप्रदीप

भारतीय संस्कृति और साधना

गोपीनाथ कविराज

हेरण्यगर्भयोगशास्त्र

सांख्यसूत्र

छान्दोग्य उपनिषद्

वाक्यपदीयम्

श्लोकवार्तिक

हठयोगप्रदीपिका

कठ उपनिषद्

श्वेताश्वतर उपनिषद्

भारतीयसंस्कृति का इतिहास

हिन्दू-सभ्यता

पातञ्जलयोगदर्शन की सांस्कृतभूमिका

रामशंकरभट्टाचार्यकृत

द्रष्टव्य

तुलनाकार्या

धर्मसूत्र

टिप्पणी

प्रथम खण्ड

द्वितीय खण्ड

न्यायसूत्र

वैशेषिकसूत्र

ब्रह्मसूत्र

पृष्ठ

योगसूत्र

संक्षिप्त शब्द

वा०

एस० एन० दास गुप्त

सं०

— भू० पा० यो० द० भो० रा० वृ० स०

सम्पा०

प्र०

ले०

सं०

चिवरण

वालयूम

सुरेन्द्रनाथदासगुप्त

सम्पादक

भूमिका पातञ्जलयोगदर्शनम् भोजकृत-  
टीकासहितम् राजमार्तण्ड वृत्तिसमेतम्

सम्पादक

प्रकाशक

लेखक

सम्पादक

